जिनवाणी

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥
जिनवचन में अनुरक्त जो व्यक्ति जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं वे
निर्मल, संक्लेशरहित एवं परित्तसंसारी होते हैं ।

सम्यग्दर्शन विशेषाङ्क

सम्पादक

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, दुकान नं. १८२-१८३ के ऊपर
जयपुर - ३०२ ००३ (राज.) फोन नं. ५६५९९७

संस्थापक :

श्री जैनरत्न विद्यालय, भोपालगढ़ (राज.)

सम्पादक :

डॉ. धर्मचन्द जैन

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :

कुम्भट भवन, कांकरियों की पोल
महामन्दिर, जोधपुर-३४२ ०१०
फोन नं. ४७३९४

सम्पादक मण्डल :

डॉ. संजीव भानावत

पुखराज मोहनोत

अगस्त, १९९६

वीर निर्वाण संवत् २५२२

श्रावण, संवत् २०५३

वर्ष ५३

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं. ३६५३/५७

आवरण पृष्ठ की गाथा का अर्थ

नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

सम्यग्दर्शन से रहित साधक को सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान न हो तो सम्यक् - चारित्र या चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों का प्राप्त होना अशक्य है। चारित्र सम्बन्धी सद्गुणों की प्राप्ति जिसे नहीं हुई, वह कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता, और कर्मों से मुक्त हुए बिना समस्त कर्मक्षयरूप जो निर्वाण (आत्मा का परमशांतिरूप) पद है, उसकी प्राप्ति नहीं होती।

सदस्यता :

स्तम्भ सदस्यता	: २००० रु.
संरक्षक सदस्यता	: १००० रु.
आजीवन सदस्यता देश में	: ५०० रु.
विदेश में	: १०० $ (डालर)
त्रिवर्षीय सदस्यता	: १२० रु.
वार्षिक सदस्यता	: ५० रु.
विशेषाङ्क का मूल्य	: ५० रुपये

मुद्रक—दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर ✆ 562929, 564771
फोटोटाईप सेटिंग—जे. के. कम्प्यूटर सेन्टर, जालोरी गेट, जोधपुर

नोट - (१) यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।
(२) कोई भी राशि 'जिनवाणी' जयपुर के नाम ड्राफ्ट बनवाकर या मनीआर्डर द्वारा प्रकाशक के पते पर भिजवायी जाये।

सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र

के

शुद्ध आराधक

स्व. आचार्य श्री रत्नचन्द्रजी म.सा.

को

उनके द्वारा किए गए

क्रियोद्धार की

द्विशताब्दी के अवसर

पर

सादर समर्पित

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल के द्वारा विगत ५२ वर्षों से 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। अब तक जिनवाणी के बारह विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं। सर्वप्रथम १९६४ ई. में 'स्वाध्याय' विशेषांक का प्रकाशन हुआ। उसके अन्तर्गत 'सामायिक' (१९६५) 'तप' (१९६६) 'श्रावक धर्म' (१९७०) 'साधना' (१९७१) 'ध्यान' (१९७२) 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (१९७५) 'कर्म सिद्धान्त' (१९८४) 'अपरिग्रह' (१९८६) 'आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. श्रद्धांजलि' (१९९१) 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (१९९२) और 'अहिंसा' (१९९३), विशेषांकों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया।

क्रियोद्धारक आचार्यप्रवर श्री रत्नचंद्रजी म.सा. रत्नवंशीय संत-परम्परा के प्रमुख आचार्य हुए हैं। यह वर्ष उनके क्रियोद्धार का २००वां वर्ष है। जिनवाणी का यह 'सम्यग्दर्शन' विशेषांक उस निर्मलदृष्टि एवं तेजस्वी आत्मा को अर्पित करते हुए हमें महती प्रसन्नता है। उल्लेखनीय है कि सम्यग्ज्ञान प्रचार मण्डल की स्थापना का प्रसंग भी आचार्य श्री रत्नचंद्र जी म.सा. से जुड़ा हुआ है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. की प्रेरणा से क्रियोद्धारक आचार्य प्रवर श्री रत्नचन्द्र जी म.सा. के स्वर्गवास शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में हुई थी।

वर्तमान आचार्य प्रवर १००८ श्री हीराचन्द्र जी म.सा. का 'सम्यग्दर्शन' पर विशेष चिन्तन रहा है। आप समय समय पर अपने उद्बोधनों के माध्यम से इसके महत्त्व पर प्रभावशाली ढंग से प्रकाश डालते रहे हैं तथा जीवन के शाश्वत लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में सम्यग्दर्शन को आवश्यक मानते हैं। आचार्य श्री के उद्बोधनों से प्रेरणा पाकर ऐसे मानवकल्याणकारी तथा चरम लक्ष्य तक पहुंचाने वाले 'सम्यग्दर्शन' विषय पर जिनवाणी का 'सम्यग्दर्शन' विशेषांक अप्रेल, मई, जून व अगस्त, १९९६ के संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है

इस विशेषांक को सुन्दर, बोधगम्य एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में डा. धर्मचंदजी जैन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आपने अपने कुशल सम्पादन से सम्यग्दर्शन जैसे कठिन विषय को भी सहज एवं सरल रूप में इस विशेषांक के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मण्डल परिवार आपके इस महनीय कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है।

हम उन सन्तों, विद्वानों एवं लेखकों का भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अपने आलेख भिजवाकर विशेषांक की उपयोगिता बढ़ाई है। हम उन विज्ञापन-दाताओं का भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अपने व अपने प्रतिष्ठानों का विज्ञापन देकर जिनशासन की सेवा करने का लाभ प्राप्त किया है।

आशा है यह विशेषांक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा तथा जीवन को समुन्नत एवं परिष्कृत करने में सहयोगी बनेगा, ऐसी मंगल कामना है।

डा. सम्पतसिंह भाण्डावात, अध्यक्ष
टीकमचन्द हीरावत, कार्याध्यक्ष
विमलचंद डागा, मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

■ डॉ. धर्मचन्द जैन

संसार में प्रत्येक जीव जीवन, जगत् सुख-दुःख आदि के सम्बन्ध में कोई न कोई व्यक्त या अव्यक्त मान्यता, श्रद्धा, विश्वास या धारणा लिए हुए है। यह मान्यता, विश्वास, श्रद्धा या धारणा ही उसकी दृष्टि है। इस दृष्टि के अनुसार प्रत्येक जीव एक ही घटना के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। कोई एक घटना में सुख का अनुभव करता है तो दूसरा उसी घटना में दुःख का अनुभव करता है । एक उसे त्याज्य समझता है तो दूसरा उसे ग्राह्य मानता है। एक की दृष्टि मोह की प्रगाढ़ता में मग्न रहती है तो दूसरे की दृष्टि उससे निरासक्त होती है। एक धन-सम्पत्ति, भूमि भवन, आदि को प्राप्त कर उन्हें पकड़े रखने में हित मानता है तो दूसरा उनकी तुच्छता समझकर उन्हें त्याग देता है। इस प्रकार यह दृष्टि जीव की आन्तरिक श्रद्धा या मान्यता को व्यक्त करती है।

आगम में दृष्टि तीन प्रकार की कही गई है—सम्यग्दृष्टि २. मिथ्यादृष्टि और ३. मिश्रदृष्टि। ये तीनों दृष्टियां जीव की आन्तरिक जीवन-दृष्टि की परिचायक हैं। प्रत्येक जीव में ऐसी कोई न कोई अन्तः प्रेरणा एवं अन्तःदृष्टि होती है जिसके अनुसार वह जीवन जीता है। वैसे तो प्रत्येक जीव की दृष्टि एक दूसरे से भिन्न ही होती है, इसलिए दृष्टि के अनन्त भेद भी किए जा सकते हैं, किन्तु उन अनन्तदृष्टियों का वर्गीकरण स्थानांगसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगमों में तीन दृष्टियों में किया गया है। लोक में कुछ जीव सम्यग्दृष्टियुक्त होते हैं, कुछ जीव मिथ्यादृष्टि युक्त होते हैं तथा शेष कुछ जीव मिश्रदृष्टि वाले होते हैं।

प्रश्न यह होता है कि किसे सम्यग्दृष्टि कहा जाये, किसे मिथ्यादृष्टि एवं किसे मिश्रदृष्टि? स्थूलदृष्टि से कहा जाये तो जो जीव संसार में सुख समझते हैं, विषय भोगों में रमण करना अच्छा समझते हैं या मूढ बने हुए हैं वे मिथ्या दृष्टि होते हैं। जो जीव इनसे ऊपर उठकर मोक्ष-सुख को आत्मिक एवं वास्तविक सुख समझकर उसके अभिलाषी होते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। जब सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि न हो तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहते हैं।

दृष्टि की सम्यक्ता एवं इसके मिथ्यात्व का मापदण्ड जैन-ग्रंथों में मोह की कमी या आधिक्य को स्वीकार किया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव वे हैं जिन्होंने प्रगाढ़ मोह को शिथिल कर दिया है। पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सम्यग्दृष्टि जीव वे हैं, जिन्होंने दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय) का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर दिया है तथा चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धीचतुष्क का क्षय कर दिया है। अंनन्तानुबन्धी चतुष्क में उन क्रोध, मान, माया एवं लोभ की गणना होती है,जिनका प्रभाव प्रगाढतम होता है। मोह का यह आचरण सम्बन्धी रूप है जो क्रोधादि के माध्यम से प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय मोह का दृष्टिगत या विश्वासगत रूप है, यह अधिक भयंकर है। दृष्टि ही मलिन हो तो स्वच्छता नजर नहीं आ सकती। अन्तःदृष्टि में मलिनता को ही मिथ्यात्व कहा गया है। जैसी दृष्टि होती है प्रायः सृष्टि वैसी ही प्रतीत एवं निर्मित होती है। नेत्रों पर यदि हरा चश्मा चढ़ा लिया जाये तो बाहर सब कुछ हरा ही दिखाई देता है तथा व्यवहार भी फिर उसी के अनुसार किया जाता है। जब बाह्य का भी इतना प्रभाव परिलक्षित होता है तो अन्तःदृष्टि की तो बात ही क्या ? भीतर

भोग की है तो सबकुछ भोग्य ही नजर आता है, भीतर में भोगों को त्याज्य समझ लिया है, तो सारे भोग तुच्छ एवं त्याज्य नजर आते हैं। दृष्टि की निर्मलता को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। जब दृष्टि सम्यक् से पुनः मलिन होने लगे, किन्तु पूर्णतः मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हो, ऐसी मिश्रित अवस्था को मिश्र दृष्टि कहा जाता है। मिश्रदृष्टि में जीव अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहता। इसलिए हम प्रायः मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि अवस्था में ही जीते हैं। इस समय दृष्टि नैर्मल्य के आधार पर आकलन किया जाये तो मिथ्यादृष्टि जीव ही अधिक हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तो प्रायः मिथ्यादृष्टि होते हैं, किन्तु पंचेन्द्रियों में मनुष्यों की चर्चा की जाये तो वे भी अधिकतर मिथ्यादृष्टि ही हैं।

दृष्टि की निर्मलता में संकीर्ण स्वार्थ नहीं रहता और न ही अपना एवं दूसरों का अहित करने की बुद्धि होती है। निर्मलदृष्टि मनुष्य सत्-असत् को जानता है एवं उसे वैसा स्वीकार भी करता है। उसका जीवन स्व-पर कल्याण की ओर केन्द्रित होता है। वह पौद्गलिक वस्तुओं की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता नहीं मानता। उसे इनकी क्षणभंगुरता एवं विनश्वरता का बोध रहता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण साफ होता है। अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में वह सम रहता है। भोगों से उसका आकर्षण छूट जाता है। अज्ञानियों एवं तज्जन्य दुःखों से ग्रस्त जनों पर उसके हृदय में अनुकम्पा होती है। अपने पर उसका विश्वास होता है, जिसे आत्मविश्वास तथा आत्म श्रद्धान कह सकते हैं।

'दृष्टि का अपर नाम 'दर्शन' भी है। संस्कृत में ये दोनों शब्द 'दृश' (देखना) धातु से निष्पन्न हुए हैं। 'दृश्' धातु से जब 'क्तिन्', प्रत्यय किया जाता है तो 'दृष्टि' शब्द निष्पन्न होता है तथा जब 'ल्युट' (अन) प्रत्यय किया जाता है तो 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार दृष्टि एवं दर्शन शब्द एक ही धातु से निष्पन्न हैं। दर्शन भी जैनदर्शन में दो प्रकार के हैं - एक तो दर्शन वह जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से प्रकट होता है तथा दूसरा दर्शन वह है जो दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रकट होता है। यहां पर 'सम्यग्दर्शन' का अभिप्राय दर्शनमोह कर्म के क्षयादि से प्रकट 'दर्शन' से है।

इस सम्यग्दर्शन के लिए 'सम्यक्त्व (सम्मत्तं) शब्द का प्रयोग भी आगम में बहुशः हुआ है। वैसे सम्यक्त्व शब्द सम्यक्पने या यथार्थता का द्योतक है जिसका दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ प्रयोग होता है यथा—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र में स्थित सम्यक् का दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ अन्वय हुआ है । फिर भी सम्यक्त्व (सम्मत्तं) शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ में ही रूढ है, क्योंकि तीनों में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है।

दर्शन सम्यक् होने पर ही ज्ञान सम्यक् होगा और ज्ञान सम्यक् होने पर ही चारित्र सम्यक् होगा।

सम्यग्दर्शन के दो रूप प्रसिद्ध हैं—१. निश्चय सम्यग्दर्शन और २. व्यवहार सम्यग्दर्शन। निश्चय सम्यग्दर्शन जहां आत्मिक-गुण के रूप में प्रकट होता है, वहां व्यवहार सम्यग्दर्शन इसकी क्रियात्मक परिणति है। व्यवहार सम्यग्दर्शन साधन एवं निश्चय सम्यग्दर्शन को साध्य भी माना गया है, इसलिए निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु व्यवहार सम्यग्दर्शन का आलम्बन लेना होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन तो वही है जो अनन्तानुबन्धीचतुष्क एवं

दर्शनमोहत्रिक के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रकट होता है। इस सम्यग्दर्शन को आत्मविनिश्चय एवं ग्रंथिभेद आदि शब्दों से भी प्रकट किया गया है। इस निश्चय सम्यग्दर्शन के व्यवहार में पांच लक्षण पाए जाते हैं–१. शम २ संवेग ३ निर्वेद ४. अनुकम्पा और ५. आस्तिक्य। ये पाँचों लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शन की क्रियात्मक परिणति है जो व्यवहार में परिलक्षित होती है। शम का मूलरूप प्राकृत में 'सम' है जो शम, सम एवं श्रम का सूचक है। क्रोधादि में कमी शम है, समभाव का आचरण 'सम' एवं श्रमण की श्रमशीलता 'श्रम' है। मोक्ष की अभिलाषा 'संवेग' एवं संसार से वैराग्य 'निर्वेद' है। दुःखियों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता एवं दया 'अनुकम्पा' है तथा आत्मा व देव, गुरु एवं धर्म पर आस्था 'आस्तिक्य' है। इस आस्तिक्य को तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहा गया है।

सम्यग्दर्शन का तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह उत्तराध्ययनसूत्र २८.१५ (तहियाणं तु भावाणं) एवं तत्त्वार्थसूत्र १.१ (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्) में स्पष्टरूपेण प्रतिपादित है। तत्त्वार्थ पर वस्तुतः जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा है। जैनदर्शन में तत्त्व सात या नौ माने गए हैं । जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये सात तत्त्व हैं तथा इनमें पुण्य एवं पाप को मिलाने पर तत्त्वों की संख्या नौ हो जाती है। इन तत्त्वों के स्वरूप को यथार्थ रूपेण समझकर उन्हें स्वीकार करना ही उनपर श्रद्धान करना है। यही सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन निश्चय एवं व्यवहार दोनों प्रकार का हो सकता है। जब तक तत्त्वार्थों के स्वरूप का आत्मिक स्तर पर भेदज्ञान नहीं हुआ है तब तक उन पर हुई बौद्धिक श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा आत्म-अनात्म विवेक निश्चय सम्यग्दर्शन का रूप है।

प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दृष्टि या दर्शन को श्रद्धा कहना किस प्रकार उचित है? बौद्धदर्शन में सम्यग्दृष्टि एवं श्रद्धा का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। बौद्धदर्शन में भी जैनदर्शन की भांति सम्यक् दृष्टि को मुक्तिमार्ग की पहली सीढ़ी स्वीकार किया गया है। उसके बिना न शील की प्राप्ति मानी गई और न समाधि की। बौद्धदर्शन में वस्तुतः चार आर्यसत्यों को समझना ही सम्यक् दृष्टि कहा गया (सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त-मज्झिमनिकाय१.१.९) । श्रद्धा को आध्यात्मिक विकास की पांच शक्तियों (इन्द्रियों) में प्रथम बताया गया तथा श्रद्धा से वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा में क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया। इस साधना-क्रम में श्रद्धा प्रथम है एवं प्रज्ञा अन्तिम है।सम्यक् दृष्टि को जहां प्रज्ञा स्कन्ध में सम्मिलित किया गया वहां श्रद्धा का परिणाम प्रज्ञा को बतलाया गया। इस प्रकार श्रद्धा एवं सम्यक् दृष्टि बौद्ध धर्म में भिन्न हैं। किन्तु बुद्ध का एक वचन श्रद्धा एवं सम्यक् दृष्टि को एक ही अर्थ में भी पिरो देता है। बुद्ध ने कहा 'भिक्षुओं जिस समय आर्य श्रावक दुराचरण को पहचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, सदाचरण को पहचान लेता है, सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है। उसकी इस धर्म में अचल श्रद्धा उत्पन्न हो गई है और वह इस धर्म में आ गया है।' यहां पर श्रद्धा एवं सम्यग्दृष्टि एकार्थक प्रतीत हो रहे हैं।

जैनधर्म में तो सम्यग्दृष्टि का श्रद्धा अर्थ प्रसिद्ध है। मोक्ष के प्रयोजन में दर्शन का श्रद्धा अर्थ ही आचार्यों ने मान्य किया है। वस्तुतः जैसी अन्तःदृष्टि होती है वैसी ही मान्यता

बनती है, वैसा ही विश्वास बनता है। उसे 'श्रद्धा' भी कहा जा सकता है। संभवतः इसीलिए जैनागमों में सम्यग्दर्शन के लिए 'श्रद्धा' शब्द का भूरिशः प्रयोग हुआ है। तत्त्वरुचि, भेदविज्ञान, श्रद्धा आदि शब्द सम्यग्दर्शन को ही अभिव्यक्त करते हैं। इनमें बाह्य रूप से भेद प्रतीत होता है, किन्तु इनका मूलस्वर एक ही है।

सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है— सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर आस्था। यह लक्षण अधिक प्रचलित हो गया है, किन्तु अंग एवं उपांग आगमों में प्रायः निर्ग्रन्थ प्रवचन या जिनवचन पर श्रद्धा करने का ही उल्लेख मिलता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है—'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' अर्थात् वही सत्य एवं निश्शंक है जो जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है। आचारांग के इस वचन में मात्र महावीर का नहीं, समस्त जिनेन्द्रों का कथन है। जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित वचन श्रद्धेय हैं। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक भगवान महावीर की धर्मदेशना सुनने के पश्चात् कहता है—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं पत्तियामि णं, भते। निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते । 'ग्गंथ पावयणं एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते !.. अर्थात् 'हे भगवान्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। विश्वास करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे रुचिकर है। वह ऐसा ही है, तथ्य है, सत्य है। निर्ग्रन्थ प्रवचन या जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित तत्त्व श्रद्धेय है।' जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित धर्म जब श्रद्धेय है तो जिनेन्द्र देव तो स्वतः ही श्रद्धेय हो गए। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धेय होने से निर्ग्रन्थ गुरु भी श्रद्धेय हो गए। इस दृष्टि से देव, गुरु एवं धर्म (जिन प्ररूपित) तीनों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन सिद्ध होता है। आवश्यक सूत्र में सम्यक्त्व का उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार अरिहंत को देव, सुसाधु को गुरु एवं जिनप्रज्ञप्त तत्त्व रूप सम्यक्त्व को ग्रहण करने की बात कही गई है। (आवश्यक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन)। आचार्य हरिभद्रसूरि ने आठवीं शती ईसवीय में षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें उन्होंने प्रमुख छह भारतीय दर्शनों के देव, गुरु एवं तत्त्वों का वर्णन किया है। जैनधर्म के देव, गुरु एवं तत्त्व का भी उन्होंने वर्णन किया है। उन्होंने जिनेन्द्र को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु तथा जीवादि तत्त्वों को तत्त्व कहा है।

देव, गुरु एवं तत्त्व का निरूपण प्रत्येक धर्म-दर्शन में भिन्न-भिन्न रहा है। इसलिए देव, गुरु एवं धर्म पर श्रद्धान करने का स्थूल तात्पर्य है उस धर्म का अनुयायी होना। जब भी एक धर्म से दूसरे धर्म में धर्मान्तरण किया जाता है या धर्म में दीक्षित किया जाता है तो देव, गुरु एवं धर्म का स्वरूप समझाकर सम्यक्त्व ग्रहण कराई जाती है। उदाहरणतः बौद्धधर्म में बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण में जाने का उल्लेख हुआ है इसी प्रकार जैनधर्म में 'अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।' पाठानुसार अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवलिप्रज्ञप्त धर्म की शरण को ग्रहण करने का कथन है। इनकी शरण में जाना तभी संभव है जब इन पर श्रद्धा हो। श्रद्धा के बिना शरण में जाना शक्य नहीं है। इनकी शरण ग्रहण करना या श्रद्धा करना सन्मार्ग को स्वीकार करना है।

विश्व में अनेक धर्म हैं। सभी धर्मों के अनुयायी उस धर्म के अनुयायियों को आस्तिक या सम्यक्त्वी समझते हैं तथा अन्य धर्मावलम्बियों को पाखण्डी, मिथ्यात्वी एवं नास्तिक मानते हैं। यही नहीं दूसरे धर्मावलम्बियों को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपने

धर्म की बुराइयों को भी अच्छाई समझते हैं तथा अन्य धर्मों की अच्छाइयों को भी बुराई के रूप में देखते हैं। एक धर्मानुयायी की अन्य धर्मानुयायियों के प्रति इस प्रकार की पक्षपात पूर्ण दृष्टि साम्प्रदायिकता कही जाती है। सम्प्रदाय का होना बुरा नहीं, किन्तु सम्प्रदायाभिनिवेश का होना बुरा है। यह सम्प्रदायाभिनिवेश मनुष्य को संकीर्ण बनाता है। सम्प्रदाय जहाँ अधिगमज सम्यग्दर्शन का निमित्त बनता है वहां साम्प्रदायिकता सम्यग्दर्शन पर आवरण डाल देती है।

साम्प्रदायिकता का दोष विश्व के अन्य धर्मों की भांति जैनों में भी दिखाई देता है। जैनों में जैनेतर धर्मों के प्रति घृणा एवं हीनता का भाव प्रायः कम है, किन्तु जैनों की जो उपसम्प्रदायें हैं वे एक दूसरे के अनुयायियों को मिथ्यात्व के कलंक से दूषित करती हैं। यह दोष व्यवहार-सम्यक्त्वियों में ही पाया जाता है, निश्चय सम्यक्त्वियों में नहीं। निश्चय सम्यग्दर्शन हो जाने पर बाह्य मान्यता-भेद एवं बाह्याचरण उतना प्रधान नहीं रहता, जितना व्यवहार सम्यग्दर्शन में प्रधान बना रहता है। बाह्याचरण के कारण एक दूसरे को हीन समझने एवं घृणा करने का कार्य निश्चय सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि वह रागादि की प्रगाढ़ता से मुक्ति पा लेता है।

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान तो सम्यक् होता ही है, किन्तु आचरण भी सम्यक् हो जाता है। जब तक आचरण सम्यक् नहीं होता तब तक वह मुक्ति का साधन नहीं बनता। सम्यग्दर्शन (निश्चय) के अभाव में बाह्य तप-त्याग भी कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं रखते। आचारांगसूत्र की निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है -

कुणमाणो वि निवित्तिं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए।
दिंतो वि दुहस्स उरं, मिच्छादिट्ठी न सिज्झई॥-आचारांगनिर्युक्ति, २२०

अर्थात् मिथ्यादृष्टि प्राणी संसार से निवृत्ति लेता हुआ भी, स्वजन, धन एवं भोगों का त्याग करता हुआ भी तथा दुःखियों की सहायता करता हुआ भी सिद्ध नहीं होता। मुक्ति या सिद्धि प्राप्त करने के लिए मिथ्यादर्शन का त्याग करना अनिवार्य है तभी सम्यग्दर्शन का प्रकटीकरण होगा एवं मुक्ति की ओर चरण बढ़ेंगे।

जैनदर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें मिथ्यात्व का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं दृष्टि से स्वीकार किया गया है। ज्ञान सम्यक् है या मिथ्या यह दृष्टि पर निर्भर करता है। इसीलिए नन्दीसूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के मति एवं श्रुत सम्यक् ज्ञान हैं जबकि मिथ्यादृष्टि के मति एवं श्रुतज्ञान मिथ्याज्ञान हैं।

मिथ्यादर्शन को शल्य की उपमा दी गई है। मिथ्यादर्शन एक ऐसा कण्टक है (शल्य) जो मनुष्य को पीड़ित एवं दुःखी करने में निमित्त तो बनता है, किन्तु इस शल्य का मनुष्य को प्रायः भान नहीं होता। मिथ्यात्व का भान होने पर ही सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व को तोड़ना तब संभव है जब उसकी स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपम से घटकर एक कोटाकोटि सागरोपम से भी न्यून रह जाती है। अर्थात् मिथ्यात्व की सघनता जब अत्यन्त कमजोर पड़ जाती है तो सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है।

आज हम प्राय : मिथ्यात्वदशा में ही जी रहे हैं। विषय-भोग हमें प्यारे लगते हैं। इन्द्रिय-जय एवं मनोजय में हमारी रुचि नहीं है, हमारी रुचि है इन्हें उत्तरोत्तर भोगों में लगाने में। पर से सुख मिलेगा, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। सूक्ष्मता से कहें तो भोगों में

जीवनबुद्धि होना मिथ्यात्व है। भोगों के बिना जीवन नहीं चलेगा एवं भोगों के लिए ही जीवन मिला है, इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है। इस मान्यता के कारण ही मनुष्य अधिकाधिक भोग-साधन जुटाने में लगा हुआ है।

मिथ्यात्व के आगम में पांच, दस एवं पच्चीस प्रकारों का निरूपण है, किन्तु आधुनिक भाषा में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का कथन किया जाये तो अग्राङ्कित बिन्दु भी मिथ्यात्व को ही व्यक्त करते हैं– १. भोग में रुचि होना एवं योग-समाधि में अरुचि होना २. भोगों में ही जीवनबुद्धि स्वीकार करना ३. भय एवं प्रलोभन से धर्माचरण करना ४. भोगों की प्राप्ति के लिए धर्म-क्रियाएं करना ५. आर्थिक उन्नति को ही सब कुछ समझकर शरीर, मन एवं आत्मिक-स्वास्थ्य की उपेक्षा करना ६. धर्म से अधिक महत्त्व धन को देना आदि।

मिथ्यात्वी व्यक्ति सांसारिक सुखों की पूर्ति हेतु धर्म-क्रिया का अवलम्बन लेता है। वह धार्मिक प्रवृत्तियों को सांसारिक सुखों की पूर्ति का माध्यम समझता है। मिथ्यात्वी का आचरण बाह्य रूप से तप-त्याग का होते हुए भी आन्तरिक रूप से संसार की अभिलाषा से ही जुड़ा रहता है।

विभिन्न देवी-देवताओं को पूजना, उनसे लौकिक कामनाओं की पूर्ति हेतु याचना करना भी मिथ्यात्व का ही एक रूप है जो आज जैनों में भी प्रचलित है, किन्तु यह तो मिथ्यात्व का स्थूल रूप है, इसके मूल में तो मिथ्यात्व का सूक्ष्म, किन्तु भयंकर रूप छिपा हुआ है और वह है आत्मेतर, पदार्थों की प्राप्ति में सुख मानना। आत्मेतर पदार्थ हैं–आत्मा से भिन्न पदार्थ, यथा– शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, भवन, वाहन आदि । इन पर- पदार्थों में सुख मानना मिथ्यात्व है। मनुष्य इन पर-पदार्थों से सुख प्राप्त करने की मान्यता का इतना आदी है कि उसे यह भी ज्ञात नहीं कि सुख का स्रोत बाहर नहीं भीतर है। सुख की तलाश बाहर करना एवं उसे अन्य पदार्थों में मानना मिथ्यात्व ही है। भगवान् महावीर ने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं आत्मा को माना है इसलिए अन्य से सुख दुःख चाहना उनकी दृष्टि में मिथ्यात्व है।

जिसको सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टि प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए प्राथमिक उपाय यही है कि वह जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित तत्त्व को निश्शंकतापूर्वक स्वीकार कर ले। जिन्होंने सम्यग्दर्शन के माध्यम से सम्यक् पथ को अपनाया है तथा समस्त राग-द्वेषादि शत्रुओं को जीतकर केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति की है उनके वचनों पर विश्वास करना आवश्यक है। यह विश्वास या यह श्रद्धा भी सम्यग्दर्शन ही है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर भी व्यक्ति उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आ जाता है।

सम्यग्दर्शन कैसा एवं कितने काल के लिए हुआ है, इसका भी बड़ा महत्व है। यदि सम्यग्दर्शन क्षायिक हुआ है तो वह एक बार होने के पश्चात् कभी समाप्त नहीं होता। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त मनुष्य ने यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व अगले भव का आयुष्य नहीं बांधा है तो वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यदि आयुष्य बांध लिया है तो तीन या चार भवों में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

यदि सम्यग्दर्शन औपशमिक हुआ है तो वह एक बार अवश्य ही समाप्त होता है। क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व का काल जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। ऐसा

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर १५ या १६ भवों में मुक्ति निश्चित होती है । अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में तो मुक्ति निश्चित ही है ।

सम्यक्त्व का एक प्रकार है क्षायोपशमिक । इस सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का तो क्षय हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन रहता है । यह सम्यक्त्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से अधिक काल तक रहता है ।

सम्यग्दर्शन होने पर जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तथा जीवन दृष्टि में ऐसा परिवर्तन घटित होता है, जो जीवन की दिशा ही बदल देता है । जीवन में फिर शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य का स्वतः समावेश हो जाता है ।

जैनदर्शन में अनेकान्तवाद एवं अनेकान्तदृष्टि की भी चर्चा की जाती है । अनेकान्तदृष्टि में विभिन्न नय सम्मिलित रहते हैं जो सम्यग्ज्ञान को प्रकट करते हैं । नयसापेक्ष दृष्टि में सम्यग्दृष्टि ही मूल में सन्निहित है । तभी ज्ञान की उत्पत्ति में भी परस्पर टकराव उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार जैनों का अनेकान्तवाद उनकी सम्यग्दृष्टि का ही परिचायक है ।

प्रस्तुत विशेषाङ्क में सम्यग्दर्शन पर विस्तार से विचार हुआ है । पूज्य संतों , विद्वान् मनीषियों एवं चिन्तनशील लेखकों ने इस विशेषाङ्क को उपयोगी बनाने में जो अपनी प्रज्ञा एवं लेखनी का योगदान किया है उसके लिए जितना आभार माना जाय उतना कम है । यह विशेषाङ्क विषय-वैविध्य के कारण तीन खण्डो में विभक्त है । प्रथम खण्ड शास्त्रीय-विवेचन से सम्बद्ध है । इसमें सम्यग्दर्शन के स्वरूप, लक्षण, प्रकार, भेद, अंग, महत्त्व, दुर्लभता, प्राप्ति-प्रक्रिया, मिथ्यात्व, उसके प्रकार आदि से सम्बन्धित लेख तो हैं ही, किन्तु सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नोत्तर भी निहित हैं, जो 'जिज्ञासा और समाधान', 'सम्यक्त्व-प्रश्नोत्तर' तथा 'सम्यक्त्व का स्पर्श' (संवाद) शीर्षकों से प्रकाशित हैं । इस खण्ड में 'जैन वाङ्मय में सम्यग्दर्शन', 'तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप', 'कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का स्वरूप' 'श्रीमद् राजचन्द्र की दृष्टि में सम्यग्दर्शन' आदि ऐसे विशिष्ट लेख भी हैं जो जैन दर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को व्यापक फलक एवं दृष्टिकोण प्रदान करते हैं । आगम में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की उत्तरकाल में किस प्रकार व्याख्याएं होती रहीं इसका भी बोध प्रस्तुत-खण्ड के लेखों से होता है । इस खण्ड में सम्यग्दर्शन का निश्चय पक्ष भी प्रस्तुत हुआ है तो व्यवहार पक्ष भी प्रतिष्ठित हुआ है । निश्चय एवं व्यवहार का समन्वय भी दृग्गोचर होता है । पूज्य आचार्यों एवं संतों के लेख जहां आगमिक, सैद्धान्तिक एवं पारम्परिक पक्ष को पुष्ट करते हैं, वहां नया सोच भी मुखर हुआ है । आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. , आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. , आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. , आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा., आचार्य श्री रामचन्द्र सूरि जी म.सा., पं. श्री समर्थमलजी म.सा. के प्रवचन एवं लेख जहां इस विशेषाङ्क की शोभा बढ़ा रहे हैं वहां पं. सुखलाल संघवी, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. रामजी सिंह, डॉ. दयानन्द भार्गव आदि विद्वज्जनों के वैचारिक लेख पाठकों का मार्गदर्शन करते हैं । डॉ. यशोधरा वाधवानी, डॉ. सुषमा सिंघवी, श्री रमेशमुनि शास्त्री आदि के शोधपरक लेख विद्वत्पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं । सम्यग्दर्शन का दर्शनगुण, दर्शनोपयोग, दर्शनमोह आदि से क्या भेद है इसका सूक्ष्म विचार किया है श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा ने । उन्होंने अपने लेख में दश प्रकार के मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन के आठ अंग आदि पर नया, किन्तु आगम-संगत चिन्तन प्रदान

किया है जो तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए पठनीय है।

द्वितीय-खण्ड 'सम्यग्दर्शन : जीवन व्यवहार' में प्रकाशित लेख पूज्य विद्वत्संतों तथा ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों के ज्ञाता प्रज्ञाशील विचारकों के हैं। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति होने से जीवन-दृष्टि किस प्रकार बदल जाती है, जीवन कितना निश्चित, निर्भय, शान्त एवं सुखी हो जाता है, इसका विवेचन तो इस खण्ड के लेखों में हुआ ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था, समाज-व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण, जैसे विषयों के परिप्रेक्ष्य में भी सम्यग्दर्शन पर विचार किया गया है। सम्यक्त्वी पाप करता है या नहीं, यदि नहीं करता है तो कैसा पाप नहीं करता है आदि बिन्दुओं पर विचार करने के साथ बढ़ते भोग-साधनों के परिप्रेक्ष्य में भी दृष्टि की सम्यक्ता का चिन्तन किया गया है।

तृतीय-खण्ड में उन विविध लेखों का संकलन है, जिनका समावेश प्रथम दो खण्डों में नहीं हो सका है। इस खण्ड में यहूदी, ईसाई, इस्लाम एवं पारसी धर्मों में श्रद्धा के महत्त्व का विचार किया गया है। बौद्ध दर्शन में वर्णित सम्यग्दर्शन से जैनदर्शन के सम्यग्दर्शन का तुलनात्मक विवेचन करने के अतिरिक्त वेदान्त एवं अन्य भारतीय दर्शनों से भी जैनदर्शन के सम्यग्दर्शन की तुलना की गई है। गीता का सम्यग्दर्शन जैसे शोधपरक लेख एवं 'संशय, युक्ति एवं विश्वास' जैसे दार्शनिक लेखों का भी इस खण्ड में समावेश है। बीसवीं शती के अध्यात्म पुरुष स्वामी शरणानन्दजी का दृष्टिविषयक विचार, महात्मा गांधी की दृष्टि में जागृत मनुष्य एवं श्रीमद् राजचन्द्र का सम्यग्दृष्टिविषयक चिन्तन भी इस खण्ड में समाहित हैं।

प्रस्तुत विशेषाङ्क को तैयार करने में जिन लेखकों का सहयोग रहा है उनका मैं व्यक्तिगत रूप से एवं जिनवाणी परिवार की ओर से हार्दिक आभारी हूँ। उन विद्वान् लेखकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके लेखों का समावेश विशेषाङ्क के कलेवर की अधिकता के कारण इस विशेषाङ्क में नहीं हो सका है। लेख-संकलन में गुरुजी श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा, जयपुर का सहयोग रहा है, अतः मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। तत्त्वजिज्ञासु विचक्षण स्वाध्याय-प्रवृत्ति के धनी श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. एवं श्रीयुत सम्पतराज जी डोसी, जोधपुर से कुछ लेखों में आई शंकाओं का सहज सैद्धान्तिक समाधान मिला है, अतः मैं आप दोनों का भी हार्दिक कृतज्ञ हूँ। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के अध्यक्ष श्री सम्पतसिंह जी भाण्डावत एवं मन्त्री श्री विमल चन्द जी डागा का भी पूर्ण सकारात्मक सहयोग रहा है, अतः मैं आप महानुभावों का भी आभार मानता हूँ।

इस विशेषाङ्क को पढ़कर हमने यदि अपनी दृष्टि में यत्किञ्चित् भी निर्मलता लाने में सफलता प्राप्त की तो इसका प्रकाशन सार्थक माना जायेगा। संसार में व्यक्तिगत समस्या हो या पारिवारिक समस्या हो, सामाजिक समस्या हो या राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्या हो, सभी दृष्टिगत भेद के कारण उत्पन्न होती हैं एवं बढ़ती हैं। यदि दृष्टि में निर्मलता किंवा सम्यक्त्व आ जाये तो समस्त समस्याएं निःसत्त्व या बलहीन हो जाती हैं। इस दृष्टि से 'सम्यग्दर्शन' पर प्रस्तुत यह विशेषाङ्क पूर्णतः साम्प्रतिक या प्रासङ्गिक है।

–सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

विषयानुक्रमणिका

प्रथम-खण्ड

सम्यग्दर्शन : शास्त्रीय विवेचन

द्वितीय-खण्ड

सम्यग्दर्शन : जीवन व्यवहार

तृतीय खण्ड

सम्यग्दर्शन : विविध

परिशिष्ट

विचार/कविता/तथ्य/प्रसंग

सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी : एक दृष्टि में

सम्यक्त्वी	मिथ्यात्वी
१. मोक्षाभिमुखी होता है।	१. संसाराभिमुखी होता है।
२. अन्तरात्मा एवं परमात्मा होता है।	२. बहिरात्मा होता है।
३. संसार सीमित कर लेता है।	३. अनन्त संसार शेष रहता है।
४. सकाम निर्जरा करता है।	४. अकाम निर्जरा करता है।
५. आत्मिकसुख को वास्तविक सुख मानता है।	५. पौद्गलिक सुख को वास्तविक सुख मानता है।
६. कर्म-बंधन अल्प स्थिति वाला करता है।	६. कर्म बंधन उत्कृष्ट स्थिति तक करता है।
७. भाव से भी संयम की साधना करता है।	७. संयम की साधना भी करे तो मात्र द्रव्य साधना करता है।
८. सुदेव, सुगुरु एवं सद्धर्म पर श्रद्धान करता है।	८. कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म पर श्रद्धान करता है।
९. जीवादि तत्त्वार्थों पर श्रद्धान करता है।	९. जीवादि तत्त्वार्थों पर श्रद्धान नहीं करता है।
१०. आत्म-अनात्म का भेदज्ञान कर लेता है।	१०. आत्म-अनात्म का भेदज्ञान नहीं कर पाता।
११. इन्द्रिय-विषयों के प्रति उदासीन रहता है।	११. इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहता है।
१२. अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं दर्शनत्रिक का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर लेता है।	१२. अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं दर्शनत्रिक का क्षयादि नहीं कर पाता है।
१३. अनन्त संसार का बन्ध होना रुक जाता है।	१३. अनन्त संसार का बन्ध चालु रहता है।
१४. बंध कम एवं निर्जरा अधिक होती है।	१४. बंध अधिक एवं निर्जरा कम होती है।
१५. भोगों के त्याग में अपना हित मानता है।	१५. भोगों में जीवन वुद्धि होती है।
१६. परिवार में रहकर भी निर्लिप्त भाव से पालन-पोषण करता है	१६. परिवार में गृद्ध एवं आसक्त रहकर उलझा रहता है।
१७. सम्यग्ज्ञान युक्त हो जाता है।	१७. अज्ञानी बना रहता है।
१८. हेय, ज्ञेय एवं उपादेय के विवेक से युक्त होता है।	१८. हेय, ज्ञेय एवं उपादेय के विवेक से रहित होता है।
१९. यथाप्रवृत्ति, अपूर्व एवं अनिवृत्तिकरण कर लेता है	१९. यथाप्रवृत्ति करण से आगे नहीं बढ़ पाता।
२०. निःशङ्क आदि आठ अंगों से युक्त होता है।	२०. निःशङ्क आदि आठ अंगों से युक्त नहीं होता।
२१. जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा रखता है।	२१. जिनवाणी पर शङ्कादि दोषों से युक्त होता है।
२२. अल्प-तप-त्याग से भी कर्मों की महती निर्जरा करता है।	२२. अधिक तप-त्याग करने पर भी अल्प निर्जरा करता है।
२३. पण्डित मरण का वरण करता है।	२३. बाल-मरण से मरता है।
२४. अपने ज्ञान का उपयोग समभाव की पुष्टि और आत्मजागृति में करता है, सांसारिक विषय-वासना की पुष्टि में नहीं।	२४. इसकी विचारधारा सम्यक्त्वी की विचारधारा के विपरीत होती है।

प्रथम - खण्ड

सम्यग्दर्शन : शास्त्रीय-विवेचन

सम्यग्दर्शन : विनश्वरता का बोध

✠ स्व. आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

स्व. आचार्यप्रवर का चिन्तन जीवन को गहनता से स्पर्श करता है। वह व्यवहार एवं निश्चय में संतुलन रखते हुए वीतरागवाणी को सहज सरल भाषा में अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखता है। प्रस्तुत प्रवचन में सम्यग्दर्शन का जहां विश्वास अर्थ प्रकट हुआ है वहां पुद्गल-संयोग की विनश्वरता एवं आत्मा की अविनश्वरता का बोध भी सम्यग्दर्शन के रूप में प्रस्तुत हुआ है।—सम्पादक

अष्ट-कर्म रूप बेड़ियों को काटकर आत्मा को सिद्ध-बुद्ध-निरंजन एवं निराकार बनाना, उसे अनन्त आनन्द की प्राप्ति का अधिकारी बनाना, यही हमारी साधना का लक्ष्य है। पर वह लक्ष्य तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि हमारी साधना क्रमपूर्वक न चले। इस साधना के क्रम में पहला पाया—पहला सोपान है विश्वास का, जिसे हम 'दर्शन' कहकर भी पुकारते हैं एवं श्रद्धा के नाम से भी अभिहित अथवा सम्बोधित करते हैं।

दर्शन पहले अथवा ज्ञान ?

यों तो हम कर्मों का नामोल्लेख करते हैं, तो पहले ज्ञानावरणीय का नाम लेते हैं, और गुणों का भी जब क्रम वर्णन करते हैं तो अधिकतर श्वेताम्बर-परम्परा में 'ज्ञान-दर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः' कह कर इस क्रम में ज्ञान को प्रथम स्थान देते हैं। लेकिन साथ ही दूसरे पक्ष में, दूसरी परम्परा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप—इस क्रम को भी माना गया है। दोनों तरीके, दोनों क्रम, दोनों परम्पराएं और पद्धतियां शास्त्रसम्मत हैं। दोनों पद्धतियां एवं मान्यताएं सही हैं। इन दोनों में से किसी को भी गलत कहा जा सके, ऐसा नहीं है। लेकिन दोनों बातों को कहने का जो आशय है, वह भिन्न-भिन्न है।

'दर्शन' इसलिये पहले रखा कि जब तक दृष्टि अथवा दर्शन शुद्ध नहीं होगा अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा तब तक का ज्ञान भी सम्यग् नहीं कहला सकेगा। ज्ञान का अर्थ है जानना, किसी वस्तु अथवा पदार्थ को जानना। अब यह जानना अथवा ज्ञान, वस्तुतः सम्यग् कब कहलाएगा, आपका हमारा जानना, समझना सही ज्ञान कब कहलाएगा? तभी, जब कि दर्शन शुद्ध होगा। इस दृष्टि से दर्शन को पहले रखा है। लेकिन व्यवहार में किसी की दृष्टि या दर्शन भी कब सुधरता है? समझ में सम्यग् परिवर्तन कब आता है? तब, जब कि ज्ञान मिलता है। ज्ञान मिलता है तो दर्शन विशुद्ध होता है। इसलिये व्यवहार दृष्टि से पहले ज्ञान को रखा, तदनन्तर दर्शन को। निश्चय दृष्टि से पहले दर्शन को रखा और दर्शन के पश्चात् ज्ञान को। इस दृष्टि से कहा गया कि दर्शन पहले है।

धर्म के भव्य भवन की आधारशिला-दर्शन

दर्शन की नींव पर धर्म का महल ठहरता है। मकान जैसे नींव पर या पाये पर

ठहरता है वैसे ही धर्म का भवन भी श्रद्धा, विश्वास अथवा दर्शन की नींव पर ठहरता है। जिस प्रकार बिना नींव का मकान किसी भी क्षण ढह सकने के कारण निरर्थक है, व्यर्थ है, ठीक उसी प्रकार बिना श्रद्धा के धर्म का महल क्षणविध्वंसी है, अस्थिर है। मकान के लिये जैसे नींव को मजबूत बनाना चाहिये, उसी तरह चारित्र-धर्म के महल की नींव को मजबूत रखने के लिये भी ठोस भूमिका चाहिये। तो चारित्र के महल को मजबूत बनाने के लिए दर्शन पहली भूमिका है, नींव या पाया है।

भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र के २८वें अध्ययन में इसी तथ्य को इस प्रकार कहा है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३० ॥

पहली बात कही गई कि-

'नादंसणिस्स नाणं'

मुमुक्षुओं ! याद रखिए, जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तब तक ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) नहीं होगा।

सम्यक् विश्वास की कमी

आप में से बहुतेरे भाई पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, बंध-मोक्ष, और जीव-अजीव को जानने वाले मिलेंगे। आपको यह मालूम होगा कि जो सुख मिलता है, वह पुण्य का फल है। यह भी मालूम होगा कि पाप करने से दुःख मिलता है। एक व्यक्ति को अपने अड़ोस-पड़ौस में, कुटुम्ब-परिवार में, गांव-परगांव में अपने सुख के बीच में किसी का बाधक व्यवहार देखकर रोष आ गया। वह सोचने लगा कि मेरे सुख को इसने नष्ट कर दिया। मेरी कमाई को इसने बिगाड़ दिया, मेरे धन्धे-रोजगार को उसने ठप्प कर दिया। मेरे आसामी को इसने बहका दिया। मेरे ग्राहक को यह तोड़ ले गया। इसी तरह कुछ माताएं भी सोचती हैं। अपने किसी पड़ौसी स्त्री-पुरुष के बारे में गलत धारणा बन जाती है। ऐसे वक्त घर में कभी बच्चा बीमार हो गया, संयोग से उस पड़ौसी स्त्री-पुरुष से झगड़ा हो गया और संयोगवश बच्चे की तबियत अधिक बिगड़ने से वह अचानक चल बसा तो माताएं सोचने लगती हैं कि बच्चे पर उसने कुछ कर दिया अथवा वह डाकिनी बच्चे को खा गई। ऐसा सोचने वाली बहिनें मिलेंगी । अगर किसी बहिन को शक हो गया कि किसी ने उसके बच्चे पर ऐसा कर दिया है तो वह इधर-उधर जावेगी, भैरूं-भोपाजी के यहां जावेगी। वहां से तसल्ली एवं ढ़ाढस प्राप्त करने का प्रयास करेगी।

एक ओर तो वीतराग प्रभु की वाणी का श्रवण करते समय उसने सन्त-सतियों के मुख से अनेक वार सुना है कि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख मिलते हैं। सदा उसने गुरु-मुख से तो यही सुना है कि जब तक जिस जीव की आयु पूरी नहीं होती तव तक उसको कोई भी हटाने वाला, ले जाने वाला अथवा मारने वाला नहीं है, फिर दूसरी तरफ भैरू के जाना, भोपा के यहां जाना--यह सब कुछ क्या किया जा रहा है? बच्चे का सुख, घर वालों का सुख, शरीर का सुख अथवा धन का सुख—ये सब सुख किससे मिलते हैं? पुण्य से। और दुःख किससे मिलता है? पाप

से। तो फिर इस प्रकार की स्थिति में दुःख मिलने पर किसी अन्य पर रोष करना, किसी दूसरे को दुश्मन समझना, विरोधी अथवा अपना अनिष्ट करने वाला मानना कहाँ तक उचित है ?

जिस प्रकार सुख उसके पूर्वोपार्जित पुण्य का फल है उसी प्रकार वह दुःख भी तो उसी के द्वारा पूर्वोपार्जित पाप का फल है। पाप के पश्चात् पुण्य का और पुण्य के पश्चात् पाप का उदय आ सकता है। जैसे एक स्थान पर छाया है और हम यह चाहें कि वहां सदा सर्वदा छाया ही बनी रहे तो यह संभव नहीं। आज जिस जगह छाया है, वहां कभी धूप आना सम्भव है और जहां आज धूप है वहां कल छाया का आना भी सम्भव है।

यही स्थिति जीवन के साथ भी है। गृहस्थ जीवन में सदा एक ही रूप रहे, दुःख कभी आवे ही नहीं, क्या कभी ऐसा हो सकता है? नहीं। फिर आदमी का मन डांवाडोल क्यों होता है? लोग इधर-उधर देव-देवी के चक्कर में, विविध मान्यताओं के चक्कर में, डोरे डांडे के चक्कर में, या अन्य प्रकार की मिथ्यात्व से भरी मान्यताओं के चक्कर में क्यों पड़ते हैं?

आपको पुण्य-पाप का ज्ञान है, परन्तु उस पर विश्वास नहीं है। मन जमा हुआ नहीं है। इसीलिये अच्छे-अच्छे धर्म-धुरीण कहलाने वाले भाई-बहिन भी भटक जाते हैं। देव-देवियों के जाने के अलावा बलि चढ़ाने के लिए भी तत्पर हो जाते हैं। इन भाई-बहिनों को पूछा जावे कि क्या ऐसा करने से तुम्हारा बीमार बच्चा, परिवार का बीमार सदस्य स्वस्थ हो जायेगा या जिन्दा हो जायेगा? --------और अगर नमस्कार मंत्र के ध्यान पर दृढ़ता से रहा जावे, पंच परमेष्ठी की शरण में ही रहें तो क्या देव-देवी नाराज हो उन्हें उठाकर ले जायेंगे? किसी की ताकत नहीं है उठाकर ले जाने की। न किसी देव की ताकत है, न किसी देवी की ताकत है और न किसी मानव अथवा दानव की यह ताकत है कि उनमें से भी किसी प्राणी के पुण्य और पाप के विपरीत किसी तरह से उनके सुख-दुःख में, उसके भोगने न भोगने में दखलन्दाजी कर सके। लेकिन मानव यह सब कुछ जानता-बूझता भी डांवाडोल हो जाता है। अब वह डांवाडोल क्यों हुआ? इसीलिए कि नींव में कहीं कचावट है। वह कचावट यही है कि उस व्यक्ति का दर्शन विशुद्ध नहीं हुआ है। प्रश्न किया गया कि धर्म का सार अथवा इसका मूल क्या है? तो आचार्यों ने कहा—

'दंसणमूलो धम्मो।'

अर्थात् हमारे धर्म का, हमारे व्रत, नियम एवं साधना का मूल 'दर्शन' है, सम्यग्दर्शन है।

दर्शन अर्थात् निश्चय की प्राप्ति जब आपको हो जायगी, जब आप दर्शन-धर्म को समझ लेंगे तो आपके मन को यह विश्वास हो जाएगा कि ज्ञान-दर्शन युक्त आत्मा ही शाश्वत है, तो नींव की, अथवा मूल की वह कचावट स्वतः ही दूर हो जायेगी।

दर्शन विशुद्धि कब ?

संसार में आत्मतत्त्व क्या है, सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या है? इसे समझाते हुए

प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-'अय मानव ! यह निश्चय समझ कि यदि कोई स्थायी और टिकाऊ तत्त्व है तो उसे तुझसे कोई अलग नहीं कर सकता। पर पहले यह अच्छी तरह समझ कि तेरा क्या है और तू स्वयं क्या है। जब तुझे अपना स्वयं का सही ज्ञान हो जायगा, स्वयं पर विश्वास हो जायगा तो तुझे सत्कर्म के लिये किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।' 'ओ मानव ! वस्तुतः अभी तू बाहर की भौतिक पुद्गल लीला में उलझ रहा है, तुझे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है। तू निज गुण को पराया और भौतिक संपदा को, जो कि वस्तुतः पर गुण है, उसे अपना मान बैठा है। बस यही तो सबसे बड़ा झमेला है जो भव-भ्रमणादि सब अनर्थों का मूल है।'

जिस प्रकार जीवनार्थी को कभी अमृत-पान के लिये प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार जिसने आत्मतत्त्व को भलीभांति समझ लिया है, जिसे आत्मविश्वास हो गया है, उस आत्मार्थी को भी वस्तुतः धर्मसाधन के लिये कभी किञ्चित्मात्र भी कहने अथवा प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

जिस प्रकार आप दुकान के नफा-नुकसान को अपना नफा-नुकसान मानते हैं, क्या उसी प्रकार आपने अपने आध्यात्मिक नफा-नुकसान को भी अपना ही नफा-नुकसान माना है? क्या दुकान का नफा-नुकसान वास्तव में आपका नफा-नुकसान है? नहीं। जिसको आप नफा मानते हैं, वह कभी नुकसान का कारण भी बन सकता है और जिसको आप नुकसान मानते हैं, वह कभी नफे का कारण भी बन सकता है।

एक भाई मद्रास में अथवा दक्षिण में कहीं दुकान कर रहा है। उधर लोग बहुत ऊंची दर पर ब्याज लेते-देते हैं। उस भाई ने इसके विपरीत अपनी ब्याज की सीमा सीमित कर बहुत थोड़ी ब्याज की दर पर रकम देने का कुछ वर्ष पूर्व नियम ले लिया। इस प्रकार का नियम लेने से प्रारम्भ में तो उसे बडी कठिनाई हुई। पांच रुपया और छह रुपया तक का ब्याज उधर चलता है। अब यदि कोई पांच-छः रुपया प्रति सैंकडा की दर के स्थान पर डेढ़-दो रुपया प्रति सैंकड़ा की दर से ब्याज लेना आरम्भ करे तो प्रारम्भ में तो उसे आर्थिक हानि दिखाई देगी ही।

अभी कुछ दिनों पहले वह भाई आया और कहने लगा-'महाराज ! आप से जो नियम मैंने लिया, वह मेरे लिये बड़ा ही लाभकारी रहा। आज वह नियम नहीं होता, तो ब्याज के पैसे तो चौगुने हो जाते पर परेशानी इतनी होती कि आराम से खाना हराम हो जाता। वास्तव में त्याग का नियम मेरे लिए व्यवहार में भी लाभदायक रहा।'

हां, तो मैं कह रहा था कि संसार-व्यवहार में जो काम आज एक प्रकार से हानिप्रद प्रतीत हो रहा है, नुकसान के रूप में दिखाई देता है, वही समय पर लाभप्रद वन जाता है, आपत्ति से बचाने वाला सिद्ध हो जाता है।

इसीलिए विश्ववन्धु भगवान् महावीर ने फरमाया-'ओ मानव ! भ्रम के आवरण को उतार फेंक। वास्तव में तेरा लाभ तो कुछ और ही है, जिसे तू भ्रान्तिवश देख-समझ नहीं पा रहा है। जिन पैसे, सोना, चांदी, हीरे और जवाहरात को तू अपना

मान कर इनके लाभ को अपना लाभ मान रहा है, वह वास्तव में तेरा लाभ नहीं है, क्योंकि एक समय ऐसा भी आता है जब वही लाभ भयंकर हानि और भीषण दुःख के रूप में प्रकट हो शोक-संताप का कारण बन जाता है। वह लाभ तेरे पास से चला जाने वाला भी है।'

आश्चर्य इस बात का है कि भौतिक सुखों के इस प्रकार के प्रत्यक्ष कटु फल देखकर भी लोग पापाचार को नहीं छोड़ते। दिन-रात भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए अन्धाधुन्ध दौड़ की होड़ में लगे हुए हैं। इसका मूल कारण यही है कि भौतिक एषणाओं के पीछे दौड़ लगाने वाले मानव को अभी तक सही दर्शन प्राप्त नहीं हुआ। अन्यथा-'ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः' इस सूक्ति के अनुसार तत्त्वज्ञान को जान लेने के पश्चात्, सही दर्शन की प्राप्ति के अनन्तर तो तत्त्वज्ञ के मन में संसार और संसार के भौतिक सुखों के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण अवशिष्ट ही नहीं रह सकता।

सम्यग्दृष्टि का चिन्तन

सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति का चिन्तन कैसा होता है, इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए आचार्य ने कहा है—

एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसणसंजुओ।

अर्थात्-तेरा कौन है? क्या धन-दौलत, कुटुम्ब, परिवार आदि दृश्य संपदा तेरी है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा-'ज्ञान-दर्शनयुक्त केवल एक शाश्वत आत्मा ही तेरी है।' ज्ञान, दर्शन आदि निजगुण ही तेरा धन हैं। क्योंकि ज्ञान आत्मा का निजगुण है, दर्शन आत्मा का निजगुण है, अक्षय आनन्द उसका निजगुण है और अखण्ड अव्याबाध शान्ति आत्मा का निजगुण है। किसी राजा अथवा राज्याधिकारी की तो शक्ति ही कहां? देव, देवी और दानव भी यदि आकर आत्मा के इस निजगुण रूपी धन को आपसे छीननें का प्रयास करें तो क्या उसे छीन सकेंगें? नहीं। उसे वे कभी नहीं छीन सकते।' आचार्य ने फिर आगे कहा—

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।

'यह धन-दौलत, हीरे, जवाहरात, माणक, मोती, सोना चांदी, कोठी-बंगले एवं कुटुम्ब परिवार तेरे नहीं है। ये सब बाहर के भाव है। धन-दौलत, बंगले, सत्ता, पुत्र, परिवार इन सबको तूं अपना अवश्य कह रहा है, पर ये तेरे साथ रहने वाले नहीं हैं। इनका तेरे साथ सम्बन्ध वस्तुतः संयोगमात्र है।'

यह सदा याद रखिये कि संसार की जितनी भौतिक साधन-सामग्री है, वह सब विनश्वर है। इस वीतराग वाणी को आप कभी न भूलें कि-

'सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।'

आत्मगुण के अतिरिक्त शेष सब भौतिक भोगसामग्री, सब वस्तुएं, सब पदार्थ आपसे अलग हो जाने वाले हैं, क्योंकि वे आपके नहीं हैं। उनका आपसे अलग होना सुनिश्चित ही है, ऐसा समझ कर आप उनके प्रति ममत्वभाव का त्याग करें।

आप सुनिश्चित रूप से यह समझ लें 'केवल मेरे आत्मा के गुण ही मेरे साथ रहेंगे, केवल मेरी आत्मा के गुण ही मेरे हैं, शेष सब बहिर्भाव मेरे नहीं हैं, अतः वे कभी मेरे साथ रहने वाले नहीं हैं।'

यदि दर्शन अर्थात् श्रद्धा अथवा विश्वास विशुद्ध हो जाय, जड़ के विनश्वर और आत्मा के अविनाशी स्वरूप पर विश्वास हो जाय तो फिर आपको किसी प्रकार आकुल-व्याकुल होने का प्रसंग ही नहीं आवेगा। हां, हमें यह विश्वास होना चाहिये कि हमारे भीतर शान्ति का अथाह सागर हिलोरें ले रहा है। आत्मा के सही स्वरूप को समझ लिया जाय, पुद्गलों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों रूपों को सही रूप में समझ लिया जाय, जड़ और चेतन के भेद-विज्ञान द्वारा सही रूप में यह समझ लिया जाय कि संसार के जितने दृश्यमान पदार्थ हैं, वे टिकने वाले नहीं है। यह सुनिश्चित रूप से समझ लिया जाय कि जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग सुनिश्चित है; जो उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश सुनिश्चित है; जो बनता है वह एक दिन अवश्य बिगड़ता है। ये इमारतें बनी हैं, कोठियाँ बनी हैं, बंगले बने हैं, किले बने हैं, वे सब कभी न कभी नष्ट होंगे, यह अवश्यंभावी है। यह वस्तु-स्वभाव है। बना हुआ बिगड़े नहीं, मिला हुआ जावे नहीं और जन्मा हुआ मरे नहीं, ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा ही।

हर घर मरघट

बौद्धजातक में एक कथा आती है। एक बुढ़िया का बच्चा मर गया। वह उसका इकलौता पुत्र बड़ी मनौतियों के पश्चात् हुआ था। इसलिये वह उसे प्राणों से भी अत्यधिक प्यारा था। एक दिन वह बीमार हुआ और अकस्मात् ही चल बसा। पर बुढ़िया को विश्वास नहीं हुआ कि वह मर गया है। उसने यही समझा कि वह बच्चा मरा नहीं, जीवित है। वह वैद्यों-हकीमों के पास जाती और कहती-'देखो मेरे बच्चे को ठीक कर दो।' वैद्य-हकीम उसे देखते ही समझ जाते कि वह मर गया है। वे बुढ़िया से कहते-'तेरा बच्चा मर गया है।' बुढ़िया उनकी बात न मानकर कहती-'अरे! तुम लोग कैसे वैद्य हकीम हो? मेरा बच्चा चार दिन से बीमार है और तुमसे अच्छा नहीं होता।'

अन्त में वह बुढ़िया एक वृद्ध वैद्य के पास गई। वैद्य कुछ दिन पहले मरे हुए उस बच्चे को देख कर समझ गया कि बुढ़िया की उस बच्चे पर अत्यधिक आसक्ति है, वह बच्चे के मरने की बात कहेगा तो बुढ़िया उसकी बात पर किसी भी तरह विश्वास नहीं करेगी, अतः उसने उसे ऐसी जगह भेजने का निश्चय किया जहां उस बच्चे के मरने की बात पर विश्वास हो सके।

उधर बुद्ध तपस्या करते हुए घूम रहे थे। उस बूढ़े वैद्य ने उस बुढ़िया से कहा-'अगर तुम अपने बच्चे को ठीक करना चाहती हो तो उस बाबा के पास चली जाओ। वह तन्त्र-मन्त्र-टोना करके तुम्हारे बच्चे को ठीक कर देगा।'

वृद्ध वैद्य की बात सुनकर बुढ़िया अपने मृत बच्चे को लिये बुद्ध के पास गई और उसने बुद्ध से कहा—'महात्मन्! कृपा कर मेरे इस बच्चे को ठीक कर दीजिये।'

बुद्ध मृत बच्चे को देखते ही सारी स्थिति ताड़ गये। उन्होंने यह भी समझ लिया कि यदि उसे सीधे तौर पर बच्चे के मरने की बात कही तो बुढ़िया उस पर विश्वास नहीं करेगी। अतः बुद्ध ने बुढ़िया से कहा—'तुम्हारे बच्चे को ठीक कर सकता हूं, यदि

तुम गांव में जाकर किसी घर से एक मुट्ठी सरसों ले आओ। पर एक बात का ध्यान रखना। सरसों किसी ऐसे घर से लाना जिसमें कभी कोई मरा न हो। सरसों लाते ही मैं क्षण भर में तुम्हारे बच्चे को ठीक कर दूँगा।'

बुद्ध की बात सुनकर बुढ़िया तत्काल द्रुतगति से गांव में गई। वह घर-घर, गली-गली घूम गई। वह प्रत्येक गृहस्थी से कहती—'मेरे बीमार बच्चे के लिये एक मुट्ठी सरसों की आवश्यकता है।'

बुढ़िया की बात सुनते ही लोग सरसों लाते और उसे देने को उद्यत होते। बुढ़िया सरसों लाने वाले प्रत्येक गृहस्थ से पूछती—'सरसों लाये हो, यह तो ठीक है, पर यह बताओ कि तुम्हारे घर में कभी कोई मरा तो नहीं?'

प्रत्येक गृहस्थ कहता—'मेरे पिताजी इसी घर में मरे, दादाजी भी इसी में मरे और कुछ ही दिनों पूर्व मेरी बुढ़िया मां भी इसी घर में मरी है।'

कोई गृहस्थ कहता—'मेरी पत्नी इसी घर में मरी, मेरा पुत्र भी इसी घर में मरा।'

किसी गृहस्थ ने कहा—'मेरा भाई इस घर में मरा।'

तो किसी दूसरे गृहस्थ ने कहा—'मेरा भतीजा इस घर में मरा।'

बुढ़िया को कोई घर ऐसा नहीं मिला, जिसमें कोई न मरा हो। वह सारे गांव में घूम गई पर उसको बुद्ध ने जैसा बताया उस प्रकार की मुट्ठी भर सरसों देने वाला एक भी गृहस्थ कहीं नहीं मिला।

अन्त में निराश हो वह बुढ़िया बुद्ध के पास लौटी और बोली-'महाराज! आप जैसी सरसों चाहते हैं, उस प्रकार की सरसों कहीं नहीं मिली, क्योंकि कहीं कोई एक भी घर ऐसा नहीं है जिसमें कि कभी कोई मरा न हो।'

बुद्ध ने कहा—'क्या कहा? ऐसा कोई घर नहीं, जिसमें कभी कोई न मरा हो? अहो! वस्तुतः यह एक शाश्वत सत्य है कि जो जन्म ग्रहण करता है वह एक न एक दिन अवश्य मरता है। जो शरीरधारी है, उसका मरना सुनिश्चित है। तेरा बच्चा जन्मा था। अब उसके १०० वर्ष पूरे हो गये।'

वह बुढ़िया वैद्यों के कहने से नहीं समझी थी, पर जब उसने यह देखा कि किसी गांव में, किसी शहर में, किसी देश में कोई ऐसा घर नहीं जहाँ कोई नहीं मरा हो तो उसकी समझ में यह बात आ गई कि उसका पुत्र मर गया है।

अविनश्वर की उपेक्षा

हमारा सम्यग्दर्शन यही कहता है कि यदि हमारी दृष्टि निर्मल हो जाय, यदि यह श्रद्धा, विश्वास हो जाय कि टिकने वाली अविनश्वर चीज मेरी है तथा विनष्ट होने वाली चीजें मेरी नहीं हैं तो प्राणी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कोई देर न लगे। मैं कहने वाला हूँ, आप सुनने वाले हैं, हमारे इस पिण्ड में जो विराजमान है, वह आत्मा कभी मरने वाला नहीं है।

वह अविनाशी आत्मदेव ही अजर-अमर, शाश्वत एवं सदा-सर्वदा टिकाऊ रहने

वाला है। शेष सब कुछ धन-यौवन, गढ़-कोट-हवेली, बंगला-कार, कुटुम्ब-कबीला और काया-माया वस्तुतः बादल-छाया की तरह क्षणिक, अस्थिर, विनश्वर अर्थात् नहीं टिकने वाले हैं। इस प्रकार की वस्तु स्थिति में सदा टिकी रहने वाली वस्तु की सार-सम्हाल करने वाला व्यक्ति बुद्धिमान गिना जायगा।

आप सब भी यह चाहते हैं कि आपकी गणना बुद्धिमानों में की जाय। तो जब केवल आत्मा ही टिकने वाला है, तो नहीं टिकने वाली सब नश्वर वस्तुओं की चिन्ता छोड़ आत्मा के कल्याणकारी, आत्मा के हित की साधना करने वाले काम करो। जो ठहरने वाला नहीं है, जिसे आप स्वयं टिकने वाला नहीं मानते उस शरीर के लिये तो आप आज तक बहुत कुछ करते रहे हो। सदा टिके रहने वाले आत्मा के कल्याण की भी अब तो कुछ चिन्ता करो। आत्महित के कार्यों की ओर अभिमुख होने एवं उनमें प्रवृत्ति करने के लिये प्रतिपल तैयार रहो।

दर्शनविशुद्धि : प्रथम सोपान

अपने दर्शन को निर्मल कीजिये, श्रद्धा एवं विश्वास को विशुद्ध कीजिये। क्योंकि दर्शन-विशुद्धि ही साधना का प्रथम सोपान है, सम्यग्दर्शन से ही साधना का शुभारम्भ होता है। दर्शन विशुद्ध रहने पर ही वास्तविक तत्त्वज्ञान, सच्चा तत्त्वबोध होगा। तत्त्वज्ञान से ही चेतन अर्थात् स्वतत्त्व की और जड़ अर्थात् परतत्त्व की पहचान होगी। यदि आपने स्व और पर के स्वरूप को यथातथ्य रूप से समझकर हृदयंगम कर लिया तो समझ लीजिये कि आपको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई, आप सम्यग्दृष्टि भव्य जीव बन गये और सम्यग्दृष्टि बन जाने के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से मोक्ष के अधिकारी बन गये, क्योंकि सम्यग्दृष्टि बन जाने के पश्चात् जीव अर्द्ध पुद्गल परावर्तन जितने काल के अन्दर-अन्दर सुनिश्चित रूप से सिद्ध बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

आत्म-जागृति

- जब तक मनुष्य का सम्पूर्ण विश्वास आत्मा के अन्दर पैदा नहीं होता, तब तक वह कल्याण मार्ग की साधना में सही रूप से आगे नहीं बढ़ सकता।
- श्रद्धा की दृढ़ता न होने से ही मनुष्य अनेक देवी-देवता, जादू-टोना और अँधविश्वास में भटकता रहता है। अगर सम्यग्दर्शन हो तो इधर-उधर चक्कर खाने की जरूरत नहीं होती।
- हमारे धर्म का हमारे व्रत, नियम एवं साधना का मूल सम्यग्दर्शन है।
- जहाँ राग है वहा मन की वृत्तियों का लगाव है, जहाँ लगाव है वहां बन्धन है और जहाँ बन्धन है वहाँ दुःख है।
- दुःखमुक्ति का रास्ता यह है कि हित-मार्ग को जानो, पहचानो, पकड़ो और तदनुकूल आचरण करो।

—आचार्य श्री हस्ती

श्रद्धा बिन सब सून

◻ आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा.

सम्यग्दर्शन के विविध पक्षों पर श्रद्धेय आचार्यप्रवर के विचारों को यहां उनके प्रवचनों के आधार पर ५ शीर्षकों में संकलित-सम्पादित किया गया है। आचार्यप्रवर ने धार्मिक शिक्षण शिविर पीपाड़ (मई, १९९६) के समय अपने व्याख्यानों में सम्यग्दर्शन का विस्तृत विवेचन किया था, जिसे श्री पुखराज मोहनोत ने संकलित करने का श्रम किया। उसका ही सम्पादित कुछ अंश सारांश के रूप में यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है। —सम्पादक

---

(१)

सम्यग्दर्शन का अर्थ

'सम्यग्दर्शन' में दर्शन शब्द विद्यमान है। 'दर्शन' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में प्रचलित है। दर्शन के लिए प्राकृत-साहित्य में 'दंसण' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत में 'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति 'दृश्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगने पर हुई है। 'दर्शन' शब्द के सम्प्रति निम्नाङ्कित अर्थ प्रचलित हैं—

(१) दृश् धातु का अर्थ होता है—देखना (देखने की क्रिया करना)। अतः ल्युट् प्रत्ययान्त 'दर्शन' शब्द का सामान्य अर्थ है—देखना (संज्ञा)। इस देखने के अन्तर्गत नेत्र से देखना, अनुभव से देखना आदि सभी का समावेश हो जाता है।

(२) दर्शन का एक अर्थ मान्यता या सिद्धान्त भी है। जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन आदि पदों में दर्शन का यही अर्थ अभीष्ट है। फिलासॉफी (Philosophy) के अर्थ में जो 'दर्शन' शब्द प्रचलित है वह भी विचार, मत या सिद्धान्त के अर्थ में ही स्वीकृत है। इसका एक अर्थ दृष्टिकोण भी है जो भी फिलासॉफी को ही व्यक्त करता है।

(३) जैन दर्शन में 'दर्शन' एक पारिभाषिक शब्द है। इसके यहां दो अर्थ प्रचलित हैं। उनमें एक अर्थ है—सामान्य बोध। दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव में जो दर्शनगुण प्रकट होता है वह 'सामान्यबोध' अर्थ का परिचायक है। यह 'दर्शन' ज्ञान के पूर्व होता है। दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग के रूप में इनका क्रम निरन्तर चलता रहता है।

(४) 'दर्शन' का अन्य पारिभाषिक प्रयोग सम्यग्दर्शन के अर्थ में हुआ है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है तत्त्वार्थों के प्रति श्रद्धा। यहां श्रद्धा कोई अंधविश्वास एवं अंधश्रद्धा का द्योतक नहीं है, अपितु जीवादि तत्त्वों को समझकर श्रद्धा करने का द्योतक है। इसमें अंध श्रद्धा एवं अंधविश्वास का कोई स्थान नहीं है। श्रद्धा को आस्था, विश्वास एवं प्रतीति के नाम से भी जाना जाता है। श्रद्धा में आत्मभाव एवं स्व का संवेदन होता है। यह मात्र बौद्धिक स्तर का विश्वास नहीं है, यह तो अन्तःकरण से होने वाली विवेकयुक्त आस्था है।

श्रद्धा अर्थ—सम्यग्दर्शन के विभिन्न रूपों में 'श्रद्धा' अर्थ की प्रधानता है। बिना आस्था, बिना विश्वास या बिना श्रद्धा के आचरण सम्यक् नहीं बन पाता। आस्था एवं श्रद्धा भी किस पर हो? इसके लिए दो प्रकार से समाधान मिलते हैं— १. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष नामक नवतत्त्वों के स्वरूप

पर यथातथ श्रद्धा करना (उत्तराध्ययनसूत्र २८.१४-१५ एवं तत्त्वार्थसूत्र १.२) और २. अरिहंत एवं सिद्ध रूप वीतराग देव, पंच महाव्रतधारी गुरु एवं जिनप्रज्ञप्त धर्म पर आस्था या विश्वास रखना, यथा—

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं॥

दोनों प्रकार के समाधान में बाह्य भेद प्रतीत होता है, किन्तु वह स्वरूपतः एक ही है। नवतत्त्वों या तत्त्वार्थों पर श्रद्धा होगी तो देव एवं गुरु पर भी श्रद्धा हो जाएगी और देव एवं गुरु पर श्रद्धा है तो जिनप्रज्ञप्त धर्म पर भी श्रद्धा हो जाएगी।

जीवन का बाह्य व्यवहार भी पारस्परिक विश्वास पर टिका हुआ है। लाखों-करोड़ों का लेन-देन भी इसी पर निर्भर करता है। विश्वास नहीं है तो चरण आगे नहीं बढ़ते। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति मार्ग में आए चौराहे पर निर्णय नहीं कर पाता कि उसे किस ओर जाने पर गंतव्य मिल सकेगा। वह बालक से मार्ग पूछता है। बालक मार्ग बताता है, किन्तु विश्वास नहीं हुआ, तो चरण आगे नहीं बढ़े। किसी अन्य व्यक्ति से पूछा। उसने भी वही मार्ग बताया, किन्तु उस पर भी विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि उस व्यक्ति से वह पहले धोखा खा चुका है। तीसरा व्यक्ति आया, उससे पूछा गया, किन्तु वह पागल है, अतः उसके वचन पर भी विश्वास नहीं हुआ। अन्त में मार्ग को जानने वाले पुलिस मेन से पूछा गया। उसने जो मार्ग बताया, उस पर विश्वास हो गया और व्यक्ति चल पड़ा।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी विश्वास अनिवार्य है। विश्वास के बिना यहां भी चरण नहीं बढ़ते। विश्वास भी उसी पर करने योग्य है जिससे निश्चिन्तता एवं निःशंकता आ सके। सबसे बड़ा विश्वास तो स्वयं अपनी आत्मा पर होना चाहिए। तभी समस्त तत्त्वों पर विश्वास हो सकेगा। आत्मा पर श्रद्धान करने पर सम्यग्दर्शनी का चिन्तन चलता है—'मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, मुझे यहां क्या करना है? मैं दुर्लभ जीवन को किस प्रकार जी रहा हूं।' मिथ्यात्वी 'पर' का चिन्तन करता है जबकि सम्यक्त्वी 'निज' का चिन्तन करता है। क्या है मेरा लक्ष्य? क्या है मेरा उद्देश्य, क्या है मेरा साध्य? ऐसे प्रश्नों का उद्‌गम सम्यग्दर्शन का द्योतक है। साध्य के प्रति यदि श्रद्धा नहीं है तो सिद्धि सम्भव नहीं। सिद्धि के लिए श्रद्धा नितान्त अनिवार्य है।

जब बिना विश्वास या श्रद्धा के बाह्य व्यवहार भी सफलतापूर्वक नहीं चल पाता है तो फिर आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता के लिए अपने आप पर विश्वास होना अनिवार्य है। अपने आप पर विश्वास से तात्पर्य आत्मा पर विश्वास से है। सम्यग्दर्शन का एक अर्थ भेदविज्ञान भी लिया जाने लगा है, किन्तु यह भी श्रद्धा के बिना संभव नहीं। आत्म-तत्त्व पर श्रद्धा होने पर ही अनात्म से अपने को भिन्न समझा जा सकता है।

(२)

एकान्त निश्चय : भ्रामक

रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान है, क्योंकि दर्शन के सम्यक् हुए बिना ज्ञान एवं चारित्र सम्यक् नहीं होते (उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३०)। दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन

तीनों के सम्यक् होने पर ही सांसारिक बन्धन से सदैव के लिए छुटकारा प्राप्त होता है। (तत्त्वार्थसूत्र, १.१)

प्रश्न यह उठता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में ज्ञान एवं क्रिया का कोई योगदान होता है या नहीं? प्रश्न गंभीर है। ज्ञान एवं क्रिया अभी सम्यक् नहीं है, फिर भी वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में सहयोगी बनते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो कभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। निश्चय एवं व्यवहार सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन करने वाले यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि जब तक जीव के मोहनीय कर्म की स्थिति अन्तःकोटाकोटि सागरोपम नहीं होती है तब तक उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। मोहनीय सहित सात कर्मों (आयु को छोड़कर) की उत्कृष्ट बंध स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की होती है। उसका एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कम रह जाना बिना क्रिया या पुरुषार्थ के संभव नहीं है। इसमें प्राप्त ज्ञान एवं क्रिया का मुख्य योगदान होता है। यदि विचारों में शुभ्रता नहीं होगी एवं आचरण में शुभता नहीं होगी तो मोहकर्म की स्थिति अन्तःकोटाकोटि मात्र नहीं रह सकती। मोहनीय कर्म की स्थिति घटने के साथ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की भी स्थिति घट जाती है। तप, संयम आदि से होने वाली निर्जरा भी कर्म-क्षय में साधन बनती है। निश्चयवादियों का मत है—

> इम समकित पायां विना जप तप करणी थोक।
> मुरदे को सिणगारणां मात्र दिखावा लोक॥

यह कथन एकान्त निश्चय नय का कथन है। वस्तुतः व्यवहार को भी उतना ही महत्त्व देना होगा जितना कि निश्चय को। एकान्त निश्चय का कथन भ्रामक हो सकता है। मुर्दे का शृंगार व्यवहार में भी फलदायी नहीं होता है, किन्तु तप, संयम आदि की क्रियाएं मात्र लोक दिखावा हो, ऐसा नहीं है। शास्त्रादि के श्रुतज्ञान का आश्रय लेकर चिन्तन-मनन करना एवं कर्म-निर्जरा के लक्ष्य से तप-संयमादि करना लोकदिखावा नहीं कहा जा सकता। यह तो मार्ग है जिससे सम्यग्दर्शन की उपलब्धि सम्भव है। यदि मार्ग का ही निषेध कर दिया जाएगा तो सम्यग्दर्शन तक कथमपि पहुंचना सम्भव नहीं है। इसलिए व्यवहार का पूर्णतः निषेध करके सम्यग्दर्शन की बात कहना समीचीन नहीं है।

मक्खन की प्राप्ति के लिए बिलौने की रस्सी के दोनों सिरों को क्रम से खींचना होगा, अन्यथा मक्खन नहीं निकल सकेगा। निश्चय एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों का महत्त्व है। कभी निश्चय की प्रधानता होती है और व्यवहार गौण होता है तो कभी व्यवहार प्रधान एवं निश्चय गौण होता है। पक्षी के जिस प्रकार दोनों पंखों का महत्त्व है, उसी प्रकार जीवन में निश्चय एवं व्यवहार के समुचित समन्वय की आवश्यकता है। एकान्त रूप से व्यवहार पर बल देना एवं एकान्त रूप से व्यवहार को गौण करना उचित नहीं है।

(३)

सम्यक्त्व : दृष्टि परिवर्तन

सम्यग्दर्शन रूप बोधिरत्न प्राप्त हो जाए तो एक रंक भी चक्रवर्ती से बढ़कर होता है—

> अप्राप्ते बोधिरत्ने हि चक्रवर्त्यपि रंकवत्।
> संप्राप्ते बोधिरत्ने तु रंकोऽपि स्यात्ततोऽधिकः॥

यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है तो चक्रवर्ती भी रंक के समान है और यदि बोधिरत्न प्राप्त हो गया है तो रंक भी चक्रवर्ती से बढ़कर है। सम्यग्दृष्टि के लिए बाह्य धन-सम्पदा का प्रलोभन नहीं होता। वह उसे सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के समक्ष तुच्छ ही समझता है। इसीलिए निम्न कथन प्रचलित हो गया है-

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
काकबीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सांसारिक कार्यों का निर्वाह नहीं करता। वह निर्वाह करता है, किन्तु निर्लिप्त एवं निरासक्त भाव से। उसकी सांसारिक विषय-भोगों के प्रति रुचि नहीं रहती, घर-परिवार एवं धन-सम्पदा पर ममत्व एवं आसक्ति न्यून हो जाती है। इसीलिए कहा गया-

अहो समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

सम्यग्दृष्टि का चरण जब आगे बढ़ता है तो वह देशविरति एवं सर्वविरति को प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो अप्रमत्त भाव को प्राप्त कर उसी भव में (आयुष्य न बांधने पर) भी मोक्ष के अनन्तसुख को प्राप्त कर लेता है। वह अनन्तज्ञानी एवं अनन्तदर्शनी होने के साथ दानादि लब्धियों को प्राप्त कर लेता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शनमोहनीय का उदय में अभाव होने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर अन्य कषायों का भी क्षय करना सम्भव है।

शास्त्र कहते हैं कि जहां सम्यक्त्व नहीं वहां ज्ञान भी अज्ञानरूप ही है। सम्यग्दर्शन के बिना आत्मलक्ष्यी अथवा मोक्षाभिमुखी ज्ञान का अभाव ही रहता है। यद्यपि अज्ञानी एवं ज्ञानी दोनों ही बाह्य वस्तुओं को एक जैसे नामों से जानते एवं पुकारते हैं, तथापि उनकी दृष्टि में भारी अन्तर होता है। दोनों ही गाय को गाय, हाथी को हाथी और कुत्ते को कुत्ता ही कहते हैं, किन्तु अज्ञानी जहां बाह्य दृष्टि तक सीमित है वहां ज्ञानी उसका वास्तविक स्वरूप जानता है। उसकी नित्यानित्यता को जानता है।

मिथ्यात्वी कहता है यह तन अनमोल है। नर भव की यह देह पहले कभी मिली नहीं, इसलिए इसको खूब सजाओ, संवारो। इसे किसी प्रकार का कष्ट मत दो। इसे खूब नहलाओ, धुलवाओ और खूब खिलाओ-पिलाओ, इस प्रकार उसका चिन्तन चलता रहता है। सम्यग्दृष्टि भी नरतन को अनमोल मानता है और उसकी असाधारण सत्ता को स्वीकार करता है। वह सोचता है-'यही तो वह अनुपम, अनमोल मनुष्य देह है जिसे प्राप्त कर अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।' जब किसी को सम्यक्त्व प्राप्त होता है तो उसका जीवन, उसके विचार उसका कार्यकलाप सभी में परिवर्तन स्पष्ट लक्षित होता है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि, यह नियम सम्यग्दृष्टि व्यक्ति पर भी घटित होता है। उसका संसार बदल जाता है। उसके भीतर जो बदलाव आता है वह उसे काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से बचाता है।

दृष्टिभेद से संसार की वस्तुएं सबको भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई पड़ती हैं। मिथ्यात्वी जहां संसार की वस्तुओं को भोग्य वस्तुओं के रूप में देखता है, सम्यक्त्वी वहां उन वस्तुओं से अपने को पृथक् समझता है एवं उसका भोग करने की भावना से

विरत रहता है। एक मृत युवति को देखकर भोगी उससे भोग करना चाहता है, चोर उसके जेवर लूट लेना चाहता है। सियार उसे मांस समझकर खा लेने का इच्छुक है और एक संत उसकी लाश को देखकर जीवन की क्षण भंगुरता का विचार करता है। यह सब दृष्टि का भेद है। सम्यक्त्वी की दृष्टि संत के समान होती है, जिसमें वस्तुओं की क्षणभंगुरता का बोध होता है। धन्ना सेठ जिस सुभद्रा को पत्नी समझते थे, दृष्टि बदली तो उसे बहन मानकर वैसा ही व्यवहार करने लगे।

आवश्यकता दृष्टि में परिवर्तन की है, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में आने की है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही मुक्ति निकट हो जाएगी। संसार का स्वरूप बदला हुआ प्रतीत होगा। फिर व्यक्ति बालक की भांति बेर के लिए कीमती हीरे को नहीं फेंकेगा। कहा है—

जहां जिसकी समझ नहीं, वहां अंधेरा घोर।
रत्न कीमती छोड़कर, बालक पकड़े बोर॥

बालक के हाथ में कीमती रत्न हो और उसे खाने का बोर दिया जाय तो वह रत्न को फेंककर बोर ले लेता है, कारण कि उसको रत्न का मूल्य ज्ञात नहीं है। मिथ्यात्वी भी इसी प्रकार अमूल्य मानव भव को भोगों के बदले में खो देता है, किन्तु सम्यक्त्वी उसका मूल्य जानकर उसे सार्थक बना लेता है।

(४)

सम्यक्त्वी की पहचान

शरीर की कोई हड्डी फ्रेक हो जाय तो एक्स-रे से पता चलता है, सिर में कहीं गांठ आदि हो तो सी.टी. स्केन से पता चल जाता है, शरीर के भीतर अन्य कोई गांठ आदि हो तो सोनोग्राफी से ज्ञात हो जाता है, थर्मामीटर से बुखार नाप लिया जाता है। इस प्रकार बाह्य विकार के अनेक परीक्षण यन्त्र हैं, किन्तु भीतर के विकारों का एवं सम्यग्दर्शन का बोध किसी यन्त्र से नहीं, व्यक्ति के आचरण से होता है। सम्यग्दर्शन होने के पांच लक्षण माने गए हैं—१. शम २. संवेग ३. निर्वेद ४. अनुकम्पा और ५. आस्तिक्य।

सम्यक्त्वी समता में रहता है । वह विषम परिस्थितियों में भी समभाव में रहता है। उसका समभाव नाटक नहीं होता। कषाय के पतले होने से वह समभाव में रहता है। उसका समभाव सहज रूप से होता है। यदि धर्मकार्यों को करते हुए मन प्रमुदित होता है, प्रसन्न होता है और पापकार्य करते हुए लज्जा, ग्लानि एवं विक्षोभ का अनुभव करता है तो यह भी सम्यक्त्वी होने की पहचान है। विषय-भोगों के प्रति आकर्षण में कमी होना निर्वेद है। यह एक प्रकार से वैराग्य है। सम्यक्त्वी जीवन-निर्वाह के लिए आहारादि लेता है, भोग की भावना से नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव की यह भी पहचान होती है कि वह संसार में रहकर भी संसार में नहीं रहता। पानी में नाव है पर नाव में पानी नहीं । वह संसार में है, परन्तु उसमें संसार नहीं होता। दुःखियों के दुःख को देखकर सम्यक्त्वी अनुकम्पित होता है तथा उनके दुःख को दूर करने हेतु प्रयासरत होता है। सम्यक्त्वी की जीवादि नवतत्त्वों एवं सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर आस्था होती है। यही आस्तिक्य कहलाता है।

(५)

सम्यक्त्व : एक दिव्य दृष्टि

(प्रवचन से चयनित वचन)

● सम्यग्दर्शन अभी प्राप्त नहीं हुआ है, अन्यथा क्या मजाल कि स्थानक में सामायिक में, व्रत में, पौषध में आप बैठे हों और मन घर जाने को करे। यह मोह एवं मिथ्यात्व की दशा है। बिना श्रद्धा या बिना विश्वास यह दशा टूटने वाली नहीं है।

● सम्यग्दर्शनी का व्यवहार सम्यग्दर्शन के पश्चात् शुद्ध-निर्मल नहीं रहा तो जो रत्न मिला था वह भी चला जायेगा।

● धर्मकार्य को बाद में करने के लिए टालते रहना सम्यग्दर्शनी को शोभा नहीं देता।

● सम्यग्दर्शन एक दिव्यदृष्टि है जो अंधकार से प्रकाश में लाती है।

● मिथ्यात्वी जहां गुणीजनों में बैठकर भी अवगुण ही तलाशता है वहां सम्यक्त्वी जीव अवगुणधारियों में बैठकर भी गुण को चुन लेता है।उसकी दृष्टि गुण-ग्राहक होती है।

● कहा जाता है कि व्यवहार समकित की आराधना करते हुए भी जीव मिथ्यात्वी होता है। यह कथन सत्य के निकट है, पर इस कथन को लेकर यह मानना कि हमें व्यवहार समकित की आराधना-साधना ही नहीं करनी चाहिए, उचित नहीं है। मिथ्यात्वी भी वीतराग को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और दया में धर्म समझे और पुरुषार्थ करे तो वह समकित को वस्तुतः प्राप्त कर सकता है। मिथ्यात्व की गांठ आज ढीली पडेगी तो कल वह गलेगी और अन्त में जीव के द्वारा तोड़ दी जायेगी।

● दृष्टि के अन्तर का ही सारा खेल है।दृष्टि संसार के काम-भोगों में उलझी तो घोर अंधेरा है और तत्त्व श्रद्धान एवं तत्त्व निश्चय की ओर चली गई तो प्रकाश ही प्रकाश है।

● सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् विषय भोग गंदगी के रूप में त्याज्य प्रतीत होते हैं। क्रोधादि भी त्याज्य प्रतीत होते हैं।

● जैसी अन्तःदृष्टि होती है वैसी ही बाह्य सृष्टि प्रतीत होती है। सम्यक्त्व दर्पण है जिसमें अपनी आत्मा का दर्शन किया जा सकता है।

● सम्यक्त्वी का प्रत्येक विचार, प्रत्येक आचार कर्मबंध को हटाने के लिए, आस्रव को मिटाने के लिए और मुक्ति की प्राप्ति के लिए होता है।

● चिड़ी कांच पर बैठती है और स्वयं को देखती है। उसे कांच में अपना प्रतिरूप दिखता है, उसे वह अपना स्वजाति पक्षी समझकर लड़ने लगती है और चोंच मार-मारकर खुद की चोंच को घायल कर डालती है। यही दशा मिथ्यात्वियों की है। वे पुद्गलों में ही अपना जीवन मानकर उन्हीं में रमते हैं और इस प्रकार अज्ञान में अपनी आत्मा को आहत कर लेते हैं।

● आत्मा का वास्तविक घर मोक्ष है। उसकी प्राप्ति तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन से संभव है।

सम्यग्दर्शन और समभाव

☐ उपाध्यायप्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा.

उपाध्यायप्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा. एक प्रज्ञाशील संत हैं। आपसे सम्यग्दर्शन और समभाव विषय पर आगोलाई में चर्चा हुई थी, जिसके सारांश रूप में यह लेख प्रस्तुत है।—सम्पादक

सम्यग्दर्शन और समभाव दोनों भिन्न हैं। समभाव के मुख्यतः दो रूप दिखायी देते हैं–(१) कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्राप्त समभाव। यह समभाव सम्यक्त्व की प्राप्ति से लेकर वीतराग अवस्था तक पाया जाता है। (२) समभाव का दूसरा वह रूप है जो मिथ्यात्वी में भी पाया जाता है। अभवी मिथ्यात्वी भी द्रव्य सामायिक चारित्र की आराधना करता हुआ नवग्रैवेयक देवों तक उत्पन्न हो सकता है।

कषाय के क्षयादि से प्रकट होने वाला समभाव सम्यक्त्वी को होता है, इसे मानने में कोई विवाद ही नहीं है, किन्तु समभाव का प्रयोग जब अभ्यासदशा में मिथ्यात्वियों के लिए भी किया जाता है, तो यह कुछ अटपटा प्रतीत होता है। किन्तु मिथ्यात्वियों में समभाव सहिष्णुता के रूप में पाया जाता है। मिथ्यात्वी जीव भी सहिष्णु होते हैं जिसे लेश्याशुद्धि कह सकते हैं। पेड़ पौधे जैसे जीवों में तो यह सहिष्णुता प्रत्यक्ष गोचर होती ही है, किन्तु आतापना लेने वाले, धूनी रमाने वाले, अग्नितप करने वाले मिथ्यात्वी संन्यासियों में भी समभाव युक्त सहिष्णुता दिखाई देती है। अभवी जीवों में भी इतनी सहिष्णुता बतायी गई है कि उन्हें तपती भट्टी में झोंक दिया जाय तब भी वे उफ तक नहीं करते। सहिष्णु होना कोई सम्यक्त्व का द्योतक नहीं होता। दुकानदार अपने धंधे के लिए किसान अपनी फसल के लिए सहिष्णुता के धनी होते हैं। इससे उनमें तीव्र क्रोधादि की प्रतिक्रिया न करने रूप समभावगर्भित सहिष्णुता प्रतीत होती है। बाहर में इनमें इतनी सहिष्णुता रहती है कि ये अपनी प्रतिक्रिया को झलकने तक नहीं देते।

प्रश्न होता है कि मिथ्यात्वी जीवों में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय रहता है फिर उनमें समभाव कैसे संभव है? प्रश्न तो उपयुक्त है किन्तु प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन प्रकृतियों का उदय रहता है। जब क्रोध का उदय होता है तो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन चतुष्क का उदय होता है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी के साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन मान का तथा इसी प्रकार मायाचतुष्क एवं लोभचतुष्क का उदय होता है। उनमें भी तीव्रता-मंदता चलती रहती है। अनन्तानुबन्धी के तीव्रतम रूप चतुःस्थानिक से जब त्रिस्थानिक या द्विस्थानिक तक जीव आता है तो उसमें लेश्या कृष्ण से शुक्ल तक हो जाया करती है। इसका अर्थ है कि कषाय की थोड़ी सी मदता से भी लेश्या की शुद्धि होती है, जिसे व्यवहार में सहिष्णुता व समभाव के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार कषायो में आपेक्षिक रूप

से मंदता होने पर समभाव एवं सहिष्णुता का होना शक्य है। किन्तु वास्तव में इन जीवों में कषाय की अधिक मंदता नहीं होती है।

एक शंका यह उठती है कि श्रमणदीक्षा तो सम्यक्त्व के बाद ही होती है, फिर मिथ्यात्वी जीव प्रव्रज्या या श्रमणदीक्षा कैसे अंगीकार करते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि मिथ्यात्वी जीव भी देवों, राजा-महाराजाओं एवं तपस्या का लौकिक प्रभाव देखकर दीक्षा अंगीकार कर लेते हैं। पूजातिशय एवं दानादि के प्रभाव से भी दीक्षा का भाव आ जाता है। इसलिए दीक्षा अंगीकार करना भवी मिथ्यात्वी एवं अभवी मिथ्यात्वी के लिए भी संभव है। अभवी को तो सम्यक्त्व की प्राप्ति कभी भी नहीं होती है, किन्तु भवी मिथ्यात्वी को साधुत्व अंगीकार कर लेने के पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव है।

समभाव की उत्कृष्टतम अवस्था वीतराग भाव है और न्यूनतम अवस्था पहले गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाती है जिसे चतुःस्थानिक से त्रिस्थानिक एवं द्विस्थानिक अनन्तानुबन्धी कषाय के रूप में पहले स्पष्ट किया जा चुका है। कषाय की कमी को ही समभाव कहते हैं तथा गुणस्थान क्रम सारा ही कषाय की कमी एवं समभाव की वृद्धि के रूप में माना गया है।

का ही पर्याय वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए समभाव का अभ्यास किया जाता है। अनेक बन्धु-भगिनी सम्यक्त्व प्राप्ति होने के पूर्व 'सामायिक' करते हैं। यह सामायिक समभाव के अभ्यास हेतु की जाती है। उस अभ्यास को भी समभाव ही कहा जाएगा। यह अभ्यास रूप समभाव स्थूल होता है, किन्तु है तो समभाव ही। समत्वभाव एक प्रकार से मानवोचित गुण भी माना गया है, यथा-समस्त प्राणियों के प्रति समत्वभाव होना अर्थात् समानता का भाव होना। अनेक भाई मिलेंगे, जिनको कहा जाता है कि भाई अमुक जीव को मत मारना, तो वे कहते हैं—'महाराज! मैं उस जीव को कैसे मारूगा, जैसा मेरा जीव है वैसे ही उसका जीव है।' ऐसी समानता रूप समता की बात मिथ्यात्वी में भी हो सकती है।

सम्यक्त्व होने पर जीव संसार के भोग-पदार्थों को तुच्छ समझता है। वह विषय-भोगों से उदासीन एवं विरक्त हो जाता है। संसार के कार्यों को करते हुए उसका ध्यान आत्मा की ओर ही रहता है। जैसे भरतचक्रवर्ती को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया तो उनका ध्यान आत्म-तत्त्व की ओर ही केन्द्रित रहा।

जिस प्रकार शुभयोग को अशुभ से निवृत्ति के कारण संवर कहा जाता है, किन्तु पूर्ण संवर तो अयोगी अवस्था में ही होता है। उसी प्रकार पूर्ण समत्व तो वीतराग अवस्था में होता है, किन्तु सराग अवस्था में भी रागादि की अपेक्षाकृत न्यूनता के कारण अथवा शुभलेश्याओं के कारण समत्व भाव कहा जाता है। यह समत्वभाव मिथ्यादृष्टियों में भी सम्भव है।

सम्यक्त्व का महत्त्व

¤ आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा.

सम्यक्त्व की महिमा आगमों में तो वर्णित है ही, किन्तु आगमपोषक आगमेतर साहित्य में भी सम्यक्त्व का महत्त्व प्रतिपादित है। स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. इस शती के क्रान्तिकारी सन्त हुए हैं। उनकी दृष्टि में सम्यक्त्व पर यहां संक्षिप्त लेख संगृहीत है।—सम्पादक

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं,
सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः॥

जैन शास्त्रों में तीन रत्न प्रसिद्ध हैं, उन्हें 'रत्नत्रय' भी कहते हैं। सम्यक्त्व-रत्न उन तीनों में प्रधान है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीन रत्न हैं। पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन की मौजूदगी में ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्ता आती है। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं वहाँ सम्यग्ज्ञान भी नहीं और सम्यक्चारित्र भी नहीं। सम्यग्दर्शनहीन ज्ञान और चारित्र मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकते। उनसे भवभ्रमण का अन्त नहीं हो सकता। यही नहीं, वे भवभ्रमण के ही कारण होते हैं। कहा है-

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते॥

सम्यग्दर्शन कदाचित् विशिष्ट ज्ञान और चारित्र से रहित हो, तब भी वह प्रशंसनीय है। उससे संसार परीत हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व के विष से विषैले विपुल ज्ञान और चारित्र का होना प्रशंसनीय नहीं है।

सम्यक्त्व से बढ़कर आत्मा का अन्य कोई मित्र नहीं है। मित्र का काम अहितमार्ग से हटाकर मनुष्य को हितमार्ग में लगाना है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व ही सबसे बडा मित्र है। जब आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है। उसे हित-अहित का विवेक हो जाता है। जब तक जीव मिथ्यात्व की दशा में रहता है, तब तक तो वह हित को अहित और अहित को हित समझता रहता है और उसी के अनुसार विपरीत प्रवृत्ति भी करता रहता है, किन्तु सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही दृष्टि का विभ्रम हट जाता है और आत्मा को सत्य तत्त्व की उपलब्धि होने लगती है। वह हेय-उपादेय को समीचीन रूप में समझने लगता है। इस प्रकार हितमार्ग में प्रवृत्ति कराने के कारण और अहितमार्ग से बचाने के कारण सम्यक्त्व परममित्र है।

सम्यक्त्व अनुपम बन्धु है। बन्धु का अर्थ है-सहायक। जब आत्मा अपने कल्याणपथ में प्रवृत्ति करने के लिए उद्यत होता है तो सम्यक्त्व ही सर्वप्रथम उसका सहायक होता है। अन्य सहायकों की सहायता से जो सफलता मिलती है, वह क्षणिक

होती है और कभी-कभी उसमें असफलता छिपी रहती है, परन्तु सम्यक्त्व रूप सहायक के सहयोग से मिलने वाली सफलता चिरस्थायी होती है, और उसके उदर में असफलता नहीं होती।

संसार में, विषय-कषाय के अधीन होकर जीव नाना प्रकार के पदार्थों की कामना करते हैं। मनुष्य जिनकी कामना करते हैं, वे पदार्थ इष्ट कहलाते हैं और उनके लाभ को वे परम लाभ समझते हैं। किन्तु उन प्राप्त हुए पदार्थों की वास्तविकता पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उन पदार्थों से आत्मा का किंचित् भी कल्याण नहीं होता। यही नहीं, वरन् वे पदार्थ कभी-कभी तो आत्मा का घोर अनिष्ट साधन करने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में सहज ही समझा जा सकता है कि सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर संसार में और कोई लाभ नहीं है। सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही वह तीव्रतम लोभ और आसक्ति का अन्त कर देता है और फिर धीरे-धीरे आत्मा को उस उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है कि जहां किसी भी सांसारिक पदार्थ के लाभ की आकांक्षा ही नहीं रहती, आवश्यकता ही नहीं रहती।

सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का प्रथम साधन कहा गया है। जब तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसका समस्त आचरण, समस्त क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान नगण्य है। आत्म-कल्याण की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं है। कहा है–

ध्यानं दुःखनिधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलम्।
स्वाध्यायोऽपि हि वन्ध्य एव कुधियां तेऽभिग्रहाः कुग्रहाः॥
अश्लाघ्या खलु दानशीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडु॥

सम्यक्त्व के अभाव में जो भी क्रिया की जाती है, वह आत्म-कल्याण की दृष्टि से व्यर्थ ही होती है। तब ध्यान दुःख का निधान होता है, तप केवल संताप का जनक होता है, मिथ्यादृष्टि का स्वाध्याय निरर्थक है, उसके अभिग्रह मिथ्या आग्रह मात्र हैं। उसका दान, शील, तीर्थाटन आदि सभी कुछ नगण्य है, निष्फल है वह मोक्ष का कारण नही होता है।

जिस सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है, उसकी प्रशंसा कहां तक की जाय? प्राचीन ग्रन्थकारों ने उत्तम से उत्तम शब्दों में सम्यक्त्व की महिमा गाई है। यहाँ तक कहा गया है-

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः॥

जिसका अन्तःकरण मिथ्यात्व से ग्रस्त है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है और जिसकी चेतना सम्यक्त्व से निर्मल है, वह पशु होकर भी मनुष्य के समान है।

मनुष्य और पशु में विवेक ही प्रधान विभाजक रेखा है और सच्चा विवेक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर ही आता है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन एक अपूर्व और अलौकिक ज्योति है। वह दिव्य ज्योति जब अन्तर में जगमगाने लगती है, तो अनादिकाल से आत्मा पर छाया हुआ अंधकार नष्ट हो जाता है। उस दिव्य ज्योति के प्राप्त होने पर आत्मा अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगता है। उस आनन्द को न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और न

उपमा के द्वारा ही। उस आनन्द की आंशिक तुलना किसी जन्मान्ध को सहसा नेत्र प्राप्त हो जाने पर होने वाले आनन्द के साथ ही की जा सकती है। जो मनुष्य जन्म-काल से ही अंधा है और जिसने संसार के किसी पदार्थ को अपने नेत्रों से नहीं देखा है, उसे पुण्ययोग से कदाचित् दिखाई देने लगे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा? हम तो उस आनन्द की कल्पनामात्र कर सकते हैं। पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। सम्यग्दृष्टि, आत्मा में समता के अद्भुत रस का संचार कर देती है, तीव्रतम राग-द्वेष के संताप को शान्त कर देती है, और इस कारण आत्मा अप्राप्तपूर्व-शान्ति के निर्मल सरोवर में अवगाहन करने लगता है। सम्यग्दृष्टि के विषय में शास्त्र में कहा है-

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।–आचारांगसूत्र १.३.२

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है। चौथे गुणस्थान से लगाकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते हैं और जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है वह नवीन पाप नहीं करता है। इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नये पाप कर्मों का बंध रुक जाता है। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नहीं रह पाते और जब अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि नहीं रह पाते तो तत्कारणक (उनके कारण से बन्धने वाले) पापकर्म नहीं बंधते। इसका कारण यह है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमें वह कषाय रहेगा, उसमें मिथ्यात्व भी रहेगा। अनंतानुबन्धी कषाय जाय तो मिथ्यात्व भी नहीं रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय, वह रोग के कारण शरीर को पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर में से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की आराधना नहीं कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जाएगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायगा तभी दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है।

कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं कर सकता, इतना ही नहीं, किन्तु जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जायगा त्यों-त्यों धर्मश्रद्धा अधिक दृढ़ और तेजपूर्ण होती जायेगी। धर्मश्रद्धा में किस प्रकार दृढ़ रहना चाहिये, इस विषयमें कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया जाता है। धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

–जवाहरकिरणावली, भाग १ से साभार

आध्यात्मिक साधना का मूल केन्द्र : सम्यग्दर्शन

¤ आचार्यप्रवर श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा.

अध्यात्म जगत् के एक महान् तत्त्वचिन्तक ने कहा है कि जैन धर्म, दर्शन, आचार व संस्कृति का मूल है सम्यग्दर्शन–'दंसणमूलो धम्मो।' जैन आचार का प्राण सम्यक् दर्शन है, उसका हृदय श्रद्धा में रहा हुआ है। जितनी हमारी निष्ठा, सद्भावनाएं पवित्र आचरण के प्रति होंगी, लक्ष्य के प्रति होंगी, उतना ही जीवन चमक उठेगा, साधना खिल उठेगी।

सम्यग्दर्शन में सत्य तत्त्व का बोध भी रहता है और उस पर आस्था भी। बोध विचार है, विचार परिपक्व होने पर, आचार का रूप लेता है, इसलिए सत्योन्मुख विश्वास को आचार का आधार मानना दर्शन और मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वथा संगत है। आगे हम इसी तथ्य का चिन्तन करेंगे।

जैन साधना का लक्ष्य

आज का युग वैज्ञानिक युग है। भौतिकवाद की चकाचौंध में मानव सुख-शांति और सन्तोष को प्राप्त करने के लिए लक्ष्यहीन व्यक्ति की तरह भटक रहा है। वैभव-विलास में अटक रहा है। जैन-साधना का लक्ष्य भोग नहीं त्याग है, संघर्ष नहीं शांति है, विषमता नहीं समता है, विषाद नहीं आनन्द है, और वह तभी प्राप्त हो सकता है जब जीवन में विमल विचार हों, पवित्र आचार हो। अध्यात्म के अभाव में भौतिक उन्नति वरदान के रूप में न होकर प्रलयंकारी अभिशाप बन जाती है। सत्ता और संपत्ति के स्थान पर यदि मानवता से प्रेम किया जाय तो विश्व में अपूर्व शांति हो सकती है।

विश्वास की आवश्यकता

यह सत्य है कि विज्ञान एक महान् शक्ति है पर उसका उपयोग किस तरह से किया जाय इसका समाधान अध्यात्म और दर्शन ही दे सकता है। विज्ञान ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण तो किया है, किन्तु आन्तरिक सत्य की उपेक्षा की है। अतः वह ज्ञान होते हुए भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। जब तक ज्ञान को सम्यग्दर्शन का वरदान प्राप्त न हो, वहां तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती। सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान और विज्ञान अमानवीय पाशविक प्रवृत्तियों को बढ़ाता है। घृणा, प्रतिशोध और प्रतिस्पर्धा की भावना को उभारता है। रूढिवाद, परंपरावाद और अन्धविश्वास का पोषण करता है। वह अनास्था, अनाचार और अशान्ति से जन-जीवन को पीड़ित करता है। ज्यों ही सम्यग्दर्शन का संस्पर्श होता हैं त्यों ही अज्ञान ज्ञान के रूप में असदाचार सदाचार के रूप में और मिथ्याचार सम्यक्आचार के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

आज आवश्यकता है आध्यात्मिक सत्य को उजागर करने की, भौतिकवादी अविवेक के घने कुहरे को हटाने की। वह कुहरा हटते ही ज्ञात होगा कि जीवन क्या है? जगत् क्या है ? बंध और मुक्ति क्या है? क्यों आत्मा इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है? सबसे पहले आवश्यकता हैं–विश्वास की । उसके बाद विचार की, और उसके पश्चात् आचार की। बिना सम्यक् विश्वास के विचारों में निर्मलता व दृढ़ता नहीं आ सकती, विचारों के निर्मल बने बिना आचार में पवित्रता

नहीं आ सकती। जब स्वयं ही आत्मशक्ति पर सर्वप्रथम विश्वास होता है तभी विचार को जीवन की धरती पर उतारा जा सकता है। आचार बनता है विचार से और विचार बनता है विश्वास से। पर विश्वास, विचार और आचार कहीं बाहर से नहीं आते। वे तो आत्मा के निजगुण हैं। उन गुणों का विकास करना, जो गुण आच्छन्न हैं उन्हें प्रकाश में लाना ही स्वरूप की उपलब्धि है, और जब स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है तब साधना सिद्धि में बदल जाती है।

शक्ति की अभिव्यक्ति

भारतीय मूर्धन्य मनीषियों का यह अभिमत है कि आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी है, किन्तु वह कर्म की घटाओं से घिरा हुआ है, जिससे उसके दिव्य प्रकाश पर आवरण आ चुका है। उसका विशुद्ध स्वरूप लुप्त हो चुका है। आत्मा केवल आत्मा ही नहीं, स्वयं परमात्मा है, परं ब्रह्म है, ईश्वर है। 'अप्पा सो परमप्पा' 'तत्त्वमसि' और 'सोऽहं' उसी विराट् सत्य को व्यक्त कर रहे हैं। विश्व की प्रत्येक आत्मा में शक्ति का अनन्त स्रोत प्रवाहित है। जो आत्माएं हमें दिखाई दे रही हैं वे मूल स्वरूप में वैसी नहीं हैं। वे बद्ध अवस्था में हैं। पर एक दिन वे मुक्त होंगी, क्योंकि मुक्त होने की वे पूर्ण अधिकारी हैं। अधिकारी वह कहलाता है जिसे अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास हो। भिखारी को अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। वह तो दूसरों की करुणा पर पनपता है। वह सतत चिन्तन करता रहता है—मुझे दूसरे से ज्योति प्राप्त होगी। आवश्यकता शक्ति की प्राप्ति की नहीं, जो अनन्त शक्ति हम में छिपी हुई है उसे अभिव्यक्त करने की है। निज शक्ति को अभिव्यक्त करने की कला ही सम्यग्दर्शन है। यह हम जानते हैं कि एक नन्हें से बीज में विराट् वृक्ष के रूप में पनपने की शक्ति रही हुई है। उस शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल धरती, पानी, पवन और प्रकाश की आवश्यकता है। साधना के क्षेत्र में भी साधक को अपनी आत्मशक्ति व्यक्त करने के लिए अशुभ से शुभ में, शुभ से शुद्ध में जाना होता है। स्व-स्वरूप में रमण करने के लिए मूल सत्ता पर उसे विश्वास करना होता है।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा

आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा करते हुए लिखा—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' तत्त्वों का सही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों की संख्या के संबंध में आचार्य एक मत नहीं हैं। कहीं पर नौ तत्त्व बताये गये हैं, कहीं पर सात तत्त्वों का निरूपण है तो कहीं पर दो तत्त्वों में ही सबका समावेश किया गया है।

विवक्षा की दृष्टि से नौ, सात और दो का विभाजन है पर वास्तविक दृष्टि से तत्त्व दो ही हैं—जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध इन चार तत्त्वों का समावेश अजीव तत्त्व के अन्तर्गत किया जा सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष का अन्तर्भाव जीव तत्त्व के अन्तर्गत किया जा सकता है। इस प्रकार मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं—चेतन और जड़। आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उन असंख्य प्रदेशों में एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मों की वर्गणाएं लगी हुई हैं, जो जड़ हैं। उन वर्गणाओं के कारण आत्मा अपने निजस्वरूप को नहीं पहचान पाता। जैसे स्फटिक के पास गुलाब का फूल रखने से वह स्फटिक गुलाबी रंग का प्रतीत होता है वैसे ही

आत्मा शुद्ध स्फटिक के सदृश निर्लेप है। किन्तु कर्मरूपी फूल के संसर्ग के कारण उसका शुद्ध स्वरूप को पहचान पाना कठिन हो रहा है। प्राणी जड़ और चेतन के स्वरूप में भेद नहीं कर पा रहा है। वह जड़ को ही चेतन समझ रहा है। जड़ और चेतन में भेद विज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन है। वही तत्त्व का यथार्थ शब्दार्थ है। स्व और पर का आत्मा और अनात्मा का, चैतन्य और जड़ का, जब तक भेद विज्ञान नहीं होता तब तक स्व स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। जब स्व-स्वरूप की उपलब्धि होती है तभी उसे यह भान होता है कि 'मैं शरीर नहीं हूं, इन्द्रियां नहीं हूं और न मन ही हूं। ये तो सभी भौतिक हैं, पुद्गल हैं, जो पुद्गल हैं, वे जड़ हैं। पुद्गल अलग हैं, मैं अलग हूं। पुद्गल की सत्ता अनन्त काल से रही है वर्तमान में है, भविष्य में भी रहेगी। पर वे अनन्तानन्त पुद्गल ममता के अभाव में आत्मा का कुछ भी बिगाड नहीं सकते और आत्मा एवं पुद्गल ये दोनों ही पृथक् हैं' यह पूर्ण निष्ठा ही सम्यग्दर्शन है। उसको जानना सम्यग्ज्ञान है और उस पुद्गल की पर्यायों को आत्मा से पृथक् कर देना सम्यक् चारित्र है।

सम्यग्दर्शन अंक है

गणितशास्त्र में अंक और शून्य ये दो चीजें हैं। अंक रहित शून्य का कोई मूल्य नहीं होता। चाहे कितने भी शून्य हों पर अंक न होने से उनका महत्त्व नहीं होता। यदि एक अंक भी शून्य के साथ हो तो अंक का महत्त्व बढ़ जाता है और शून्य का भी। दोनों के समन्वय में ही दोनों का गौरव रहा हुआ है। सम्यग्दर्शन अंक है, और सम्यक् चारित्र शून्य है। सम्यग्दर्शन से ही सम्यक् चारित्र में तेज प्रकट होता है और वह विकास के पथ पर बढ़ता है। सम्यग्दर्शन रहित चारित्र उस अन्धे व्यक्ति की तरह है जो निरन्तर चलना तो जानता है, पर लक्ष्य का पता नहीं है। बिना लक्ष्य वह भटकता है। लक्ष्य-स्थान पर नहीं पहुंचता। यदि मानव के सामने कोई लक्ष्य नहीं है तो उसकी साधना का कोई प्रयोजन भी नहीं है।

परभाव और परभव

सम्यग्दर्शन का अर्थ है सम्यक्त्व-सत्यदृष्टि। दूसरे शब्दों में कहें, आत्मविश्वास, श्रद्धा, आस्था और निष्ठा। निश्चयदृष्टि से 'मैं शरीर से भिन्न आत्मा हूँ, इन्द्रियां और मन से भी भिन्न हूँ, मैं चिद्रूप हूँ, जड़ रूप नहीं हूँ।' अपने इस विशुद्ध आत्म-स्वरूप को समझकर जब साधक उसमें स्थिर होता है तब उसे सच्चे सुख का अनुभव होता है। एक व्यक्ति व्यापारार्थ विदेश जाता है। वहां पर वह अपार धन कमाता है। किन्तु उसके जीवन का उद्देश्य विदेश में रहना नहीं है। वह विदेश से घर आता है। वहां पर शांति का अनुभव करता है। वैसे ही संसार में भौतिक वैभव को प्राप्त करके भी आत्मा जब तक निज स्वरूप में नहीं आता वहां तक उसे सही आनन्द का अनुभव नहीं होता। जब स्व-दर्शन होता है तो उसे प्रदर्शन की इच्छा नहीं होता। परभाव मिटते ही परभव समाप्त हो जाता है। यदि एक बार भी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को समझ ले तो वह परीत संसारी बन जाता है। उसका भव-भ्रमण रुक जाता है।

सम्यग्दर्शन और साधना

मोती हजारों वर्षों तक समुद्र में रहते हैं। पानी में रहकर के भी मोती गलते नहीं,

सड़ते नहीं; किन्तु वे मोती हंस के मुंह में जाते ही गल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही सम्यक् दृष्टि साधक जो हंस के सदृश है वह अपनी लघुक्रिया से कर्मरूपी मोती को गला देता है। एक मजदूर है। दूसरा कारीगर है। मजदूर कठिन श्रम करके भी जितना पैसा कमा नहीं पाता उतना कारीगर कुछ क्षणों में कमा लेता है। वैसे मिथ्यादृष्टि वर्षों तक साधना करके भी उतने कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता जितने कर्म सम्यग्दृष्टि कुछ क्षणों की साधना से नष्ट कर लेता है।

आध्यात्मिक साधना का द्वार

आध्यात्मिक साधना के भव्य भवन में प्रवेश करने के लिए द्वार के सदृश सम्यग्दर्शन है। बिना सम्यग्दर्शन के साधना के भव्य भवन में प्रवेश नहीं हो सकता। दर्शन आत्मा का गुण है। सम्यक् और मिथ्यात्व ये दोनों पर्याय हैं। अनन्तकाल से दर्शन मिथ्यात्व के साथ होने से वह मिथ्या दर्शन के रूप में रहा। जब उसका संस्पर्श सम्यक्त्व के साथ होता है तो वही दर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है। मिथ्यात्व का फल संसार है और सम्यग्दर्शन का फल मोक्ष है। जैसे अंधकार में कुछ भी दिखाई नहीं देता पर ज्यों ही प्रकाश जगमगाने लगता है त्यों ही सारे पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन का प्रकाश होते ही जड़ चेतन का भेद स्पष्ट दिखाई देता है।

सम्यग्दर्शन की निधि

एक भिखारी भीख मांग रहा था। एक-एक पैसे के लिए हाथ पसार रहा था, पर उसे पता नहीं था कि वह जहां बैठा है उसके नीचे विराट् सम्पत्ति है, अक्षय निधि है। भिखारी की तरह अनन्त सुख की निधि स्वयं के पास होने पर भी मिथ्यात्वी आत्मा उस दरिद्र भिखारी की तरह पर-पुद्गलों को प्राप्त करने लिए लालायित रहता है। पर यह नहीं सोचता कि सम्यग्दर्शन की निधि के सामने इसका क्या महत्त्व है।

ज्ञातासूत्र में सम्यग्दर्शन को 'चिन्तामणि रत्न' की उपमा दी है। जिस व्यक्ति के पास चिन्तामणि रत्न हो उसे कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। वह चिन्तामणि रत्न के दिव्य प्रभाव से चाहे जो वस्तु प्राप्त कर सकता है। वैसे ही सम्यग्दर्शन से आध्यात्मिक उन्नति जो भी करना चाहे कर सकता है। सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त हो चुका है वह नरक में रहकर के भी स्वर्ग से भी अधिक सुख का अनुभव करता है। बाह्य वेदनाएं होने पर भी निज स्वरूप में रमण करता है। वह प्रतिकूलता में भी अनुकूलता को निहारता है। उसका चिन्तन अधोमुखी न होकर ऊर्ध्वमुखी होता है। वह संयोग में हर्षित नहीं होता और वियोग में खिन्न नहीं होता। उसका सम्बन्ध आत्म-केन्द्र से होता है। रणक्षेत्र में वही सेना विजय-वैजयन्ती फहरा सकती है जिसका सम्बन्ध मूल केन्द्र से रहता है। भले ही वह सेना कितनी भी दूर क्यों न चली जाए, वह कभी पराजित नहीं होती। चतुर सेनापति वही है जो मूलकेन्द्र से सदा संबंध बनाये रखे। जिसका सम्यग्दर्शन रूपी मूल केन्द्र से संबंध है वह संसार में रहकर भी संसार से उसी तरह अलग-थलग रहता है जैसे कीचड़ के बीच कमल रहता है। कमल कीचड़ में ही पैदा होता है, कीचड़ में ही रहता है। उसके चारों ओर पानी होता है। पर वह पानी से अलग-थलग रहता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि संसार से उपरत रहता है।

बत्तीस दांतों के बीच जीभ

एक बार विभीषण से हनुमान ने यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि आप लंका में कैसे रहते हैं, यहां तो राक्षसों का साम्राज्य है, जो बड़े ही उच्छृंखल प्रकृति के हैं। उत्तर में विभीषण ने कहा—"पवनसुत! मैं उसी तरह सावधान रहता हूँ जैसे बत्तीस दांतो के बीच जीभ सावधानी से रहती है।" सम्यग्दृष्टि भी संसार में इसी प्रकार रहता है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं

सम्यग्दृष्टि का शरीर संसार में रहता है, किन्तु मन मोक्ष की ओर रहता है। सम्यग्दर्शन वह अद्भुत शक्ति है जिसके संस्पर्श से अनुकूलता व प्रतिकूलता में हर्ष-विषाद नहीं होता। अनन्त गगन में उमड़-घुमडकर घटाएं आती हैं, किन्तु उन घटाओं का गगन पर असर नहीं पड़ता। वैसे ही सम्यग्दृष्टि के मानसरूपी गगन पर अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं पडता। वह उस शिव की तरह होता है जो दुःख के जहर को पीकर भी अचल, अडोल व अडिग रहता है। वह विष उस पर कोई प्रभाव नहीं डालता। वह कष्टों का अनुभव करते हुए भी यह सोचता है कि ये दुःख के कांटे मैंने ही बोये हैं, मेरे कर्म का फल है। फिर मैं क्यों घबराता हूँ। जो व्यक्ति सरोवर में गहरी डुबकी लगाता है उस व्यक्ति को उस समय गर्म लू का असर नहीं होता। जो साधक सम्यग्दर्शनरूपी सरोवर में अवगाहन करता हो उस पर भवताप का असर नहीं होता।

ममता की मुद्रा

जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में दो नदियों का उल्लेख आता है। एक उन्मग्नजला नदी है और दूसरी निमग्नजला नदी है। उन्मग्नजला नदी अपने पास कुछ भी नहीं रखती। जो कुछ भी वस्तु उसमें गिरती है उसे वह उछाल कर बाहर फेंक देती है। पर निमग्नजला नदी उससे बिल्कुल विपरीत स्वभाव की है। उसमें जो भी वस्तु पड़ जाती है वह उस वस्तु को अपने में समा लेती है। किनारे पर जो भी वस्तु हो, उसे भी खींच लेती है। सम्यक्दृष्टि उन्मग्नजला नदी के सदृश होता है। उसके अन्तर्मानस में जो भी रागात्मक और द्वेषात्मक विकल्प उठते हैं वह उन्हें बाहर निकालकर फेंक देता है, पर मिथ्यादृष्टि निमग्नजला नदी का साथी है। वह उन्हें ग्रहण कर उन पर ममता की मुद्रा लगा देता है। नौका जल पर चलती है, उसके नीचे विराट् सागर का अथाह जल रहता है, पर नौका में कहीं बाहर का जल नौका को कोई क्षति नहीं पहुंचाता। पर वही जल जब नौका में प्रविष्ट हो जाय तो नौका को ले डूबता है। जो जल नौका उद्धारक था वही संहारक बन जाता है।

भव-परम्परा का उच्छेद

रात्रि के सघन अन्धकार में विद्युत की रेखा चमकती है तो एक क्षण में अंधकार नष्ट हो जाता है। वैसे ही सम्यग्दर्शन के अल्प प्रकाश से भी अनन्तकाल से गहराया हुआ मिथ्यात्व का अंधकार क्षण भर में विनष्ट हो जाता है और जिसने एक क्षण के लिए भी सम्यग्दर्शन का अनुभव कर लिया वह निश्चय ही मुक्त होता है। अनादिकाल से जो जन्म-मरण की परम्परा चल रही है उस परम्परा को सम्यग्दर्शन नष्ट कर देता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में भव-परम्परा का कभी उच्छेद नहीं हो

सकता।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के कारण

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के दो कारण हैं—नैसर्गिक और आधिगमिक। निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। जब कर्मों की स्थिति न्यून होते-होते एक कोटा-कोटि सागरोपम से भी कम रहती है तो दर्शनमोह की तीव्रता में कमी आ जाती है। तब बिना परोपदेश के ही जो तत्त्वरुचि समुत्पन्न होती है, यथार्थ दर्शन होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। श्रवण, मनन, अध्ययन या परोपदेश से सत्य के प्रति जो निष्ठा जागृत होती है, वह आधिगमिक सम्यग्दर्शन है। ये दोनों भेद बाह्य निमित्त विशेष के कारण हो हैं। दर्शनमोह का विलय दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में अनिवार्य है।

एक यात्री यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। मार्ग भूल गया। वह इधर से उधर भटकने लगा। अन्त में स्वतः ही पथ पर आ गया। यह नैसर्गिक पथ-लाभ हुआ। एक दूसरा यात्री यात्रा के लिए चला। पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर भटकता रहा। पथ-प्रदर्शक से मार्ग पूछकर वह उस पर आरूढ़ हुआ। यह आधिगामिक पथ-लाभ हुआ। ठीक इसी तरह नैसर्गिक और आधिगमिक सम्यग्दर्शन है।

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार देशनालब्धि, काललब्धि—ये सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बहिरंग कारण हैं और करणलब्धि अन्तरंग कारण है। जब दोनों की प्राप्ति होती है तभी भव्य जीव सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं।

तीन आत्माएं

संसार में जितनी आत्माएं हैं उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा पूर्ण रूप से बहिर्मुखी होता है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की प्रबलता से वह आत्मदेव के दर्शन नहीं कर पाता। वह पर-रूप को स्व-रूप समझता है। जैसे दिग्भ्रान्त मानव पश्चिम को पूर्व मानकर चलता है और अपनी मंजिल से दूर होता चला जाता है वैसे ही भ्रमग्रस्त बहिरात्मा भी सुख-प्राप्ति के स्थान पर दुःख के दलदल में फंसता चला जाता है। सभी बहिरात्माओं में मोह की मात्रा एक सदृश नहीं होती। उसमें असंख्य प्रकार का तारतम्य होता है। इस विराट् विश्व में परिभ्रमण करते हुए भयानक कष्टों को सहन करते हुए कभी ऐसा अवसर आता है, जिसमें मोह का आवरण शिथिल हो जाता है, अकाम-निर्जरा से अन्य कर्मों की स्थिति भी न्यून हो जाती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है। नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है। आयु कर्म की स्थिति तेंतीस सागरोपम की है और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।

तीन करण

आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति जब एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कुछ न्यून रह जाती है तब आत्मा में एक सहज वीर्यशक्ति उल्लसित होती है। ऐसे अवसर पर आत्मा में जो विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है वह यथाप्रवृत्तिकरण है।

उपाध्याय विनयविजय जी ने 'करण' शब्द पर चिन्तन करते हुए कहा है—'जीव

का परिणाम ही करण है।'

यथाप्रवृत्तिकरण के दो भेद हैं-सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण और विशिष्ट यथा-**प्रवृत्तिकरण**। सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीव को भी हो सकता है, किन्तु **विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण** भव्य को ही होता है। जब राग-द्वेष का बन्धन शिथिल हो **जाता है तब ऐसा विशुद्ध परिणाम** पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, वह प्राप्त होता है। **इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं।** राग-द्वेष के अत्यन्त मलिन परिणाम ग्रन्थि कहलाते **हैं।** उस ग्रन्थि का भेदन अपूर्वकरण के बिना नहीं होता। आचार्य जिनभद्रगणि **क्षमाश्रमण** ने कहा है—सघन राग-द्वेष रूप आत्म परिणाम ही ग्रन्थि है। प्रस्तुत ग्रन्थि **अत्यन्त कठिनाई** से भेदन की जा सकती है। गुप्त बांस की ग्रन्थि के समान इस ग्रन्थि **का भेदन करना सरल** नहीं है। अपूर्वकरण के द्वारा ही ग्रन्थिभेदन होता है। **ग्रन्थि-भेदन होते ही भ्रांति की सघन** घटाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और अनिवर्चनीय **अनुभूत लोकोत्तर** निर्मलता व्याप्त होती है। यह अनिवृत्तिकरण है। यही **सम्यक्त्व-प्राप्ति** का द्वार है।

सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण

सम्यग्दर्शन की ज्यों ही उपलब्धि होती है त्यों ही उस आत्मा में नवीन आलोक **उत्पन्न होता है।** जिससे उसके जीवन और व्यवहार में भी आमूलचूल परिवर्तन हो **जाता है।** मनीषियों ने सम्यग्दर्शन की पहचान कराने वाले पांच लक्षण बताये **हैं**—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

प्रशम—अनादि काल से आत्मा में कषाय की आग धधक रही है। मिथ्यात्व स्थिति **में कषाय तीव्रतम** होता है, पर मिथ्यात्व का अन्त होते ही अनन्तानुबन्धी कषायों का **भी अन्त हो जाता है और** उसके द्वारा उत्पन्न संताप भी नष्ट हो जाता है। आत्मा में **अनिर्वचनीय** शांति की अनुभूति होती है। तत्त्वों के असत् पक्षपात से होने वाले **कदाग्रह प्रभृति** दोषों का उपशमन ही प्रशम है।

संवेग—सांसारिक बन्धनों का भय संवेग है। सम्यक्त्वी जीव में किसी भी प्रकार का **भय नहीं होता।** उसके रग-रग में निर्भयता होती है, निर्द्वन्द्वता होती है। यों कभी भी **उसके कदम** नहीं लड़खड़ाते, पर पापकारी प्रवृत्ति करते समय वह हिचकिचाता है, **भयभीत** होता है। सम्यग्दर्शन से जो सात्त्विकता उत्पन्न हुई है उससे उसके वेग में **परिवर्तन** हो जाता है। पहले जो वेग सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने की ओर था, **वह मोक्ष मार्ग की ओर** हो जाता है, वही संवेग है।

निर्वेद—विषयों में आसक्ति का न्यून होना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि का आत्मस्वरूप में आकर्षण होता है। चक्रवर्ती का साम्राज्य और इन्द्रों के कमनीय भोगों को भी वह काक बीट के समान समझता है। इसीलिए कवि ने कहा है—

> **चक्रवर्ती की संपदा, इन्द्र सरीखा भोग।**
> **काक-बीट सम गिनत हैं, सम्यक् दर्शी लोग॥**

भ्रमर सुगन्धित सुमनों पर मंडराता है मगर जब भी उसकी उड़ने की इच्छा होती **है वह उड़** जाता है। उसके लिए कोई बन्धन नहीं होता। सम्यग्दृष्टि भी भ्रमर के **समान होता है।** एतदर्थ ही वह पाप से लिप्त नहीं होता।

सम्मत्तदंसी न करेइ पांव।–आचारांग सूत्र १.३.२

सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय से प्रेरित पाप नहीं करता और न उसकी आन्तरिक रुचि ही पापाचरण की ओर होती है। वह अन्तर में निर्लेप रहता है। यही उसका निर्वेद भाव है।

अनुकम्पा–दुःखी प्राणियों के दुःख का अनुभव करना एवं उसे दूर करने अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि का चित्त इतना सात्त्विक और कोमल होता है कि वह किसी दुःखी को देखकर आंखें मूंद नहीं सकता। वह उसे दूर करने का प्रबल प्रयास करता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदात्त स्वर उसके अन्तर्मानस में झंकृत होता है। वह किसी भी प्राणी को कष्ट में देखकर आकुल-व्याकुल हो जाता है और उसके कष्ट के निवारण करने के लिए पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है। जिसके हृदय में अनुकम्पा की भावना अठखेलियां करती हैं–वह संकटग्रस्त प्राणियों के संकट को दूर करने का प्रयास करता है, वही अनुकम्पा है।

आस्तिक्य–सम्यग्दर्शन का पांचवां लक्षण आस्तिक्य है। आत्मा आदि परोक्ष तत्त्वों को जिन-वचनों के आधार पर स्वीकार करना आस्तिक्य है। आस्तिक व नास्तिक शब्दों में प्रयोग के अर्थ के सम्बन्ध के दार्शनिक चिन्तकों में मतभेद रहा है। संस्कृत-व्याकरण के प्रौढ़ आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ में 'अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः' लिखा है। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है-'अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिकः नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।' जो निश्चित रूप से परलोक, पुनर्जन्म स्वीकार करता हैं वह आस्तिक है और जो उसे स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है। 'अस्ति' शब्द सत्ता का वाचक है और 'नास्ति' शब्द निषेध वाचक है। जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और आत्मा के नित्यत्व में विश्वास करता है, वह आस्तिक है। जो केवल वर्तमान दृष्टि में ही केन्द्रित है, वह नास्तिक है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा में आस्तिकता का गहरा भाव होता है। वह केवल वर्तमान दृष्टि पर ही केन्द्रित नहीं होता, अपितु त्रैकालिक अखण्ड सत्ता का अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के साथ ये पांच लक्षण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं।

C/O आर.डी. जैन, सी-१३ विवेकविहार, दिल्ली-११००९५

आत्म-दर्शन–सम्यग्दर्शन

- सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा को पूर्व दृष्ट पदार्थ नूतन स्वरूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं।
- बहिरात्मा पर-रूप को ही स्व-रूप मानता है।
- बहिरात्मा देह को ही आत्मा समझता है।
- श्रद्धा व विश्वास के बिना जीवन का विकास नहीं होता।

–उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी

सम्यग्दर्शन की महिमा

आचार्य श्री नानालालजी म.सा.

सम्यग्दर्शन अध्यात्म-साधना का मूल आधार एवं मुख्य केन्द्र है। वह मुक्तिमहल का प्रथम सोपान है। यह श्रुत और चारित्र धर्म की आधार शिला है। जिस प्रकार उच्च एवं भव्य प्रासाद का निर्माण दृढ़ आधार शिला या मजबूत नीव पर ही संभव है, उसी तरह सम्यग्दर्शन की नींव पर ही श्रुत-चारित्र धर्म का भव्य प्रासाद खड़ा हो सकता है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन गुण का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्दर्शन का इतना अधिक महत्त्व इसलिये है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही ज्ञान और चारित्र उपलब्ध होते हैं। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही यम-नियम-तप-जप आदि सार्थक हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में समस्त ज्ञान और समस्त चारित्र मिथ्या है। जैसे अंक के बिना शून्यों की लम्बी लकीर बना देने पर भी उसका कोई मूल्य नहीं होता, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र का कोई अर्थ नहीं रहता। अगर सम्यक्त्व रूपी अंक हो और उसके बाद ज्ञान और चारित्र के शून्य हों तो प्रत्येक शून्य से दस गुनी कीमत हो जाती है। सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व आता है। इसीलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही भाव सम्यक्त्व होते हुए भी सम्यक्त्व शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ में रूढ़ हो गया है। यह सम्यग्दर्शन की प्रधानता सूचित करता है। सम्यग्दर्शन की महिमा और गरिमा का शास्त्रकारों और समर्थ आचार्यों ने स्थान-स्थान पर विविध रूप से वर्णन किया है।

> नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
> अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥-उत्तरा. २८, ३०

अर्थात् सम्यग्दर्शन के विना, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और मोक्ष-प्राप्ति के विना कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा नही मिलता। तात्पर्य- यह है कि सम्यक्त्व से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार क्रम से सर्वगुणों की प्राप्ति होने से जीव समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। अतएव समस्त गुणों के मूलभूत सम्यक्त्व को सर्वप्रथम प्राप्त करने का प्रयास अपेक्षित है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा गया है—

> न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
> श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृताम् ॥-रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३४

अर्थात् तीनों काल और तीनों लोक में जीवों के लिए सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी अन्य कोई नहीं है। त्रिलोक स्थित इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि चेतन और मणि, मंत्र-औषधि इत्यादि जड़द्रव्य-ये कोई भी सम्यक्त्व के समान उपकारी नहीं हैं। इस जीव का सबसे अधिक अनर्थ करने वाला मिथ्यात्व के समान अन्य कोई जड़ या चेतन द्रव्य तीन काल और तीन लोक में नहीं है, न हुआ, न होगा। समस्त संसार के दुःखों का नाश करने वाला

और आत्मकल्याण को प्रकट करने वाला सम्यक्त्व ही है। इसलिए उसकी प्राप्ति हेतु प्रयास करना चाहिये।'

मोक्षपाहुड में यहाँ तक कहा गया है कि 'अधिक क्या कहें, जो भी भूतकाल में सिद्ध हुए और भविष्य में होंगे वह सब सम्यक्त्व का ही महत्त्व समझना चाहिए।'

> किं बहुणा भणिएण ? जे सिद्धा णरवरा गए काले।
> सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥–मोक्षपाहुड. ८८

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र कार्य-सिद्धि नहीं कर सकते। आचारांग के निर्युक्तिकार ने कहा है–

> कुणमाणोऽणि निवित्तिं परिच्चयंतोऽवि सयणधणभोए।
> दिन्तोऽवि दुहस्स उरं मिच्छादिट्ठी न सिज्झइ ॥––आचारांगनिर्युक्ति

अर्थात् यम नियमादि रूप निवृत्ति करने पर भी, स्वजन, धन और भोगों का त्याग करने पर भी पंचाग्नि तप आदि द्वारा शारीरिक कष्ट सहन करने पर भी मिथ्यादृष्टि सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है। आगे निर्युक्तिकार कहते हैं–

> तम्हा कम्माणीअं जेउमणो दसंणम्मि पजइज्जा।
> दंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवनाणचरणाइं ॥––आचारांगनिर्युक्ति, २२१

अर्थात् कर्मरूपी सेना को जीतने के लिए सम्यग्दर्शन में यत्न करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। सम्यक्त्वी के द्वारा किये हुए तप-जप, ज्ञान और चारित्र ही सफल होते हैं। अतः सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरणों से सम्यग्दर्शन की महिमा और गरिमा का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। सारांश यह है कि यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार, सर्व कल्याण का बीज और संसार-सागर से पार उतारने के लिए एक महान् यानपात्र (जहाज) है। जिसने सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया, उसके समक्ष तीन लोक के राज्यों का सुख भी कुछ मूल्य नहीं रखता। सम्यग्दर्शन जिस किसी भी आत्मा में प्रकट हो जाता है वह कृतकृत्य हो जाता है, निहाल हो जाता है। सम्यग्दर्शन की ज्योति जब साधक के जीवन-पथ को आलोकित कर देती है, तो इस अनन्त संसार-सागर में साधक को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। वह यह समझता है कि सम्यग्दर्शन रूप चिन्तामणि रत्न जब मेरे पास है, मुझ में ही है, तब मुझे किस बात की चिन्ता और किस बात का भय ? जिसके पास यह अक्षय निधि हो वह दीन-हीन कैसे हो सकता है। ऐसी अद्भुत, अनुपम और अद्वितीय महिमा है सम्यग्दर्शन की। सम्यग्दर्शन वह पारसमणि है जिसके स्पर्श मात्र से मिथ्यात्व और अज्ञान रूपी लोहा सम्यक्त्व और ज्ञान रूपी स्वर्ण में बदल जाता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा को प्रकट करने के लिए सूत्रकृतांग सूत्र में सूत्रकार कहते हैं –

> जे याबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो।
> असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥
> जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
> सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होई सव्वसो ॥-सूत्रकृतांग अ. ८ गाथा २२-२३

अर्थात् जो पुरुष तत्त्व के अर्थ से अनभिज्ञ हैं, किन्तु संसार में पूजनीय माने जाते हैं; जो (शत्रुसेना को जीतने में) वीर हैं तथा असम्यग्दर्शी हैं, उनके द्वारा किये हुए तप, अध्ययन और नियम आदि पुरुषार्थ अशुद्ध होते हैं और वे कर्मबन्ध रूप फलयुक्त होते है। इसके विपरीत जो पुरुष तत्त्वज्ञाता, महापूज्य-महाभाग्यशाली, कर्म को विदारण करने में समर्थ और सम्यग्दृष्टि हैं, उनके तप, दान, अध्ययन, नियम आदि सब पराक्रम शुद्ध एवं कर्म-क्षय के कारण होते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के नवें अध्ययन में कहा गया है—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥--उत्तराध्ययन, ९.४४

जो जीव बाल है, मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, वह प्रत्येक मास में कुश के अग्रभाग पर जितना आहार आता है उतना ही खाकर रह जाए तब भी वह जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं होता।

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन किया गया है-

'सद्धा परमदुल्लहा।'–उत्तरा. अ. ३ गाथा ९

महामूल्यवान् श्रद्धारूपी रत्न बहुत दुर्लभ है। जो वस्तु दुर्लभ होती है वह अनमोल और महत्त्वपूर्ण होती है। सम्यग्दर्शन रूपी चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

नवतत्त्व प्रकरण की निम्न गाथाओं में सम्यक्त्व का स्वरूप बताकर उसका अपूर्व लाभ बताया गया है—

जीवाइ नवपयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहन्ते अयाणमाणे वि सम्मत्तं ॥
सव्वाइं जिणेसरभासिआइं वयणाइं नन्नहा हुंति।
इअ बुद्धि जस्स मणे सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥
अंतो मुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो चेव संसारो ॥--नवतत्त्वप्रकरण

अर्थात् जो जीवादि नवतत्त्वों का ज्ञाता है उसे सम्यक्त्व होता है। कदाचित् क्षयोपशम की तरतमता से कोई यथार्थ रूप से तत्वों को नहीं जानता है, किन्तु 'तं चेव सच्चं जं जिणेहिं पवेइयं' – जो जिनेश्वर देव ने कहा है वह सत्य है, ऐसी श्रद्धा करता है, तो उसे भी सम्यक्त्व है। जिनेश्वर भगवंतों के वचन अन्यथा कदापि नहीं होते, ऐसी दृढ श्रद्धा जिसको प्राप्त है, उसका सम्यक्त्व निश्चल होता है। जिस आत्मा ने अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिये भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया उसका अनन्त संसार-भ्रमण परिमित हो गया। अपार्ध पुद्गलपरावर्त काल से अधिक वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। उसकी मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है। कितनी अपूर्व महिमा है सम्यक्त्वरत्न की।

एक आचार्य ने निम्न शब्दों में सम्यक्त्व की महिमा बताई है—

असमसुखनिधानं, धामसंविग्नतायाः, भवसुखविमुखत्वोद्दीपने सद्विवेकः।
नरनरकपशुत्वोच्छेदहेतुर्नराणाम्, शिवसुखतरुबीजं शुद्धसम्यक्त्वलाभः ॥

शुद्ध सम्यक्त्व का लाभ अनुपम सुख का निधान है, वैराग्य का धाम है, संसार के

क्षणभंगुर सुखों से विरक्त करने वाला सद्विवेक है, भव्य जीवों के नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य सम्बन्धी दुःखों का उच्छेद करने वाला है और मोक्ष सुख रूपी महावृक्ष के लिए बीज रूप है।

दिगम्बराचार्य श्री शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है—

सद्दर्शनं महारत्नं विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याण-दानदक्षं प्रकीर्त्तितम्॥

सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है, आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मंगल प्रदान करने वाला है।

चरणज्ञानयोर्बीजं यम-प्रशम-जीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठान सद्भिः सद्दर्शनं मतम्॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का बीज है, व्रत-महाव्रत और उपशम के लिए जीवन स्वरूप है। तप और श्रुत का यह आश्रयदाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप आदि होते हैं उन सबको सफल करने वाला सम्यग्दर्शन ही है।

आराधनासार ग्रन्थ में लिखा है —

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना, प्रोक्तं जिनेन स्वयं,
सम्यक्त्वाद्भुतरत्नमेतदमलं चाभ्यस्तमप्यादरात्।
भङ्क्त्वा सप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्या च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचितानन्दं पदं विन्दते॥

जो मनुष्य तीन जगत् के नाथ जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व रूप अद्भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह दुष्ट कर्मों को बलपूर्वक समूल नष्ट करके विलक्षण आनन्द प्रदान करने वाले परब्रह्म (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड में कहा गया है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो न वंदिव्वो॥

वीतरागदेव ने शिष्यों को उपदेश दिया कि धर्म का मूल दर्शन है। इसलिये जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह वन्दनीय नहीं है अर्थात् चारित्र तभी वन्दनीय होता है जब वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

योगी श्री आनन्दघनजी ने अनन्त जिन-स्तवन में सम्यग्दर्शन के बिना, शुद्ध श्रद्धा के बिना सर्व क्रियाओं को राख पर लीपने के समान व्यर्थ बताया है-

देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे, किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरियाकरी, छार पर लीपणुं तेह जाणो॥

इस प्रकार आगमिक और अन्य आचार्यों के सुभाषित वचनों द्वारा सम्यग्दर्शन की महिमा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ऐसे महामहिमामय और मंगलमय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने हेतु सतत जागरूक रहना चाहिये।

प्रस्तुति - चम्पालाल डागा
सम्पादक, श्रमणोपासक, बीकानेर (राज.)

सम्यग्दर्शन का परीक्षण

✠ बहुश्रुत पं. समर्थमलजी म.सा.

प्रस्तुत प्रवचन में धर्म-दर्शन की सम्यक्ता का परीक्षण ज्ञानवाद, क्रियावाद एवं तत्त्ववाद के आधार पर करते हुए जैन धर्म-दर्शन को सम्यक् दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।—सम्पादक

सोने की परीक्षा तीन प्रकार से होती है—१. कस, २. छेद और ३ ताप से। कसौटी पर घिसने से मालूम हो जाता है कि यह सोना है या पीतल, असली है या नकली? कसौटी खरे-खोटे का भेद बतलाती है। यह प्रथम विधि है-सोना परखने की। किन्तु कसौटी की परीक्षा ही पर्याप्त नहीं होती। कसौटी तो ऊपर का स्वरूप बतलाती है, भीतर का नहीं। ऊपर थोड़ा सा सोना चढ़ा दिया और भीतर चाँदी या तांबा भरा हो, तो कसौटी उस रहस्य का पता नहीं लगा सकती। इस भेद को पाने के लिए दूसरी 'छेद' परीक्षा है। सूये से सोने में छेद करके भीतर का भेद जाना जाता है। इससे मालूम हो जाता है कि भीतर भी सोना है या कोई दूसरी धातु। यदि धोखा हो, तो मालूम हो जाता है। छेद परीक्षा भी पूरी परीक्षा नहीं है। छेद किसी एक स्थान पर किया जाता है। यदि उस स्थान पर सोना हो और अन्यत्र कुछ और भरा हो, तो वह परीक्षा से बच जाता है। इसलिये अन्तिम परीक्षा ताप है। तपाने से पूरे सोने की परीक्षा हो सकती है। फिर धोखे के लिए अवकाश नहीं रहता।

सोने की पूरी परीक्षा की तरह दर्शन की परीक्षा भी तीन तरह से होती है—१.ज्ञानवाद से, २. क्रियावाद से और ३. तत्त्ववाद से।

ज्ञानवाद से यह देखना चाहिये कि धर्म के मुख्य अंग—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की बातें करने वाले, अपनी इन बातों पर कायम हैं, या दूसरों की देखादेखी कहते हैं और कुछ विपरीत भी कहते हैं? देखें कि ज्ञानवाद की कसौटी पर कौन सा दर्शन ठहरता है।

एक दर्शन 'अहिंसा परमो धर्मः' भी कहता है और साथ ही यह भी कहता है कि 'भगवान् ने ये बकरे, मुर्गे, हिरन, खरगोश आदि मनुष्यों के खाने के लिए ही बनाये हैं। ये हमारे लिए भोग्य हैं। इनके मारने-खाने में कोई पाप नहीं।' कोई युद्ध करके म्लेच्छों का संहार करने की प्रेरणा देता है, कोई देव, काफिरों को कत्ल करने का उपदेश करता है। कोई धर्म के लिए झूठ बोलने और विषय वासना में धर्म मानने की बात बतलाते हैं। जो भगवान् की पत्नी और उसके साथ भगवान् का भोग तथा भगवान् के द्रव्यार्पण, भगवान् के चक्र, गदादि अस्त्र-शस्त्र मानें, उनकी अहिंसादि पाँच यम की बातें कैसे उपयुक्त हो सकती हैं? कहते है 'अहिंसा धर्म' भी है और देव को चक्र-गदाधारी भी मानते हैं, ब्रह्मचर्य का उपदेश भी देते हैं और देव के साथ देवी का संयोग भी मानते हैं। कैसा है उनका ज्ञानवाद? इस पहली कसौटी में ही उनका दर्शन नहीं टिक सका। उन दार्शनिकों की यह असत्य बात यदि तर्क के लिए मान ली जाय

कि बकरे-मुर्गे आदि मनुष्यों के खाने के लिए ही हैं, तो इसी तरह उन्हें यह भी मानना चाहिए कि तुम भी सिंह व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं के खाने के लिए हो। मनुष्य की क्षुधा-शांति के लिए तो अन्न और शाक उपयुक्त है—मांस नहीं। किन्तु सिंह-व्याघ्रादि तो मांस-भक्षी पशु हैं, इसलिए मनुष्य का दावा झूठा है। जिनके परम आराध्य भी स्त्री के बिना नहीं रह सके, उनकी ब्रह्मचर्य की बात भी कितनी दृढ़ हो सकती है? तात्पर्य यह है कि अनेक दर्शन इस प्रथम परीक्षा में ही छँट जाते हैं।

अब क्रियावाद की दूसरी कसौटी पर चढ़ा कर देखिये । 'अहिंसा परमो धर्मः' कहने वाले दर्शनों में कई तो आग जलाकर धूनी तापने वाले हैं। उनकी धूनी में अग्निकाय एवं अन्य स्थावर जीवों के अतिरिक्त छोटे-बड़े अनेक जन्तु जल जाते हैं। उनका खान-पान भी निरारंभी नहीं। सचित्त अचित्त, सदोष-निर्दोष का भेद नहीं। रात्रि-भोजन करते हैं, हाथी-घोड़े पर सवारी करते हैं। यज्ञ-यागादि में कितनी हिंसा कर डालते हैं। अजैन दर्शनों में बौद्ध दर्शन विशेष अहिंसावादी कहलाता है, किन्तु उसके आराध्य स्वयं मांसभक्षी थे। एकेन्द्रिय जीवों की यतना का पालन तो किसी भी अजैन क्रियावाद में नहीं मिलेगा। इस दूसरी कसौटी ने सभी के क्रियाकलाप की कली खोल दी। क्रियाकलाप में कौन दर्शन पूर्ण रूप से अहिंसावादी है—यह इस कसौटी से स्पष्ट हो जाता है। जो चलने, फिरने और बोलने में भी स्थावर जीवों तक की भी अहिंसा की यतना करे, वही दर्शन क्रियावाद की इस कसौटी में उत्तीर्ण हो सकता है। शेष सभी फैल हो जाते हैं।

तीसरी कसौटी तत्त्ववाद की है। ज्ञान और क्रिया में उत्तीर्ण होकर भी कोई तत्त्ववाद की कसौटी में फैल हो जाता है। जैसे-

कोई दर्शन 'अहिंसा परमो धर्मः' तो कहे, किन्तु साथ ही कहे कि संसार में केवल एक ही आत्मा है। अद्वैतवादी के समान समस्त जीवों में एक ही आत्मा माने, तो फिर हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। कौन किसे मारे? कौन किसकी रक्षा करे? मारने वाले में भी वही और मरने वाले में भी वही। फिर अहिंसा और हिंसा का प्रयोजन ही क्या? जब सर्वत्र सभी में एक पुरुषरूप आत्मा ही (जलचन्द्रवत्) निवास करती है, तब धर्म साधना की भी क्या एवं किसलिए आवश्यकता है?

कई मत पृथ्वीकायादि स्थावरकाय में जीव ही नहीं मानते, तो इनकी अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता।इस प्रकार जिन दर्शनों को जीवों की पहचान नहीं, जो जीव का स्वरूप ही नहीं जानते, जिनके दर्शन में अनन्त स्थावर जीव आये ही नहीं, वे उनकी अहिंसा कैसे पाल सकते हैं?

जिन दर्शनों में, यज्ञों में पशुओं को होमने का विधान है, अश्वमेधादि यज्ञों का विधान है, उनका तत्त्ववाद निर्दोष कैसे हो सकता है?

इस प्रकार अंतिम परीक्षा में सभी अजैन दर्शन निष्फल हो जाते हैं। अब जिनेश्वरोपदिष्ट जैनदर्शन को देखिये—

ज्ञानवाद में जैनदर्शन, अहिंसादि में धर्म कहता है। आगमों में सर्वत्र यही कहा है। हिंसा में धर्म भी नहीं बताया। जैनदर्शन का ज्ञानवाद परस्पर विरोधी बातें नहीं

कहता। क्रियावाद में भी इसके संयमवान् साधु-साध्वी, निर्जीव एवं निर्दोष आहार-वस्त्र-स्थानादि भिक्षा से प्राप्त करते हैं। यदि उनके लिए बनाया जाये या बनते हुए आहार में उनके लिए कुछ बढ़ाया जाये, अथवा देने के बाद में बनाना पड़े, तो ऐसा भोजन पानी भी वे नहीं लेते और भूखे-प्यासे ही रह जाते हैं। अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करने के लिए वे नंगे पैर चलते हैं, खुले मुँह नहीं बोलते, अन्धेरे में पूँज कर चलते हैं, बिना प्रमार्जन किये करवट भी नहीं बदलते, खाज भी नहीं खुजालते। जैन निर्ग्रन्थों जैसा पूर्ण अहिंसक क्रियावाद अन्यत्र कहां मिलेगा?

जैन गृहस्थ इस प्रकार का उच्च चारित्र नहीं पालता। वह स्थावरकाय के जीवों का आरम्भ करता है, फिर भी उसका दर्शन निर्दोष रहता है। वह कहता है कि अहिंसा धर्म यथार्थ है, सत्य-अचौर्यादि धर्म भी यथार्थ हैं। किन्तु मैं कमजोर हूँ, मुझ में इतनी योग्यता नहीं कि मैं इनका पूर्णरूप से पालन कर सकूँ। सुश्रावक शेष आरम्भ-समारम्भ को त्यागने का मनोरथ भी करता है। इसलिए उसका भी दर्शन निर्दोष है।

एक निर्धन व्यक्ति, दूसरे धनाढ्य का कर्जदार है। जब सेठ अपना रुपया मांगता है, तब निर्धन कहे कि 'सेठ साहब! आपका रुपया देना है। मैं देनदार हूँ। अवश्य दूंगा। आज मेरे पास नहीं है। मुझे आपके रुपयों की चिन्ता है। मैं हाथ जोड़ कर दूँगा।' इस प्रकार वास्तविक उत्तर पाकर सेठ संतुष्ट हो जाता है। वह सोचता है कि-'यह ठीक कहता है, अभी इसके पास पैसा नहीं है, आमदनी भी कम है, कहाँ से ला कर देवे। इसकी नियत ठीक है। जब इसके पास पैसा आवेगा, तब दे देगा।' इसी प्रकार दार्शनिक सत्यता के कारण जैन गृहस्थ का दृष्टिकोण सत्य है और क्रियावाद में भी कुछ गति है तथा भविष्य में पूर्ण क्रियावाद अपनाने की भावना रखता है।

यदि कहा जाय कि-'हिंसा तो सर्वत्र है। उठने बैठने चलने सोने एवं हलन-चलनादि में भी हिंसा होती रहती है, फिर क्रियावाद निर्दोष कैसे माना जाय?' समाधान है कि—'शरीर के कारण हलन-चलनादि होता है, इसमें किसी जीव की हिंसा भी हो जाती है। किन्तु यतनापूर्वक प्रवृत्ति हो, तो वह अहिंसक है। क्योंकि वह पूर्ण अहिंसा पालन करने की रुचि वाला है। उसका प्रयत्न भी यही है। सावधानी रखते हुए भी अनजानपने से या अनायास किसी जीव की हिंसा हो जाय, तो वह विवश है और इसका प्रतिक्रमण करता है। शास्त्रकार ने विधि तो सर्वथा निर्दोष ही बताई है। जीवन- निर्वाह के लिए भोजन-पानी प्राप्त करने के लिए केवल भिक्षाचरी ही बतलाई और वह भी कितनी निर्दोष कि जिसकी समानता कोई भी दर्शन नहीं कर सकता। यह जैन धर्म की निर्दोष दार्शनिकता है।

सबसे पहले दृष्टि शुद्ध होना आवश्यक है। दृष्टि शुद्ध होने पर ही खरे-खोटे और असल-नकल की परख होती है। आँख से ठीक दिखाई नहीं दे, तो गेहूं, दाल और चावल आदि की सफाई भी ठीक नहीं हो सकती। उनमें कंकर रह जाते हैं। चावलों में सफेद कंकर उतने ही बड़े हो, तो चुनना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा का दर्शन गुण निर्मल नहीं हो, तो कई प्रकार की मिथ्या बातें, धर्म के आवरण में आ कर

गले पड़ जाती हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने की पूरी आवश्यकता है।

तत्त्ववाद के विषय में अन्यदर्शन में अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ हैं। कई दर्शन 'ईश्वर कर्तृत्ववादी' हैं। वे कहते हैं कि—'जैसी भगवान की इच्छा होगी वैसा करेंगे, हमारे किये क्या हो सकता है? करने-धरने वाला तो वही है।' उनके ऐसा कहने का मतलब तो यह हुआ कि—ईश्वर ही किसी को जीवित रखता या मारता है, हँसाता-रुलाता है और स्वर्ग या नरक में भेजता है। किन्तु ये सभी बातें झूठी हैं। मनुष्य अपने खोटे कार्यों का भार भी ईश्वर पर डाल देता है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववादी दर्शन, अपने आत्मवाद से तीसरी कसौटी पर भी अनुत्तीर्ण रहते हैं।

अपना दोष भगवान् के सिर मढ़ने के विषय में एक दृष्टांत है। गाँवडे की एक बाई प्रातःकाल जल्दी ही उठ कर गोबर का संग्रह करती थी। वह अपने इस कार्य में शीघ्रता करती थी। वह सोचती थी कि—'यदि मैंने देर की तो कोई दूसरी स्त्री गोबर उठा लेगी और मैं वंचित रह जाऊँगी।' वह मुँह अन्धेरे निकल जाती। वह सूर्य-उपासिका थी। गोबर चुनकर घर लौटते समय सूर्य उदय हो जाता और उदित सूर्य को देखते ही वह हाथ जोड़कर नमस्कार करती। एक दिन अन्धेरे में गोबर उठाते, उसके पास मनुष्य का गोबर (विष्ठा) पड़ा था। वह भी उठा कर टोकरे में डाल लिया और आगे बढ़ी। थोड़ी देर में सूर्य उदय हुआ। उस बाई ने तत्काल टोकरा नीचे रखा और दोनों हाथ जोड़ कर आँखें मूँदते हुए सूर्य को प्रणाम किया। उसके हाथ ज्योंही नाक के पास आये कि विष्ठा की गन्ध नाक में घुसी। महिला को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—

'हे सूर्यनारायण! रोज जो तू गोबर में उदय होता था, आज विष्ठा में क्यों उदय हुआ?'

सज्जनों! यह उस बाई का दोष है, या सूर्य के उदय होने का? दृष्टि-विकार से लोग अपना दोष भी दूसरों पर डाल देते हैं।

रुपये-पैसे, चाँदी-सोना या हीरा-जवाहरात की परीक्षा नहीं हो और हानि हो जाय, तो वह इस जीवन तक ही रहती है, परन्तु बुद्धि की विकृति बहुत बुरी होती है। पौद्गलिक सम्पत्ति साथ नहीं आती, घर में रहती है। किन्तु बुद्धि तो घर, बाहर, वन, विदेश और सर्वत्र साथ रहती है। बुद्धि-विकार हटा कर आत्मा के दर्शन गुण को निर्मल बनाने से आत्मा पवित्र होती है और परम्परा से परमात्म-पद प्राप्त कर लेती है। आप भी अपने सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखकर दृढ़तम बनाते जाइए और क्षायिक-सम्यक्त्व प्राप्त कर अजर-अमर बन जाइए।

('शिविर व्याख्यान' से साभार)

सम्यग्दर्शन का विवेचन

☆ पण्डित श्री प्रकाशचन्द्रजी म.सा.

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का महत्त्व, ज्ञान और चारित्र से भी बढ़कर बताया गया है। वास्तव में सम्यग्दर्शन स्वयं गुणाकर है। सम्यग्दर्शन रूपी स्वर्ण-पात्र में रहा हुआ चारित्र रूपी अमृत ही मुक्ति रूपी अमरफल देता है। इसके बिना चारित्र की विशुद्ध क्रिया भी मुक्तिरूपी उत्तम फल नहीं दे सकती। सम्यक्त्व तथा सम्यक्त्वपूर्वक की हुई देशविरति या सर्वविरति की सामान्य साधना भी आत्मा को मुक्ति के निकट ले जाती है, किन्तु सम्यक्त्व रहित की हुई उत्तम साधना भी संसार में ही रुलाती है।

सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना सभी आत्माओं के लिए सहज नहीं है। जिन आत्माओं पर मोहनीयकर्म का महा-मल जमा हो, जिनकी विवेक-शक्ति पर मिथ्यात्व मोहनीय का प्रभाव हो और जिनकी आत्मा मोहनीयकर्म के एक कोटाकोटि सागरोपम से लगाकर सत्तर कोटाकोटि सागरोपम तक के उत्कृष्ट बन्धन में जकड़ी हो, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकती। ऐसी आत्माओं में सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता ही उत्पन्न नहीं हो सकती। जिन आत्माओं पर मोहनीय कर्म के ७० कोटाकोटि सागरोपम में से ६९ कोटाकोटि से अधिक कर्म-बन्धनों का जाल हट चुका हो और अन्तः कोटाकोटि रहा हो, उन्हीं में से कोई आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

यहां किसी को शंका हो सकती है कि जब 'जीव बिना सम्यक्त्व के भी ६९ कोटाकोटि सागरोपम की विशालतम स्थिति क्षय कर सकता है तो शेष रही एक कोटाकोटि से भी कम स्थिति को विनष्ट क्यों नहीं कर सकता? इस थोड़ी-सी स्थिति के लिए सम्यक्त्व की अनिवार्यता क्यों मानी गई?' ज्ञानियों का अभिप्राय है कि—मिथ्यात्व अवस्था में हुई अकाम-निर्जरा से आत्यंतिक निर्जरा नहीं होती। जिस प्रकार रंगीन वस्त्र का धूप लगने या वर्षा से कुछ रंग उतर जाता है और वर्षा में भीगने से मैले वस्तु का कुछ मैल छूट जाता है, परन्तु पूरी स्वच्छता तो विधिपूर्वक क्षार आदि से धोने से ही होती है। इसी प्रकार मोहनीयकर्म के ६९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से अधिक की स्थिति तो अकाम निर्जरा से कट जाती है, परन्तु शेष रही अन्तःकोड़ाकोड़ी के लिए सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही मोहनीय कर्म की शेष रही अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय को नष्ट कर सकता है और कर्मों के वन्ध में भी कमी कर सकता है। जिसने एक वार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, वह फिर कभी भी एक कोटाकोटि सागरोपम से अधिक का (या पूरे एक कोटाकोटि सागर का भी) वन्ध नहीं कर सकता, भले ही उसके सम्यक्त्व का वमन होकर मिथ्यात्व आ जाय और वह देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन रूपी अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहे।

एक वस्त्र के दो टुकड़े करने के वाद जव पहनने का काम पड़ा, तो वह छोटा लगा। फिर से दोनों टुकड़ों को सिलाई कर जोड़ लिया, तो उससे काम चल जाता

है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का वमन हो जाने पर भी जीव की ऐसी परिणति बन जाती है कि जिससे वह पुनः बीच में आये हुए मिथ्यात्व को हटा कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। एक बार सम्यक्त्व पा लेने पर अधिक से अधिक देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में तो मुक्ति प्राप्त कर ही लेता है।

जीव, मिथ्यात्व दशा में यथाप्रवृत्तिकरण करके सम्यक्त्व के निकट आ सकता है। ऐसी दशा में अभव्य जीव भी आ सकता है, किन्तु वह अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता। नदी में रहा हुआ पत्थर, पानी के प्रवाह से परस्पर टकराकर घिस जाता है और गोलमटोल तथा स्निग्ध बन जाता है, जिसे लोग देव-मूर्ति (शालिग्राम) बना कर पूजने लगते हैं। इसी प्रकार अकाम-निर्जरा द्वारा मोहनीयकर्म की साधिक ६९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितनी दीर्घ स्थिति को भोग कर जीव सम्यक्त्व पाने के योग्य बन जाता है। इसके बाद मिथ्यात्व की गांठ तोड़ने के लिए आत्मा अपूर्वकरण करता है। अपूर्वकरण से जीव अनन्तानुबन्धी कषाय की गांठ को तोड़कर, अनिवृत्तिकरण करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि को भी होता है, किन्तु अपूर्वकरण तो सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले भव्य को ही होता है। इससे वह मोहनीयकर्म की दृढ़तम गांठ को तोड़ देता है। यथाप्रवृत्तिकरण तक जीव अनन्त बार आ जाता है, किन्तु अपूर्वकरण को अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथम बार ही प्राप्त करता है। यह अपूर्वकरण ही अनन्तानुबन्धी कषाय की, अनादि की दुर्भेद्य गांठ को काट कर आत्मशुद्धि करता है और अनिवृत्तिकरण से मिथ्यात्व मोहनीय का भेदन कर सम्यक्त्व लाभ करता है।

यथाप्रवृत्तिकरण आदि के विषय में आचार्यों ने एक दृष्टान्त दिया है। तीन मनुष्य एक साथ यात्रा कर रहे थे। मार्गस्थ अटवी में चोरों का समूह मिला। वह रास्ता रोके खड़ा था। यात्रियों में से एक डर कर उलटे पैर भागा। एक को चोर ने पकड़ लिया। तीसरा साहसी था जो चोरों से लड़कर विजयी बना और आगे बढ़कर इच्छित स्थान पर पहुँच गया। इस उदाहरण में बताये तीन प्रकार के यात्रियों के समान तीन करण हैं और चोरों के समान मिथ्यात्व है। भागने वाले डरपोक यात्री के समान वे जीव हैं, जो यथाप्रवृत्तिकरण तक आ कर भी अपूर्वकरण नहीं करके लौट जाते हैं (यथाप्रवृत्तिकरण से भी गिर जाते है) और फिर उसी मिथ्यात्व नगर में पहुँच जाते हैं—जहां से आये थे। पकड़ा जाने वाला यात्री यद्यपि अभी यथाप्रवृत्तिकरण में है, तथापि आगे नहीं बढ़ेगा, तो उसे भी पीछे लौटना पड़ेगा। जो यात्री चोरों को जीतकर इच्छित स्थान पर पहुँच गया, उसके समान हैं-अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव।

'कोदों' नामक धान्य, मादक (नशीला) भी होता है। उसके खाने से नशा चढ़ता है और खाने वाला उस नशे में विकृतमानस होकर तड़पता है। आदिवासी लोग, अपने पशुओं को मारकर खाने वाले बाघ, चीते और सिंह आदि को मारने के लिए वैसे मादक कोदों को मांस में मिला देते हैं, जिसे खा कर हिंसक प्राणी मर जाते हैं। ऐसे मादक कोदों के समान 'मिथ्यात्व' है। गाढ़ मिथ्यात्व तो विष के समान है, जो आत्मा की दर्शन-शक्ति का घात करता है।

कोदों को छाछ आदि से धोकर मादकता कम की जाती है, इससे वह उतना

मादक तो नहीं रहता, फिर भी कुछ नशा रहता है। इसके समान है मिश्रमोहनीय, जिसमें मिथ्यात्व का कुछ अंश रहता है। जिस कोद्रव में मादकता नहीं रहे, वह नशा नहीं करता। इसके समान है क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

मादक कोद्रव ऐसा भी होता है कि जो पुराना होने पर स्वभाव से ही निर्मद हो जाता है। दूसरे प्रकार के कोद्रव की मादकता प्रयत्न करने पर छूट जाती है, किन्तु ऐसा कोद्रव भी होता है कि जिसकी मादकता छूटती ही नहीं। इसी प्रकार कुछ जीव ऐसे भी होते हैं कि जिनका मिथ्यात्व, मन्द होता हुआ स्वतः छूट जाता है, स्वभाव से ही। कुछ का उपदेश रूपी प्रयत्न से छूटता है और अभव्य जीवों का मिथ्यात्व तो छूटता ही नहीं, सदैव बना ही रहता है।

सम्यक्त्व के मुख्यतः तीन भेद हैं—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। औपशमिक सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क तथा दर्शनत्रिक के दलिक पूर्णरूप से उपशान्त हो जाते हैं—दब जाते हैं, राख के नीचे दबी हुई आग की तरह। उनका प्रदेशोदय भी नहीं होता। क्षायिक सम्यक्त्व तो तभी होता है जब कि वे दलिक समूह नष्ट हो जायें। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में, उदय से आये हुए मिथ्यात्व के कर्मपुद्गल तो क्षय कर दिये जाते हैं और जो उदय में नहीं आकर सत्ता में ही हैं, वे उपशांत हो जाते हैं। उनका प्रदेशोदय मात्र होता है। उपशम और क्षयोपशम समकित में मिथ्यात्व की सत्ता रहती है, जिससे उदय में आने की संभावना बनी रहती है।

उपशम-सम्यक्त्व संसार-अवस्थान काल में पांच बार से अधिक नहीं आता, क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व उत्कृष्ट असंख्य बार आ सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व तो मात्र एक बार ही आता है और स्थायी-सादि अपर्यवसित रहता है। उपशम और क्षयोपशम समकित वाला तो पुनः मिथ्यात्व प्राप्त कर, कोई उत्कृष्ट देशोन अर्ध पुद्गल-परावर्तन काल तक, अनन्त जन्म-मरण भी कर लेता है, किन्तु क्षायिक-सम्यक्त्वी जीव चार भव से अधिक नहीं करता। वह भी क्षायिक-सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व आयुष्य बांध लिया हो तो। यदि पहले आयुष्य नहीं बांधा हो, तो फिर वह आयुष्य का बन्ध नहीं करता और मोक्ष ही प्राप्त करता है। इसकी प्राप्ति एकमात्र मनुष्य-भव में ही होती है। प्राप्ति के बाद क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि चारों गतियों में होती है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का जो अंश उपशान्त रहता है, वह निमित्त मिलने पर उदय होकर सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व के पतन के अनेक निमित्त होते हैं। इसलिए प्राप्त सम्यक्त्व की रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। रक्षित सम्यक्त्व अधिक से अधिक १५ भव में मुक्ति दिला ही देता है।

सम्यक्त्व-रत्न को लूटने के लिए चारों ओर मिथ्यात्व रूपी लुटेरे लगे हुए हैं। प्रत्यक्ष डाकू दिखाई देने वाले से तो मनुष्य सावधान रहकर बचाव भी कर लेता है। क्योंकि वह पहले से उससे दूर रहता है। किन्तु जो डाकू, साहुकार, हितैषी परोपकारी तथा सेवक का स्वांग सज कर आवे, उससे बचना कठिन है। इस विषय में गुरुदेव से एक बोधक दृष्टान्त सुना था, वह मैं आपको सुना रहा हूँ।

एक विशाल नगर में हजारों भीख माँगने वाले थे। उनका काम ही भीख मांग कर आजीविका चलाना था। उनमें कुछ अन्धे भी थे। उस नगर में एक बाहर का ठग आया और भिखमंगों से मिल गया। दो-तीन दिन में ही उसे मालूम हो गया कि अन्धे भिखमंगों के पास धन का संग्रह अच्छा है। अन्धे होने के कारण दयालु लोग उन्हें विशेष देते हैं। उनका धन देखकर ठग ललचाया। वह अर्थ-सम्पन्न अन्धों के पास पहुँचा और कहने लगा—

'सूरदासजी महाराज! धन्य भाग्य मेरे! मैं आप जैसे महात्मा की ही खोज में था। गुरुवर ! आप साक्षात् भगवान् से भी अधिक हैं। आपकी सेवा से भगवान् मिलते हैं। मैं संसार से विरक्त हूँ और आप जैसे सूरदास जी महाराज की सेवा करना चाहता हूँ। लीजिए गुरुवर! भोजन पाइए और तृप्त हो कर आशीर्वाद दीजिए।'

अन्धे को मिष्टान्न और नमकीन मिल गया। वह बहुत प्रसन्न हुआ और भक्त पर आशीर्वाद की झड़ी लगा दी। नकली भक्त, असली से भी अधिक मोहक होता है। वह अन्धे के लिए पानी लाने और पान-तम्बाकू आदि की सेवा भी करने लगा। इसी प्रकार वह अन्य अंधों की भी सेवा करने लगा। अन्धे सभी साथ रहते थे। उन्हें सूझते हुए भिखमंगों का विश्वास नहीं था। सूझते भिखमंगे इन्हें प्राप्त भीख पर जलते थे। थोड़े ही दिनों में ठग-भक्त पर सभी अंधों का विश्वास जम गया। अपना विश्वास जम जाने के बाद अनुकूल अवसर देखकर भक्त ने अन्धसभा से कहा—

'महात्मा गण! मैं आपकी सेवा बराबर नहीं कर सका। इसका मुझे खेद हो रहा है।'

'भक्त ! तुम तो सतयुग के श्रवणकुमार जैसे हो। श्रवणकुमार तो अपने माता-पिता की सेवा करता था और तुम तो गुरु-भक्ति कर रहे हो। तुम तो श्रवणकुमार से भी उत्तम-कोटि के हो'-सभी अन्धों ने वात्सल्यपूर्ण भावों से कहा।

'महात्मन्! मेरी इच्छा है कि आप सभी महात्माओं को तीर्थयात्रा करवा लाऊँ। यदि आप कृपा करें, तो मेरा जीवन सुधर जाय। मैं भवसागर से तिर जाऊँ।'

अन्धों को मनवांछित मिल रहा था। वे सब तैयार हो गए। अपना-अपना सामान तथा संचित धन लेकर सब चल निकले। आगे ठगराज, उसके पीछे अन्धों की कतार। चलते-चलते वह यात्री दल अटवी में होकर एक नगर के निकट पहुँचा। अनुकूल स्थान देखकर भक्तराज ने अन्धदल से कहा—

'महात्माओं ! अब भयंकर अटवी आ रही है। यहाँ चोर-डाकुओं का उपद्रव हो सकता है। आप लोगों को कुछ दिखाई नहीं देता। इसलिए आप सावधान रहें और अपने पास के धन को अच्छी तरह सँभालें।'

अन्ध-समूह घबराया। उन्होंने सोचा—हम तो अन्धे हैं। चोर-डाकुओं से हम अपने धन को कैसे बचा सकेंगे? 'भक्त ! तुम ही यह धन लेकर सुरक्षित रखो। तुम पर हमारा पूरा विश्वास है।'

सभी अन्धों ने अपने नोटों के बंडल, अपने विश्वस्त भक्त को दे दिये। भक्त ने गुरुवर्ग की पिटाई करवाने और आपस में ही लड़ा-मारने के लिए एक युक्ति रची। उन सभी अन्धों की झोलियों में पत्थर भरवा दिये और कहा-

'यह चोर-लुटेरों का ही स्थान है। चुपचाप चलते रहिए। कोई किसी से कुछ भी नहीं बोले। यदि कोई निकट आकर मीठी-मीठी बातें करने का प्रयत्न करे, तो आप विश्वास नहीं करें और पत्थर मार कर भगा दें। मैं आपसे थोड़ी दूरी पर अकेला चलूँगा, जिससे मुझ पर चोरों की दृष्टि नहीं पड़े। आप कोई भी मुझे आवाज नहीं देवें।'

इस प्रकार उन अन्धों को समझा कर वह ठग, धन लेकर चलता बना और वे अन्धे इधर-उधर चक्कर काटते रहे। उधर से कोई नागरिक सज्जन निकला। उसने अन्ध-समुदाय को इधर-उधर भटकते देखकर पूछा-'सूरदासजी ! आप सब सीधे मार्ग क्यों नहीं चलते, उन्मार्ग क्यों भटक रहे हो ?' बस, सज्जन पर पत्थर वर्षा होने लगी। पत्थर वर्षा से उस सज्जन का भी सिर फूटा और अन्धों के भी सिर फूटे। जब तक झोलियों में पत्थर रहे, वे अन्धे आपस में ही एक दूसरे पर चोट कर घायल होते रहे और भूमि पर गिर-गिर कर समाप्त होगए। एक चालाक ठग ने बहुत से अन्धों का धन, बडी चतुराई से लूटा और उनके जीवन को ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार आकर्षक एवं मोहक रूप मे उपस्थित होने वाला मिथ्यात्व सम्यक्त्व रूपी धर्म-रत्न को जीव हृत्प्रदेश में घुस कर हर लेता है और मिथ्यात्व का मीठा विष भर देता है, जिससे वह मोक्षमार्ग से च्युत होकर संसाररूपी अटवी में भटकता रहे, जन्म-मरण करता रहे। मोहक मिथ्यात्व से बचना बड़ा कठिन है। जो तत्त्वार्थ को भली प्रकार से जानता है, जिसकी जिन वचनों पर दृढ़ श्रद्धान है, वे ही सुज्ञ मिथ्यात्व से बच सकते हैं। हमें भी अपने सम्यक्त्व रत्न की रक्षा करनी चाहिए।

('शिविर व्याख्यान' से साभार)

सम्यग्दर्शन : दो भाव बिम्ब

डॉ. संजीव प्रचंडिया 'सोमेन्द्र'

एक

निश्चित ही
सम्यगदर्शन प्राथमिक है
और आचरण उसका परिणाम
सत्य का सद्दर्शन
फैल जाता है जब
तब साधना का अमर शिल्प
बन जाता है निष्काम।

दो

आचार्य उमास्वाति का दर्शन
मोक्ष की त्रिवेणी दर्शाता है—
"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"
का मूल पाठ बताता है।
किंकर्तव्यविमूढ़ न हो जाएं हम
इसीलिए श्रद्धान को
पग-पग में जगाता है।

-मंगलकलश, ३९४ सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००१

मिथ्यात्व : जीव का परम शत्रु

☆ जैन दिवाकर श्री चौथमल जी म.सा.

मिथ्यात्व कितना भयङ्कर है और सम्यक्त्व कितना उपकारक, इसका बोध तो प्रस्तुत प्रवचन से होता ही है, किन्तु मिथ्यात्वी एवं सम्यक्त्वी के जीवन में कितना भेद होता है, इसका शम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा और आस्था के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत प्रवचन में विशेष प्रकाश मिलता है। उल्लेखनीय है कि यह लेख दिवाकर दिव्य ज्योति के भाग २० एवं भाग ८ के प्रवचनों 'सम्यक्त्व की कसौटी एवं 'सम्यग्दृष्टि के लक्षण' का सम्पादित रूप है।—सम्पादक

मिथ्यात्व की भयङ्करता

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तमः।
मिथ्यात्वं परमः शत्रुः मिथ्यात्वं परमं विषम्॥

अर्थात् मिथ्यात्व परम रोग है, मिथ्यात्व परम अंधकार है, मिथ्यात्व परम शत्रु है और मिथ्यात्व विष है।

शारीरिक और मानसिक रोग अनेक हैं। कहावत प्रसिद्ध है-'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' अर्थात् यह शरीर नाना प्रकार की व्याधियों का घर है। मगर मिथ्यात्व उन सब में बड़ी व्याधि है। सघन मेघों से आच्छादित अमावस्या की रात्रि का अंधकार अत्यन्त गहन होता है, उसमें मनुष्य को कुछ भी दिखाई नहीं देता, किन्तु मिथ्यात्व का अन्धकार तो उससे हजारों-लाखों गुणा गहन होता है। मिथ्यात्व का अन्धकार जब अन्तरात्मा में छा जाता है तो आन्तरिक नेत्रों की ज्योति भी बुझ जाती है। उससे भी सत् पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते। अतएव मिथ्यात्व परम तम है-संसार में सब से बड़ा अंधकार है।

अहित उत्पन्न करने वाला और हित का विघात करने वाला शत्रु कहलाता है। संसार में अनेक लोगों के अनेक शत्रु होते हैं। जिसके निमित्त से किसी का कुछ अनिष्ट हुआ कि वही उसका शत्रु बन जाता है। मगर मिथ्यात्व से बढ़कर कोई शत्रु नहीं हो सकता। बाह्य शत्रु बाहर होते हैं और उनसे सावधान रहा जा सकता है, परन्तु मिथ्यात्व शत्रु अन्तरात्मा में ही घुसा रहता है। उससे सावधान रहना कठिन है। वह किसी भी समय, बल्कि हर समय हमला करता रहता है। बाह्य शत्रु अवसर देखकर जो अनिष्ट करता है, उससे भौतिक हानि ही होती है, मगर मिथ्यात्व आत्मिक सम्पत्ति को धूल में मिला देता है। वास्तव में इससे बढ़ कर शत्रु कोई हो ही नहीं सकता। अन्य शत्रु अधिक से अधिक प्राण हरण कर सकता है, धर्म को नहीं छीन सकता, किन्तु मिथ्यात्व का जब जोर होता है तो धर्म का भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व परम शत्रु है।

मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जीव विपरीत श्रद्धा वाला बन जाता है। वह असत् को सत् और सत् को असत् मानने और जानने लगता है। जैसे पित्तज्वर से ग्रस्त

मनुष्य मधुर रस को कटुक अनुभव करता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव सच्चे देव को कुदेव, सच्चे गुरु को कुगुरु और सच्चे धर्म को कुधर्म समझता है। साथ ही मिथ्या देव, गुरु और धर्म को समीचीन समझता है और इस कारण वह अहित के मार्ग पर ही अग्रसर होता है।

वास्तविकता यह है कि मिथ्यात्व पापों में सबसे बड़ा पाप है, शापों में सबसे बड़ा शाप है और तापों में सबसे बड़ा ताप है। वह समस्त कर्मों का जनक है।

सम्यक्त्व : स्वरूप एवं महत्त्व

यथार्थ तत्त्व पर श्रद्धा न होकर विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न होता है, जो जीव इन कर्मों का क्षय, उपशम अथवा क्षपोपशम कर डालता है, उसके मिथ्यात्व का अन्त आ जाता है। मिथ्यात्व के नष्ट होने पर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा एवं प्रतीति करना सम्यक्त्व कहलाता है। शुद्ध सम्यक्त्ववान् जीव कुगति में नहीं जाते, जबकि मिथ्यात्वी जीव प्रायः घोर नरक की यातनाएं सहन करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति-पथ पर विचरण करते हैं।

जो राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, ऐसी आत्माएं सुदेव हैं। पंच महाव्रतधारी कनक-कामिनी के त्यागी तथा जिनप्ररूपित धर्म या चारित्र का पालन करने वाले अनगार हमारे गुरु हैं और सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म ही हमारा इष्ट धर्म है। इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति समकित कहलाती है।

जब आत्मा में सम्यक्त्व का उदय होता है तो अनेक प्रकार के सात्त्विक सद्भाव उत्पन्न हो जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय न रहने से आत्मा में एक प्रकार की अनिर्वचनीय शान्ति उत्पन्न होती है, जिसे प्रशमभाव कहते हैं। वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान हो जाने से वह जीव सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, बल्कि उदासीन वृत्ति से बर्ताव करता है। वह मोक्ष की ओर उन्मुख हो जाता है। उसका हृदय अत्यन्त मृदु बन जाता है, अतएव किसी भी दीन दुःखी जीव को देखता है तो करुणा का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। वह आत्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप आदि भावों पर अटल विश्वास रखने के कारण परम आस्तिक होता है।

सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा रखने वाले ही सच्चे श्रावक हैं। श्रावक स्वप्न में भी मिथ्यात्व का सेवन नहीं करते। मोक्षार्थी जीव को मिथ्यात्व से सदा के लिए मुंह मोड़ लेना चाहिए। जीव को जब तक मिथ्यात्व के पाप से छुटकारा नहीं मिलता, तब तक वह सम्यक्त्व-रत्न की प्राप्ति नहीं कर सकता और न मोक्षमार्ग के सन्मुख ही हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि भलीभांति जानता है कि मिथ्यात्व के कारण ही यह आत्मा, अनादि काल से, जन्म-जन्मान्तर में नाना प्रकार के कष्ट सहन कर रही है। मिथ्यात्व के हटते ही आत्मा मोक्ष का अधिकारी हो जाता है और मोक्षमार्ग पर चलने योग्य बन जाता

है। आत्मा स्वभाव से सर्वगुण सम्पन्न तथा दिव्य प्रकाश वाला है, किन्तु मिथ्यात्व के कारण अपना प्रकाश फैलाने में सर्वथा असमर्थ बना हुआ है। अतएव आत्मा के उद्धार का या आत्मा के शोधन का सर्वप्रथम सोपान सम्यक्त्व ही है।

ठाणांग सूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुरुष बतलाए हैं। उनमें से प्रथम श्रेणी में वे हैं जो भगवान् के वचनों पर पूर्ण रूपेण श्रद्धा रखते हुए स्वप्न में भी उनमें कभी असत्यता की आशंका नहीं करते।

भगवान् वीतराग के वचन यथार्थ ही होते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ के मुख से निकले हुए हैं। जो महापुरुष सर्वज्ञ होने के कारण समस्त वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानते हैं और वीतराग होने से किसी को धोखा देने या बहकाने के लिए या स्वार्थ से प्रेरित होकर अन्यथा भाषण नहीं करते, उनके वचन मिथ्या नहीं हो सकते। वहां मिथ्या-भाषण करने का कोई कारण नहीं है। अतएव मुमुक्षु जीव को चाहिए कि वह वीतराग के वचनों पर लेश मात्र भी सन्देह न करे और अनिश्चल विश्वास रख कर उन्हीं के अनुसार प्रवृत्ति करे।

शङ्का भी श्रद्धापूर्वक हो

यद्यपि अल्पज्ञ अवस्था में, वस्तु स्वरूप के विषय में शंका होना स्वाभाविक है और वह हुआ ही करती है, किन्तु वह शंका श्रद्धापूर्वक होनी चाहिए। उस शंकालु के गर्भ में अविश्वास छिपा नहीं होना चाहिए। गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक हो करके भी भगवान् के समक्ष अनेक शंकाएं करते थे और भगवान् महावीर उनका समाधान किया करते थे। तो क्या गौतमस्वामी दृढ़ सम्यक्त्वी नहीं थे? अवश्य सम्यक्त्वी थे, पर उनकी शंकाओं में अश्रद्धा का सम्मिश्रण नहीं होता था। वे भगवान् के वचनों पर पूर्ण एवं अटल श्रद्धा रखते हुए, विशेष निर्णय के लिए, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शंका करते थे। इस प्रकार की शंका करने से सम्यक्त्व दूषित नहीं होता। जिस शंका में अश्रद्धा मिली रहती है,तत्त्व की सच्चाई पर जहां विश्वास नहीं होता, वहीं सम्यक्त्व दूषित होता है।

अगर कोई शास्त्रीय विषय सूक्ष्म, गहन अथवा जटिल हो और हमारे मस्तिष्क में न आता हो, तो भी उसे यथार्थ ही मानना चाहिए और उसकी यथार्थता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने बहुत सुन्दर पथ प्रदर्शन कर दिया है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव गृह्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित सूक्ष्म तत्त्व कुछ ऐसे भी होते हैं जो हम अल्पज्ञों की बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किए जा सकते और तर्क द्वारा उनमें बाधा भी नहीं दी जा सकती। ऐसे तत्त्वों को भगवान् की आज्ञा होने से ही अर्थात् आगमकथित होने से ही स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि जिन कदापि अन्यथावादी नहीं होते। जिन महात्माओं ने अज्ञान एवं राग-द्वेष को पूरी तरह जीत लिया है, उनके असत्य भाषण का कोई कारण नहीं हो सकता।

कदाचित् मिथ्यात्व से ग्रस्त कोई अश्रद्धालु व्यक्ति कुतर्क करके सत्य पथ से विचलित करने का प्रयास करे तो भी दृढ़ प्रतिज्ञ एवं शुद्ध श्रद्धावान् बना रहना चाहिए। उसे स्पष्ट कह देना चाहिए कि वक्ता की निर्दोषता पर वचन की निर्दोषता निर्भर है। जो वक्ता वीतराग है, वह सदोष वचनों का प्रयोग कर ही नहीं सकता। संभव है, कोई तत्त्व हमारी समझ में आवे और कोई न आवे, तथापि सर्वज्ञ ने जो कहा है, वह सत्य है और शंका से परे है। यही तथ्य आचारांगसूत्र में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है--

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं

वही सत्य है और वही असंदिग्ध है, जिसका तीर्थङ्करों ने प्ररूपण किया है।

शुद्ध श्रद्धावान् पुरुष ही स्व-पर का कल्याण करने में समर्थ होता है। जिसके हृदय में श्रद्धा नहीं है और जो कभी इधर और कभी उधर लुढ़कता रहता है, वह सम्पूर्ण शक्ति से, पूरे मनोबल से साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता और पूर्ण मनोयोग के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। सफलता श्रद्धावान् को ही मिलती है।

मिथ्यात्वी को धर्म अरुचिकर

पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते।

जिसे पित्तज्वर का प्रकोप हो रहा हो, उसे दूध जैसा मधुर पेय भी कटुक मालूम होता है। ज्वर के कारण उसकी रुचि विकृत हो जाती है। दूध तो दूध ही है, उसमें जो मधुरता है वह कहीं चली नहीं जाती, ज्वर के रोगी के लिए दूध अपने आपमें कटुकता नहीं भर लेता, लेकिन ज्वर के प्रभाव से रोगी की रुचि ही बदल जाती है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से धर्म जैसा मधुर, उपकारक तत्त्व भी मिथ्यादृष्टि को रुचिकर नहीं होता है। मगर धीरे-धीरे, जब कारण मिलते हैं तब मोहनीय कर्म शिथिल होता है, दूर होता है और तब जीव में धर्म की रुचि उत्पन्न होती है; ठीक उसी प्रकार जैसे बुखार हट जाने पर दूध मीठा मालूम होने लगता है और भोजन के प्रति रुचि जागृत हो जाती है। मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव की भी रुचि जब खराब हो जाती है तब आनन्ददायक, शाश्वत हितकारी, परमकल्याणमय धर्म भी अरुचिकर प्रतीत होता है।

सम्यक्त्वी के कर्मबंध न्यून

मिथ्यात्व आदि कारणों से संसारी जीव को निरन्तर आस्रव और बन्ध होता रहता है। बन्ध के मुख्य पांच कारण हैं--(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग। पहले गुणस्थान में यह पाँचों ही बन्ध के कारक विद्यमान रहते हैं। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं रह जाता, अतएव शेष चार कारणों से बन्ध होता है। पांचवें गुणस्थान में देशविरति हो जाती है और आंशिक रूप से अविरति हट जाती है, अतएव वहां पूर्ण रूप से तीन कारण और देश रूप से अविरति जन्य कर्मों का बन्ध होता है। छठे गुणस्थान में अविरति पूर्ण रूप से हट जाती है, अतः प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से ही बन्ध होता है। सातवें गुणस्थान में प्रमाद भी नहीं रहता। अतः सातवें से लगा कर दसवें गुणस्थान तक सिर्फ कषाय और योगों के ही कारण बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान के अन्त में कषाय का भी क्षय या उपशम हो जाने पर आगे

के तेरहवें गुणस्थान तक सिर्फ योग ही कर्मबन्ध का कारण रह जाता है। केवल योग की प्रवृत्ति के कारण, कषाय की निवृत्ति हो जाने पर सिर्फ प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते हैं। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध रुक जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी निरोध हो जाता है, अतएव योगजन्य कर्मबन्ध भी नहीं होता। वहां पूर्ण अबन्धक दशा प्राप्त हो जाती है।

इस कथन का तात्पर्य यह निकला कि ज्यों-ज्यों विकार हटते जाते हैं, विभाव परिणमन कम होता है, त्यों-त्यों कर्मबन्ध भी कम होता चला जाता है। आस्रव और बन्ध के कारणों की प्रबलता पाकर आत्मा अधिक कर्मों का संचय करता है और उनके विरोधी संवर और निर्जरा की प्रबलता होने पर नया कर्मबन्ध रुकता जाता है और पहले बन्धे हुए कर्मों का क्षय होता जाता है। इस प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास होता है और विकास की अन्तिम परिणति 'मुक्ति' कहलाती है। इस कथन का यह भी अभिप्राय है कि बन्ध के अभाव (संवर) का प्रारम्भ सम्यक्त्व से होता है और जैसा कि कहा जा चुका है कि सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थान में होता है अतएव कहना चाहिए कि मोक्षमार्ग का आरम्भ ही चौथे गुणस्थान से होता है। यद्यपि चौथे गुणस्थान वाला अविरति सम्यग्दृष्टि व्रतों का आचरण नहीं करता, फिर भी उसके अनेक बुरे काम छूट जाते हैं। शराब पीना, मांस खाना आदि दुर्व्यसन, जो धार्मिक, नैतिक एवं लौकिक दृष्टि से भी गर्हित है, सम्यग्दृष्टि छोड़ देता है। सम्यग्दृष्टि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापों को हेय समझने लगता है और इन पापों का आचरण करने में उसकी रुचि नहीं रहती। हालांकि व्रत के रूप में वह अहिंसा को अंगीकार नहीं करता है, मगर मिथ्यादृष्टि की तरह पापों को भला भी नहीं समझता है और कदाचित् पाप का आचरण करना पड़े तो वह अपने आपको धिक्कारता है।

सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय या उपशम कर देता है, अतएव उसमें कषाय की मात्रा भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। तीव्रतम क्रोध, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य आत्महत्या जैसे घोर दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है, उसमें नहीं रह जाता। इसी प्रकार तीव्रतम मान, कपट और लालच भी हट जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है कि अरे जीव! ये कषाय ही भव-भव में भटकाने वाले और नाना योनियों में नाना प्रकार के कष्ट देने वाले हैं। यह आत्मा में मलीनता उत्पन्न करके उसे विकृत करने वाले हैं। कषाय ही जन्म-मरण रूप प्रासाद के प्रधान स्तंभ हैं। अतएव क्यों इस कचरे को अपने भीतर भरता है? इस कचरे से तेरा अकल्याण ही होगा।

सम्यक्त्वी जीव के पाँच लक्षण प्रसिद्ध हैं—१. शम २. संवेग ३. निर्वेद ४. अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य आगे इन्हीं पर विचार किया जा रहा है।

शम

तीव्रतम क्रोध मिथ्यात्व का सहचर है। जिसे बार-बार ऐसा कषाय आता हो, समझना चाहिए कि उसे अभी तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है। अतएव आप कभी क्रोध में आकर ऐसा मत कहो कि साले का खून पी जाऊंगा, कच्चा जाऊंगा! जब तुम मांस नहीं खाते हो तो फिर क्रोध में आकर ऐसा क्यों बोलते

देखो, सम्यग्दृष्टि के मुंह से ऐसी बातें नहीं निकलती। सम्यग्दृष्टि प्रत्येक बात को सीधी लेता है और मिथ्यादृष्टि उलटी लेता है। कदाचित् उसे कोई साले की गाली दे भी दे तो वह सोचता है कि जगत् की परस्त्रियां मेरे लिए बहिन के समान हैं। इस नाते अगर यह मेरा बहिनोई बनता है तो क्या हर्ज है! हे प्रभो! मुझे ऐसी ही सद्बुद्धि दीजिए कि संसार की स्त्रियों को मैं बहिनों के समान ही समझता रहूं और सब का साला बन जाऊं। सच्चा मर्द वही है जो इस प्रकार सबका साला बनता है। जो ऐसा नहीं, वह सच्चा मर्द नहीं। इस प्रकार विचार कर सम्यग्दृष्टि गाली देने वाले से कहता है-भाई, धन्यवाद! तुमने मुझे बहुत ही सुन्दर उपाधि दी है। मैं न केवल तुम्हारा, वरन् सभी का साला बनना चाहता हूं और समस्त परस्त्रियों को बहिन के रूप में मानना चाहता हूं।

इसके विपरीत मिथ्यात्वी एक गाली देने वाले को पचास गालियां सुनाता है और हित की बात कहने वाले के सामने भी अकड़ता है। कहता है-तुम्हें मुझसे क्या सरोकार है? तुम कौन होते हो मुझे सिखाने वाले? तुम जैसे पचासों को मैं अपनी जेब में रखता हूं। अपनी अक्ल अपने पास रहने दो। अपनी भलाई को भी बुराई समझकर ऐसा कहने वाले को विपरीत बुद्धि समझना चाहिए। उसके पेट में जहर मौजूद है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि की कषाय मन्द हो जाती है इस कारण उसके अन्तःकरण में समभाव विद्यमान रहता है।

सम्यग्दृष्टि का कोई अपराध करता है तो सम्यग्दृष्टि उसे क्षमा कर देता है। इसके विपरीत, किसी का कोई अपराध उससे बन जाये तो वह पश्चात्ताप प्रकट करता है और क्षमायाचना कर लेता है। बिना अपराध किये ही उसे कोई दण्ड दे तो वह शान्ति के साथ उसे सहन कर लेता है और सोचता है कि दण्ड देने वाला तो निमित्त मात्र है, असल में इस दण्ड का उपादान तो मैं स्वयं हूं। मैंने ही अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है और मैं ही उनका फल भोगने वाला हूँ। अशुभ कर्मों के उदय के अभाव में मेरा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

आज हजारों-लाखों सम्यग्दृष्टि नरक में पड़े हुए हैं और असंख्यात मिथ्यादृष्टि भी पड़े हुए हैं। दुःख दोनों को ही होता है। नरक की भूमि ही बड़ी वेदनाकारी है। उसका स्पर्श करते ही ऐसी घोर वेदना होती है मानों हजार बिच्छुओं ने एक साथ डंक मार दिया हो। उसके लिए सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि सभी समान हैं। वह किसी का लिहाज नहीं करती। नरक में दूसरी वेदना परमाधामी असुरों के द्वारा उत्पन्न की जाती है। तीसरे नरक तक पहुंच कर यह असुर नाना प्रकार से छेदन-भेदन आदि करके नारक जीवों को दारुण दुःख देते हैं। वे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का विचार नहीं करते। तीसरी वेदना नारक आपस में ही एक दूसरे को देते हैं। यह वेदना भी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के नारकों को होती है। तात्पर्य यह है कि दोनों तरह के नारकों को नरक में समान रूप से कष्ट पड़ते हैं। मगर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की भावना में भारी अन्तर रहता है। सम्यग्दृष्टि नारक जीव समझता है कि मैंने पूर्वजन्म में जो महान् पाप किये थे, उनका फल आज मुझे भोगना पड़ रहा है।

मैंने अपने सिर पर जो ऋण चढ़ा रखा है, उसे उतार रहा हूं। एक प्रकार से यह दुःख मेरे लिए हितकारी है, क्योंकि इसको भोग लेने से मेरी आत्मा पापकर्मों से हल्की हो जायेगी। ऐसी भावना करके वह अपने कर्मों को खपाता है। मगर मिथ्यादृष्टि उन्हीं कष्टों को भोगते समय आकुल-व्याकुल होता है, आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान करता है, कष्ट देने वालों के प्रति तीव्र द्वेषभाव धारण करता है और ऐसा करके वह फिर नये अशुभ कर्म बांध लेता है। दोनों समान गति में हैं, समान दुःखमय परिस्थिति में हैं, फिर भी भावना के भेद से कितना अन्तर पड़ जाता है।

सम्यग्दृष्टि में समभाव होता है और मिथ्यादृष्टि विषमभावी होता है। यह बात सभी सम्यग्दृष्टियों और मिथ्यादृष्टियों पर लागू होती है, चाहे वे पशु हों, चाहे मनुष्य हों । कई व्यक्ति ऐसे देखे जाते हैं कि वे अपमान को समभाव से सह लेते है और सोचते हैं कि यह मेरा अपमान नहीं है, बल्कि मेरी वर्तमान स्थिति का सही-सही चित्रण है। मिथ्यादृष्टि उसी बात को सुन कर माथा फोड़ने को तैयार हो जाता है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि मन्दकषायी होता है। कषाय की मन्दता होना सम्यक्त्व का एक चिह्न है।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कषाय की मंदता को सम्यक्त्व का जो लक्षण बतलाया गया है वह इसी आशय से कि जो सम्यग्दृष्टि होगा वह मन्द कषाय वाला अवश्य होगा। यह नियम है। मगर यह नियम नहीं है कि जो मन्द कषाय वाला होगा, वह सम्यग्दृष्टि अवश्य ही होगा। क्योंकि कभी-कभी मिथ्यादृष्टि के भी क्रोध, माया और लोभ रूप कषाय पतले हो जाते हैं और वे भी देवलोक में जाते हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि में अनन्तानुबन्धी कषाय विद्यमान रहता है, फिर भी कभी उसका उद्रेक होता है और कभी नहीं भी होता। कभी संज्वलनचतुष्क का उदय हो और आयु-कर्म का बन्ध पड़ जाय तो देवायु बंध जाती है।

संवेग

सम्यग्दृष्टि का दूसरा लक्षण संवेग है। उसकी भावना रहती है कि अरे जीव! तू कब इन विषय भोगों से विरत होगा, कब आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने का अद्‌भुत, अनिर्वचनीय और वचनागोचर आनन्द प्राप्त करेगा और कब जन्म-जरा-मरण से अतीत होकर मुक्ति प्राप्त करेगा? सम्यग्दृष्टि संसार को हेय समझता है, भोग-विलास की ओर उसकी अरुचि हो जाती है। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार और गृहस्थी में रहता हुआ भी उनमें अलिप्त होकर रहता है। उसे संसार-व्यवहार से अरुचि सी हो जाती है।

कदाचित् वह किसी की निन्दा या बुराई कर देता है तो उसे पश्चात्ताप होता है और वह विचारने लगता है कि-हे आत्मन्! तू दूसरों के अवगुणों को देख-देख कर क्यों अवगुणी बन रहा है? क्या तुझे जन्म-मरण को और भी बढ़ाना है? अनादि काल से भटकते-भटकते तेरा पेट नहीं भरा। अरे, यही समय तो तिरने का है और तू डूबने का काम क्यों करता है?

जिसके अन्तःकरण में सहज रूप से ऐसी भावनाएं उद्‌भूत होती रहती हैं, जो

भव्य एवं पुनीत भावनाओं से ही अपनी आत्मा को भावित करता रहता है, उसका कषाय भाव तीव्र नहीं होता। सम्यग्दृष्टि सच्चा मुमुक्षु होता है। वह मुक्ति की इच्छा रखता है और संसार से अपनी आत्मा का निस्तार चाहता है। भोगों में डूबे रहने पर भी उसकी आत्मा भीतर से अलिप्त रहती है। ऊपर से देखने वालों को भले ही समझ में न आवे, मगर ज्ञानी उसकी निर्लेप दशा को जानते हैं।

प्रश्न किया जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव यदि मोक्ष की इच्छा करता है तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए इच्छा का नष्ट हो जाना आवश्यक है। इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है। जब तक इच्छा है तब तक मोहनीय कर्म का उदय है और जब तक मोहनीय कर्म का उदय है तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता।

इस प्रश्न के समाधान में कहना है कि यद्यपि इच्छा मोह का ही एक कार्य है, तथापि मोक्ष की इच्छा प्रशस्त इच्छा है। इस इच्छा से प्रेरित होकर जीव संसार संबंधी विषयभोगों से एवं आरंभ-समारंभ आदि पापमय प्रवृत्ति से निवृत्त होता है। जिस इच्छा के कारण पाप में प्रवृत्ति होती है, वह इच्छा कर्मबंध का कारण है। मगर मोक्ष की इच्छा इससे विपरीत होती है, अतएव उससे कर्मबंध नहीं होता। मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला तप, संयम, प्रत्याख्यान आदि का आचरण करता है। अतएव वह मोक्ष में बाधक नहीं होती। पर मुमुक्षु पुरुष जब उच्च कोटि पर पहुंच जाता है और उसका मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, तब इच्छा मात्र भी नष्ट हो जाती है। उस समय वह अपने आत्मस्वरूप में ही तन्मय हो जाता है। उस समय उसमें मोक्ष की भी इच्छा नहीं रह जाती। उसी ऊंची स्थिति के प्राप्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी अपेक्षा से कहा है–

यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति।

अर्थात्-जिसके अन्तःकरण में मोक्ष की भी इच्छा नहीं रह जाती, वही महापुरुष मोक्ष प्राप्त करता है। और–

मोक्षे भवे च सर्वत्र, निस्पृहः मुनिसत्तमः।

अर्थात्-परमोच्च श्रेणी पर पहुंचा हुआ मुनि क्या मोक्ष में और क्या संसार में, सर्वत्र निस्पृह हो जाता है।

इन दृष्टियों को सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कथंचित् मोक्ष की इच्छा मोक्ष में साधक भी है और कथंचित् बाधक भी है। इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेने से ही सर्वत्र सत्य की आराधना होती है। अतएव जैन शासन में किसी भी प्रकार के मिथ्या एकान्त को जगह नहीं है। अनेकान्त दृष्टि को सामने रख कर ही तत्त्व का निष्पक्ष विचार करना उचित है। इसी से सत्य का ज्ञान होता है और इसी से कल्याण होता है।

सम्यग्दृष्टि निरन्तर मोक्ष की अभिलाषा करता हुआ, संसार-व्यवहार से उदासीन-सा बना रहता है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि सांसारिक काम करता है, परन्तु उनमें अनुरक्त नहीं होता।

निर्वेद

सम्यग्दृष्टि का तीसरा लक्षण यह है कि वह अपने आपको संसार का कैदी समझता है। वह जानता है कि माता, पिता, पुत्र आदि कुटुम्ब-परिवार तथा मकान, धन, सम्पत्ति आदि कुछ भी वास्तव में मेरा नहीं है और मैं उनका नहीं हूं। मैं कर्मोदय के कारण ही इनके बंधन में पड़ा हुआ हूँ।

सम्यग्दृष्टि विवाह करता है तो भी यही समझता है कि मैं जेलखाने में फंस रहा हूँ। सारा संसार एक प्रकार का विशाल जेलखाने के समान है और अज्ञान का अन्धेरा छाया हुआ है। कभी-कभी ज्ञानी गुरु-ज्ञान का थोड़ा-सा प्रकाश फैलाते हैं। अनादिकाल से चले आ रहे मिथ्यात्व की दीवार टूटी है। अतएव सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन पाकर सोचता है कि भाई! अब यहां से भागने का मौका है। कोई-कोई निकल कर भागे और साधु बनने को चले। वहां कुटुम्बियों ने आकर घेर लिया। कोई रो-रो कर, कोई भय दिखला कर और कोई डांट फटकार बता कर उसे फिर से कैदखाने में बंद करना चाहते हैं। इस विषय का विस्तृत और सुन्दर वर्णन सूत्रकृत्तांगसूत्र में किया गया है। वहां बतलाया गया है—

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणा।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए॥

अर्थात्-गृह-त्याग कर नवीन बने हुए साधु के माता-पिता आदि संबंधी जैन साधु के समीप आकर यदि करुणाजनक वचन कहें, करुणाजनक कार्य करें या अपने पुत्र के लिए रोदन करें तो भी संयम-पालन में उद्यत, और मुक्तिगमन के योग्य उस साधु को वे संयम से भ्रष्ट नहीं कर सकते और वे उसे फिर गृहस्थलिंग में नहीं जा सकते।

कुटुम्बीजन मानो समझते हैं कि यह हमारा साथ छोड़ कर कहीं मोक्ष में चला जाएगा तो नरक में हमारा साथ कौन देगा?

एक नदी पूर जा रही थी। उसमें एक काली-काली सी दिखलाई देने वाली चीज बहती जा रही थी। किनारे पर खड़े लोगों की उस पर दृष्टि पड़ी। उन्हें जान पड़ा कि या तो यह कंबल है या माल की कोई पेटी है। एक आदमी हिम्मत करके नदी में कूद गया और उसके पास पहुंचा। देखा काली चीज तो रींछ है। रींछ ने उस आदमी का सहारा लेना चाहा, अतएव वह उस पर लपका। कभी आदमी नीचे और कभी रींछ नीचे आता गया । किनारे खड़े लोगों ने उसे पुकारा—अरे, छोड़ दे उसे और तैर कर आजा। किन्तु वह कहता है—मैं छूट नहीं सकता। आना चाहता हूँ परन्तु आ नहीं सकता।

यही हाल इस संसार का है। इसमें धन-दौलत, कुटम्ब-परिवार आदि का जब तक सच्चा स्वरूप मालूम नहीं होता, तब तक वे लुभावने मालूम पड़ते हैं और जब उनकी असलियत का पता चल जाता है तब वे रींछ के समान भयानक जान पड़ते हैं। जो लोग संसार में फंस जाते हैं वे निकलना चाहते हुए भी निकल नहीं पाते और ऐसे फंसे रहते हैं कि दो घड़ी सामायिक करना भी छूट जाता है। मुनिराज कहते हैं कि छोड़ दे , मगर वह कहता है छूटता ही नहीं है। लेकिन कम्बल लेने को चले और रींछ से पाला पड़ा। संसारी जीव अज्ञान के वशीभूत होकर सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और दुःख पल्ले पड़ता है। वे जिन वस्तुओं के सुख की कल्पना करते

हैं, वे ही आखिर दुःख देने वाली साबित होती हैं।

एक सँकड़े मुँह के मटके में लड्डू भरे थे। एक बंदर वहाँ पहुँचा और लड्डू निकालने के लिए उसने हाथ डाला। हाथ में लड्डू ले लिया और मुट्ठी बांध ली। अब वह मुट्ठी बांधे हाथ निकालना चाहता है, पर मुंह संकड़ा होने के कारण मुट्ठी निकल नहीं सकती। मुट्ठी खोलता है तो लड्डू जाता है। वह हाथ भी निकालना चाहता है और लड्डू भी नहीं छोड़ना चाहता। इसी प्रकार तुम भी चाहते हो कि हमें संसार के भोगोपभोग भी न छोड़ने पड़ें और मोक्ष का सुख भी मिल जाय। मगर ऐसा नहीं हो सकता। या तो मोक्ष ले लो या विषय-सुख ले लो। या तो हाथ छुडा लो या लड्डू छोड़ो या फँसे रहो। बुद्धिमान् बंदर यही पसंद करेगा कि लड्डू भले जायें मगर हाथ छूट जायें। आप क्या पसंद करते हैं, यह आपको सोचना है। नर होकर वानर से गये-बीते तो नहीं होओगे? अगर सच्चा सुख चाहते हो तो मोह-माया को छोड़ो। परमार्थ का विचार करके अपने कर्तव्य का निर्णय करो और उसमें प्रवृत्त हो जाओ।

सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्व को पहचान लेता है और इस संसार को कारागार समझ कर, अपने आपको बंदी मान कर, इसमें अनुरक्त नहीं होता। वह संसार से छूटने की ही भावना भाता रहता है। यह सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है और इसे निर्वेद कहते हैं। निर्वेद का अर्थ यही है कि संसार से उदासीन रहे। दुनिया की मोह-ममता से हाथ हटा लेने की भावना रखे। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव साधु नहीं बना है, फिर भी सम्यक्त्व प्राप्त कर चुका है। वह कुटुंब-परिवार में रहता है, धन-सम्पत्ति भी रखता है, मगर अन्तस में एक प्रकार की विरक्ति बनी रहती है। भीतर वह समझता है कि यह सब वस्तुएं मेरी नहीं हैं और मैं इनका नहीं हूं। कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तरगत न्यारा रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

सम्यग्दृष्टि जीव परमार्थ का बहाना करके अपने लौकिक कर्त्तव्य का पालन करने में जी नहीं चुराता, धर्म के नाम पर अकर्मण्यता को प्रश्रय नहीं देता, और अपने उत्तरदायित्व से किनारा नहीं काटता। मगर भीतर से वह उदासीन रहता है, अलिप्त, अनासक्त रहता है। जैसे धाय बालक को खेलाती है, उसकी सार-संभाल करती है, उसे लाड़-प्यार भी करती है, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करती है, फिर भी अन्तरंग में इस बात को भलीभांति समझती है कि यह बालक मेरा नहीं है, मैं इसकी माता नहीं हूँ, यह अलग है और मैं अलग हूँ। इसी प्रकार की वृत्ति सम्यग्दृष्टि में होती है। वह संसार के किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होता।

अनुकम्पा

सम्यक्त्व का चौथा लक्षण अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय सरोवर में अनुकम्पा की उत्ताल तरंगें उठती रहती हैं। वह स्वदया भी करता है और पर दया भी करता है। स्वदया क्या चीज है? यह सोचना कि अब मुझे अपनी आत्मा को नरक-निगोद में नहीं जाने देना है, चौरासी के चक्कर से निकलना है। इस प्रकार सोच कर आत्मा को बुरे मार्ग से बचाना दुःखों की राह से हटाना और सच्चे सुख की ओर ले जाने का प्रयत्न करना, यह सब स्वदया है। परन्तु परदया के अभाव में स्वदया

नहीं हो सकती। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव परदया भी अवश्य करता है। दुःखी जीव को देखकर वह राम-राम करके निकल नहीं जाता, बल्कि उसके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं दुःख सहन कर लेता है, किन्तु पर के दुःख की उपेक्षा नहीं करता। शास्त्रों में बहुत-से ऐसे दृष्टान्त मौजूद हैं। राजा मेघरथ का ज्वलंत उदाहरण प्रसिद्ध ही है। भय से कांपता हुआ कबूतर उसकी शरण में आता है। राजा उसे दुःखी देखकर द्रवित हो जाता है। उसके अन्तःकरण में अनुकम्पा का भाव उमड़ पड़ता है। वह कबूतर को पुचकारता है और सान्त्वना देता है। उसी समय शिकारी आ पहुंचता है और अपने महत्त्व की मांग करता है। वह कहता है कि मैं भूख से मरा जा रहा हूँ। राजा मेघरथ उस पर भी क्रोध न करके अनुकम्पा ही करता है। कोई और होता तो अपने सेवक को आज्ञा देकर उसे पिटवाता, धक्के देकर बाहर निकलवा देता और शायद इतना करने का भी उसे अवसर न आता। जरा भौंहें टेढ़ी करते ही शिकारी के छक्के छूट जाते। मगर राजा को कबूतर से राग नहीं था और शिकारी से द्वेष नहीं था। दोनों पर उसका अनुकम्पा भाव था। अतएव राजा ने उसे शान्ति के साथ दूसरी भोजन सामग्री लेने को कहा। जब वह नहीं माना तो अपना शरीर ही देने को तैयार हो गया। इसे कहते हैं अनुकम्पा। दयावान् वही है जो दूसरे का दुःख दूर करने के लिए अपने दुःख की परवाह नहीं करता। ऐसे सैंकड़ों उदाहरण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। धर्मरुचि अनगार ने अनुकम्पा से प्रेरित होकर अपने प्राणों की भी ममता त्याग दी और मेतार्य मुनि ने अनुकम्पा के कारण अपने प्राणों की चिन्ता नहीं की।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव का अन्तःकरण अत्यन्त कोमल हो जाता है। परपीड़ा देना तो दूर रहा, वह पीड़ित को देख कर स्वयं पीड़ित हो जाता है और यथाशक्ति उस पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करता है।

आज बहुत-से ऐसे लोग हैं और महिलाएँ भी हैं, जो अपनी प्रतिष्ठा जाने के विचार से बहुत कठिनाई में होते हुए भी किसी के आगे मुँह नहीं खोलते। उनके घर में बाल-बच्चे भी हैं। खास तौर से ऐसों का ध्यान रखना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है। ऐसे लोगों के घर पर गुप्त रूप से सहायता पहुँचाना सच्ची दया का एक अंग है।

आस्तिक्य

सम्यक्त्व का पाँचवा लक्षण आस्था या आस्तिक्य है। पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, आत्मा, धर्म, देव व गुरु पर पक्की श्रद्धा रखने वाला आस्तिक कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव पाप और पुण्य तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नरक और स्वर्ग पर विश्वास रखता है और जब इन पर विश्वास रखता है तो इनको भोगने वाले आत्मा पर कैसे अविश्वास कर सकता है? इसी प्रकार देव, गुरु और धर्म पर भी सम्यग्दृष्टि विवेकपूर्ण श्रद्धा रखता है।

जोइसेसु जहा , वणेसु नंदणं वणं।
गंधेसु चंदणं चेव, देवेसु य जिणो तहा॥

देवों में जिस प्रकार चन्द्रमा प्रधान माना गया है, वनों में नन्दनवन प्रधान माना गया है ध में चन्दन प्रधान माना गया है उसी प्रकार देवों में जिनेन्द्र देव प्रधान माने गए है।

—आचार्य श्री घासीलालजी म.

सम्यग्दर्शन : मुक्ति का बीज

¤ श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरिजी म.सा.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये मोक्ष के उपाय हैं। सम्यग्दर्शन के अनेक पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन को जैसे दर्शन कहा जाता है वैसे ही मुक्तिबीज भी कहा जाता है। इसे सम्यक्त्व भी कहा जाता है तो तत्त्ववेदन भी कहते हैं। दुखान्तकृत भी कहा जाता है। सुखारम्भ भी कहा जाता है।

दर्शन

आत्मा के यथावस्थित स्वरूप को समझने में अति उपयोगी होने से इसके लिये दर्शन शब्द बहुत ही सार्थक है। सम्यग्दर्शन की सहायता के बिना जीवादि तत्त्वों की सच्ची समझ नहीं हो सकती।

मुक्ति का बीज

सकल कर्मों की निवृत्ति रूप मुक्ति सम्यग्दर्शन का फल है और इस फल का बीज सम्यग्दर्शन है। अनेक पाप-इच्छाओं में रमता हुआ आत्मा जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब उस सम्यग्दृष्टि आत्मा की रमणता केवल मुक्ति की इच्छा में ही होती है। सम्यग्दर्शन-प्राप्त आत्मा की अन्य इच्छाओं में रमणता नहीं होती। सम्यग्दर्शन, एक ऐसा गुण है कि इस गुण को प्राप्त आत्मा संसार सुख को सच्चा सुख मानने से विमुख बन जाती है। सम्यग्दर्शन गुण के प्रताप से आत्मा सच्चा परिणामदर्शी बन जाता है, अत: संसार के सुखों को वह दु:ख रूप और दु:ख के कारण मानता है। सुख के लिए तो वह मोक्ष की ही इच्छा करता है। इसलिए वह ज्ञान और चारित्र को पाकर परिणाम के फलस्वरूप मुक्ति को प्राप्त करने वाला होता है। इस कारण सम्यग्दर्शन को मुक्ति का बीज कहा जाता है।

सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व भी कहते हैं। सम्यक्त्व अर्थात् आत्मा का सम्यग्भाव। आत्मा के मिथ्यात्व रूप मल के अपगम से आत्मा का परम निर्मलीभावरूप जो सम्यग्भाव है, वही सम्यक्त्व है। क्षायिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का सत्ता में से भी अपगम होना चाहिए। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का रसोदय रूप में अपगम होना चाहिए और औपशमिक सम्यक्त्वमें मिथ्यात्व के उदय का अभाव होना चाहिए। इस प्रकार योग्यतानुसार मिथ्यात्व के अपगम से आत्मा में जो परम निर्मलता पैदा होती है यही आत्मा का स्वभाव है और इसी का नाम सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन का यही स्वरूप होने से इसे सम्यक्त्व भी कहते हैं।

हेय में उपादेय बुद्धि और उपादेय में हेय बुद्धि कराने वाले मिथ्यात्व का उस प्रकार का अभाव हुए बिना यह गुण आत्मा में प्रकट नहीं होता। इस गुण के प्रकट होने के बाद आत्मा बहुत ही विवेकी बन जाता है। उसका विवेक उसे वस्तु के स्वरूप में स्थिर रखता है। इसी कारण इस गुण का स्वामी राज्य आदि का उपभोग करने पर भी राज्यादि को कभी उपादेय की कोटि में नहीं मानता, इस गुण की उत्कृष्ट दशा में रमण करता हुआ आत्मा तो बंध के कारणों से भी निर्जरा कर सकता है।

इस गुण का स्वामी संसार का सच्चा द्रष्टा बन कर रहता है। भोक्ता होते हुए भी द्रष्टा बने रहना, इस गुण के प्रभाव से संभव बन जाता है।

पुण्य का भोग हो या पाप का भोग हो, दोनों ही इस गुण से निर्जरा के कारण बन सकते हैं। यह गुण दुःख की सामग्री की अपेक्षा भी सुख की सामग्री में बहुत ही विरक्तता पैदा कर देता है। इस गुण की अनुपमता को यथार्थ रूप में अनुभव कराना, अनुभव बिना संभव नहीं है। इस गुण को प्राप्त करने वाले संसार के मेहमान बन जाते हैं अर्थात् इस गुण के स्वामी संसार से विरक्त बनते हैं तब संसार उनके अनुकूल बनता है। संसार में सच्चे सुख का अनुभव भी इस गुण के स्वामियों के लिए ही सुरक्षित है।

तत्त्ववेदन

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से अनन्त उपकारी श्री अरिहन्त परमात्मा द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का वेदन अर्थात् श्रद्धान आत्मा को होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन को तत्त्ववेदन भी कहा जाता है। सच्चा तत्त्ववेदन आत्मा को संसार से उदासीन बनाता है। अनुकूल सामग्री में होने वाली आसक्ति और प्रतिकूल सामग्री में होने वाला उद्वेग ये दोनों आत्मा के लिए हानिकर हैं। जब इन दोनों का विनाश होता है तब सच्चा उदासीन भाव आता है। श्री जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित जीवादि के स्वरूप का सच्चा श्रद्धान आत्मा पर चढ़े हुए मोहविष का नाश करने के लिये जड़ी बूटी का काम करता है जगत को उसके स्वरूप में जानने के लिए यह तत्त्ववेदन बहुत ही आवश्यक है वैराग्य के लिए भी भवस्वरूप का ज्ञान आवश्यक है और इस ज्ञान के लिए तत्त्ववेदन बहुत जरूरी है।

सम्यग्दर्शन के साथ दुःख का नाश और सुख का आरम्भ

कर्मजनित गाढ़ राग-द्वेष के परिणाम रूप ग्रन्थि का भेद हुए बिना यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। इस ग्रन्थिभेद के पूर्व आत्मा को निविड कर्मजन्य जो संसार दुख होता है वह ग्रन्थिभेद होने के बाद नहीं रहता। अतः उपकारियों ने इस सम्यग्दर्शन को दुःखान्तकर भी कहा है। सचमुच, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से किसी अपेक्षा से दुःख का अन्त हुआ, यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन का स्वामी यदि उत्कट परिणाम का स्वामी बन जाता है तो वह उसी भव में क्षपकश्रेणी प्राप्त कर, केवलज्ञान का स्वामी बनकर सिद्धिपद का भोक्ता बन जाता है। यद्यपि ऐसा किसी किसी के लिए ही होता है तदपि होता तो है यह निर्विवाद है। इस कारण भी इस सम्यग्दर्शन को दुःखान्तकर कहने में कोई बाधा नहीं है। इसी कारण इसे सुख का आरम्भ करने वाला भी कहा जाता है। जो दुःखान्तकारी होता है वह सुख का आरम्भक होता है, यह भी निर्विवाद है। दुःख का अन्त करने वाला सम्यग्दर्शन सुख का आरम्भ करने वाला भी होने से दुःखान्तकर की तरह सुख का आरम्भक भी कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के साथ ही आत्मा में सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। अतः अज्ञान रूप दुःख गया और सम्यग्ज्ञान रूप सुख शुरु हुआ, यह भी निश्शंक ही है।

संजीवनी श्रद्धा

¤ महासती श्री उमरावकंवर जी 'अर्चना'

श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल मन्त्र होता है। बिना श्रद्धा के कोई भी मनुष्य इस संसार-सागर से पार हुआ हो, ऐसा इतिहास नहीं बताता। व्यक्ति कितना भी विद्वान् हो, ज्ञानवान् हो, पण्डित हो, दार्शनिक हो, किन्तु अगर उसमें सम्यक्त्व नहीं है, उसकी आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं है, तो विविध भाषाओं का ज्ञान तथा अनेक प्रकार की कलाओं का अभ्यास भी उसे इस संसार-सागर से तैरा कर पार नहीं कर सकता। स्व. स्वामी श्री चौथमल जी म. ने यही बात अपनी राजस्थानी भाषा की पंक्तियों में कही है-

जिणन्द मैं जग किम तरसूं हो ?
इंगलिश, हिन्दी, फारसी, भण भण उर भरसूं हो।
जिन आगम जचिया बिना, हूं खोटो खर सूं हो ॥
विविध प्रकार व्याख्यान दे, वर शोभा वरसूं हो।
पिण समकित रुचियाँ बिना, कहो, कैसे सुधरसूँ हो ॥
जिणन्द मैं जग किम तरसूँ हो।

तात्पर्य यही है बन्धुओं! कि ज्ञान कितना भी हासिल कर लिया जाय किन्तु जब तक सच्चे देव, गुरु तथा धर्म पर श्रद्धा नहीं हो, तब तक मनुष्य न सच्चा श्रावक ही कहला सकता है और न ही साधु।

श्रद्धा अथवा आस्था से ही मन की अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। श्रद्धा के बिना शरीर के रोगों की अथवा मन के रोगों की कोई भी औषधि अपना प्रभाव नहीं डालती। श्रद्धा ही जीवन के लिये अमृत है। संसार में किसी भी साध्य की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। किन्तु दुर्लभ है विश्वास अथवा श्रद्धा। जैनागम कहता है-'सद्धा परमदुल्लहा।'

श्रद्धा के दो रूप होते हैं—प्रथम सम्यक् श्रद्धा, दूसरी अन्धश्रद्धा। पहली विवेकपूर्ण होती है और दूसरी अविवेकपूर्ण। दोनों में गौ के दूध और रक्त के जितना अन्तर होता है। हालांकि दोनों गाय से ही प्राप्त होते हैं पर अन्तर कितना विशाल होता है। हीरा और कोयले के उदाहरण से भी आप इसे समझ सकते हैं। दोनों एक ही तत्त्व से बनते हैं, फिर भी दोनों के मूल और कार्य में महान् अन्तर होता है।

जिस व्यक्ति को सच्चे देव, गुरु तथा धर्म पर श्रद्धा होती है उसकी श्रद्धा दूध व हीरे की तरह मानना चाहिये। इसके विपरीत जो कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म पर श्रद्धा रखता है उसकी श्रद्धा को अन्धश्रद्धा तथा कोयले व रक्त की तरह की श्रद्धा मानना चाहिये।

सच्चे देव वे हैं जो वीतराग हों। जिन्होंने राग-द्वेष को पूर्ण रूप से जीत लिया है, उन्हें हमें देव मानना चाहिए, भले ही उनका अन्य कुछ भी नाम हो। कहा गया है—'वीतरागो जिनो देवो रागद्वेष-विवर्जितः।' जो राग तथा द्वेष के दोषों से रहित हो गए हैं ऐसे देवाधिदेव वीतराग प्रभु को ही जिनेन्द्र-भगवान् और जिनदेव कहा जाता है।

इसके विपरीत जो राग के चिह्न स्त्री से युक्त हैं, द्वेष के चिह्न शस्त्र से युक्त हैं

और मोह के चिह्न जपमाला से युक्त हैं, जो निग्रह और अनुग्रह अर्थात् किसी का वध करने या किसी को वरदान देने वाले हैं, ऐसे देव सच्चे नहीं हैं और वे मुक्ति का कारण नहीं हो सकते—

ये स्त्री शस्त्राक्षसूत्रादि-रागाद्यंककलंकिताः ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥—हेमचन्द्राचार्य

सुदेव तथा कुदेव के विषय में समझ लेने के बाद अब सुगुरु के लक्षण समझिये । किसी भी वेष को धारण करने वाले गुरु हों, किन्तु वे अगर पंच महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन करते हैं तो वे हमारे गुरु हैं । श्री हेमचन्द्राचार्य ने गुरु के लक्षण बताए हैं—

महाव्रत-धरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥

अर्थात् पांच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) को धारण करने वाले, परीषह और उपसर्ग आदि आने पर भी व्याकुल न होने वाले, भिक्षा से उदरपूर्ति करने वाले, सदैव सामायिक अर्थात् समभाव में रहने वाले तथा धर्म का उपदेश देने वाले गुरु कहलाने के अधिकारी हैं । इसके विरुद्ध—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥—हेमचन्द्राचार्य

जो धन-धान्यादि सभी वस्तुओं की अभिलाषा रखने वाले, मद्य, मधु, मांस आदि सभी वस्तुओं का आहार करने वाले, परिग्रह से युक्त, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले हैं, वे गुरु नहीं हैं, कुगुरु हैं ।

अब हम सम्यक् धर्म के लक्षण पर आते हैं । श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार धर्म के निम्नलिखित लक्षण हैं—

दुर्गतिप्रपतत्प्राणि-धारणाद्धर्म उच्यते ।
संयमादिदशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥

नरक व तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों में जाते हुए जीव को जो बचाता है, वही धर्म है । संयम आदि दस प्रकार का क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य रूप धर्म ही मोक्ष प्रदान करने वाला होता है ।

मनुस्मृति में भी धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥—मनुस्मृति

धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ये धर्म के दस लक्षण हैं । सच्चा धर्म पापों की जड़ काटकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है पर मिथ्या धर्म इससे उलटे भवभ्रमण के भंवर में डाल देता है । कुधर्म के लक्षण हैं-

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो हिंसाद्यैः कलुषीकृतः ।
स धर्म इति वित्तोपि, भवभ्रमणकारणम् ॥—योगशास्त्र

अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के द्वारा प्रवर्तित और हिंसा आदि दोषों से कलुषित धर्म प्रसिद्ध होने पर भी संसार-परिभ्रमण का कारण बनता है ।

मेरा अनुरोध तो सिर्फ इतना ही है कि सत्य देव, सत्यगुरु, सत्यधर्म को पहचानें । दूसरों का पतन देखकर स्वयं अपना अधःपतन न करें अन्यथा हममें से कोई भी

व्यक्ति अपना शुभ नहीं कर पायेगा और यह दुर्लभ नरभव व्यर्थ हो जाएगा। कवि रसखान ने कितना सुन्दर पद लिखा है कि मनुष्य को बिना किसी ओर देखे भगवान् का इस तरह ध्यान रखना चाहिये जैसे कि पनिहारिन अपनी गागर का ध्यान रखती है। गागर के अलावा किसी ओर उसका चित्त नहीं जाता। वे कहते हैं कि सबकी बात सुनकर भी बिना कुछ कहे जो सच्चाई के साथ अर्थात् श्रद्धापूर्वक अपना व्रत, नियम जो कुछ भी करना हो करता रहे, तभी वह भवसागर पार हो सकेगा।

सुनिये सबकी कहियै न कछु, रहिये इमि या भवसागर में,
करियै व्रत नेम सचाई लिये, जिन तें तरिये भव-सागर में।
मिलिये सब सो दुरभाव बिना, रहिये सतसंग उजागर में,
रसखान गोविन्दहिं यों भजिये, जिमि नागर को चित्त गागर में।

आज के समय मनुष्य में सबसे बड़ी कमी है श्रद्धा की। श्रद्धा के बिना मनुष्य अपने आपको भी नहीं पहचान सकता। श्रद्धा के बिना ज्ञान भी पंगु के सदृश हो जाता है। मेधावी तथा महान् वही होता है जिसकी रग-रग में श्रद्धा बसी हुई हो। तर्क उसे उलझा नहीं सकता, आशंका उसे डिगा नहीं सकती।

श्रद्धा और तर्क के पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं। कोरा तर्क दिमागी द्वन्द्व है। उससे सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता, सिर्फ उलझा जा सकता है। आचारांग सूत्र में कहा है--

'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'

जिनेन्द्र भगवान ने जो बताया है, वही सत्य है-शंका रहित है।

बुद्धि की अपेक्षा विश्वास श्रेष्ठ है। तर्क की अपेक्षा श्रद्धा श्रेष्ठ है। बुद्धि दिन के प्रकाश में भी भटक जाती है पर विश्वास अंधेरी और भयानक रातों में भी निर्भय चलता है। तर्क भगवान् को भी पत्थर बना देता है और श्रद्धा पत्थर को भी भगवान्। तो बन्धुओं! श्रद्धा जब पत्थर को भी भगवान् बना सकती है तो मनुष्य को भगवान् क्यों नहीं बना देगी? बस शर्त यही है कि उसे डगमगाने नहीं दिया जाय। जीवन में आदि से अन्त तक वह एक सरीखी दृढ़ रहे। आचारांगसूत्र में साधु के लिये कहा गया है--

'जाए सद्धाए निक्खंतो, तमेव अणुपालिया।'-आचारांग सूत्र

अर्थात् साधु जिस श्रद्धा से घर से निकले उसी श्रद्धापूर्वक सदा संयम का पालन करे। यह नहीं कि कुछ दिन, कुछ महीने, अथवा कुछ वर्षों में ही वह लड़खड़ा जाए, उसकी श्रद्धा डोल जाए और सिंह की तरह गया हुआ गीदड़ की तरह लौट आए।

श्रद्धा अहिंसा, अभय और मैत्री में होनी चाहिये। जिनकी श्रद्धा हिंसा, भय तथा शत्रुता में हैं उनकी श्रद्धा को बदलते हुए उन्हें साधना-पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न ही भगवान् की भक्ति व पूजा है। यही साधना के राज-पथ पर चलने का एक तरीका है।

शंका, श्रद्धा के लिये कुठार के सदृश है। यह मानव आत्मा में नरक के समान होती है--

'Doubt is hell in the human soul.' शंकाओं की समाप्ति ही शांति का आरम्भ है--The end of doubt is the beginning of repose.'

शंका मनुष्य को कायर तथा निर्बल बना देती है तथा श्रद्धा उसे दृढ़ और सबल।

सम्यक्त्व का स्वरूप और फल

☆ गौतम चन्द जैन

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥-आवश्यकसूत्र

अर्थ-जीवन पर्यन्त अरिहन्त मेरे देव हैं, सुसाधु गुरु हैं और जिनप्ररूपित ही तत्त्व अर्थात् सार है। यह सम्यक्त्व मेरे द्वारा ग्रहण किया गया है।

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥-उत्तरा. २३.६३

अर्थ-कुप्रवचन करने वाले पाखण्डी जन सभी उन्मार्ग अर्थात् कुमार्ग की ओर ले जाने वाले हैं। सन्मार्ग तो जिनेश्वर द्वारा कहा गया (बताया गया) मार्ग है। उत्तम पुरुष निश्चित रूप से इस सन्मार्ग पर चलते हैं।

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहन्ते, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥-नवतत्त्वप्रकरण

अर्थ-जो जीव आदि नव पदार्थों को जानता है, उसको सम्यक्त्व होता है। जो जीवादि नव पदार्थों को नहीं जानते हुये भी भाव से उन पर श्रद्धा (विश्वास) करते हैं, उनको भी सम्यक्त्व होता है।

सव्वाइं जिणेसरभासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति।
इअ बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥-नवतत्त्वप्रकरण

अर्थ-जिनेश्वर द्वारा भाषित (कहे गये) सभी वचन अन्यथा (असत्य) नहीं होते हैं-ऐसी बुद्धि जिसके मन में हो जाती है, उसका सम्यक्त्व निश्चल है।

अंतोमुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल-परियट्टो चेव संसारो ॥-नवतत्त्वप्रकरण

अर्थ-अंतमुहूर्त्त मात्र भी जिनके द्वारा सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया गया, उनका संसार (भवभ्रमण) अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक रह जाता है।

गहिऊण य सम्मत्तं, सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं
तं झाणे झाइज्जइ, सावय! दुक्खखयट्ठाए ॥-मोक्षपाहुड, ८६

अर्थ-हे श्रावक! सम्यक्त्व को ग्रहण करके दुःखों का क्षय (नष्ट) करने के लिये, उस सुनिर्मल सम्यक्त्व का देवपर्वत के समान अकंपित (अडिग) होकर ध्यान करना चाहिये।

ते धण्णा सुकयत्था, ते सूरा तेवि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे, वि ण मइलियं जेहिं ॥-मोक्षपाहुड, ८९

अर्थ-वे मनुष्य धन्य हैं, सुकृतार्थ अर्थात् कृतकृत्य हैं, वे शूरवीर हैं और वे पण्डित भी हैं, जिनके द्वारा स्वप्न में भी सिद्धि प्रदान करने वाले सम्यक्त्व को मलिन नहीं किया गया।

किं बहुणा भणिएणं, जे सिद्धा णरवरा एगकाले।
सिज्झिहहि जे भविया, तं जाणह सम्मत्तं माहप्पं ॥

अर्थ-अधिक कहने से क्या लाभ? एक समय में जो श्रेष्ठजन सिद्ध हो चुके हैं और जो होने वाले हैं अर्थात् भविष्य में सिद्ध होंगे, वे सम्यक्त्व के माहात्म्य (महिमा) को जानते हैं।

-जिला रसद अधिकारी, बाड़मेर (राज.)

भागशब्दः पूजावचनः, ततश्च महापूज्या इत्यर्थः। लोकविश्रुता इति। तथा वीराः परानीकभेदिनः सुभटा इति। इदमुक्तं भवति पण्डिता अपि, त्यागादिभिर्गुणै र्लोकपूज्या अपि तथा सुभटवादं वहन्तोऽपि सम्यक्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन भवन्तीति दर्शयति—न सम्यगसम्यक् तद्भावोऽसम्यक्त्वं तद् द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः। तेषां च बालानां यत् किमपि तपोदानाऽध्ययननियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमं तदशुद्धम्-अविशुद्धिकारि, प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतऽत्त्वात् सनिदानत्वाद्वेति कुवैद्य-चिकित्सावद् विपरीतानुबन्धीति, तच्च तेषां पराक्रान्तं सहफलेन-कर्मबन्धेन वर्तत इति सफलं सर्वशः इति सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवेति ॥२२॥

साम्प्रतं पण्डितवीर्यिणोऽधिकृत्याह-

ये केचन स्वयम्बुद्धास्तीर्थकराद्यास्तच्छिष्या वा बुद्ध-बोधिता गणधरादयो 'महाभागाः' महापूजाभाजो 'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानादिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः, तथा सम्यक्त्वदर्शिनः परमार्थतत्त्ववेदिनस्तेषां भगवतां यत् पराक्रान्तम्-तपोऽध्ययनयमनियमादावनुष्ठितं तच्छुद्धम्-अवदातं निरुपरोधं सातगौरवशल्यकषायादिदोषाकलङ्कितं कर्मबन्धं प्रति अफलं भवति-तन्निरनुबन्धं निर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः, तथाहि सम्यक्दृष्टीनां सर्वमपि संयमतपःप्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानास्त्रवरूपत्वात् तपसश्च निर्जराफलत्वादिति, तथा च पठ्यते 'संयमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले इति।' ॥२३॥

'जो कुछ एक व्यक्ति धर्म के परमार्थ—सच्चे स्वरूप को नहीं जानते, व्याकरण, शुष्क तर्क आदि के ज्ञान का जिन्हें अहंकार है, जो अपने पाण्डित्य का गर्व करते है वे अबुद्ध हैं—बोध रहित हैं क्योंकि वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उन्हें ज्ञान नहीं है। सम्यक्त्व न हो तो मात्र व्याकरण के ज्ञान से तत्त्व-बोध नहीं होता। कहा है—

शास्त्रों के अवगाहन और विवेचन में तत्पर-संलग्न-कुशल भी व्यक्ति, यदि अबुध—सम्यक् दृष्टिमय बोध से युक्त नहीं है तो वह वस्तु-तत्त्व को नहीं जान पाता। जैसे कड़छी तरह-तरह के रसों का संस्पर्श करती है, किन्तु चिरकाल पर्यन्त ऐसा करते हुए भी रस का स्वाद नहीं जानती।

बलवीर्ययुक्त, महापूज्य, लोकविश्रुत, वीर—शत्रु-सैन्य-विजेता, सुभट-योद्धा, पण्डित—दान आदि उत्तम गुणों द्वारा लोक-पूज्य होते हुए भी सम्यक् तत्त्व के परिज्ञान से रहित होते हैं, वे असम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि हैं। उन मिथ्यादृष्टियों का—अज्ञानियों का तप, दान, अध्ययन, यम, नियम आदि विषयक पराक्रम-उद्यम अशुद्ध है, कर्म बन्ध के लिए है। क्योंकि वह मिथ्यादर्शन के भाव से उपहत-दूषित और सनिदान-फलानुबन्ध या फलाकांक्षासहित होता है। कुवैद्य-अयोग्य वैद्य की चिकित्सा से जैसे रोग का नाश नहीं होता, रोग बढ़ता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वियों की तपश्चरण आदि सभी क्रियाएं कर्मबन्ध के लिए होती हैं।

जो स्वयं बुद्ध—अपने आप बोध प्राप्त तीर्थंकर आदि, बुद्ध बोधित—गणधर आदि उनके शिष्य, महाभाग—परम श्रद्धास्पद, वीर—कर्म विदारण में सक्षम अथवा ज्ञान आदि गुणों से सुशोभित तथा सम्यक्दर्शी—परमार्थ तत्त्ववेदी हैं, उनका पराक्रम—तप,

अध्ययन, यम, नियम आदि अनुष्ठान शुद्ध है। वह भौतिक सुखेप्सा, क्रोधादि भाव-शल्य तथा कषाय आदि दोषों से कलङ्कित नहीं है। अतः वह कर्मबन्ध का हेतु नहीं होता। वह निरनुबन्ध-भव-भ्रमण रहित केवल निर्जरा के लिए होता है। सम्यक् दृष्टियों का सभी अनुष्ठान संयम तथा तपःप्रधान होता है। संयम से आस्रव का निरोध होता है तथा तप से निर्जरा होती है।'

आचार्यशीलाङ्क ने यहां सम्यक्त्व की महिमा का आख्यान करते हुए असम्यक्दृष्टि या मिथ्यात्वी की सभी शुभ प्रवृत्तियों को केवल कर्म-बन्ध का हेतु बतलाया है। कर्म बन्ध का हेतु मोक्ष-मार्ग नहीं होता। जो मोक्ष-मार्ग नहीं होता, कार्मिक विस्तार होता है, वह भगवान् की आज्ञा में कैसे होगा? विज्ञ जन स्वयं इसे अनुभव करें, विवेक द्वारा परखें। साथ ही साथ शुद्धोपयोग की दृष्टि से भी यह सन्दर्भ बड़ा महत्वपूर्ण है। शुद्ध पराक्रम शुद्धोपयोग ही तो है। वह आत्मा का स्वोन्मुखी उद्यम है, बन्ध विवर्जित है।

आगमों में अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे मिथ्यात्वी द्वारा आचरित तप आदि कृत्यों का मोक्षापेक्षया वैयर्थ्य सिद्ध होता है। अतएव वे भगवदाज्ञा के बहिर्गत हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के नवम अध्ययन में देवराज इन्द्र और महामति, महात्यागी राजर्षि नमि के बीच हुए तात्त्विक वार्तालाप में राजर्षि ने वीतराग-भाषित सम्यक्त्व मूलक धर्म की उपादेयता बताते हुए देवराज को बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा था—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥उत्तरा. ९.४४

एक ऐसा बाल-अज्ञानी-मिथ्यात्वी तापस है, जो मास-मास का तप (अनशन) करता है। पारणे के दिन केवल इतना सा लेता है, जो कुश के अग्रभाग पर टिक सके अर्थात् वह नाम मात्र का आहार ग्रहण करता है। बाह्य दृष्ट्या कितना घोर तप है यह, किन्तु वह—वैसा करने वाला सुआख्यात-वीतराग प्ररूपित धर्म की सोलहवीं कला भी नहीं प्राप्त कर सकता। इस गाथा से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उसका तप भगवान् की आज्ञा में नहीं है। वह मोक्षपरक साधना पथ में समाविष्ट नहीं होता।

तत्त्वतः कथ्य यह है कि देव, गुरु, धर्म, मोक्ष, तन्मूलक सिद्धान्त, साधना इत्यादि में जो विपरीत श्रद्धा लिये होता है, तद्गत सत्य को स्वीकार नहीं करता, उसे असत्य के रूप में देखता है, वैसा व्यक्ति तप, दान, पुण्य आदि के नाम पर जो भी करे, मिथ्यादर्शन-संपृक्त होने के कारण वह जरा भी आत्मश्रेयस् के लिए उपयोगी नहीं होता। मोक्ष-पथ कैसे हो?

जैन आगमों में सैकडों ऐसे पाठ प्राप्त होते हैं, जिनसे सम्यक्त्व की मोक्षाराधना में, जो एक मात्र भगवदाज्ञा का विषय है, अपरिहार्य आवश्यकता सिद्ध होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है-

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
समत्तचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं व सम्मत्तं ॥
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं ॥उत्तरा. २८.२९-३०

सम्यक् दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। चारित्र के बिना सम्यक्त्व हो स है। सम्यक् दर्शन और चारित्र युगपत् भी होते हैं, किन्तु चारित्र से पूर्व सम्यक् त का होना आवश्यक है।

सम्यक्दर्शन विहीन व्यक्ति का ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान बिना चारित्र गुण की निष्पत्ति नहीं सधती। चारित्र गुण के बिना कर्मों से छुटकारा न होता और कर्मों से छूटे बिना निर्वाण-सच्चिदानन्द-परम शान्ति नहीं मिलती।

दशवैकालिक सूत्र में लिखा है—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही? किं वा नाहीइ छेय-पावगं॥

जो जीवे वि न याणति, अजीवे वि न याणति।
जीवाऽजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं॥

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणति।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं॥

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाण्ई।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई॥

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणई॥

—दशवैकालिक ४/३३, ३५-३८

पहले ज्ञान और फिर दया—अहिंसा, मैत्री, करुणा, आत्मौपम्य आदि आचार—सत्कृत्य सिद्ध होते हैं।

अज्ञानी—सम्यक् ज्ञान रहित पुरुष क्या कर पायेगा? वह श्रेय-कल्याणकारी कार्य और पाप कार्य क्या जानेगा।

जो जीवों को नहीं जानता, अजीवों को नहीं जानता, जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा।

जो जीवों को विशेष रूप से जानता है, उनका सही स्वरूप यथार्थतः समझता है, अजीवों को विशेष रूप से समझता है, वही संयम का तत्त्व समझ पायेगा।

मिथ्यात्वी द्वारा जाने-अनजाने जो भी कुछ अच्छा बन पड़ता है, फिर वह क्या है? इसके समाधान में आचार्य ने बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा

किया है, वह प्रस्तुत विषय को और स्पष्ट करता है। पागल आदमी जो हर समय अंट-संट, अनर्गल बकता रहता है, कभी-कभी समझदारी की बातें भी कर जाता है। किन्तु उसका मस्तिष्क अनियंत्रित होता है। उससे विहित, व्यवस्थित, प्रमाणित रूप में समझदारी की बातें करते रहने की कभी आशा नहीं की जा सकती। यही स्थिति मिथ्यात्वी की है। जैसे एक पागल व्यक्ति मस्तिष्कीय-चेतना से रहित होता है, वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्व-चेतना से शून्य होता है। दोनों में ही अपनी-अपनी कोटि का विवेक-वैकल्य है। अतः मिथ्यात्वी में आत्मकल्याणमूलक जागृति का कोई लक्षण प्रतीत नहीं होता। इसीलिए उसका समग्र पराक्रम या उद्यम कर्मबन्ध का हेतु है, विमुक्ति का नहीं।

औपपातिकसूत्र (सूत्रसंख्या ७३-७६) में द्रिद्रव्यादिसेवी, वानप्रस्थ, परिव्राजक आदि तापसों का उल्लेख है। कभी उनका बड़ा प्रसार था। अम्बड़ (औपपातिकसूत्र ८२-१००) नामक परिव्राजक के तो सात सौ अन्तेवासी थे। ये सब अपने-अपने ढंग से दान, शौच, तीर्थाभिषेक, व्रत, उपवास आदि विभिन्न आचार क्रम अपनाये हुए थे। किन्तु वे मिथ्यादृष्टि थे। इसलिये वे अनाराधक थे। वे जो भी करते थे, वह भगवान् की आज्ञा के अन्तर्गत कभी नहीं आता।

स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थान में तीन प्रकार की आराधना समुपवर्णित है—१. ज्ञानाराधना २. दर्शनाराधना और ३. चारित्राराधना।

इन तीनों के केन्द्र में सम्यक् दर्शन विद्यमान है। दर्शनाराधना तो सम्यक् दर्शनमय है ही, ज्ञानाराधना भी सम्यक् दर्शन के बिना कदापि संभव नहीं है। जैसा कि पहले विस्तार से वर्णन किया गया है, ज्ञान वस्तुतः तभी 'ज्ञान' कहे जाने का अधिकारी बनता है, जब उसके साथ अनिवार्यतः सम्यक् दर्शन जुड़ता है। उसी प्रकार सम्यक् दर्शन के बिना चारित्राराधना-सम्यक् चारित्र की उपासना, साधना सर्वथा असंभव है।

इस सन्दर्भ में भगवती सूत्र का आराधक चतुर्भङ्गी का प्रसङ्ग विशेष रूप से चर्चनीय है, जिसे श्रीमत् जयाचार्य ने मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवद्-आज्ञा में सिद्ध करने हेतु भ्रम-विध्वंसन में उद्धृत किया है। आचार्य श्री जवाहरलालजी ने सद्धर्ममण्डन में अपनी दृष्टि से उसमें विसंगति दिखलाने का प्रयास किया है।

वहां प्रथम भङ्ग में उस पुरुष को लिया गया है जो शीलवान् है पर सम्यक्त्व रहित है, उपरत है-पाप से निवृत्त है, किन्तु अविज्ञातधर्मा है। उसे देशाराधक कहा गया है। (भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक १०) भ्रमविध्वंसन में इसी भंग के आधार पर तपस्वी या मिथ्यात्वी देशाराधक माना गया है। (भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३-४)

सबसे पहले एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां त्रिविध आराधना में कौन सी आराधना सधी? सम्यक् दर्शन नहीं है, ज्ञान नहीं है इसलिये इसे दर्शनाराधना और ज्ञानाराधना तो कहा नहीं जा सकता। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि यह देशतः चारित्राराधना है, किन्तु जरा गहराई से विचार कीजिए 'नाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा' जैसे आगम वाक्यों पर मताग्रहशून्य होकर चिन्तन कर क्या कोई भी

सम्यक् दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। चारित्र के बिना सम्यक्त्व हो सकता है। सम्यक् दर्शन और चारित्र युगपत् भी होते हैं, किन्तु चारित्र से पूर्व सम्यक् दर्शन का होना आवश्यक है।

सम्यक्दर्शन विहीन व्यक्ति का ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र गुण की निष्पत्ति नहीं सधती। चारित्र गुण के बिना कर्मों से छुटकारा नहीं होता और कर्मों से छूटे बिना निर्वाण-सच्चिदानन्द-परम शान्ति नहीं मिलती।

दशवैकालिक सूत्र में लिखा है—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही? किं वा नाहीइ छेय-पावगं॥

जो जीवे वि न याणति, अजीवे वि न याणति।
जीवाऽजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं॥

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणति।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं॥

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाण्ई।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई॥

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणई॥

—दशवैकालिक ४/३३, ३५-३८

पहले ज्ञान और फिर दया—अहिंसा, मैत्री, करुणा, आत्मौपम्य आदि आचार—सत्कृत्य सिद्ध होते हैं।

अज्ञानी—सम्यक् ज्ञान रहित पुरुष क्या कर पायेगा? वह श्रेय-कल्याणकारी कार्य और पाप कार्य क्या जानेगा।

जो जीवों को नहीं जानता, अजीवों को नहीं जानता, जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा।

जो जीवों को विशेष रूप से जानता है, उनका सही स्वरूप यथार्थतः समझता है, अजीवों को विशेष रूप से समझता है, वही संयम का तत्त्व समझ पायेगा।

मिथ्यात्वी द्वारा जाने-अनजाने जो भी कुछ अच्छा बन पड़ता है, फिर वह क्या है? इसके समाधान में वाचकमुख्य आचार्य उमास्वाति ने बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है—

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्॥—तत्त्वार्थसूत्र, १.३३

मिथ्यात्वी को सत् एवं असत् का विवेक नहीं होता। वह यथार्थ, अयथार्थ का वस्तुतः अन्तर नहीं जानता। इसलिए संयोग से, इत्तफाक से उसके द्वारा जब कभी भला बन पड़ता है, वह यदृच्छोपलब्ध है। कभी-कभी ऐसा होता है, एक अंधा या दिङ्मूढ़ पुरुष भटकते-भटकते अनजाने ही सही रास्ता पकड़ लेता है, वह यदृच्छोपलब्ध है।

आगे आचार्य ने अपने प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण हेतु 'उन्मत्तवत्' का जो प्रयोग

किया है, वह प्रस्तुत विषय को और स्पष्ट करता है। पागल आदमी जो हर समय अंट-संट, अनर्गल बकता रहता है, कभी-कभी समझदारी की बातें भी कर जाता है। किन्तु उसका मस्तिष्क अनियंत्रित होता है। उससे विहित, व्यवस्थित, प्रमाणित रूप में समझदारी की बातें करते रहने की कभी आशा नहीं की जा सकती। यही स्थिति मिथ्यात्वी की है। जैसे एक पागल व्यक्ति मस्तिष्कीय-चेतना से रहित होता है, वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्व-चेतना से शून्य होता है। दोनों में ही अपनी-अपनी कोटि का विवेक-वैकल्य है। अतः मिथ्यात्वी में आत्मकल्याणमूलक जागृति का कोई लक्षण प्रतीत नहीं होता। इसीलिए उसका समग्र पराक्रम या उद्यम कर्मबन्ध का हेतु है, विमुक्ति का नहीं।

औपपातिकसूत्र (सूत्रसंख्या ७३-७६) में द्रिद्रव्यादिसेवी, वानप्रस्थ, परिव्राजक आदि तापसों का उल्लेख है। कभी उनका बड़ा प्रसार था। अम्बड़ (औपपातिकसूत्र ८२-१००) नामक परिव्राजक के तो सात सौ अन्तेवासी थे। ये सब अपने-अपने ढंग से दान, शौच, तीर्थाभिषेक, व्रत, उपवास आदि विभिन्न आचार क्रम अपनाये हुए थे। किन्तु वे मिथ्यादृष्टि थे। इसलिये वे अनाराधक थे। वे जो भी करते थे, वह भगवान् की आज्ञा के अन्तर्गत कभी नहीं आता।

स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थान में तीन प्रकार की आराधना समुपवर्णित है—१. ज्ञानाराधना २. दर्शनाराधना और ३. चारित्राराधना।

इन तीनों के केन्द्र में सम्यक् दर्शन विद्यमान है। दर्शनाराधना तो सम्यक् दर्शनमय है ही, ज्ञानाराधना भी सम्यक् दर्शन के बिना कदापि संभव नहीं है। जैसा कि पहले विस्तार से वर्णन किया गया है, ज्ञान वस्तुतः तभी 'ज्ञान' कहे जाने का अधिकारी बनता है, जब उसके साथ अनिवार्यतः सम्यक् दर्शन जुड़ता है। उसी प्रकार सम्यक् दर्शन के बिना चारित्राराधना-सम्यक् चारित्र की उपासना, साधना सर्वथा असंभव है।

इस सन्दर्भ में भगवती सूत्र का आराधक चतुर्भङ्गी का प्रसङ्ग विशेष रूप से चर्चनीय है, जिसे श्रीमत् जयाचार्य ने मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवद्-आज्ञा में सिद्ध करने हेतु भ्रम-विध्वंसन में उद्धृत किया है। आचार्य श्री जवाहरलालजी ने सद्धर्ममण्डन में अपनी दृष्टि से उसमें विसंगति दिखलाने का प्रयास किया है।

वहां प्रथम भङ्ग में उस पुरुष को लिया गया है जो शीलवान् है पर सम्यक्त्व रहित है, उपरत है-पाप से निवृत्त है, किन्तु अविज्ञातधर्मा है। उसे देशाराधक कहा गया है। (भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक १०) भ्रमविध्वंसन में इसी भंग के आधार पर तपस्वी या मिथ्यात्वी देशाराधक माना गया है। (भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३-४)

सबसे पहले एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां त्रिविध आराधना में कौन सी आराधना सधी? सम्यक् दर्शन नहीं है, ज्ञान नहीं है इसलिये इसे दर्शनाराधना और ज्ञानाराधना तो कहा नहीं जा सकता। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि यह देशतः चारित्राराधना है, किन्तु जरा गहराई से विचार कीजिए 'नाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा' जैसे आगम वाक्यों पर मताग्रहशून्य होकर चिन्तन कर क्या कोई भी

सत्यगवेषी, मुमुक्षु पुरुष सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्राराधना का सधना स्वीकार करेगा ?

केवल संवर रहित अकाम निर्जरा की दृष्टि से इसे देशाराधना कहा जाए तो इसी पाठ के चौथे भंग पर सूक्ष्मता से चिन्तन करें, जिसमें न श्रुत है, न शील है, उसे सर्व विराधक कहा गया है। (भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक १०) क्या उसमें संवर रहित अकाम निर्जरा का भी सर्वत्र अभाव है ? क्या चौबीस दण्डकों के जीवों में किसी भी दण्डक का जीव ऐसा है, जिसमें निर्जरा का सर्वथा अभाव हो ?

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रथम भङ्ग की संगति मार्गानुसारी गुणों की दृष्टि से ही संभव है, चारित्राराधना की दृष्टि से कदापि नहीं।

मिथ्यात्वी की आराधकता, अनाराधकता, देशाराधकता इत्यादि विविध पक्षों पर पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने भी विभिन्न सन्दर्भों में चर्चा की है। जैन जगत् के सुप्रसिद्ध दार्शनिक, जैनन्यायपरम्परा के अन्तिम प्रौढ़ मनीषी उपाध्याय यशोविजय जी ने 'उपदेश-रहस्य' में इस प्रसङ्ग पर विवेचन किया है-

भन्नइ दव्वाराहणमेयं, सुत्तं पडुच्च दट्ठव्वं।
सो पुण दव्वपयत्थो, दुविहो इह सुत्तणीईए।।उपदेशरहस्य, गाथा १६

भण्यतेऽत्रोत्तरं दीयते—एतच्छीलवतो अश्रुतवतो देशाराधकत्वप्रतिपादकं व्याख्या-प्रज्ञप्ति-सूत्रं, द्रव्याराधनां बाह्यतपश्चरणाद्यनुष्ठानपालनाम्, प्रतीत्य-आश्रित्य, द्रष्टव्यं—निर्णेयम्, समुदयनिष्पन्नस्य पारतन्त्र्य-रूपस्योभयासाधारण्येऽपि बाह्यक्रियात्व-स्योभयसाधारणत्वेन देशत्वानपायात्, न खलु गुडादावपि समुदयनिष्प-न्नद्रवत्व-विशेषादिरूपाऽभावेऽप्युभयदशा-साधारण -विवेच्याऽविवेच्यभाववर्जितस्वाद-विशेषभावमात्रान्मदिरादिदेशत्वं व्याहन्यते ।।

उपर्युक्त विवेचन का आशय यह है—शीलयुक्त अश्रुतवान् को देशाराधक का प्रतिपादक सूत्र जो व्याख्याप्रज्ञप्ति में वर्णित है वह बाह्य तपश्चरणादि अनुष्ठान की पालना को लक्षित करके कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। यद्यपि सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय से निष्पन्न भावचारित्र दोनों में तुल्य नहीं है अर्थात् भावचारित्री में है, पर द्रव्यचारित्री में नहीं है, इसलिये सम्यग्दर्शन के अभाव में शीलवान् में केवल द्रव्यदृष्टि से देशाराधकता अभिहित की जा सकती है। अर्थात् बाह्य क्रियानुष्ठान दोनों में समान-तुल्य होने से असम्यक्त्वी में देशाराधकता अभिहित हो सकती है, जैसे गुड़ आदि में मदिरा की भांति समुदाय निष्पन्न अनेक पदार्थमिश्रणजनित द्रवत्व, मादकत्व आदि न होते हुए भी बहुत हल्का सा मद्यवत् स्वाद विशेष अनुभूत होता है जिसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से कहने भर में उसमें अंशतः मद्य का अस्तित्व मान लिया जाता है।

वही स्थिति सम्यक्त्वविहीन तप आदि के आचरण में संलग्न मिथ्यात्वी की है। वह वास्तव में आराधक नहीं होता। बाह्य क्रियाओं के यत्किंचित् सादृश्य के कारण वह आनुषंगिक रूप में-व्यवहार की भाषा में देशाराधक कहा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि तात्त्विक दृष्टि से मिथ्यात्वी कहीं भी आराधक नहीं माना गया

है। इसका विशद विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

तत्त्वविद् आचार्यों ने तो यहां तक कह दिया है—

ध्यानं दुःखनिधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलं,
स्वाध्यायोऽपि हि वन्ध्य एव कुधियां तेऽभिग्रहाः कुग्रहाः।
अश्लाघ्या खलु दान-शीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत् तत्सर्वमन्तर्गडु ॥

यानी सम्यक्त्वविहीन साधक के ध्यान, तप, स्वाध्याय, अभिग्रह, दान, शील, तीर्थ-यात्रा आदि सभी अन्तर्गडु अर्थात् विफल हैं।

निर्वेद के महान् उद्‌गाता उपाध्याय विनयविजय ने शान्तसुधारस में इसी तथ्य को उजागर करते हुए लिखा है-

मिथ्यादृशामप्युपकारसारम्,
सन्तोषसत्यादिगुणप्रसारम्।
वदान्यतावैनयिकप्रकारम्,
मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः ॥–शान्तसुधारस, १४.५

मिथ्यादृष्टि जनों में भी प्राप्त परोपकार, सन्तोष, सत्य, औदार्य तथा विनय आदि गुणों का, जो मार्गानुसारी के रूप में अभिहित हैं, अनुमोदन करते हैं। इस प्रकार प्रमोद-भावना के अन्तर्गत यह मात्र सद्‌गुणों का अनुमोदन है। सम्यक् दृष्टि के बिना पारलौकिक, आध्यात्मिक आराधना इनसे किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होती।

स्वयं श्रीमद् भिक्षुस्वामी तथा श्रीमज्जयाचार्य ने भी इस तत्त्व को कहीं-कहीं बड़े स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है। स्वामीजी ने श्रावक धर्म विचार की ढाल (गीतिका) में लिखा है—

समकित बिन सुध पालियो, अज्ञानपणे आचार।
नवग्रैवेयक ऊंचो गयो, पिण नहीं सरी गरज लिगार ॥

कोई एक जन सम्यक्त्व के बिना शुद्ध संयम का पालन कर नवग्रैवेयक स्वर्ग तक पहुंच गया किन्तु इससे उसकी जरा भी गरज नहीं सरी-जीवन का साध्य कुछ भी नहीं सधा।

और भी लिखा है-

'नवतत्त्व ओलख्यां बिना, पहरै साधु रो वेष।
समझ पड़ै नहीं तेहने, भारी हुवै विशेष ॥'

तत्त्व को जाने बिना कोई साधु का वेश पहनकर साधु बन जाते हैं, किन्तु वे साधु का आचार और शास्त्रों के वचन समझ नहीं पाते। कर्मों से छूटना तो दूर रहा, प्रत्युत वे कर्मों से और भारी हो जाते हैं। क्योंकि नव तत्त्वों की पहचान के बिना सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो ही नहीं सकती।

एक व्यक्ति साधु के आचार का पूर्णतया पालन करता है, समस्त दोषों का वर्जन करता है, किन्तु यदि वह सम्यक्त्व रहित है तो उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं होता।

कतिपय व्यक्ति बियावान जंगल में रहते हैं, सर्दी-गर्मी आदि के दुःख सहते है—तथाकथित घोर तप करते हैं, किन्तु यदि वे सम्यक्त्व-रहित हैं तो यह सब पूरा का

पूरा अन्धकारमय है।

एक व्यक्ति ने बड़ी बारीकी से त्याग-प्रत्याख्यान किये, सौगन्ध-शपथ लिये साधु या श्रावक के व्रतों का पालन किया, किन्तु सम्यक्त्व के बिना व्रत जरा भी सध नहीं पाते।एक व्यक्ति ने देशऊन दशपूर्वों का अध्ययन किया, ज्ञानी कहलाने लगा, पर वास्तव में सम्यक्त्व के बिना अज्ञानी ही है क्योंकि वह व्रतविषयक विचार से सर्वथा शून्य है। (भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, समकित री ढालां ३.३-७) श्रीमत् जयाचार्य द्वारा रचित आराधना का एक पद, जो प्रस्तुत विषय पर बड़ा सुन्दर और विशद प्रकाश डालता है, यहा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह इस प्रकार है--

'जे समकित बिन म्हे, चारित्र नी किरिया रे।
बार अनन्त करी, पिण काज न सरिया रे॥'

सम्यक्त्व प्राप्त किये बगैर मैंने अनन्त बार चारित्र की क्रिया की, पर उससे मेरा कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ। अर्थात् आत्मकल्याण नहीं सध पाया।

मिथ्यात्वदशा में की जाने वाली त्याग-तप आदि क्रियाओं को जब अर्हदाज्ञा में मानने का आग्रह रखा जाता है तो फिर वैसी ही क्रियाएं यदि किसी भी अभव्य-जन द्वारा की जाये तो उन्हें भी भगवदाज्ञा में कहा जाना चाहिए। मिथ्यात्वी की क्रिया को आज्ञा में मानने वाले ऐसा नहीं करते।

अर्हम् आश्रम, द्रोणांचल वाया गोपालपुरा, जिला चुरू (राज.)

सम्यग्दर्शन : आत्मजागृति

- सद्गुरु, सत्संग, शास्त्रश्रवण और योग्य करणी का निमित्त मिलने से आत्म-जागृति होती है।
- स्व तत्त्व को पा लेने के बाद आत्मा स्वस्थ, शान्त और निर्मल होगी।
- सुख और दुःख का अन्तरंग कारण तो हमारे भीतर ही विद्यमान होता है।
- आनन्द भौतिक वस्तुओं के राग में नहीं, त्याग में है।
- जैन धर्म व्यक्तिपूजक, नाम पूजक या वेपपूजक नहीं, वह गुणपूजक है। जो गुण के वदले नाम और वेप का पूजक हो तो समझना चाहिए कि उसकी धार्मिक दृष्टि सही नहीं है।
- सम्यग्दर्शन न तो गुरु महाराज के पास से आने वाली चीज है और न भक्ति के द्वारा ली जाने वाली चीज है। सम्यग्दर्शन तो हमारे भीतर है। वह तो भीतर से आवेगा। वह भीतर से जगने वाला है। गुरु तो पर्दा हटाने का काम करते हैं, आवरण हटाने का काम करते हैं। आवरण दूर होने से मिथ्यात्व का रोग गलता है।
- सम्यग्दर्शन वह आलोक है जो आत्मा में व्याप्त मित्यात्व अंधकार को नष्ट कर देता है और आत्मा को मुक्ति की सही दिशा और सही राह दिखलाता है।

–आचार्य श्री हस्ती

निश्चय और व्यवहार के सन्दर्भ में सम्यग्दर्शन

✠ श्री रमेश मुनि शास्त्री (उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. के शिष्य)

सम्यग्दर्शन के दो स्वरूप प्रचलित हैं।—१. निश्चय सम्यग्दर्शन और २. व्यवहार सम्यग्दर्शन। इन दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं लक्षणों का विवेचन करते हुए विद्वान् मुनि श्री ने दोनों की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए उनमें समन्वय की स्थापना की है।—सम्पादक

शाश्वतसुख का अधिष्ठान : सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन समग्र धर्मों का केन्द्रीय तत्त्व है, संयम एवं समता का मूल है, व्रतों और महाव्रतों का आधार स्तम्भ है, अध्यात्म-साधना की आधारशिला है, मोक्ष-मार्ग का प्रथम साधन है, चारित्र-साधना के मन्दिर का प्रवेशद्वार है, ज्ञान-आराधना का स्वर्णिम-सोपान है, मुक्ति-प्राप्ति का अधिकार पत्र है, अध्यात्म-विकास का सिंह द्वार है, पूर्णता की यात्रा का परम पाथेय है, अनन्त शक्ति पर विश्वास का प्रेरणा-स्रोत है, चेतना की मलिनता-निवारण का अमोघ उपाय है, अन्तश्चेतना के जागरण का अग्रदूत है, परमात्मदशा का बीज है, जिनत्व की प्रशस्त-भूमिका है, चेतना के ऊर्ध्वारोहण का मंगलमय मार्ग है, अध्यात्म-शक्ति का मूलभूत नियन्ता है और भेदविज्ञान का प्राण तत्त्व है। किं बहुना, शाश्वत सुख का अधिष्ठान है।

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग रूप

सम्यग्दर्शन मूलतः अखण्ड है। उसका खण्डशः होना संभव नहीं है, तथापि विवक्षा के आधार पर उसका वर्गीकृत-रूप-स्वरूप प्रगट होता है और जैन-दर्शन की यह एक विलक्षण-विशेषता है कि वह प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ अंकन करने के लिए उसे बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों दृष्टियों से जांचता है, परखता है।[१] उसका सूक्ष्मतम-निरीक्षण, यथार्थतः परीक्षण एवं निष्पक्षतः समीक्षण करता है। केवल बाह्य दृष्टि से वस्तुतत्त्व का लक्षण करने पर वस्तु का वास्तविक रूप अर्थात् मूल-रूप जाना नहीं जा सकता। क्योंकि वस्तु का मौलिक-स्वरूप तो उसका अन्तरंग ही होता है। यदि अन्तरंग दृष्टि से ही पदार्थ का लक्षण किया जाता है, तो वस्तु को अल्पज्ञ, छद्मस्थ मनुष्य सहसा पकड़ नहीं पाता है। उसे ज्ञात भी नहीं होता है कि कौनसी वस्तु उस लक्षण से युक्त है और कौनसी नहीं। आन्तरिक भावों का बोध प्रत्यक्षज्ञानी के अतिरिक्त किसे हो सकता है? एतदर्थ वस्तु-तत्त्व का लक्षण निश्चय एवं व्यवहार इन दोनों नयों की अपेक्षा से किया जाता है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण करते समय भी इन्हीं दो नयों का आश्रय लिया गया है। इसलिये सम्यग्दर्शन के निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन ये दो रूप प्रतिपादित कर दोनों का समीचीन रूप से समन्वय किया गया है।[२] जिससे सम्यग्दर्शन की गम्भीरता का स्पष्टीकरण होता है और उसका हार्द भी समझ में आ जाता है। वास्तविकता यह है कि अध्यात्म-यात्री का साध्य 'मोक्ष' है और सम्यग्दर्शन रूप धर्म को उसका सशक्त-साधन कहा है। स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन एक परम प्रशस्त साधन है, और वही धर्म है।[३] वह धर्म की मूल वस्तु है।[४] समस्त व्रतों की जड़ है।[५] यह भी ज्ञातव्य है कि इस धर्म का समीचीन रूपेण समाचरण केवल आत्मा से

नहीं हो सकता। वैसे ही आत्मा से रहित केवल शरीर से भी नहीं हो सकता। इसलिये जीवन के बाह्य एवं आभ्यन्तर इन दोनों रूपों के समान सम्यग्दर्शन के भी बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप हैं।

आभ्यन्तर रूप सम्यग्दर्शन की आत्मा है और बाह्य रूप सम्यग्दर्शन का अंग-उपांग युक्त शरीर है। सम्यग्दर्शन के इन दोनों रूपों की साधक-जीवन में नितान्त आवश्यकता है, अनिवार्यता है। सम्यग्दर्शन के आभ्यन्तर रूप के अभाव में आत्म-शुद्धि कदापि नहीं हो सकती है तथा बाह्य रूप के बिना मनुष्य का व्यवहार भी विशुद्ध नहीं हो पाता है। यों देखा जाए तो सम्यग्दर्शन आत्मिक-विशुद्धि, आचरण-निर्मलता एवं ज्ञान-शुद्धि के महामार्ग पर अग्रसर होने का प्रथम सोपान है। इसी को सम्यग्दर्शन कहा जाता है और इस का अपर नाम 'सम्यक्त्व' भी है। सम्यक्त्व का अभिप्रेत अभिप्राय है सम्यक् मार्ग को प्राप्त करना। जो जीव इधर-उधर भटकना छोड़कर आत्म-विकास के सही मार्ग को प्राप्त कर लेता है, आत्म-शुद्धि का प्रशस्त पथ प्राप्त कर लेता है, उसी को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शी अथवा सम्यक्त्वी कहा जाता है। सन्मार्ग को प्राप्त करने का अर्थ है-अन्तर्मन में पूर्णरूपेण सम्यक् श्रद्धा का सद्भाव होना कि यही मार्ग कल्याण की ओर ले जाने वाला है। तब उसी मार्ग पर चलने की अभिरुचि एवं संप्रतीति होती है, साथ ही विपरीत मार्ग छोड़ दिया जाता है। यही कारण है कि भव्य जीव के अन्तरंग एवं बहिरंग इन दोनों की विशुद्धता के लिये निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन की नितान्त रूप से आवश्यकता एवं अनिवार्यता रही है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन : स्वरूप एवं लक्षण

व्यवहार-सम्यग्दर्शन के बहुविध लक्षण हैं, किन्तु गहराई से दृष्टिपात किया जाय तो दो लक्षण मुख्य हैं। वे दो लक्षण क्रमशः इस प्रकार से प्रतिपादित हैं—प्रथम लक्षण तत्त्वश्रद्धा है और द्वितीय लक्षण देव-गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा है। इन दोनों लक्षणों के प्रकाश में सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सर्वाधिक प्राचीन लक्षण इस रूप में प्राप्त होता है-तथा स्वरूप भावों के सद्भाव के निरूपण में जो भावपूर्वक श्रद्धान है उसे 'सम्यक्त्व' कहते हैं।[६] अपने-अपने स्वभाव में अवस्थित जीव, अजीव आदि तत्त्व रूप अर्थों का श्रद्धान 'सम्यग्दर्शन' है।[७] इन दोनों लक्षणों में शब्दशः समानता नहीं हो, परन्तु दोनों का भावार्थ एक ही है। उक्त लक्षणद्वय को केन्द्र में रखकर, अन्य लक्षणों पर विचार करना, अप्रासंगिक नहीं होगा। कतिपय लक्षण इस रूप में संप्रस्तुत हैं, जिनसे प्रस्तावित विषय स्पष्ट होगा। तत्त्वभूत पदार्थों का श्रद्धान अथवा तत्त्व से अर्थों का श्रद्धान, तत्त्वार्थ श्रद्धान है। वही सम्यग्दर्शन है।[८] जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं, उन का श्रद्धान करना 'सम्यग्दर्शन' है।[९] जिनवरों द्वारा प्ररूपित जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार से सम्यक्त्व है।[१०] उन भावों अर्थात् जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों पर मिथ्या दर्शन के उदय से प्राप्त होने वाले अश्रद्धान के अभाव-स्वभाव वाला जो भावान्तर श्रद्धान है, वह सम्यक्त्व है।[११] वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर रुचि होना सम्यग्दर्शन है।[१२] व्यवहार नय से जीव, अजीव आदि इन नौ पदार्थों का जैसा इनका परमार्थ स्वरूप है, वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[१३] सम्यग्दर्शन का जो व्यावहारिक

लक्षण दिया है, उसमें सर्वप्रथम 'तत्त्व' शब्द पर हमारी दृष्टि जाती है। 'तत्त्व' क्या है? शब्द-शास्त्र के अनुसार तत्त्व का अर्थ होता है—उसका भाव, अर्थात् स्वरूप। जिस पदार्थ का जो भाव-स्वरूप है, वह उसका तत्त्व है। निष्कर्ष यह है कि जो पदार्थ जिस रूप में व्यवस्थित है, उसका वैसा होना 'तत्त्व' है। अर्थश्रद्धान शब्द का अर्थ होगा—पदार्थों का श्रद्धान। संसार में पदार्थ अनन्त हैं। किस पर श्रद्धा की जाय, किस पर न की जाय? उक्त दोषापत्ति के निवारण हेतु अर्थ श्रद्धान के पूर्व 'तत्त्व' शब्द को प्रयुक्त किया गया है। जो तत्त्वभूत पदार्थ हैं, उन पर श्रद्धा अथवा विश्वास करना वास्तव में सम्यग्दर्शन है। उक्त नवविध तत्त्वों का स्वरूप जानकर, उन पर श्रद्धान करना ही व्यवहार सम्यक्त्व है, व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रथम लक्षण पर विचार करने के पश्चात् द्वितीय-लक्षण पर विवेचन अभीप्सित है। द्वितीय लक्षण के अनुसार -देव, गुरु और धर्म पर यथार्थ श्रद्धान करना 'सम्यग्दर्शन' है। इसीलिए यह प्रतिपादित है कि सच्चे देव में देवत्व बुद्धि, सच्चे गुरु में गुरुत्व बुद्धि और सद्धर्म में धर्म बुद्धि का होना, सम्यक्त्व कहलाता है।[१४] हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में, मोक्षमार्ग के प्रवचन-दाता निर्ग्रन्थ गुरु में श्रद्धा रखना 'सम्यक्त्व' है।[१५] अर्हन्तदेव, वीतराग प्रतिपादित धर्म, मोक्षमार्ग, सच्चे साधु पर श्रद्धान करना 'सम्यग्दर्शन' है।[१६] अर्हन्त देव से बढ़कर कोई देव नहीं है, दया के बिना कोई धर्म नहीं है, तपः परायण साधु ही सच्चे साधु हैं, इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान ही सम्यक्त्व का लक्षण है।[१७] जो दोषों से रहित वीतराग को देव, सर्वजीव-दयापरायण धर्म को श्रेष्ठ धर्म तथा निर्ग्रन्थ साधु को गुरु मानता है, वही स्पष्टतः सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[१८] परमार्थ आप्त, आगम एवं तपोधनी गुरु के प्रति तीन मूढ़ताओं से रहित, आठ अंग सहित एवं अष्टमद रहित श्रद्धान 'सम्यग्दर्शन' होता है।[१९] आप्त, आगम और तत्त्व का जो अति निर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिये।[२०] प्रश्न होता है कि क्या इन दोनों लक्षणों में पूर्वापर विरोध नहीं है? प्रश्न का समाधान यह है कि उक्त लक्षणों में विशेष-विभेद नहीं है, आप्त, आगम और पदार्थ या देव, गुरु एवं धर्म इन तीनों को तत्त्वार्थ समझना चाहिये। अर्थात् सप्त अथवा नव तत्त्वों में ही तत्त्वार्थ की समाप्ति न कर के तत्त्वार्थ के अन्तर्गत देव, गुरु, धर्म एवं तत्त्व को भी सम्मिलित समझ लेना चाहिये। ये सभी तत्त्वभूत पदार्थ हैं।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन एक प्रकार का परिधान है निश्चय सम्यग्दर्शन अन्तरंग हृदय हैं, अन्तरात्मा है, अतएव सम्प्रति सम्यग्दर्शन के द्वितीय रूप निश्चय-सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में विचारणा कर लेना अभीष्ट है।

निश्चय सम्यग्दर्शन : स्वरूप एवं लक्षण

व्यवहार-सम्यग्दर्शन अभूतार्थ अर्थात् व्यवहार नय से जीव, अजीव आदि तत्त्वों पर श्रद्धान होने पर होता है। भूतार्थ नय अर्थात् निश्चय नय एकत्व को ही प्रगट करता है। अतएव निश्चय नय से नवविध तत्त्वों के साथ एकत्व प्राप्ति से आत्मानुभूति होती है, अथवा उन भूतार्थ रूप से परिज्ञात, अजीव आदि पदार्थों को विशुद्ध आत्मा से भिन्न करके सम्यक् रूप से अवलोकन करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। आशय यही है कि आत्मानुभव सहित पदार्थों पर श्रद्धान और प्रतीति ही

सम्यग्दर्शन का लक्षण है। तत्त्वार्थ श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है, और निश्चय सम्यक्त्व का लक्षण यही है कि- 'स्व' और 'पर' का भेद-दर्शन सम्यग्दर्शन है। इन दोनों का समीचीन-समन्वय इस प्रकार है। यहां हेय तत्त्वों को 'पर' में एवं उपादेय तत्त्वों को 'स्व' में समाविष्ट कर दिया गया है। 'स्व' अर्थात् मैं जीव हूँ। संवर एवं निर्जरा के द्वारा प्राप्त शान्ति अर्थात् निराकुलता ही मेरा स्वभाव है। 'मोक्ष' मेरे ही स्वभाव का पूर्णरूपेण विकास है, स्वाभाविक-अवस्था है, अजीव 'पर' तत्त्व है। इसके माध्यम से उत्पन्न होने वाले अजीव, आश्रव एवं बन्ध को पर भाव समझ कर छोड़ना और जीव, संवर एवं निर्जरा इन तीन तत्त्वों को स्व-भाव समझ कर ग्रहण करना, यही 'स्व-पर भेद दर्शन' निश्चय सम्यग्दर्शन है। आत्मिक-सुख-शान्ति की अनुभूति होने पर ही मनुष्य स्व-जीव को स्पष्ट रूपेण समझेगा। 'स्व' को जाने बिना वह 'पर' किसे कहेगा? मैं आत्मा हूं, शरीर इन्द्रिय आदि पर-भाव है। मैं इन सबसे पृथक् हूं। इस प्रकार 'स्व-पर - भेद दृष्टि' का संवेदन ही सम्यक्त्व है, सम्यग्दर्शन है।

इसी सन्दर्भ में यह स्पष्टतः ज्ञातव्य है कि स्व-पर का भेद विज्ञान होते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है ओर तब यह आत्मा निश्चय कर सकता है कि मैं चैतन्य हूं, आत्मा हूं, मैं शरीर नहीं हूं, शरीर आदि सब भौतिक हैं, पौद्गलिक हैं, जबकि मैं अभौतिक हूं, और अपौद्गलिक हूं। पुद्गल से सर्वथा भिन्न हूं। मैं ज्ञान स्वरूप हूं। पुद्गल ज्ञान स्वरूप नहीं है। सम्यग्दर्शन मूलक सम्यग्ज्ञान से आत्मा यह सुनिश्चित कर लेता है कि अनन्त-अतीत काल में पुद्गल का एक परमाणु भी मेरा अपना नहीं हुआ तथा अनन्त भविष्य में भी वह मेरा कैसे हो सकेगा और वर्तमान में तो उसके अपने होने की आशा ही कैसे की जा सकती है। पुद्गल कदापि आत्मा का नहीं हो सकता है। और न ही आत्मा कभी भी पुद्गल हो सकता है। पुद्गल पुद्गल है, आत्मा आत्मा है। इस प्रकार स्व-पर का भेद दर्शन ही वास्तव में सम्यग्दर्शन है, इसी को सम्यक्त्व कहा जाता है।

इसी सन्दर्भ में सहज ही प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति के चारों ओर नाना प्रकार के पुद्गलों का जमघट लगा हुआ है। जीवन के निर्वाह में यथावश्यक पुद्गलों को वह ग्रहण करता है, उपभोग भी करता है, तथापि पुद्गलों को अपनी आत्मा से भिन्न कहने से क्या लाभ हुआ। इसका समुचित समाधान यह है कि पुद्गल के अस्तित्व को कदापि मिटाया नहीं जा सकता। विराट्-विश्व के कण-कण में अनन्त काल से पुद्गल की सत्ता रही है, और अनन्त-अनागत में भी रहेगी तथा वर्तमान में भी है। यह कल्पना करना व्यर्थ है कि पुद्गल जब विनष्ट हो जाएगा तब मेरी मुक्ति हो जाएगी। पुद्गल के अभाव की कल्पना करना सर्वथा व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टि को इतना ही करना है कि वह पुद्गल के प्रति मन में राग एवं द्वेष, और आसक्ति का भाव न लाये। यदि राग-द्वेष का भाव मन से दूर कर लिया जाय तो पुद्गल भले ही रहे, वे सम्यग्दृष्टि का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। किन्तु पुद्गलों के प्रति राग-द्वेष तभी दूर हो सकते हैं जब स्व-पर भेद दृष्टि रूप सम्यग्दर्शन आ जाए। जब तक आत्मा-अनात्मा का जड़-चेतन का भेदविज्ञान नहीं होता है तब तक यथार्थ अर्थ में साधक को सम्यग्दर्शन नहीं होता है। यह लक्षण भी ज्ञातव्य है कि ज्ञेय एवं ज्ञाता इन दोनों तत्त्वों की यथारूप प्रतीति 'सम्यग्दर्शन' है।[२१] ज्ञेय से समस्त पदार्थ अथवा तत्त्वभूत पदार्थ तथा

ज्ञाता से आत्मा, इन दोनों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाने पर मनुष्य पर पदार्थों के छलावे में नहीं आता है। वह स्व-रूप अथवा स्व-भाव में स्थित रहता है। वह शरीर के विनाश और विकास को अपना विनाश एवं विकास नहीं समझता है। न ही पुद्गल के अपकर्ष और उत्कर्ष को भी अपना अपकर्ष एवं उत्कर्ष समझता है। यों तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को गुण एवं आत्मा को गुणी कह कर दोनों को पृथक्-पृथक् रूप से कहा गया है। परन्तु निश्चय दृष्टि से आत्मा ही रत्नत्रय है। आत्मा का विशुद्ध-परिणाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र है। जो जीव दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में स्थिर हो रहा है, उसे स्व-समय स्थित कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि स्वसमयस्थित होता है। जो पुद्गल एवं कर्म प्रदेशों में स्थित होता है, उसे पर-समय स्थित कहा जाता है। इसी प्रकार देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है, परन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन तो साधन है, आलम्बन है। आत्मा के विशुद्ध-स्वरूप को उपलब्ध करने का साधन है। इस स्थूल दृष्टिकोण से मानव वहीं अटक कर आगे नहीं बढ़ पाता है। आत्मा को जगाता नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि वस्तुतः 'तूं ही तेरा देव है, तूं ही तेरा गुरु है, तू ही तेरा धर्म है।' सारपूर्ण कथन यह है कि 'आत्मन् तू ही तेरा मित्र है।[२२] तू ही तेरी सामायिक है, उपासना है।[२३] जब साधक व्यवहार दृष्टि की परतों को भेद कर निश्चय दृष्टि की गहराई में झांकता है, तब बाहर की भूमिका को छोड़कर अन्दर की भूमिका पर पहुंचता है। वहां समस्त-विकल्प एवं बन्धन टूट जाते हैं। दृष्टि निर्मल हो जाती है। वह वहां केवल अपने ही अखण्ड विशुद्ध स्वरूप चैतन्य देव को देखता है।

वास्तविकता यह है कि शुद्धतम आत्म-स्वरूप ही उसका सच्चा देव है, वही गुरु है और वही धर्म है। निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा को ही देव, गुरु एवं धर्म समझना 'सम्यग्दर्शन' है। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप निज परमात्मा में रुचि सम्यग्दर्शन है।[२४] सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है-शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचि निश्चय सम्यक्त्व है।[२५] वास्तव में सम्यग्दर्शन का मूलभूत केन्द्र आत्मा है। आत्मा ही निज-स्वरूप है। अतएव एकमात्र आत्मा में, निज स्वरूप में, अभिरुचि, सुप्रतीति और अनुभूति ही यथार्थतः सम्यग्दर्शन है। जिसकी रुचि आत्मा से भिन्न भाव में है, अर्थात् जिसे आत्म-प्रतीति अथवा आत्म-स्वरूप का प्रबोध नहीं है, जो पर स्वरूप को ही निज स्वरूप माने हुए है, देह, इन्द्रिय आदि में ही निजता का बोध रखता है वह आत्मा मिथ्यादृष्टि है। उसका दर्शन मिथ्यादर्शन है। वही संसार का एवं भव-बन्धन का मुख्य हेतु है। जिस प्रकार 'पर घर' में भटकने वाली नारी कुलटा है, उसी प्रकार निजात्मा से भिन्न देहादि पर-पदार्थों में भटकने वाली अनुभूति भी एक तरह से कुलटा अनुभूति है। अनुभूति का कुलटापन ही वास्तव में मिथ्या दर्शन है।

अनन्त काल से प्राणी 'पर' के प्रति रुचि एवं विश्वास करता आया है। 'स्व' पर उस की अभिरुचि एवं श्रद्धा स्थिर नहीं हुई है। अनन्त काल से शरीर और शरीर से संबंधित भोगों पर, इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-विषयों के भोगों पर तथा मन के राग-द्वेष विकल्पों व कलुषित ध्यानों पर रुचि रही है। कुछ आगे बढ़ा तो परिजन एवं परिवार पर श्रद्धा की है। किन्तु इन सबके मूल केन्द्र आत्मा पर तो श्रद्धा तथा रुचि नहीं हुई है। प्रतीति नहीं की है। आत्मा से सम्बन्धित गुणों पर श्रद्धा सुस्थिर नहीं की है

अतएव जब अन्यान्य समस्त पर पदार्थों को छोड़कर परम निर्मल आत्मा पर दृढ़ता से श्रद्धा होगी, तभी समझा जायेगा कि सम्यग्दर्शन का सहस्रकिरण सूर्योदय हुआ है। जिसकी स्वात्म-रुचि अतीव अविचल हो जाती है। वह पर पदार्थों पर राग एवं द्वेष आदि नहीं करता है। इन्द्रियों के भौतिक सुखों में लुब्ध नहीं होता है । अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द में ही उसकी अभिरुचि होती है। किन्तु जब तक पर पदार्थों में अभिरुचि रहती है तब तक निज स्वभावभूत शान्ति उपलब्ध नहीं होती है। अतएव पर-पदार्थों की रुचि का परित्याग करके स्वात्मरुचि का होना ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है।

इसी संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि राग एवं द्वेष आदि से सर्वथा रहित अपनी आत्मा में प्रकट अतीन्द्रिय सुख आत्मा का स्वभाव है। उससे युक्त परमात्म तत्त्व सब प्रकार से उपादेय है। उसकी रुचि का नाम सम्यग्दर्शन है।[२६] आत्मा का आत्मा में रत होना, तन्मय हो जाना, वही जीव का स्पष्टतः सम्यग्दृष्टि हो जाना है।[२७] इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन का एक और भी लक्षण है। केवल आत्मा की उपलब्धि सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है। यदि वह शुद्ध है, तो उसका लक्षण हो सकता है। यदि अशुद्ध है तो नहीं।[२८] आत्मा की विशुद्ध उपलब्धि का अर्थ है—शुद्धोपयोग अथवा सम्यग्ज्ञान चेतना की क्रियाशीलता। जब तक आत्मा के निर्मल-स्वरूप की प्रतीति न हो तब तक सम्यग्दर्शन दूर है। सम्यग्दर्शन होने पर इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की प्रतीति, उपलब्धि एवं सुनिश्चय हो जाता है कि मैं विशुद्ध आत्मा हूँ ; यह शरीर, इन्द्रिय आदि मैं नहीं हूँ; मै शरीर से सर्वथा भिन्न आत्मा हूँ; ये मोह, माया, ममत्व आदि सब अपनी ही अज्ञानता के कारण अपनी आत्मा की विभावजन्य परिणति के ही बहुविध रूप हैं। ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप नहीं हैं। ये विविध विकल्प और विभिन्न विकार स्वप्न के संसार के समान हैं। आत्मा की वैभाविक परिणति के ये विभिन्न रूप आत्मा की मोह-निद्रा दूर होते ही क्षण भर में सहसा रूपेण सर्वथा विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार निज निरंजन निर्मल आत्मा के प्रति सम्यक् श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।[२९] जिस साधक को शरीर एवं इन्द्रिय से पृथक् आत्मा के अजर-अमर अविनाशित्व की अति दृढ़ प्रतीति हो जाए, उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शन उपलब्ध हो जाने पर उस को यह सुदृढ़-विश्वास हो जाता है कि मृत्यु देह की होती है, आत्मा कदापि मरता नहीं है। वह मरण से कभी भी घबराता नहीं है। जो जन्मता है, मरता है, युवा होता है एवं जरावस्था को प्राप्त होता है वह तो शरीर है, जीव नहीं है। आत्मा नहीं है, वह शरीर आत्मा से सर्वदा एवं सर्वथा भिन्न है। आत्मा तो वास्तव में सच्चिदानन्द स्वरूप है। सर्वथा एकान्त रूप से मिथ्या-विपरीत, प्रमाण-बाधित अर्थ के आग्रह से रहित आत्म-स्वरूप के निश्चय को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।[३०] निश्चय-सम्यग्दर्शन तभी आविर्भूत होता है जब इस पौद्गलिक शरीर को ही आत्मा समझने की प्राथमिक अन्धकारपूर्ण भूमिका से मनुष्य निकलता है, और आत्मा के अखण्ड प्रकाश को इसमें चमकता हुआ देखता है। तत्पश्चात् उस परम निर्मल आत्मा में ही परमात्मा का परिदर्शन भी करने लगता है। इस प्रकार विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का विचार ही निश्चय सम्यग्दर्शन की भूमिका

है। आत्मा की निर्मलता, तीव्र कषाय की परिसमाप्ति एवं जागरणशील आत्मबोध की अवस्था निश्चय सम्यग्दर्शन की अवस्था है। शरीर, इन्द्रिय एवं मन से परे जो आत्मा है, जिसकी अक्षय ज्योति से शरीर, इन्द्रिय, मन आदि जगमगा रहे हैं उसकी स्पष्ट रूप से पहचान ही आत्म दर्शन है, और वही सम्यग्दर्शन है।

जिस मनुष्य को आत्मिक-दर्शन हो जाता है, वह शरीर को एकमात्र साधन रूप समझता है, उसे साध्य रूप नहीं मानता है। सर्वत्र आत्मा को परम निर्मल और अतीव उज्ज्वल ही रखता है। आत्मदृष्टिपरायण व्यक्ति के सन्मुख जब शरीर एवं आत्मा इन दोनों में से किसी एक की सुरक्षा का प्रमुख-प्रश्न हो तो, वहां वह आत्मा को बचाता है। शरीर एवं शरीर से संबंधित पदार्थ को विनष्ट होने देता है। आत्म दृष्टि से अभ्यस्त मनुष्य चाहे समूह में हो, चाहे एकान्त में हो, बड़े से बड़े भौतिक-प्रलोभन के समय फिसलता नहीं है। वह आत्मा की सुरक्षा कर लेता है। कोई भी शक्ति उसे भय अथवा प्रलोभन दिखा कर आत्मदृष्टि से विचलित नहीं कर सकती है। सचमुच जागृत और आत्म दृष्टि सम्पन्न मनुष्य को कोई भी स्थल, काल अथवा व्यक्ति पतित और विचलित नहीं कर सकता है। जिसमें सच्चा आत्म दर्शन नहीं है, जिसे आत्म-स्वरूप की प्रतीति भी नहीं है वह चाहे जितना महान्, उच्च कोटि का साधक हो, उसे पतन के गर्त की ओर फिसलने से कोई रोक नहीं सकता है। वास्तव में आत्मदृष्टि से सम्पन्न मनुष्य संसार की मोह-माया में नहीं लिपटता है। वह सर्वत्र और सर्वदा शुद्धोपयोग की ज्ञान धारा में बहता है। वह दूसरों के सुधार एवं उद्धार की अपेक्षा पहले अपना सुधार एवं उद्धार करता है। आत्मा के अनुभव का अर्थ है—वीतरागता के अर्थात् विशुद्ध आत्मा के सुख का रसास्वादन करना, शान्ति रूप स्वभाव का अनुभव करना। 'मैं राग-द्वेष आदि विकल्पों से रहित चित् चमत्कार भावों से उत्पन्न मधुर रस के आस्वाद-सुख का धारक हूं।' इस प्रकार निश्चय रूप सम्यग्दर्शन है।[३१] सुख एवं दुःख का प्रत्यक्षतः अनुभव प्रत्येक संसारी जीव को सम्भव है। अन्धे को सुई का ज्ञान होना संभव नहीं है, पर इसके चुभने का प्रत्यक्ष वेदन हो जाना संभव है। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है और यही सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन भी आत्मा का अमूर्तिक गुण है।[३२] वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं है। मोक्ष जब आत्म-स्वरूप है तो सम्यग्दर्शन आदि भी आत्म-स्वरूप होना चाहिये। स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त होता है कि इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो इन्द्रियों से परिज्ञान होता है न मोह जन्य अभिरुचि होती है, न शारीरिक आचरण होता है। अतएव ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों आत्म-स्वरूप ही हैं।[३३] तात्पर्य यह है कि वीतराग पुरुषों में तत्त्वार्थ श्रद्धान अथवा यथार्थ पदार्थों के प्रति अभिरुचि न होते हुए भी उनमें सम्यग्दर्शन गुण होता है। इसलिये व्यवहारनय की अपेक्षा से लक्षण करने में दोष रह जाता है। वह पूर्णरूपेण समस्त आत्माओं में घटित नहीं होता है। इसीलिए निश्चय नय की अपेक्षा से निश्चय सम्यग्दर्शन का स्पष्टतः लक्षण है कि सम्यग्दर्शन मोक्ष का बीज है, वह स्वरूप से भूतार्थ, तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप, केवल अनुभूति से गम्य है, अथवा व्यवहार में प्रशम आदि लक्षणों से गम्य है, वह शुद्धतम आत्म परिणाम रूप है।[३४] शुद्धतम आत्मिक-परिणाम में आत्म-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त

किसी भी प्रमाण की गति नहीं हो सकती। इसीलिए रत्नत्रय को आत्मा के साथ अभिन्न रूप से प्रतिपादित किया जाता है।

व्यवहार एवं निश्चय का समन्वय

देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धान रूप जो व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है वह तभी पूर्णतः कृतार्थ एवं परम सफल हो सकता है जब आत्मा के प्रति श्रद्धा अथवा स्वानुभूति हो, या आत्मा की अति दृढ़ प्रतीति, रुचि अथवा विश्वास हो। जब श्रद्धा को आत्मा से अभिन्न बताया गया है तब देव, गुरु तथा धर्म के प्रति केवल श्रद्धा से काम नहीं चल सकता। कोरी श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं बन सकती। इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का समर्थन इस रूप में प्राप्त होता है। श्रद्धा, रुचि एवं प्रतीति आदि स्वानुभूति सहित होंगे, तभी वे सम्यग्दर्शन के लक्षण कहलायेंगे। वस्तुतः स्वानुभूति के बिना श्रद्धा आदि सद्गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण नहीं कहलाते। किन्तु वे लक्षणाभास कहलाते हैं।[३५]

निश्चय सम्यग्दर्शन में कोई उपाधि नहीं है, उपचार भी नहीं है। इस दृष्टि से वह एक ही प्रकार का होता है। किन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन पर-पदार्थों के उपचार की अपेक्षा रखता है। इसलिये वह दो अथवा अनेक प्रकार का हो जाता है।[३६] इस अनन्त विश्व में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यदि कोई तत्त्व है तो वह आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त संसार में दूसरे जितने भी तत्त्व हैं, पदार्थ है, वे सभी उसके सेवक हैं, दास हैं। उन्हें यह अधिकार नहीं है कि ये जीव रूपी राजा की आज्ञा में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा उपस्थित कर सकें। जीव रूपी राजा को धर्मास्तिकाय यह आदेश नहीं दे सकता है कि चलिए, अतिशीघ्र चलिये, द्रुतगति से गमन कीजिये। अधर्मास्तिकाय सेवक भी यह नहीं कह सकता है कि यहां पर ठहरिये, वहां मत रुकिये। पुद्गलास्तिकाय भी सर्वदा उसके उपभोग के लिए तत्पर है। शरीर, इन्द्रियां और मन सांसारिक पदार्थ आदि सब वस्तुएं उसके श्री चरणों में उपस्थित है। आकाशास्तिकाय अवकाश देने एवं काल उसकी पर्याय-परिवर्तन के लिये प्रतिपल एवं प्रतिक्षण तत्पर रहता है। ये सब के सब जीव के प्रेरक कारण नहीं हैं, केवल तटस्थ और उदासीन कारण हैं।

इस सन्दर्भ में एक और भी तथ्य ज्ञातव्य है कि आत्मा को चक्रवर्ती की महनीय उपमा आलंकारिक अपेक्षा से प्रदान की गई है। जीव तो चक्रवर्ती से भी कई गुना बढ़ कर तीन लोक का नाथ एवं त्रिलोक-पूज्य बन सकता है। इसमें इतनी अधिक क्षमता है, सामर्थ्य और शक्ति संनिहित है कि वह चाहे तो सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, अरिहन्त, सिद्ध, और बुद्ध बन सकता है। वह कर्म-जाल से सर्वथा उन्मुक्त बन सकता है। चक्रवर्ती तो केवल षट् खण्ड का ही अधिपति बनता है। छह खण्ड के बाहर एक अणु पर भी उसका शासन नहीं चल सकता। किन्तु जीव तो अनन्त-शक्ति प्रगट करके तीन लोक का अधिपति एवं परम श्रद्धेय बन सकता है। आत्मा को परमात्मा अथवा त्रिलोकपूज्य बनाने वाला अन्य कोई तत्त्व नहीं है। वह स्वयं ही अपने मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग-द्वेष आदि विकारों तथा विकल्पों को मूलतः विनष्ट कर सम्यग्दर्शी, सम्यग्ज्ञाता एवं यथाख्यातचारित्री बन कर आत्मा से परमात्मा बन सकता

है, बीज से विराट्काय वृक्ष बन सकता है।

जीव का यथार्थतः परिबोध अथवा अनुभव हो जाने पर अजीव को पहचानना सुगम हो जाता है। जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। इसलिए जीव के अतिरिक्त जितने भी तत्त्व हैं, पदार्थ हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से जीवतत्त्व से ही सम्बन्धित हैं। जीव की अखण्ड सत्ता के कारण ही उन सबकी सत्ता है। फलितार्थ रूप में यह कहा जा सकता है कि समग्र अध्यात्म विद्या का प्रधानतः आधार यह जीव ही है। इसलिए निश्चय सम्यग्दर्शन के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है आत्मा के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान करना, उसका निश्चय करना।[३७] यह जब निश्चित हो जाता है कि मैं अजीव से भिन्न चेतन-स्वरूप आत्म-तत्त्व हूं। तब आत्मा में किसी भी प्रकार का अज्ञान और मिथ्यात्व नहीं रहता है। इस विषय में विशदरूपेण चिन्तन प्राप्त होता है कि जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्त्व हैं। जो परमार्थ से इन दोनों के स्वरूप को जान लेता है, वह अजीव नामक तत्त्व को छोड़कर जीव तत्त्व में लय हो जाता है। इससे राग एवं द्वेष का क्षय और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[३८] पर में स्व बुद्धि और स्व में परबुद्धि का रहना ही बन्धन है। 'स्व' में स्व-बुद्धि एवं 'पर' में पर-बुद्धि का रहना ही भेद विज्ञान है। किन्तु आत्म-स्वरूप का विनिश्चय तब तक नहीं हो पाता है जब तक आत्मा और कर्मों के संबंध से जिन सप्तविध तत्त्वों की सृष्टि होती है उन के तथा उनके उपदेष्टा देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी एक या दूसरे प्रकार से आत्म-श्रद्धान के कारण हैं। इन पर श्रद्धा हुए बिना इनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों या पदार्थों पर श्रद्धा नहीं हो सकती और इनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों और पदार्थों पर श्रद्धान हुए बिना आत्मा की ओर उन्मुखता, अभिरुचि, परिदृढ़ रूप से श्रद्धा, उसकी पहचान एवं विनिश्चिति उत्तरोत्तर नहीं हो सकती। यही बात सम्यग्ज्ञान के विषय में जान लेनी चाहिये। वास्तव में देव, गुरु और धर्म द्वारा उपदिष्ट नव तत्त्वों के प्रति श्रद्धान एवं ज्ञान इसलिये आवश्यक है कि वह आत्म-श्रद्धान एवं आत्मज्ञान में निमित्त है।

आत्मा में, आत्म-स्वरूप में दृढ़तम स्थिति तब तक नहीं हो पाती है, जब तक उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तभी होती है जब वह प्रत्येक प्रवृत्ति राग-द्वेष आदि भाव से दूर रह कर करता है, वीतरागता और समता का पूर्णरूपेण ध्यान रखता है। तब प्रवृत्तिमार्ग से निवृत्ति मार्ग की ओर उस का झुकाव स्वतः हो जाता है। इसके लिये प्राथमिक भूमिका में आत्मा को मिथ्या प्रवृत्तियों से हटा कर कल्याणकारी प्रवृत्तियों में लगाया जाता है। इस समय उसका सम्यग्दर्शन सराग और व्यवहार सम्यग्दर्शन होगा। इसके लिये उसे देव, गुरु, धर्म और तत्त्वादि की श्रद्धा रूप व्यवहार-सम्यग्दर्शन का आलम्बन लेना होगा। जबतक जीव सरागी है, तब तक व्यवहार का अवलम्बन लिये बिना निश्चय की प्रतीति नहीं हो सकती। व्यवहार सम्यक्त्व से निश्चय-सम्यक्त्व सिद्ध किया जाता है। इस साध्य-साधक भाव को बतलाने के लिए व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन करना, अनिवार्य है, और आवश्यक है।

व्यवहार सम्यक्त्व वास्तव में निश्चय सम्यग्दर्शन का बीज है। ज्यों-ज्यों जीव में

राग घटता जाता है, त्यों-त्यों वह व्यवहार से निश्चय की ओर अधिकाधिक बढ़ता जाता है। निश्चय की प्रबलता होने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र व्यवहार से निश्चय का रूप लेता जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि चतुर्थ गुणस्थान आदि में जो सम्यग्दर्शन होता है, उसमें आत्म निश्चय, आत्म प्रबोध अथवा आत्म-स्वरूप का अनुभव नहीं रहता है। वहां भी यह सब रहता ही है। अन्यथा उसको सम्यग्दर्शन ही नहीं कहा जाएगा। अतएव यह स्पष्ट है कि जो सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन है, उसमें भी आत्म निश्चय, और आत्मानुभूति होती ही है।

जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को प्राप्त करना चाहता है, वह विवेक-विमूढ़ व्यक्ति बीज, खेत, जल आदि के अभाव में अन्न उत्पन्न करना चाहता है। जैसे केवल निश्चय ठीक नहीं है, वैसे ही केवल व्यवहार भी उचित नहीं है। व्यवहार सम्यग्दर्शन एवं निश्चय सम्यग्दर्शन इन दोनों का समीचीन समन्वय और यथोचित-सन्तुलन अभीष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि निश्चय एवं व्यवहार सम्यग्दर्शन ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों का समन्वित और सन्तुलित रूप ही श्रेयस्कर है। भिन्न-भिन्न भूमिका की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के ये दोनों महनीय एवं मननीय रूप-स्वरूप नितान्त रूप से उपादेय हैं।

संदर्भ सूची

१. अध्यात्म सार, प्रबंध ६, अधिकार १८, श्लोक, १०
२. (क) पंचवस्तुक द्वार-४
(ख) उपासकाध्ययन, कल्प, २१, श्लोक, २४५
३. (क) पंचाध्यायी, द्रव्य विशेषाधिकार, श्लोक ७१५
(ख) अनगार धर्मामृत, १/९०
४. अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-७, पृष्ठ ४९७
५. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सर्ग २, श्लोक २
६. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २८, गाथा, १५
७. तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन १, सूत्र २
८. तत्त्वार्थभाष्य अध्ययन १, सूत्र २
९. पंचाशक १/३
१०. दर्शनप्राभृत, गाथा ३०
११. पंचास्तिकाय, गाथा १०७
१२. योगशास्त्र, प्रकाश १, श्लोक, १७
१३. अनगारधर्मामृत अध्ययन १, श्लोक ९३
१४. योगशास्त्र, २/२
१५. मोक्षप्राभृत, गाथा ९०
१६. दर्शनशुद्धि सटीक ४ तत्त्व, गाथा ५
१७. पूज्यपाद, श्रावकाचार, श्लोक १४
१८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३१७
१९. रत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा ६
२०. वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक ४
२१. प्रवचनसार, तप्र. २४२
२२. आचारांगसूत्र १/३/३/१२५
२३. भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ९
२४. समयसार तात्पर्यवृत्ति २/८/१०
२५. नियमसार, गाथा ३, पद्म प्र. टीका
२६. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति ५/६/१९
२७. जिनसूत्र, भाग-२ गाथा ६९
२८. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २१५
२९. वृहद् द्रव्य संग्रह, गाथा, ३९ की टीका
३०. अनगार धर्मामृत, अध्याय १ श्लोक ९१
३१. वृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका-गाथा, ४०
३२. अध्यात्मसारप्रबंध ६ अधिकार-१८ श्लोक ७
३३. उपासकाध्ययन, कल्प-२१, श्लोक २४५
३४. पंचवस्तुक द्वार, ४
३५. पंचाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक ४१५ एवं ४२१
३६. लाटीसंहिता, सर्ग ३, श्लोक ११
३७. अध्यात्मसार, प्रबन्ध ६, अध्याय १८, श्लोक ३
३८. योगसार, अ.१.२, ३, ४

द्वारा, आर.डी. जैन, सी-१३, विवेक विहार, दिल्ली - ११००९५

समकित-स्तवन

☆ श्री तिलोकमुनि

श्री तिलोकमुनि ने समकित-स्तवन के माध्यम से समकित के विविध-पक्षों पर उपयोगी विचार प्रकट किए हैं तथा उनका बिन्दु-क्रम से विवेचन भी किया है। विवेचन करते समय उन्होंने आगमिक सन्दर्भों का भी उपयोग किया है। —सम्पादक

समकित की कुछ बात करूं, ले आगम (का) आधार
मनन करी जो हृदय धारे, वो होवे भव पार ॥

सुणो वह समकित ने फरसे, सुणो वह समकित ने फरसे।
जिनवाणी सुणवां मां जिणरो, हिवडो अति हरषे ॥टेर ॥१ ॥

समकित-परिभाषा—

जीवादि नव तत्त्वों ने जो, ज्ञानकरी समझे।
देव गुरु शुद्ध धर्म शास्त्र जो, इण ने भी सरधे ॥२ ॥
परमारथ रो परिचय करके, समदृष्टि सेवे
कुदर्शन समकित वमियों री, संग में नहीं रेवे ॥३ ।

समकित-अतिचार—

शंका कंखा वितिगिच्छा अरु, परमत परशंसे।
परिचय पण तेनो करसी वह, समकित अतिचरसे ॥४ ॥

समकित-लक्षण—

शत्रु मित्र पर समभावी हो, सदा वैराग्य वधसे।
आरंभ परिग्रह कम करके जो, अनुकंपा करसे ॥५ ॥
जिनवाणी ने साची सरधे, ये पंचगुण धरसे।
समकित ने वह उज्ज्वल करके, मुक्ति मार्ग फरसे ॥६ ॥

सन्मार्ग—

अरिहन्त देव अने सुगुरु सुसाधु, दया धर्म भाखे।
कुगुरु कुदेव कुमार्ग मांहि, किंचित् नहीं झांके ॥७ ॥

उन्मार्ग—

एक गुरु जो पकड़ी बेसे, सुगुरु नहीं जांचे।
पक्षाग्रह में पड़ फिर वह, निज आतम ने वंचे ॥८ ॥

गुरु-परिचय—

पंच महाव्रत समिति गुप्ति, इण ने शुद्ध फरसे।
गुरु कहावण लायक वोही, भव सागर तिरसे ॥९ ॥

गुरु आम्नाय—

गुरुआमना आगम मांही, कहीं नहीं चाले।
समकित धारें स्वेच्छा से ज्यों, व्रत नियम धारे ॥१० ॥
परिग्रह नी पोषक या जाणों, बड़ा बड़ा रांचे।
थांरा म्हारां गांव घरों ने, इधर उधर खांचे ॥११ ॥

चर्यापरीषह—

चर्या परिषह जीते साधु, भगवंत इम भाखे।
अंतिम शिक्षा मांहि देखो, उत्तराध्ययन साखे ॥१२ ॥
गाम नगर पुर पाटण विचरे, घर घर मांहि फिरे।
ममता तज एकाकी रेवे, सो ही तारे तिरे ॥१३ ॥

धर्मगुरु धर्माचार्य–

धर्मगुरु अरु धर्माचारज, उपकारी जो होवे।
गृहस्थ साधु वा अरिहंतादि, ज्ञान प्रथम देवे ॥१४॥
परदेशी राजा ने केशी, ज्ञान प्रथम देवे।
आनंद आदि श्रावक पहले, वीर प्रभु सेवे ॥१५॥
शतसप्त चेला अंबड श्रावक, ने आश्रय देवे।
इत्यादिक ये अपने अपने, धर्म गुरु केवे ॥१६॥

सीख–

शुद्ध समझ हृदय में राखी, उपकार सदा मानो।
संयम गुण ना धारी जो हो, सुगुरु उन्हें जाणो ॥१७॥
जीवन में कई मुनि श्रावक का, ज्ञान उपकार रेवे।
तो न्यारा न्यारा गुरु छोडभवी सुगुरु सदा सेवे ॥१८॥

उपसंहार–

इम ज्ञान ग्रही ने तत्त्व विमासी सीख हिये धरसे।
'तिहुँ लोके' वह नहीं भटकेगा, भवदधि ने तिरसे ॥१९॥

(१) जिनेश्वर भगवंत के धर्म-तत्त्वों को सुनने-पढ़ने में जिसे अत्यंत आनंद आता है, उसके ही समकित ठहरने की प्रारंभिक पात्रता है।

(२) उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ में बताया है कि जीवादि नव तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान करके जो उन पर श्रद्धान करता है उसको समकित की प्राप्ति होती है।[१] आवश्यक सूत्र (प्रतिक्रमण) में समकित के पाठ में समकित प्रतिज्ञा का कथन है उसमें देव, गुरु और धर्म (तत्त्व) की श्रद्धा रखने का संकल्प है।[२]

(३) उक्त आवश्यक सूत्र के पाठ में समकित की सुरक्षा एवं दृढ़ता हेतु चार श्रद्धान भी सूचित किये हैं –(१) परमार्थ (जिनभाषित तत्त्व-सिद्धान्त) का परिचय–ज्ञान बढ़ाना (२) ऐसे ज्ञानियों की संगति कर सत्संग करना (३) कुदर्शनी–अन्य मतावलम्बी संन्यासी आदि की संगति नहीं करना (४) जो पहले जिनवचनानुयायी रह कर वर्तमान में जिनेश्वर वचनों की श्रद्धा से च्युत होकर स्वमति से कुसंगति से भटक चुका है उसकी भी संगति नहीं करना।[३]

(४) आवश्यक सूत्र, उपासकदशासूत्र में समकित के ५ प्रमुख अतिचार कहे हैं। (१) जिनेश्वर भगवंत द्वारा भाषित सूक्ष्म तत्त्व एवं गूढतम विषयों में श्रद्धा के स्थान पर शंका या अविश्वास करना शंका नामक अतिचार है। (२) वीतराग मार्ग के विपरीत मार्ग वाले एकांतवादी धर्मो के आडम्बर-प्रभाव आदि देखकर उनकी तरफ आकर्षित होना, उनके वहाव में वहते हुए प्रवृत होना कांक्षा नामक अतिचार है। (३) वीतराग मार्ग के अनुसार व्रत आदि की क्रिया करते हुए उसके फल में संदेह करना अथवा साध्वाचार के जल-मैल परीषह के आचरण रूप त्यागवृत्ति के प्रति घृणा-निंदा तिरस्कार करना विचिकित्सा नामक अतिचार है। (४) अन्य मतावलंबी विभिन्न एकान्तवादी धर्म-प्रवर्तकों की और जिनाभास लोगों की प्रशंसा-प्रचार करना 'पर पाषंड प्रशंसा' अतिचार है और (५) इन एकांत धर्म–प्रवर्तकों–प्रचारकों की संगति, परिचय वढ़ाना संपर्क वढ़ाना 'परपाषंडसंस्तव' अतिचार है।

इन पांच अतिचारों और चार श्रद्धान में वीतरागमार्गी शुद्ध धर्म प्रवर्तक अन्यान्य

गुरु समुदाय के जैन साधुओं की संगति और परिचय को अतिचार नहीं कहा गया है। फिर भी एक धर्म में विभिन्न गुरुओं के समुदायों के श्रावक अन्य जिनमतानुयायी श्रमणों से दूर रहते हैं, संगति का वर्जन करते हैं, ऐसी वर्तमान प्रवृत्ति आगम के इन अतिचारों से पुष्ट नहीं होती है।

(५-६) कर्म-सिद्धान्त के चिंतन के साथ समभावों को अधिकतम उपस्थित रखना, किसी के प्रति शत्रुभाव को चित्त में आने नहीं देना और ऐसे भाव कभी उत्पन्न हो जायें तो अधिक अवधि तक स्थिर नहीं रहने देना, यह समकित का 'सम' नामक प्रथम लक्षण है। २. ज्ञान से वैराग्यभाव की वृद्धि करना, मोक्षाभिलाषा दृढ होना 'संवेग' नामक दूसरा लक्षण है। ३. सांसारिक वृत्तियों-प्रवृत्तियों से उदासीन भाव बढ़ाते हुए त्याग-प्रत्याख्यान करते हुए निवृत्तिमार्ग में आगे बढना समकित का 'निर्वेद' नामक तीसरा लक्षण है। ४. दुःखी जीवों के प्रति मानस में अनुकंपा भाव ओतप्रोत हो जाना, यथासंभव उनके दुःख विमोचन में प्रवृत्त होने का संकल्प होना, जीवों का दुःख आत्मा में असह्य सा लगना, यह आत्मा का 'अनुकंपा परिणाम' समकित का चौथा लक्षण है। ५. जिनभाषित तत्त्वों एवं आचारों के प्रति हार्दिक श्रद्धा, निष्ठाभाव होना उन्हें पूर्ण सत्य मानना समकित का 'आस्था' नामक पांचवां लक्षण है।

(७) आत्म-सन्मार्ग के इच्छुक को सदा समस्त अरिहंत देवों को अपना आराध्य देव मानना, वीतरागमार्गी समस्त सुसाधुओं को अपना गुरु मानना, अहिंसाप्रधान, दयाधर्मप्रधान जिनधर्म को अपना आराध्य धर्म समझना, जब भी समय और शक्ति का संयोग हो इन्हीं देव, गुरु व धर्म के सत्संग एवं आचरण में पुरुषार्थ करना, अन्य धर्मान्तरीय अर्थात् वीतराग मार्ग से अन्य मार्गदर्शक देव, साधु तथा धर्म का नाम धराने वालों के पास नहीं भटकना, यही सन्मार्ग में सुरक्षित रहना है।

(८) व्यक्तिगत किसी एक साधु को गुरु मान बैठना या एक गुरु की समुदाय वाले साधु-साध्वियों को ही गुरु पद में मान बैठना, फिर चाहे वह गुरु या वह समुदाय वीतराग मार्ग में किसी निम्न या उच्च स्तर में हो, अन्य सुसाधुओं या गुरुओं के समुदाय को गुरु पद में नहीं मानना, ऐसा गुरुपन किसी भी आगम से सम्मत नहीं है। आगम में देव, गुरु पद में समस्त वैसे गुणधारियों का ग्रहण किया जाता है। पक्षवाद और संकीर्ण-मानस की उत्पत्ति से आत्मा का उत्कर्ष और समाज का उत्कर्ष दोनों ही दूषित और अवरुद्ध होते हैं।

(९) वास्तव में समकित की प्रतिज्ञा से गृहीत गुरु अनेक हैं जो आगमदृष्टि से अनेक हजार करोड़ हैं।[४] उनका गुण परिचय यह है कि जो भगवद् भाषित ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति एवं अन्य भी आगमोक्त भगवद् आदेशों का ईमानदारी पूर्वक अपनी क्षमता के अनुसार पालन करते हैं वे ही हमारी समकित प्रतिज्ञा में समाविष्ट गुरु हैं।

(१०) गुरुआम्नाय की वृत्ति के माध्यम से एक गुरु और एक संप्रदाय में समाज को बांधना सांसारिक रुचि का द्योतक है। आगम में इस शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। भगवान् के पास श्रावक व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक द्वारा स्वयं समकित की प्रतिज्ञा समझपूर्वक ग्रहण करने का वर्णन है। किन्तु आज के

परंपरागत कौटुम्बिक गुरु और संप्रदाय की गुरु आम्नाय करने का उल्लेख किसी भी आगम में नहीं है।

(११) इस अनागमिक गुरु आम्नाय प्रवृत्ति के शिकार बन कर कितने ही साधु-साध्वी या आचार्य आदि पदवीधर अपने विकृत मानस से व्यक्तियों, गांवों, घरों को 'अपना मेरा' 'मेरे संप्रदाय के' ऐसी परिग्रह-वृत्ति से संयम को दूषित करते हैं, समाज को छिन्न-भिन्न करते हैं और अपनी अपनी गुरु आम्नाय का प्रचार करते हैं तथा इसी प्रवृत्ति से समकित के प्रचार होने का आभास करते हैं, किन्तु ऐसे एक गुरु की संकीर्ण मानसवृत्ति से समकित की प्राप्ति की जगह सही समकित का अवरोध होता है। विशाल दृष्टिकोण के बिना भोले लोग शुद्ध समकित से वंचित रह जाते हैं।

साथ ही गुरु कहलाने की रुचि वाले व्यक्तिगत गुरु या उनकी संप्रदाय के साधु-साध्वी मेरा घर, मेरे गांव, हमारे श्रावक, हमारे घर, हमारे क्षेत्र, ऐसी परिग्रह संज्ञा के वशीभूत होकर ममत्त्व भाव के कारण 'पारिग्रहिकी क्रिया' के शिकार बनते हैं और जिसे पारिग्रहिकी क्रिया लगती है उसे छट्ठा—सातवां गुणस्थान अर्थात् भाव साधुत्व नहीं रहता है।[५] इस प्रकार यह समकित का रूप लेने वाली वर्तमान जैन जगत् की 'गुरु आम्नाय' साधु-समाज में परिग्रह-भावना की पोषक बनी हुई है एवं समाज को विभक्त करने में वैमनस्य को जन्म देती है।

पूज्य धर्मदास सम्प्रदाय के प्राचीन संत ने ६०-७० वर्ष पूर्व अपने अंदर के अनुभूत भाव निम्न पद्य में प्रगट किये हैं-

है शास्त्र निराली, समुदाय की रिवाजें।
मजबूत बांधते हैं, गुरु आमनाय क्यारी ॥१॥
विश्वेश वीर भगवन् सुध लीजिये हमारी ॥टेर॥– पूज्य माधोमुनि

(१२-१३) विचरण करते हुए मुनियों को गांव-नगरों में गोचरी में विविध भक्तिभाव, आदर-सम्मान व अनुकूलता के अम्बार भी मिल सकते हैं, फिर भी चर्या परीषह को जीतने वाला मुनि कहीं भी अपना घर न बनावे। किसी भी क्षेत्र या व्यक्ति में लगाव पैदा न होने दे, किन्तु जल-कमलवत् निर्लेप रहता हुआ, पक्षी द्वारा दो पंखयुक्त अपना शरीर लेकर उड़ जाने के समान निष्परिग्रही और एकाकी भाव में, अध्यात्म-तल्लीनता में रहता हुआ विचरण करे। ऐसे भाव की प्रेरणा उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २ में चर्यापरीषह संबंधी दो गाथा द्वारा की गई है।[६] दशवैकालिक सूत्र में दूसरी चूलिका में भी कहा है-**'गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा'**।

आचारांगसूत्र अध्ययन २ उद्देशक ६ में कहा है—**'से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं'** अर्थात् वही मुनि वास्तव में सही मार्ग को जानने-देखने वाला और आचरण करने वाला है जिसको कहीं भी यह मेरा, यह मेरा, ऐसा मानस नहीं है।

(१४-१५-१६) प्रदेशी राजा ने केशीस्वामी को, आनंद श्रावक ने भगवान महावीर स्वामी को, अम्बड के सात सौ शिष्यों ने अंबड श्रमणोपासक को धर्मगुरु धर्माचार्य के रूप में स्मरण-नमस्कार किया, ऐसा आगम में वर्णन आया है।[७] इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि इन्होंने इनकी गुरुआम्नाय की या इनकी समकित ली। इन तीनों ने

श्रावक व्रत स्वीकार किये, समकित प्रतिज्ञा स्वीकार की उसमें सभी श्रमण-निर्ग्रन्थों को गुरु समझ कर सम्मान देने आदि का संकल्प किया, किसी भी व्यक्ति के नाम से गुरु आम्नाय नहीं की, समस्त सुसाधुओं को गुरु मानने की ही उनकी समझ थी।

आगम में जो व्यक्तिगत नाम आया है उसमें भी जीवन के अंतिम क्षणों में संथारे के समय में अपने अत्यंत स्मरणीय उपकारी को **'धर्मगुरु धर्माचार्य'** के नाम से स्मरण कर नमस्कार किया गया है।

धर्मगुरु, धर्माचार्य रूप अंतिम उपकारी के स्मरण के आगम-पाठ में (१) अरिहंत महावीर देव भी हैं (२) केशी श्रमण मुनि भी हैं और (३) अंबड जी श्रमणोपासक भी हैं। इन्हें विशिष्ट उपकारी होने से जीवन के महत्त्वपूर्ण अंतिम क्षणों में **'धर्मगुरु धर्माचार्य'** के विशेषण द्वारा स्मरण किया है।

(१७-१८) इस प्रकार गुरु आम्नाय का, आगम-पाठों का और सम्यक्त्व का सही स्वरूप समझ कर अपनी समझ और श्रद्धान को शुद्ध बनाना चाहिये। कभी किसी के विशिष्ट धार्मिक जीवन में, परिवर्तन में विशिष्ट व्यक्ति का उपकार-संयोग हो सकता है। किन्तु सामान्यतया वर्तमान जैन जगत् में जैनियों के धार्मिक जीवन-विकास में अनेक साधु-साध्वियों का, गांव के ज्ञानी या प्रमुख श्रावकों का एवं अनेक धर्माध्यापकों का तथा साथ ही अपने माता-पिता आदि पारिवारिक जनों का भी महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इसलिये किसी प्रमुख उपकारी का यथा समय स्मरण कर उपकार स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु समकित प्रतिज्ञा के आराध्य गुरु पद में तो श्रमण योग्य आगमगुण युक्त समस्त सुसाधुओं का ही स्वीकार होना चाहिये। क्योंकि आगम में **'सुसाहुणो गुरुणो'** बहुवचन रूप प्रयुक्त हुआ है।

(१९) उपसंहार करते हुए काव्य में बताया गया है कि इस प्रकार दुर्लभ समकित संबंधी आगम-सम्मत सही तत्त्वों को समझकर जो उक्त निर्देशों को हृदय में धारण करेगा, समकित की शुद्ध पालना-धारणा रखेगा, वह संसार-भ्रमण से मुक्त हो सकेगा। क्योंकि समकित (समझ-मान्यता) यदि सही है तो समस्त की गई क्रिया सफल है। जो अपनी समकित को शुद्ध, सुरक्षित जीवनभर रख लेता है आयुबंध भी समकित युक्त अवस्था में कर लेता है, वह फिर कभी भी नरक-तिर्यंच गति में नहीं जाता है। उत्कृष्ट १५ भवों से ही संसार-भ्रमण से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

टिप्पण

१. जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संति ए तहिया नव॥
तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥-उत्तरा. अ.२८ गा. १४-१५

२. अरिहंतो मह देवो, जावज्जीए सुसाहुणो गुरुणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं॥ आव. अ.४

३. परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थसेवणा वावि।
वावण्ण कुदंसणवज्जणा, इअ सम्मत्त सद्दहणा॥-उत्तरा.अ.२८ एवं आव. अ. ४

४. भगवतीसूत्र शतक २५ उद्दे. ६-७ में चारित्र वालों की और निर्ग्रन्थों की उत्कृष्ट संख्या अनेक हजार करोड़ कही है। यहां कही संख्या वालों में छट्ठा सातवां आदि गुणस्थान होता है। अतः यह सुसाधुओं की संख्या समझनी चाहिये।

५. गुणस्थान का थोकड़ा—**क्रिया द्वार**—पांचवें गुणस्थान में तीन क्रियाएं हैं —१. आरंभिकी २. पारिग्रहिकी ३. माया प्रत्ययिकी। छट्ठे गुणस्थान में दो क्रियाएं लगती हैं-१. आरंभिकी, २. मायाप्रत्ययिकी। अर्थात् पारिग्रहिकी क्रिया छट्ठे गुणस्थान में नहीं रहती हैं। एक से पांच गुणस्थान तक ही पारिग्रहिकी क्रिया कही गई है।

६. एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिये।
असमाणो चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेसु, अणिएओ परिव्वए॥

७. **प्रदेशीराजा**–'दब्भसंथारगं दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहे सपलियंकणिसण्णे करयलपरिग्गहियं सिरसावंतं अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी-'णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं। णमोत्थुणं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मोवएसगस्स धम्मायरियस्स। वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए। पासउ मे भगवं तत्थगए इह गयं त्ति कट्टु वन्दइ णमंसइ।

अम्बडसंन्यासी के शिष्य—एवं वयासी-णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स, णमोत्थुणं अम्बडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स। पुव्विं णं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अंतिए थूलए... पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणिं अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामो...।

तीर्थंकर भगवान महावीर तो आनंद आदि सभी श्रमणोपासकों के लिए आराध्य देव रूप देवाधिदेव होते हैं, फिर भी उनसे प्रथम बोध पाया जाने के कारण आगम में धर्माचार्य धर्मोपदेशक कहा गया है।

द्वारा श्री स्थानकवासी जैन समाज (पूर्व विभाग)
भारत सोसायटी, पो. सुरेन्द्रनगर-३६३००१ (गुजरात)

सम्यक्त्व सप्तति

आचार्य हरिभद्र (७००-७७० ई.) के द्वारा रचित 'सम्यक्त्व-सप्तति' ग्रन्थ में सम्यक्त्व के सड़सठ बोलों का वर्णन है। हरिभद्र सूरि के इस ग्रन्थ में कुल ७० गाथाएं हैं। सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए सड़सठ भेदों का कथन करते हुए कहा गया–

चउसद्दहण तिलिंग, दसविणयतिसुद्धि पंचगय दोसं।
अट्ठपभावणभूसणलक्खण पंचविहसंजुत्तं॥
छव्विह–जयणागारं छभावना भावियं च छट्ठाणं।
छह सत्तसट्ठि-लक्खण भेयविसुद्धं च सम्मत्तं॥–सम्यक्त्व सप्तति, ५-६

चार श्रद्धान, तीन लिङ्ग, दश विनय, तीन शुद्धि, पाँच दूषण, आठ प्रभावना, पाँच भूषण, पाँच लक्षण, छह यतना, छह आगार, छह भावना और छह स्थान–इन सड़सठ भेदों से विशुद्ध सम्यक्त्व होता है।

हरिभद्र सूरि के 'संबोध प्रकरण' में भी इन्हीं सड़सठ भेदों का वर्णन है।

जैन वाङ्मय में सम्यग्दर्शन

☐ केवलमल लोढ़ा

तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक् दर्शन कहते हैं।[1] यहां यथार्थ शब्द से तात्पर्य है कि जैसी तत्त्वों की व्याख्या जिनेश्वर देवों ने की है, उसको उसी रूप में समझना और मानना सम्यक्दर्शन है। क्योंकि आचारांगसूत्र स्पष्ट घोषणा करता है कि 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं' (सूत्र ५.५.१६८)। सम्यक्त्व, प्रतीति, रुचि, विश्वास, समदृष्टि, श्रद्धादि शब्द सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

सम्यग्दर्शन की व्याख्या

(क) बत्तीसवें आगम आवश्यकसूत्र में सम्यक्त्व ग्रहण की प्ररूपणा है कि (i) यावज्जीवन अरिहंत मेरे देव हैं, (ii) सुसाधु मेरे गुरु हैं, (iii) जिन प्रज्ञप्त तत्त्व (धर्म) है, ऐसी सम्यक्त्व मैंने अंगीकार की है।[2] दूसरे शब्दो में व्यक्त करें तो सुदेव, सुगुरु, सुधर्म को जीवनपर्यन्त के लिए स्वीकारना सम्यक् दर्शन है। इन सूत्रों में सम्यक्त्व कैसे दृढ़ हो, उसका प्रतिपादन किया गया है। सम्यग्दर्शी परम अर्थ (नौ तत्त्वों) की जानकारी करे व इन तत्त्वों के ज्ञाता की सेवा करे जिससे उनके साथ हुई तत्त्व-चर्चा से सम्यग्दर्शन की वृद्धि व स्थिरता हो। सम्यक्त्व से च्युत न होवे इसके लिये चेतावनी दी है कि जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है या 'कुदंसणी' (मिथ्यात्वी) हैं, उनकी संगति नहीं करे और पाँच सम्यक्त्व के अतिचार (शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा, परपाषंड-प्रशंसा एवं परपाषंड-परिचय) का सेवन न करे।[3]

मिथ्यालिंगी कौन है, इसका निर्देशन उत्तराध्ययन सूत्र २३.६३ में किया है कि ३६३ कुवयणी (पाषंडी) सभी उन्मार्गी हैं।[4] केवल जिन-प्रज्ञप्त देशनाएं ही सन्मार्ग हैं।

(ख) उपर्युक्त मूलागम उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८/१४-१५ में नौ तत्त्वों के नाम निर्देशन[5] के साथ यह भी प्ररूपणा है कि जो इन तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप समझकर अन्तःकरण (हृदय) से श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्वी है।[6] इस सम्यक्त्व की रुचि दस प्रकार से उत्पन्न होती है, उसका उल्लेख गाथा १४ में है। दस रुचियां हैं—१. निसर्ग रुचि, २. उपदेश रुचि, ३. आज्ञारुचि, ४. सूत्र रुचि, ५. बीज रुचि, ६. अभिगम रुचि, ७. विस्तार रुचि, ८. क्रिया रुचि, ९. संक्षेप रुचि और १०. धर्म रुचि। इनका वर्णन ठाणांगसूत्र स्थान १०/१०४ में भी है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

सम्यक्दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार-**(i) निसर्ग**—यानी अपने आप, बिना गुरु-उपदेश या बिना अन्य की प्रेरणा के **(ii) अभिगम**—गुरु उपदेश या अन्य बाह्य निमित्त से होती है। (आन्तरिक कारण दोनों में साधक का क्षयोपशम है) भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशक १ सूत्र १० इस तथ्य का साक्षी है कि तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थों को शुद्धाहार के प्रतिलाभों से दाता को बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होती है।[7] इसकी उत्पत्ति का क्रम लब्धिसार ग्रन्थ में इस प्रकार बतलाया है। सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व साधक पाँच लब्धियां प्राप्त करता है—

(१) **क्षयोपशम लब्धि**—इसके द्वारा साधक अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों की

अनुभाग-शक्ति को प्रतिसमय अनन्तगुणी क्षीण करता है।

(२) **विशुद्धि लब्धि**—इसको प्राप्त करने से जीव के कषायों में उग्रता कम होती है तथा परिणाम विशुद्ध बनते हैं।

(३) **देशनालब्धि**—छः द्रव्य, नौ तत्त्वों के उपदेश सुनने की इच्छा होती है। उपदेश धारण करने की शक्ति प्राप्त करता है।

(४) **प्रायोग्यलब्धि**—आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति को अन्तःकोटाकोटि सागरोपम करता है व कर्मों के रस की तीव्रता को मन्द करता है।

(५) **करणलब्धि**—करण आत्मा की शक्ति को कहते हैं। करण तीन हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

कर्मग्रन्थ में इनका विवरण है कि जिस प्रकार नदी में बहता हुआ पत्थर पानी के निरन्तर वेग से व अन्य पत्थरों की रगड़ से घिसता-घिसता गोल 'शालिग्राम' हो जाता है, उसी प्रकार अनन्त काल से दुःख भोगते-भोगते आयु कर्म वर्ज कर शेष सात कर्मों की स्थिति को अन्तः कोटाकोटि सागरोपम परिमाण कर देता है, यह यथाप्रवृत्तिकरण (अधः प्रवृत्तकरण) है। यहां तक अभव्य जीव भी आ सकता है। इस करण वाला जीव राग-द्वेष की तीव्र गांठ के पास आ जाता है, फिर विशेष शुद्ध परिणाम से जीव ग्रन्थि-भेदन करने का प्रयत्न करता है, यह अपूर्वकरण है। इस करण में प्रति समय नवीन-नवीन अर्थात् अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं, इसलिये यह अपूर्वकरण कहलाता है। फिर और अधिक विशुद्धि से साधक ग्रन्थि-भेदन करता है यह अनिवृत्तिकरण है जिसमें जीव सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना नहीं लौटता। अनिवृत्तिकरण का कुछ भाग शेष रह जाने पर जीव अन्तरकरण क्रिया करता है, जिसमें मिथ्यात्व के पुद्गल जो उदय में आ गये हैं, उनको भोगकर वह क्षय कर देता है और जो अन्तर्मुहूर्त में उदय में आने वाले हैं, उनको एक-अन्तर्मुहूर्त के लिये आगे खिसका देता है अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त काल तक न तो मिथ्यात्व का विपाकोदय होता है और न प्रदेशोदय। फलस्वरूप परिणामों में शुद्धात्म-भावों की प्रतीति होती है। इसे उपशम समकित या उपशम श्रद्धा भी कहते हैं। जिन मिथ्यात्व के दलिकों को अन्तरकरण क्रिया में एक अन्तर्मुहूर्त के लिये आगे स्थापित कर दिया था उनको साधक तीन पुञ्जों (शुद्ध, अर्धशुद्ध, अशुद्ध) में विभक्त करता है। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति पूर्ण होने पर संक्लिष्ट परिणाम उत्पन्न होने से जीव गिरता है और जिस पुञ्ज में अधिकता होती है, वहां जाता है। शुद्ध पुञ्ज में क्षयोपशम समकित वाला अर्धशुद्ध में मिश्र मोहयुक्त और अशुद्ध में मिथ्यात्वमोह युक्त हो जाता है।

कर्मग्रन्थानुसार अनादि मिथ्यात्वी को प्रथम वार उपशम समकित ही आती है और वह भी मनुष्य भव में, परन्तु सिद्धान्तानुसार क्षयोपशम समकित भी प्रथम वार आ सकती है और वह भी चारों गतियों में। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में मेघकुमार के जीव को हाथी के भव में क्षयोपशम समकित होने का उल्लेख है।

सम्यक्त्व के प्रकार

अनन्तानुबन्धी-चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनमोहनीयत्रिक (मिथ्यात्व,

मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय) के उपशम, क्षय, और क्षयोपशम से क्रमशः उपशम, क्षय और क्षयोपशम समकित का प्रादुर्भाव होता है। परिणामों की निर्मलता की अपेक्षा उपशम और क्षायिक सम्यक्त्व में सदृशता है, पर उपशम सम्यक्त्व प्रतिपाती है जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपाती। क्षयोपशम समकित में उदयगत मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय का उपशम (प्रदेशोदय) होने से समकित की निर्मलता में कमी रहती है, क्योंकि इसमें चल, मल, अगाढ दोष होते हैं। कर्मग्रन्थ भाग-१ गाथा-१५ के विवेचन में उपर्युक्त तीन प्रकार के अलावा सास्वादन और वेदक ऐसे दो भेद और हैं। इस प्रकार कुल पाँच प्रकार के सम्यक्त्व हैं। जब जीव उपशम समकित से गिरता है और मिथ्यात्व के धरातल तक नहीं पहुँचता उस बीच जो सम्यक्त्व का अंश होता है वह सास्वादन सम्यक्त्व है। समकित मोहनीय के अन्तिम दलिक का वेदन कर साधक क्षायिक सम्यक्त्वी होता है। अन्तिम दलिक के वेदन को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इन पाँचों सम्यक्त्व की स्थिति (काल-मर्यादा) इस प्रकार है—

१. **क्षायिक सम्यक्त्व**—सादि अनन्त।
२. **उपशम सम्यक्त्व**—जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त
३. **क्षयोपशम सम्यक्त्व**—जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट छियासठ सागर झाझेरी।
४. **सास्वादन सम्यक्त्व**—जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवलिका।
५. **वेदक सम्यक्त्व**—एक समय।

उपर्युक्त सम्यक्त्व के पाँच भेदों के अतिरिक्त तीन अन्य प्रकार भी विशेषावश्यकभाष्य गाथा २६७५ में इस प्रकार बतलाये हैं—

१. **कारक सम्यक्त्व**—यह सम्यक्त्वी सदनुष्ठानों में स्वयं श्रद्धा और आचरण करता है और दूसरों को प्रेरणा देकर करवाता है।

२. **रोचक सम्यक्त्व**—यह सम्यक्त्वी स्वयं श्रद्धा करता है, परन्तु तदनुरूप आचरण नहीं करता।

३. **दीपक सम्यक्त्व**—स्वयं सम्यक्त्वी न होते हुए भी दूसरों को उपदेश देकर श्रद्धा जागृत करता है।

प्रवचनसारोद्धार-४९ गाथा ९४२ की टीका में सम्यक्त्व के चार प्रकार के दो-दो भेद बतलाये हैं-

१. **द्रव्य सम्यक्त्व**—विशुद्ध किये हुए सम्यक्त्व के पुद्गल।
भाव सम्यक्त्व-केवलि-प्रज्ञप्त तत्त्वों में आन्तरिक रुचि।

२. **व्यवहार सम्यक्त्व**—सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर विश्वास होना।
निश्चय सम्यक्त्व—तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझ कर विपरीत अभिनिवेश रहित आत्म-प्रतीति होना।

३. **नैसर्गिक सम्यक्त्व**—बिना गुरु आदि के उपदेश के स्वाभाविक क्षयोपशम से तत्त्वों पर श्रद्धा होना।

अभिगम सम्यक्त्व-गुरु आदि के उपदेश या अन्य निमित से तत्त्वों पर श्रद्धा होना।

४. **पौद्गलिक सम्यक्त्व**—क्षयोपशम सम्यक्त्व में क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गलों का वेदन होता है, अतः इसे पौद्गलिक सम्यक्त्व भी कहते हैं।

अपौद्गलिक सम्यक्त्व—क्षायिक और उपशम सम्यक्त्व। सम्यक्त्व मोहनीय के उपशम और क्षय होने से किसी भी पुद्गल का वेदन नहीं होने से इन्हें अपौद्गलिक सम्यक्त्व भी कहते हैं।

सम्यक्त्व की सुलभता व दुर्लभता

आगम के अनेक स्थलों पर सम्यक्त्व (बोधि) की सुलभता[८] और दुर्लभता[९] का दिग्दर्शन कराया गया है। जिनमें से मुख्य सूत्रों का यहां परिचय दिया जा रहा है—

(क) जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान रहित हैं और शुक्ल लेश्या से युक्त होकर मरते हैं, उनके बोधि सुलभ है। —उत्तराध्ययन ३६/२५८

(ख) जो मिथ्यादृष्टि हैं, निदान सहित हैं, कृष्णलेश्या परिणाम वाले हैं और हिंसा कर सकते हैं, उनको सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है। —उत्तरा० ३६/२५९

(ग) जो साधक काम-भोग और रसों में गृद्ध हैं और समाधि भाव से भ्रष्ट हैं, वे मरकर असुरकाय में उत्पन्न होते हैं और वहां से निकलकर संसार में परिभ्रमण करते हैं, उनको बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है। —उत्तरा० ८/१५

(घ) जो साधु तप, वाणी, रूप और भाव का चोर है, उसे चारों गति में भ्रमण करते हुए भी बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।—दशवैकालिक ५/२/४८

(ङ) संयम-भ्रष्ट साधु भोगों में आसक्त होकर और बहुत से असंयम कृत्यों को करके दुःख पूर्ण अनिष्ट गति में जाता है। अनेक जन्म-मरण करने पर भी उसको बोधि सुलभ नहीं होती। —दशवै. प्रथम चूलिका, गाथा-१४

सम्यग्दर्शन की विशेषताएं व लाभ

(क) **नन्दीसूत्र —४—दंसणविसुद्धरत्थागा**—संघनगर सम्यक्रूप वीथियों से युक्त है।

नन्दीसूत्र-५—**सम्मत्तपरियल्लस्स**—सम्यक्त्व ही जिस संघ रथ के चक्र की परिधि है।

नन्दीसूत्र-९-**निम्मल-सम्मत्त**—सम्यक्त्व रूपी निर्मल चाँदनी से युक्त (संघ-चन्द्र की स्तुति)

नन्दीसूत्र-४६—**विसेसिआ समद्दिट्ठिस्स मई मइणाणं... सुयणाणं**। सम्यक् दृष्टि के सद्भाव में मति और श्रुत ज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टि को मति-अज्ञान और श्रुत अज्ञान।

नन्दीसूत्र-४७—**मिच्छासुअं... चयंति**। मिथ्याग्रन्थ, वहत्तर कलाएं समदृष्टि द्वारा ग्रहण होने पर सम्यक् श्रुत हैं। मिथ्यादृष्टि के लिये भी वे सम्यक् के हेतु हो सकते हैं।[१०]

(ख) आचारांग-३.२.११२—**सम्मत्तदंसी न करेति पावं**। सम्यक् दृष्टि पाप (हिंसा/

का आचरण नहीं करता।

आचारांग-३.४.१२९–**सड्ढी आणाए मेहावी**–वीतराग की आज्ञा में रुचिवान् (श्रद्धालु) मेधावी है।

आचारांग-५.५.१६९– जो साधक निर्दोष हृदय से किसी वस्तु को सम्यक् मान रहा है, वह वस्तु केवलज्ञानियों की दृष्टि में यद्यपि असम्यक् है तथापि उसके सम्यक् पर्यालोचन के कारण उसको उसका सम्यक् परिणमन होता है।

आचारांग-५.५.२०९-**सम्मियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते**–तीर्थंकरों ने समभाव (सम्यक् दर्शन) में धर्म कहा है।[११]

(ग) **सूत्रकृतांग**-८/२२–सम्यक्त्वी का तप कर्मक्षय का हेतु एवं मिथ्यात्वी का तप कर्म बन्ध का कारण है।

(घ) **प्रश्नव्याकरण** –२-५-१५५-सम्मत्तविसुद्धमूलो–सम्यग्दर्शन संवररूप वृक्ष का मूल है।

(ङ) **प्रज्ञापना**-पद-१८-१३४३-४४–जो एक बार भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लेता है (अन्तर्मुहूर्त के लिये भी) उसको अधिकतम अर्धपुद्गल परावर्तन काल में अवश्य मुक्ति का लाभ होगा।[१२]

(च) **उत्तराध्ययन सूत्र–२८.२९** सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता, दर्शन में चारित्र की भजना है। चारित्र और सम्यक्त्व युगपद् हो सकते हैं पर सम्यक्त्व पूर्व में होता है।[१३]

उत्तरा. २८/३० सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र नहीं होता। चारित्र के बिना मोक्ष और निर्वाण होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[१४]

उत्तरा. २८/३१ जैसे अंगों से शरीर पूर्ण होता है वैसे ही आठ अंगों (निशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य, प्रभावना) से समकित परिपूर्ण होकर सुशोभित होता है।

उत्तरा. २९.१ क्षायिक सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर यदि पूर्व में आयु कर्म का बन्ध न हुआ हो तो जीव उसी भव में मोक्ष जाता है अन्यथा तीसरे भव का उल्लंघन नहीं करता। **तच्चं पुणो भवग्गहणं णाइक्कमई।**

उत्तरा. ३६.२६० जो जिनवचनों में प्रगाढ श्रद्धावान् हैं वे तद्रूप भाव से आचरण करते हैं, वे निर्मल असंक्लिष्ट परिणाम वाले बनकर संसार-परीत्त करते हैं।[१५]

(छ) **धर्मसंग्रह** अधिकार-२/२२

समकित धर्म रूपी वृक्ष का मूल है।

समकित धर्म रूपी नगर का परकोटा है।

समकित धर्म रूपी महल की नींव है।

समकित धर्म रूपी आभूषण की पेटी है।

समकित धर्म रूपी किराना की दुकान है।

समकित धर्म रूपी भोजन का थाल है।

यानी सम्यक्त्व धर्म का आधार है। बिना सम्यक्त्व के धर्म नहीं टिक सकता।

सम्यक्त्व के पांच लक्षण—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था हैं। सम्यक्त्व होने पर जो गुण अवश्य पाये जाते हैं, वे लक्षण कहलाते हैं। सम्यक्त्वी को ये गुण निखारते हैं।

(ज) कर्मग्रन्थ भाग-३, गाथा २-३

सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर सम्यक्त्वी जीव सात बोलों का बन्धन नहीं करता, जिनमें वह स्त्री और नपुंसकवेद का बंध नहीं करता तथा नारकी, तिर्यञ्च, भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की आयु नहीं बांधता।

७. उपसंहार

उपर्युक्त बिन्दु षष्ठ के निरीक्षण-परीक्षण से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र, सम्यक् तप और धर्म नहीं होता है, तो फिर मोक्ष और निर्वाण-प्राप्ति जो प्रत्येक मुमुक्षु का ध्येय है, आकाश में कुसुमवत् असंभव है। अतः प्रत्येक मोक्षार्थी के लिये अनिवार्य है कि वह सम्यक् दर्शन जिसकी प्राप्ति परम दुर्लभ है (सद्धा परमदुल्लहा-उत्तरा० ३.९) जो कि सब रत्नों में अद्वितीय रत्न है, सब मित्रों में श्रेष्ठ मित्र है, की उपलब्धि करके अनन्त अक्षय सुखों का भागीदार बने।

उपर्युक्त लेखन में कोई आगम विपरीत तथ्य लिखने में आया हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

आगम-सन्दर्भ

नोट—आगम-सन्दर्भ ब्यावर से प्रकाशित शास्त्रों के हैं।

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र १/२

२. अरिहंतो महद्देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं॥
परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थ सेवणा वा वि।
वावण्ण कुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा य॥ —आवश्यकसूत्र, पृष्ठ ८८

३. इअ सम्मत्तस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं—संखा, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो। —आवश्यकसूत्र, पृष्ठ ८९

४. कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं एस मग्गो हि उत्तमो। —उत्तरा० २३/६३

५. जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्ते ए तहिया नव। —उत्तरा० २८/१४

६. तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥ —उत्तरा० २८/१५

७. तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयति?

जीवयं चयति, दुच्चयं चयति, दुक्करं करेति, दुल्लभं लभति,
बोहिं बुज्झति ततो पच्छा सिज्झति जाव अन्तं करेति ।—भगवतीसूत्र श. ७ उद्दे.१, सूत्र-१०

८. सम्मद्दंसणरत्ता, अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इयं जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥ —उत्तरा० ३६/२५८

९. मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणा कण्हलेसमोगाढा,
(i) इयं जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही—उत्तरा० ३६/२५९
गाथा २५७ में कण्हलेसमोगाढा के स्थान पर 'उ हिंसगा' है ।
(ii) तत्तो वि य उवलित्ता, संसारं बहु अणुपरियट्टयन्ति ।
बहु कम्मलेवलित्ताणं, बोहि होइ सुदुल्लहा तेसिं । —उत्तरा० ८/१५
(iii) त्तो वि से चइत्ताणं लब्भिही एलमूयगं ।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ —दशवै० ५/२/४८
(iv) भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहु ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुइं, बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो ॥
—दशवै० प्रथम चूलिका-गाथा-१४

१०. एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं अहवा मिच्छादिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुयं कम्हा ?
सम्मत्तहेउत्तणवो जम्हा ते मिच्छादिट्ठिया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति । नन्दीसूत्र, सूत्र-७७

११. सड्ढिस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स समियं तं गण्णमाणस्स एगदा समिया होती.. समियं त्ति मण्णमाणस्स सम्मिया व असम्मिया वा समिया होती उवेहाए । आचारांग सूत्र ५-५-१६९

१२. जे ये बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कतं, अफलं होति सव्वसो ॥—सूत्रकृतांग, ८.२३
जे येऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्त दंसिणो ।
असिद्धं तेसिं परक्कतं, सफलं होइ सव्वसो ॥—सूत्रकृतांग, ८.२२

१३. णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं ।
सम्मतचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं व सम्मत्तं ॥ उत्तरा० २८/२९

१४. णादंसणिस्स णाणं, णाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ उत्तरा० २८/३०

१५. जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥ —उत्तरा० ३६/२६०

-ए-८ महावीर नगर, टोंक रोड, जयपुर-३०२ ०१५

सम्यक्त्व-निरूपक ग्रंथ

सम्यक्त्व का वर्णन करने वाले कुछ ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

१. लोक प्रकाश - महामहोपाध्याय विनयविजय जी (१८वीं शती)
२. सम्यक्त्व-परीक्षा - विबुध विमलसूरि (१८१३ ई.)
३. अध्यात्मसार - यशोविजयगणि (१७ वीं शती)
४. आचार दिनकर - वर्धमानसूरि (१५ वीं शती)
५. सम्यक्त्व-सप्तति - हरिभद्रसूरि (८ वीं शती)

सम्यग्दर्शनः स्वरूप एवं लक्षण

✠ कु. शकुन्तला जैन

'सम्यग्दर्शन' धर्म का मूल है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'सम्यग्दर्शन' को धर्म का मूल माना है। सम्यग्दर्शन सब गुणों का तथा रत्नत्रय का सार है। वह मोक्ष की पहली सीढ़ी है। उमास्वाति की सूत्ररूप घोषणा है-'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकात्मकता ही मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष आत्महित है, मोक्ष शाश्वत-अविनाशी सुख है। मोक्ष-प्राप्ति में रत्नत्रय प्रधान कारण है और रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन प्रधान है।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' नामक ग्रंथ में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है। मोक्षमार्ग में इसका महत्त्व बताते हुए कहा है कि जैसे बीज के अभाव में वृक्ष नहीं होता वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती। तीनों कालों व तीनों लोकों में प्राणियों हेतु सम्यग्दर्शन के समान कोई कल्याणकारी नहीं है। साथ ही मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है। जिनेन्द्र का भक्त सम्यग्दृष्टि भव्यजीव, चक्रवर्ती पद को और समस्त लोक को तिरस्कृत करने वाले तीर्थंकर पद को प्राप्त करके अंत में मोक्ष प्राप्त करता है।

नगर में जिस प्रकार द्वार की प्रधानता होती है, मुख में जिस प्रकार चक्षु प्रधान तथा वृक्ष में जिस प्रकार मूल प्रधान है उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य में सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि दर्शन से भ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट है और दर्शन-भ्रष्ट को निर्वाण प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार से तारों मे चन्द्र व पशुओं में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान व चारित्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होते। अतः रत्नत्रय में सम्यक्त्व ही प्रधान है।

जैनागमों में चारों अनुयोगों (प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग*) की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के लक्षण प्रतिपादित किये गए हैं। आर्षवाणी में परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की शंका आदि पच्चीस दोष रहित श्रद्धा करना, दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन कहा है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् जीवादि नव पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। करणानुयोग की अपेक्षा दर्शनमोहनीय की तीन तथा अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम व क्षय से उत्पन्न होने वाली श्रद्धागुण की निर्मल परिणति को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इसके स्वरूप का परिज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूपज्ञान से होता है। चारित्ररूप धर्म रत्नत्रय का ही रूपान्तर है। इस धर्म का मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान व चारित्र सम्यक् नहीं कहे जा सकते।[१]

सम्यग्दर्शन के संबंध में जैनाचार्यों ने अलग-अलग ढंग से अपने मत प्रकट किये

उपर्युक्त चार अनुयोगों के नाम दिगम्बर मतानुसार हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इनके नाम हैं- १. द्रव्यानुयोग २. चरणकरणानुयोग ३. गणितानुयोग और ४. धर्मकथानुयोग।

हैं। उमास्वाति का कहना है तत्त्वार्थों का श्रद्धान, 'सम्यग्दर्शन' है। इन्होंने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व माने हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी तरह का उल्लेख किया है।[२] उत्तराध्ययन में इन सात तत्त्वों के साथ पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व कहे हैं।[३] दर्शन पाहुड और पंचसंग्रह में छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्वों के स्वरूप पर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है। पंचास्तिकाय में उल्लेख है कि काल के साथ पांच अस्तिकायों के विकल्पों के जो नौ रूप हैं वे नौ पदार्थ ही भाव हैं। इन पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। मूलाचार, द्रव्यसंग्रह, वसुनन्दि श्रावकाचार और धवला प्रभृति ग्रंथों में भी पदार्थों/तत्त्वार्थों के श्रद्धान को 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है।[४]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो वीतराग अरिहंत को देव मानता है, दया को उत्कृष्ट धर्म मानता है, और निर्ग्रन्थ साधुओं को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है। नियमसार में सम्यक्त्व की चर्चा के संबंध में कहा है कि आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है। रत्नकरकण्डश्रावकाचार में उल्लेख है कि तीन प्रकार की मूढ़ता, आठ प्रकार के मद से रहित होकर, सत्यार्थ देव, शास्त्र और गुरु पर आठों अंगों सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। समयसार में सम्यगदर्शन को परिभाषित करते हुए कहा है कि समस्त नयों के पक्षों से रहित जो कुछ कहा गया है, वह सब समयसार है। इसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा गया है।[५]

कुछ आचार्यों ने पदार्थों के विपरीत-अभिनिवेश रहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है, कुछ ने पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना है। तात्पर्याख्यावृत्तिकार के अनुसार तो विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले निज परमात्मा में रुचि को जहां एक स्थान पर सम्यग्दर्शन बताया गया है वहीं दूसरे स्थान पर शुद्धात्मा ही उपादेय है, यह श्रद्धान सम्यग्दर्शन निरूपित है। एक अन्य स्थान पर यथार्थ रूप से जाने गये जीव आदि नौ पदार्थ, शुद्धात्मा से भिन्न हैं, इस प्रकार का जो सम्यग्बोध होता है, वह सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार से उल्लेख किया गया है।[६] प्रवचनसार की तात्पर्याख्यावृत्ति में भी इसी प्रकार की मान्यताएं व्यक्त की गई हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए विभिन्न योग्यताओं की आवश्यकता के संबंध में आगम में उल्लेख है कि अन्य योग्यताओं के साथ प्रमुख रूप से चारों गति के संज्ञी, पर्याप्त, भव्य, जागृत, साकारोपयोगी जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं या इन योग्यताओं के धारक ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

सम्यग्दर्शन के भिन्न-भिन्न लक्षणों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इन लक्षणों में भिन्नता होने के पश्चात् भी सिद्धान्तानुसार कोई भेद नहीं है, क्योंकि दिखाई देने वाला भेद शैलीगत है, वास्तविक नहीं। सारांश रूप में लक्षणों को देखा जाय तो इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तत्त्वार्थों का श्रद्धान, दूसरा-देव, शास्त्र व गुरु तथा धर्म पर श्रद्धान, तीसरा स्व-पर के भेदविज्ञान के साथ शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप श्रद्धान। इन तीन वर्गों में परस्पर न कोई सैद्धान्तिक भेद है और न ही अलगाव।

कुदेव आदि का श्रद्धान करने से मिथ्यात्व का सद्भाव होता है। अरिहन्त आदि

का श्रद्धान करने से कुदेव का श्रद्धान दूर होता है। अतः 'आप्त' आदि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्हन्त देव आदि का श्रद्धान होने पर, 'सम्यक्त्व' हो भी सकता है, और नहीं भी। लेकिन अर्हन्त आदि का यथार्थ श्रद्धान हुए बिना, सम्यक् दर्शन कभी नही हो सकता।[७] एक सम्यग्दृष्टि जीव को जैसा श्रद्धान होता है, वैसा श्रद्धान-मिथ्यादृष्टि जीव को कभी नहीं होता। क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीव मोहवश श्रद्धान नहीं करता है। यथार्थ श्रद्धान वास्तव में तब होता है जब वह अरिहंत आदि के यथार्थ स्वरूप की पहचान कर लेता है। जिसे अरिहंत देव आदि के यथार्थ स्वरूप की पहचान है, उसे जीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की पहचान होती है।

अरिहंत में बारह गुण माने गये हैं और इनका ज्ञान तत्त्वश्रद्धान के बिना नहीं हो पाता। जिसे जीव-अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसे अरिहन्त आदि के बारे में सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता। 'तत्त्वश्रद्धान' में जीव-अजीव के प्रति जो श्रद्धान होता है, उसका उद्देश्य–'स्व और पर का भिन्न श्रद्धान होना' होता है। आस्रव आदि के श्रद्धान का उद्देश्य राग आदि को छोड़ना होता है। अतः तत्त्वश्रद्धान का प्रमुख उद्देश्य होता है-'स्व' और 'पर' का भिन्न श्रद्धान। अर्थात् 'अपने आपको सही रूप में पहचानना।' इस पहचान या आत्म-श्रद्धान को ही 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

जिस 'सम्यक्त्व' की साधना को परम लक्ष्य मानकर, उसे धर्म का मूल कहा गया है। वह 'सम्यक्त्व' वीतराग चारित्र का अविनाभूत होता है। वही निश्चय सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न, सब योगों में उत्तमयोग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है और सभी प्रकार की सिद्धि करने वाला है।

संदर्भ-ग्रंथ

१. आचार्य धर्मसागर अभिनन्दनग्रंथ-लेखमाला, धर्म, दर्शन एवं सिद्धांत, पृ. २५९, कलकत्ता १९८१-८२

२. तत्त्वार्थसूत्र १/२,४

३. उत्तराध्ययनसूत्र २८/१४

४. धर्म-दर्शन-मनन और चिंतन, आचार्य देवेन्द्र मुनि, पृ. १४४-१४५, उदयपुर

५. समयसार, १४४

६. समयसार, तात्पर्याख्यावृत्ति ३८, १५५, ३१४, ३१५

७. धर्म-दर्शन-मनन और चिंतन, आचार्य देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ. १४६-४८, उदयपुर १९८५

५९, श्रीकृष्ण कालोनी, अंकपात मार्ग, उज्जैन (म.प्र.)

संवेग और निर्वेद

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥

धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना, समान धर्म वालों में अनुराग होना अथवा परमेष्ठियों के प्रति प्रीति होना संवेग है।

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च निषेधनात्।

संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। निर्वेद में संसार से वैराग्य होता है।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर

☆ पं. सुखलाल संघवी*

आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्मा के लिये मुख्य दो ही कार्य हैं। पहला स्वरूप तथा पररूप का यथार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूप में स्थित होना। इनमें से पहले कार्य को रोकने वाली मोह की शक्ति जैनशास्त्र में 'दर्शन-मोह' और दूसरे कार्य को रोकने वाली मोह की शक्ति 'चारित्रमोह' कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्ति की अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती, और पहली शक्ति के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पावे तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोह की उक्त दोनों शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की आध्यात्मिक-स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रमवाला मनुष्य पूर्व को पश्चिम मानकर गति करता है और अपने इष्ट स्थान को नहीं पाता; उसका सारा श्रम एक तरह से वृथा हो जाता है, वैसे प्रथम भूमिका वाला आत्मा पर-रूप को स्वरूप समझ कर उसी को पाने के लिये प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख से वञ्चित रहता है। इसी भूमिका को जैनशास्त्र में 'बहिरात्मभाव' किंवा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं, उन सब की भी आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती अर्थात् सबके ऊपर मोह की सामान्यतः दोनों शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा-बहुत तर-तम-भाव अवश्य होता है। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम होता है। विकास करना यह प्रायः आत्मा का स्वभाव है। इसलिये जानते या अजानते, जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है। इसी स्थिति को जैन शास्त्र में 'ग्रन्थिभेद' कहा है। (विशेषावश्यकभाष्य, ११९५-११९७)

ग्रन्थिभेद का कार्य वड़ा ही विषम है। राग-द्वेष की तीव्रतम विष-ग्रन्थि एक वार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाय तो फिर बेड़ा पार ही समझिये, क्योंकि इसके वाद मोह की प्रधान शक्ति 'दर्शन मोह' को शिथिल होने में देरी नहीं लगती और 'दर्शनमोह' शिथिल हुआ कि चारित्रमोह की शिथिलता का मार्ग आप ही आप खुल जाता है। एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर्य-बल का प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्ध में यानी मानसिक विकार और

* वीसवीं शती के प्रसिद्ध [illegible]

प्रतिद्वन्द्विता में कभी एक तो कभी दूसरा जयलाभ करता है। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं जो करीब-करीब ग्रन्थिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी रागद्वेष पर जयलाभ नहीं करते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं और न जय लाभ कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध के मैदान में ही पड़े रहते है। कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता हैं जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्ध में रागद्वेष पर जयलाभ कर ही लेता है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता में इन तीनों अवस्थाओं का अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरने का, कभी प्रतिस्पर्धा से डटे रहने का और जयलाभ करने का अनुभव हमें अक्सर नित्य-प्रति हुआ करता है। यही संघर्ष कहलाता है। संघर्ष विकास का कारण है। चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करते समय भी अचानक अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में उक्त प्रकार की तीनों अवस्थाओं का अनुभव प्रायः सबको होता रहता है। कोई विद्यार्थी, कोई धनार्थी या कोई कीर्तिकाङ्क्षी जब अपने इष्ट के लिये प्रयत्न करता है। तब या तो वह बीच में अनेक कठिनाइयों को देखकर प्रयत्न को छोड़ ही देता है या कठिनाइयों को पार कर इष्ट-प्राप्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है। जो अग्रसर होता है, वह बड़ा विद्वान, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है। जो कठिनाइयों से डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञानी, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है। और जो न कठिनाइयों को जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थिति में ही पड़ा रहकर कोई ध्यान खींचने योग्य उत्कर्ष-लाभ नहीं करता।

इस भाव को समझाने के लिये शास्त्र में (विशेषावश्यकभाष्य १२११-१२१४) एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि तीन प्रवासी कहीं जा रहे थे। बीच में भयानक चोरों को देखते ही तीन में से एक तो पीछे भाग गया। दूसरा उन चोरों से डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया। तीसरा तो असाधारण बल तथा कौशल से उन चोरों को हराकर आगे बढ़ ही गया। मानसिक विकारों के साथ आध्यात्मिक युद्ध करने में जो जय-पराजय होता है, उसका थोड़ा ख्याल उक्त दृष्टान्त में आ सकता हैं।

प्रथम गुणस्थान में रहने वाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो रागद्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होते हैं, पर मोह की प्रधान शक्ति को अर्थात् दर्शनमोह को शिथिल किये हुए नहीं होते, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसे आत्माओं की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण वस्तुतः मिथ्यादृष्टि विपरीत दृष्टि या असत्दृष्टि ही कहलाती है, तथापि वह सद्दृष्टि के समीप ले जाने वाली होने के कारण उपादेय मानी गई है।(यशोविजयकृत योगावतारद्वात्रिंशिका, ३१)

बोध, वीर्य व चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से उस असत् दृष्टि के चार भेद करके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की अंतिम अवस्था का शास्त्र में अच्छा चित्र खींचा गया है। इन चार दृष्टियों में जो वर्तमान होते हैं, उनको सद्दृष्टि लाभ करने में फिर देरी

नहीं लगती।

सद्बोध, सद्वीर्य व सच्चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से सद्दृष्टि के भी शास्त्र में चार विभाग किये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि त्याग कर अथवा मोह की एक या दोनों शक्तियों को जीतकर आगे बढ़े हुए सभी विकसित आत्माओं का समावेश हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकार से यों समझाया जा सकता है कि जिसमें आत्मा का स्वरूप भासित हो और उसकी प्राप्ति के लिये ही प्रवृत्ति हो, वह सद्दृष्टि, इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरूप न तो यथावत् भासित हो और न उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति हो वह असत् दृष्टि है। बोध, वीर्य व चारित्र के तर-तम-भाव को लक्ष्य में रखकर शास्त्र में दोनों दृष्टि के चार-चार विभाग किये गये हैं, जिनमें सब विकासगामी आत्माओं का समावेश हो जाता है और जिनका वर्णन पढ़ने से आध्यात्मिक विकास का चित्र आंखों के सामने नाचने लगता है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना के कारण अज्ञात रूप में ही गिरि-नदी पाषाण न्याय (लोकप्रकाश, सर्ग, ३ श्लोक ६०८-६०९) से जब आत्मा का आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा वीर्योल्लास की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकासगामी आत्मा के परिणामों की शुद्धि व कोमलता कुछ बढ़ती है। जिसकी बदौलत वह रागद्वेष की तीव्रतम-दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूर्वक दुःख संवेदना-जनित अति अल्प आत्म-शुद्धि को जैन शास्त्र में 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है तब राग-द्रेष की उस दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन किया जाता है। इस ग्रन्थिभेदकार की आत्मशुद्धि को 'अपूर्वकरण' कहते हैं।

क्योंकि ऐसा करण-परिणाम विकासगामी आत्मा के लिये अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म-शुद्धि व वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति—दर्शनमोह पर अवश्य विजय लाभ करता है। इस विजयकारक आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में 'अनिवृत्तिकरण' कहा है, क्योंकि उस आत्म-शुद्धि के हो जाने पर आत्मा दर्शनमोह पर जय-लाभ किये बिना नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकार की आत्म-शुद्धियों में दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को रोकने का अत्यन्त कठिन कार्य इसी के द्वारा किया जाता है, जो सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता प्राप्त हो जाने पर फिर चाहे विकासगामी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से गिर भी पड़े तथापि वह पुनः कभी-न-कभी अपने लक्ष्य आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण अनुभवगत व्यावहारिक दृष्टान्त के द्वारा किया जा सकता है।

जैसे, एक ऐसा वस्त्र हो, जिसमें मल के अतिरिक्त चिकनाहट भी लगी हो। उसका मल ऊपर-ऊपर से दूर करना उतना कठिन और श्रम-साध्य नहीं, जितना कि चिकनाहट का दूर करना। यदि चिकनाहट एक बार दूर हो जाय तो फिर बाकी का मल निकालने में किंवा किसी कारण-वश फिर से लगे हुए गर्दे को दूर करने में

विशेष श्रम नहीं करना पड़ता और वस्त्र को उसके असली स्वरूप में सहज ही लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपर का मल दूर करने में जो बल दरकार है, उसके सदृश 'यथाप्रवृत्तिकरण' है। चिकनाहट दूर करने वाले विशेष बल व श्रम के समान 'अपूर्वकरण' है। जो चिकनाहट के समान राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मल को किंवा चिकनाहट दूर होने के बाद फिर से लगे हुए मल को कम करने वाले बल-प्रयोग के समान 'अनिवृत्तिकरण' है। उक्त तीनों प्रकार के बल-प्रयोगों में चिकनाहट दूर करने वाला बल-प्रयोग ही विशिष्ट है।

अथवा जैसे, किसी राजा ने आत्म रक्षा के लिये अपने अङ्गरक्षकों को तीन विभागों में विभाजित कर रखा हो, जिनमें दूसरा विभाग शेष दो विभागों से अधिक बलवान् हो, तब उसी को जीतने में विशेष बल लगाना पड़ता है। वैसे ही दर्शनमोह को जीतने के पहले उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारों को शिथिल करने के लिये विकासगामी आत्मा को तीन बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। जिनमें दूसरी बार किया जाने वाला बल-प्रयोग ही, जिसके द्वारा राग-द्वेष की अत्यन्त तीव्रतारूप ग्रन्थि भेदी जाती है, प्रधान होता है। जिस प्रकार उक्त तीनों दलों में से बलवान् दूसरे अङ्गरक्षक दल के जीत लिये जाने पर फिर उस राजा की पराजय सहज होती है, इसी प्रकार राग-द्वेष की अतितीव्रता को मिटा देने पर दर्शनमोह पर जयलाभ करना सहज है। दर्शनमोह को जीता और पहले गुणस्थान की समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरूप का दर्शन कर लेता है अर्थात् उसकी अब तक जो पररूप में स्वरूप की भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। अतएव उसके प्रयत्न की गति उल्टी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बन कर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशा को जैनशास्त्र में 'अन्तरात्मभाव' कहते हैं, क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध-परमात्म-भाव को देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, यह आत्म-मंदिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में वर्तमान परमात्म-भावरूप निश्चय देव का दर्शन किया जाता है।

यह दशा विकासक्रम की चतुर्थी भूमिका किंवा चतुर्थ गुणस्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने के कारण विपर्यास-रहित होती है, जिसको जैनशास्त्र में सम्यग्दृष्टि किम्वा सम्यक्त्व कहा है। (लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ५९६)

भयंकर पाप

सर्वत्र इस संसार में सन्ताप ही सन्ताप है।
समभाव के अभाव में तप हो रहा सब ताप है।
यह सत्य है अज्ञानवत् कोई नहीं अभिशाप है।
निष्कर्षतः मिथ्यात्व ही सबसे भयंकर पाप है॥

–दिलीप धींग जैन

सम्यग्दर्शन का अर्थविकास

✍ डॉ. सागरमल जैन*

जैन-परम्परा में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्त्व एवं सम्यक्-दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थों में हुआ है। किन्तु आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्त्व और सम्यक्-दर्शन के भिन्न-भिन्न अर्थों का निर्देश किया है।[१] सम्यक्त्व वह है जिसके कारण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। 'सम्यक्त्व' शब्द का अर्थ-विस्तार 'सम्यक्दर्शन' शब्द से अधिक व्यापक है, फिर भी सामान्यतया 'सम्यक्दर्शन' और 'सम्यक्त्व' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वैसे सम्यग्दर्शन शब्द में सम्यक्त्व निहित ही है।

सम्यक्त्व का अर्थ—सामान्य रूप में सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द सत्यता या यथार्थता का परिचायक है, जिसे 'उचितता' भी कह सकते हैं। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि है।[२] इस अर्थ में सम्यक्त्व सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। उपर्युक्त दोनों अर्थों में सम्यक्-दर्शन या सम्यक्त्व नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। जैन-नैतिकता का चरम आदर्श आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि है, लेकिन यथार्थ की उपलब्धि भी तो यथार्थ से सम्भव होती है। यदि हमारा साध्य 'यथार्थता' की उपलब्धि है, तो उसका साधन भी यथार्थ ही होना चाहिए। जैन-विचारणा साध्य और साधन की एकरूपता में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि अनुचित साधन से प्राप्त किया गया लक्ष्य भी अनुचित ही है। सम्यक् को सम्यक् से ही प्राप्त करना होता है, असम्यक् से जो भी मिलता है या प्राप्त किया जाता है, वह भी असम्यक् ही होता है। अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये जिन साधनों का विधान किया गया, उनका सम्यक् होना आवश्यक माना गया। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नैतिक मूल्य उनके सम्यक् होने में है और तभी वे मुक्ति या निर्वाण के साधन बनते हैं। यदि ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या होते हैं तो बन्धन का कारण बनते हैं। बन्धन-मुक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर निर्भर नहीं, वरन् उनके सम्यक् और मिथ्यापन पर आधारित है।

दर्शन का अर्थ—'दर्शन' शब्द भी जैनागमों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप को देखना, जानना, श्रद्धा करना 'दर्शन' है।[३] सामान्यतया 'दर्शन' शब्द देखनेके अर्थ में व्यवहृत होता है, लेकिन यहां दर्शन शब्द का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध नहीं है। उसमें इन्द्रिय-बोध, मन-बोध और आत्म-बोध सभी सम्मिलित हैं। दर्शन शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जैन-परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[४] नैतिक जीवन की दृष्टि से विचार करने पर दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ किया गया है।[५] दर्शन शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग, उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। प्राचीन जैन आगमों में

* निदेशक पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

'दर्शन' शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र[६] और उत्तराध्ययनसूत्र[७] में 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' है। परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[८] इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन अपने में तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अर्थों को समेटे हुए है। इन पर थोड़ी गहराई से विचार करना अपेक्षित है।

सम्यक्-दर्शन के विभिन्न अर्थों का विकास—सम्यक्-दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौन-सा अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम था और उसके पश्चात् किन-किन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यही शब्द अपने दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रथमतः हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के समय में प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यक्-दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था। बौद्धागमों में ६२ मिथ्यादृष्टियों एवं जैनागम सूत्रकृतांग में ३६३ मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख मिलता है। लेकिन वहां पर मिथ्यादृष्टि शब्द अश्रद्धा अथवा मिथ्या श्रद्धा के अर्थ में नहीं, वरन् गलत दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। बाद में जब यह प्रश्न उठा कि गलत दृष्टिकोण को किस सन्दर्भ में माना जाय, तो कहा गया कि जीव (आत्मतत्त्व) और जगत् के सम्बन्ध में जो गलत दृष्टिकोण है, वही मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि से तात्पर्य हुआ आत्मा और जगत् के विषय में गलत दृष्टिकोण। उस युग में प्रत्येक धर्म प्रवर्तक आत्मा और जगत् के स्वरूप के विषय में अपने दृष्टिकोण को सम्यक्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शन तथा विरोधी के दृष्टिकोण को मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शन कहता था। बाद में प्रत्येक सम्प्रदाय जीव और जगत् सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण पर विश्वास करने को सम्यग्दृष्टि कहने लगा और जो लोग विपरीत मान्यता रखते थे उनको मिथ्यादृष्टि कहने लगा। इस प्रकार सम्यक्दर्शन शब्द तत्त्वार्थ (जीव और जगत् के स्वरूप के) श्रद्धान के अर्थ में रूढ़ हुआ। लेकिन तत्त्वार्थश्रद्धान के अर्थ में भी सम्यक्-दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नहीं हुआ था, यद्यपि उसकी भावनागत दिशा बदल चुकी थी। उसमें श्रद्धा का तत्त्व प्रविष्ट हो गया था, लेकिन वह श्रद्धा थी तत्त्व स्वरूप के प्रति। वैयक्तिक श्रद्धा का विकास बाद की बात थी।

श्रमण-परम्परा में लम्बे समय तक सम्यग्दर्शन का दृष्टिकोण अर्थ ही ग्राह्य रहा था जो बाद में तत्त्वार्थश्रद्धान के रूप में विकसित हुआ। यहां तक तो श्रद्धा में बौद्धिक पक्ष निहित था, श्रद्धा ज्ञानात्मक थी। लेकिन जैसे-जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसका प्रभाव जैन और बौद्ध श्रमण-परम्पराओं पर भी पड़ा। तत्त्वार्थ की श्रद्धा बुद्ध और जिन पर केन्द्रित होने लगी और वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गयी। इसने जैन और बौद्ध परम्पराओं में भक्ति के तत्त्व का वपन किया।[९] आगम एवं पिटक ग्रन्थों के संकलन एवं लिपिबद्ध होने तक यह सब कुछ हो चुका था। अतः आगम और पिटक ग्रन्थों में सम्यक् दर्शन के ये सभी अर्थ उपलब्ध होते हैं।

वस्तुतः सम्यक्-दर्शन का भाषा-शास्त्रीय विवेचन पर आधारित यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ ही उसका प्रथम एवं मूल अर्थ है, लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र वीतराग पुरुष का ही हो सकता है। जहां तक व्यक्ति राग और द्वेष से युक्त है, उसका दृष्टिकोण यथार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार का सम्यक्-दर्शन या यथार्थ दृष्टिकोण तो साधनावस्था में सम्भव नहीं है, क्योंकि साधना की अवस्था सराग अवस्था है। साधक-आत्मा में राग-द्वेष की उपस्थिति होती है, साधक तो साधना ही इसलिए कर रहा है कि वह इन दोनों से मुक्त हो। इस प्रकार यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र सिद्धावस्था में होगा। लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता तो साधक के लिए है, सिद्ध को तो वह स्वाभाविक रूप में प्राप्त है। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में व्यक्ति का व्यवहार तथा साधना सम्यक् नहीं हो सकती। क्योंकि अयथार्थ दृष्टिकोण ज्ञान और जीवन के व्यवहार को सम्यक् नहीं बना सकता। यहां एक समस्या उत्पन्न होती है कि यथार्थ दृष्टिकोण का साधनात्मक जीवन में अभाव होता है और बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना हो नहीं सकती। यह समस्या एक ऐसी स्थिति में डाल देती है जहां हमे साधना-मार्ग की सम्भावना को ही अस्वीकृत करना होता है। यथार्थ दृष्टिकोण के बिना साधना सम्भव नहीं और यथार्थ दृष्टिकोण साधना-काल में हो नहीं सकता। लेकिन इस धारणा में भ्रान्ति है।

साधना-मार्ग के लिए या दृष्टिकोण की यथार्थता के लिए, दृष्टि का राग-द्वेष से पूर्व-विमुक्त होना आवश्यक नहीं है, मात्र इतना आवश्यक है कि व्यक्ति अयथार्थता और उसके कारण को जाने। ऐसा साधक यथार्थता को न जानते हुए भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि वह असत्य को असत्य मानता है और उसके कारण को जानता है। अतः वह भ्रान्त नहीं है, असत्य के कारण को जानने से वह उसका निराकरण कर सत्य को पा सकेगा। यद्यपि पूर्ण यथार्थ दृष्टि तो एक साधक में सम्भव नहीं है, फिर भी उसकी रागद्वेषात्मक वृत्तियों में जब स्वाभाविक रूप से कमी हो जाती है तो इस स्वाभाविक परिवर्तन के कारण उसे पूर्वानुभूति और पश्चानुभूति में अन्तर ज्ञात होता है और इस अन्तर के कारण के चिन्तन में उसे दो बातें मिल जाती हैं। एक तो यह कि उसका दृष्टिकोण दूषित है और दूसरी यह कि उसकी दृष्टि की दूषितता का अमुक कारण है। यद्यपि यहां सत्य तो प्राप्त नहीं होता, लेकिन अपनी असत्यता और उसके कारण का बोध हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप उसमें सत्याभीप्सा जागृत हो जाती है। यही सत्याभीप्सा उस सत्य या यथार्थता के निकट पहुंचाती है और जितने अंश में वह यथार्थता के निकट पहुंचता है उतने ही अंश में उसका ज्ञान और चारित्र शुद्ध होता जाता है। ज्ञान और चारित्र की शुद्धता से पुनः राग और द्वेष में क्रमशः कमी होती है और उसके फलस्वरूप उसके दृष्टिकोण में और अधिक यथार्थता आ जाती है। इस प्रकार क्रमशः व्यक्ति स्वतः ही साधना की चरम स्थिति में पहुंच जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि जल जैसे-जैसे स्वच्छ होता जाता है, त्यों-त्यों द्रष्टा उसमें प्रतिबिम्बित रूपों को स्पष्टतया देखने लगता है। उसी प्रकार अन्तर में ज्यों-ज्यों मलिनता समाप्त होती है, तत्त्व-रुचि जाग्रत होती है, त्यों-त्यों तत्त्वज्ञान प्राप्त होता जाता है।[१०] इसे जैन परिभाषा में प्रत्येक बुद्ध (स्वतः ही यथार्थता को जानने वाले) का साधना-मार्ग कहते हैं। लेकिन प्रत्येक सामान्य साधक यथार्थ दृष्टिकोण को

इस प्रकार प्राप्त नहीं करता है, न उसके लिए यह सम्भव ही है, सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन है।

सत्य को स्वयं जानने की विधि की अपेक्षा दूसरा सहज मार्ग यह है कि जिन्होंने स्वानुभूति से सत्य को जानकर उसका जो भी स्वरूप बताया है उसको स्वीकार कर लेना। इसे ही जैन शास्त्रकारों ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है अर्थात् यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त वीतराग ने सत्ता का जो स्वरूप प्रकट किया है, उसे स्वीकार करना।

मान लीजिए, कोई व्यक्ति पित्त-विकार से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में वह किसी श्वेत वस्तु के यथार्थ ज्ञान से वंचित होगा। उसके लिए वस्तु के यथार्थ स्वरूपको प्राप्त करने के दो मार्ग हो सकते हैं। पहला मार्ग यह कि उसकी बीमारी में स्वाभाविक रूप से जब कुछ कमी हो जावे और वह अपनी पूर्व और पश्चात् की अनुभूति में अन्तर पाकर अपने रोग को जाने और प्रयास से रोग को शान्त कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त करे। दूसरी स्थिति में किसी चिकित्सक द्वारा यह बताया जाये कि वह पित्तविकारों के कारण श्वेत वस्तु को पीत वर्ण की देख रहा है। यहां चिकित्सक की बात को स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपनी रुग्णावस्था अर्थात् अपनी दृष्टि की दूषितता का ज्ञान हो जाता है और साथ ही वह उसके वचनों पर श्रद्धा करके वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप में जान भी लेता है।

सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थश्रद्धान, उनमें वास्तविकता की दृष्टि से अन्तर नहीं है। अन्तर है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वयं प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन करता है और वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। दूसरा वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। दोनों दशाओं में व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ ही कहा जायेगा, यद्यपि दोनों की उपलब्धि-विधि में अन्तर है। एक ने उसे तत्त्वसाक्षात्कार या स्वतः की अनुभूति में पाया तो दूसरे ने श्रद्धा के माध्यम से।

वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टिकोण की यथार्थता जिन माध्यमों से प्राप्त की जा सकती है, वे दो हैं—या तो व्यक्ति स्वयं तत्त्व-साक्षात्कर करे अथवा उन ऋषियों के कथनों पर श्रद्धा करे जिन्होंने तत्त्व-साक्षात्कार किया है। तत्त्व-श्रद्धा तो मात्र उस समय तक के लिए एक अनिवार्य विकल्प है जब तक साधक तत्त्वसाक्षात्कर नहीं कर लेता। अन्तिम स्थिति तो तत्त्वसाक्षात्कार की ही है। पं. सुखलालजी लिखते है, तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है। तत्त्व-श्रद्धा तो तत्त्व-साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है, वह सोपान दृढ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[११]

सन्दर्भ

१. विशेषावश्यक भाष्य, १७८७-९०, २. अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५ ३. वही, पृष्ठ २४२५, ४. Some problems in Jaina Psychology, p.32, ५. अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड, ८, पृ. २५२५ ६. तत्त्वार्थसूत्र १.२, ७. उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३५ ८. सामायिक सूत्र, सम्यक्त्व पाठ ९. द्रष्टव्य, स्थानांग, ५.२ १०. आवश्यक निर्युक्ति, ११६३, ११. जैनधर्म का प्राण, पृ. २४

—निदेशक पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी

त्रिरत्न में सम्यग्दर्शन का स्थान

☒ डॉ. सुदर्शन लाल जैन*

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को सम्मिलित रूप से जैनदर्शन में 'त्रिरत्न' शब्द से कहा जाता है। जैसे लौकिक जीवन में 'रत्नों' का महत्त्व है वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में रत्नवत् बहुमूल्य होने से सम्यग्दर्शनादि को रत्न कहा गया है। ये केवल आध्यात्मिक जीवन के लिए ही उपयोगी नहीं हैं, अपितु लौकिक जीवन में भी इनकी गुणवत्ता असंदिग्ध है।

जैन आगमों में कहीं सम्यग्दर्शन की, कहीं सम्यग्ज्ञान की और कहीं सम्यक्चारित्र की महत्ता बतलाई गई है। परन्तु इतना निश्चित है कि इनमें से किसी का भी महत्त्व कम नहीं है। इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (१.१) सूत्र में 'मार्गः' एकवचन का प्रयोग करके तीनों को समान महत्त्व दिया है और स्पष्ट किया है कि जब तक ये तीनों युगपत् नहीं होंगे तब तक मोक्षमार्ग नहीं बनेगा। ये पृथक्-पृथक् कार्यकारी (मोक्षप्रदाता) नहीं हैं। जैनेतर ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी किसी एक से मुक्तिलाभ की चर्चा की गई है वहाँ उसके महत्त्व का प्रदर्शन मात्र है। वास्तव में जहाँ सच्ची श्रद्धा या आत्म बोध होता है वहाँ सच्चा ज्ञान और सदाचार भी होता है। इसी तरह जहाँ सच्चा ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी होता है। सम्यक्चारित्र तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एक साथ होते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता है। अतः सम्यग्दर्शन को उत्कृष्ट कहा है–

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होदि णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥–रयणसार, ४६

'सम्यग्दर्शन के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होते। इसीलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट है' ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

सम्यग्दर्शन विहीन धर्म, चारित्र, ज्ञान, तप आदि सब निरर्थक तथा अकिञ्चित्कर है, सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) सहित होने पर वे सभी यथार्थता को प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन रत्नत्रय का सार है, सुखनिधान है तथा मोक्षप्राप्ति का प्रथम सोपान है। जैसा कि कहा है-

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तयसोवाणं पढममोक्खस्स ॥– दर्शनपाहुड, २१

इसी तरह पूज्यपाद स्वामी ने सम्यग्दर्शन की पूज्यता बतलाते हुए ज्ञान और चारित्र के सम्यक्पने का उसे हेतु बतलाया है, **'अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति। कथमभ्यर्हितत्वम्? ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्।'** (सर्वार्थसिद्धि, १.१) पंचाध्यायी में कवि राजमल्ल जी ने रत्नत्रय को धर्म बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो गृहस्थधर्म संभव है और न मुनिधर्म। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सम्यक्पने का एकमात्र कारण है सम्यग्दर्शन–

---

* मन्त्री, अ.भा. दिग. जैन विद्वत्परिषद् , वाराणसी एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ -पंचाध्यायी, २.७१६
ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा ।
सदृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥-वही, २.७१७

सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपनी आत्मा में एकत्व का अनुभव करता है। वह उस आत्मा को सब कर्मों से भिन्न शुद्ध और चिन्मय मानता है। वह शरीर, सुख, दुःख, पुत्र, पौत्र आदि को अनित्य मानता है। वे कर्म के कार्य हैं ऐसा मानकर उन्हें आत्मा का स्वरूप नहीं मानता (पंचाध्यायी, २.५१२-५१३)। अतः वह भयरहित होता हुआ आत्मलीन रहता है। ऐसे उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि जीव को सिद्धों के समान शुद्ध स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कवि राजमल्ल ने स्पष्ट स्वीकार किया है-

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥-पंचाध्यायी, २.४८९

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सम्यक्त्व के साथ ज्ञान, वैराग्य एवं चारित्र अवश्यम्भावी हैं। यह अवश्य है कि जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन भी दृढ़तम होता जाता है। जहाँ सच्चा सम्यक्त्व है और सच्चा ज्ञान भी है वहाँ सदाचार तो बिना प्रयत्न के आ जाता है। इसीलिए केवलज्ञान के समय यथाख्यात चारित्र ही माना गया है।

जो व्यक्ति मुहूर्तकाल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उसे छोड़ देते हैं वे इस संसार में अनंतानंतकाल तक नहीं रहते—

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥-भगवती आराधना, ५३

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते वे अधिक से अधिक १५ (सात + आठ) भव धारण करते हैं—'अप्रतिपतित-सम्यग्दर्शनानां परीतविषयः सप्ताष्टानि भवग्रहणानि उत्कर्षेण वर्तन्ते, जघन्येन द्वित्रीणि अनुबन्ध्योच्छिद्यन्ते।' राजवार्तिक ४.२५। यदि दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय हो गया है तो या तो उसी भव में या तीसरे-चौथे भव में नियम से मोक्ष प्राप्त होता है—'दसंणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदियतुरियभवे।' क्षपणसार, १६५।

इसी महत्त्व के कारण रत्नकरण्डश्रावकाचार (३४, २८) में कहा है—'तीनों कालों और तीनों जगत् में जीवों का सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी अन्य कुछ भी नहीं है। गणधरादि देव सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल को भी भस्म से ढकी हुई चिनगारी के समान 'देव' कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३२५, ३२६) में कहा है 'सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है तथा सब सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। सम्यक्त्व से जीव इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से भी अधिक वन्दनीय होता है। व्रतरहित होता हुआ भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्गसुखों को प्राप्त करता है। 'सागारधर्मामृत' में तो यहाँ तक कहा है कि मिथ्यात्वग्रस्त चित्तवाला मनुष्य पशु के समान है तथा सम्यक्त्वयुक्त पशु मनुष्य के समान है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतसः ॥-सागारधर्मामृत, १.४

ज्ञानार्णव में विशुद्ध सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मुख्य अंग बतलाया है—

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम्।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥–ज्ञानार्णव, ६.५७

जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवांछित लौकिक सुखों को प्राप्त करता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भव्य जीवों को सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है (रयणसार, १६४)। भगवती आराधना (७३५) में भी इसे सर्व दुःखों का हरण करने वाला कहा है-'मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुःखणासयरे।' मोक्षपाहुड में इसे अष्टकर्म क्षयकर्त्ता कहा है—

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥–मोक्षपाहुड, ४

इस तरह सम्यग्दर्शन की जैन आगमों में बहुत प्रशंसा की गई है। यह प्रशंसा वास्तविक है, क्योंकि इसके बिना मोक्षद्वार ही नहीं खुलता। यदि जीव सम्यक्त्व से युक्त है तो वह ज्ञान चेतना को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कहा सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य भूमिका में यदि कर्मचेतना या कर्मफलचेतना में है तो भी वास्तव में वह ज्ञानचेतना वाला है—

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ –पंचाध्यायी, २.२७५

सम्यग्दर्शन की कई श्रेणियां हैं, जैसे—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन, औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन आदि। इन श्रेणियों के क्रम से सम्यग्दर्शन का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जाता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन से निश्चय सम्यग्दर्शन की ओर बढ़ा जाता है क्योंकि उनमें साध्य-साधक भाव है। जैसा कि द्रव्यसंग्रह की टीका (४१) में कहा है—**'व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति।'**

सम्यग्दर्शन का महत्त्व न केवल जैनदर्शन में स्वीकृत है अपितु बौद्ध, वेदान्त आदि सभी दर्शनों में इसको मूल आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्यग्दर्शन वह रत्न है जिसके बिना सब रत्नाभास हैं और जहाँ सम्यग्दर्शनरूप पारसमणि है वहां लोहरूप ज्ञान और चारित्र भी स्वर्णवत् सम्यक् हो जाते हैं। यही सम्यग्दर्शन का महत्त्व है।

–१, सी.एस. कॉलोनी, बी.एच.यू. वाराणसी

चक्खुदो मग्गदो लोए; सरणभयबोधिदो।
जीवदो जो य भव्वाणं, सो जिणो देववंदिओ ॥

जिनेन्द्र देव ही इस संसार में भव्य जीवों के लिए निर्मल (अन्तः) चक्षु प्रदान करते हैं, वे ही सच्चे मार्गदर्शक हैं। वे ही शरण में आए हुए जीवों को निर्भय बनाते हैं और बोधि प्रदान करते हैं। वे ही जीवों को संयम रूप जीवन दान देते हैं। अतः वे जिनेन्द्र देव देवों द्वारा पूज्य हैं।

–आचार्य श्री घासीलालजी म.सा.

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता

☐ जशकरण डागा*

डागाजी ने अपने इस लेख में सम्यग्दर्शन की दुर्लभता पर प्रकाश डालने के साथ क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य एवं करणलब्धि का भी विवेचन किया है।—सम्पादक

दुर्लभ सम्यग्दर्शन

लभंति विउला भोए, लभंति सुरसंपया।
लभंति पुत्त-मित्तं च, एगो धम्मो न लब्भई ॥

'इस आत्मा ने चक्रवर्तियों के जैसे विपुल भोग व देवेन्द्रों जैसी विपुल सम्पत्ति भी अनेक बार प्राप्त की। पुत्र, मित्र आदि भी अनेक बार मिले, किन्तु एक दुर्लभ धर्म (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति नहीं हुई।' कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि इस दुषमकाल में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवलज्ञान के समान दुर्लभ है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम जीव के विकास क्रम को समझना आवश्यक है जो संक्षेप में यहां दिया जा रहा है[१]।

१. अव्यवहार राशि (जहां से जीव का विकास आरंभ होता है) २. व्यवहार राशि (३) कृष्ण पाक्षिक (४) भव्यत्व (स्वयं मोक्षगमन की योग्यता) (५) चरमावृत्त प्रवेश (इसमें आने पर महापाप के प्रति उदासीनता व पापप्रवृत्तियों में भी कुछ मंदता आ जाती है। इस भूमिका पर एक पुद्गल परावर्तन काल संसार-भ्रमण शेष रहता है।.(६) द्विबंधक-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ४० कोटाकोटि की दो बार से अधिक नहीं बांधता है। (७) सकृत् बंधक—उत्कृष्ट स्थिति के कर्म एक बार से अधिक नहीं बांधता है। (८) अपूर्व बंधक (९) मार्गपतित—मार्ग के निकट आना। (१०) मार्गाभिमुख (११) मार्गानुसारी जीवन (१२) मंद मिथ्यात्वी (१३) अर्धचरमावृत्त प्रवेश (१४) शुक्ल पाक्षिक—यह कृष्ण (काले) कृत्यों के प्रति गहरा आकर्षण न रहने पर होता है तथा अर्धपुद्गल परावर्तन काल संसार-भ्रमण शेष रहता है। (१५) यथा-प्रवृत्तिकरण—इसे कोई जीव चरमावृत्त प्रवेश से पूर्व भी कर लेते हैं-अभव्यजीववत्। (१६) अपूर्वकरण (१७) अनिवृत्तिकरण (१८) उपशम सम्यक्त्वी (१९) परिमित संसारी (२०) सास्वादानी (२१) मिश्र दृष्टि (२२) सुलभ बोधि (२३) क्षयोपशम या क्षायिक सम्यक्त्वी (२४) आराधक (२५) देश विरति (२६) सर्व विरति (२७) चरम शरीरी।

उपर्युक्त विकास क्रम को विशेष गति देने के मुख्य तीन उपाय कहे गए हैं—

१. चतुःशरण गमन (अरहंत, सिद्ध, साधु व धर्म)।

२. दुष्कृत गर्हा—कृत पापों की निंदा करना।

३. सुकृत अनुमोदन—पुण्यात्माओं द्वारा किए गए सुकृत अनुष्ठानों की प्रशंसा करना। जैसे पंच परमेष्ठी भगवंतों के सुकृतों की अनुमोदना करना।

---

* प्रमुख स्वाध्यायी एवं आगम-अध्येता

'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति के लिए चारों गतियों में मनुष्य गति सर्वाधिक अनुकूल है। किन्तु मनुष्य भव की प्राप्ति को भी दुर्लभ बताया गया है। अव्यवहार राशि से निकलने के अनन्तर जीव को सामान्यतः नवघाटियां पार करने के पश्चात् संज्ञी पंचेन्द्रियपना प्राप्त होता है। नव घाटियां हैं—पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और एक असंज्ञी पंचेन्द्रियपना। फिर संज्ञी पंचेन्द्रिय में भी तिर्यंच, नारक व देव में अनेक जन्म-मरण करते हुए अनंत पुण्योदय से कभी मनुष्य का भव मिलता है। इस प्रकार से एक मनुष्य भव के पीछे असंख्य नारकी भव, एक-एक नारकी भव के पीछे असंख्य देव-भव और एक—एक देव भव के पीछे अनंत-अनन्त तिर्यंचभव लगे हुए हैं। इससे मनुष्य भव की दुर्लभता पर चिंतन किया जा सकता है।

'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति इस मनुष्य भव की प्राप्ति से भी अति दुर्लभ है। अनादिकाल से अव्यवहार राशि में रहे अनंतानंत एकान्त मिथ्यात्वी जीवों में से समय-समय पर कुछ जीव, व्यवहार राशि के कुछ जीवों के सिद्ध होने पर उसी परिमाण में अकाम निर्जरा के प्रभाव से अव्यवहार राशि से निकल कर व्यवहार राशि में आते हैं और क्रम से पांच लब्धियों को प्राप्त करने पर ही महा दुर्लभ 'सम्यक्त्वरत्न' को प्राप्त कर पाते हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति में इन लब्धियों का विशेष महत्त्व होने से इनका संक्षिप्त स्वरूप यहां पर दिया जा रहा है।

पाँच लब्धियाँ

'लब्धि' शब्द का अर्थ प्राप्ति है। जो सम्यक्त्व उपलब्ध होने के योग्य सामग्री की प्राप्ति करावे, वे पांच लब्धियां[२] इस प्रकार हैं-

१. **क्षयोपशम लब्धि**—कर्मों का वह क्षयोपशम जिसके होने पर तत्त्व विचार हो सके, उसे 'क्षयोपशम लब्धि' कहते हैं। अनादि काल से जीव मिथ्यात्व वश संसार में भ्रमण करता रहता है। मिथ्यात्वदशा में ही जीव भटकते-भटकते कभी विशेष अकाम निर्जरा और शुभ संयोगों से अध्यवसायों में प्रशस्तता आने से ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को प्रति समय अनंत-अनंत गुणा न्यून करता-करता क्रम से विकास को प्राप्त हो, ऊपर आता है। सामान्यतः वह एकेन्द्रिय से उपर्युक्त नव घाटियां पार करते हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करता है। तब वह जीव सम्यक्त्व-विरोधी घनीभूत कर्मों को पर्वत से चट्टानों की तरह विदीर्ण कर पृथक् करता है। जीव के अकाम पुरुषार्थ व शुभ अध्यवसायों से प्राप्त ऐसी प्रशस्त दशा को 'क्षयोपशम लब्धि' कहते हैं। अव्यवहार राशि व निगोद से निकलने में इस लब्धि के परिणामों की मुख्यता रहती है। इस भूमिका पर जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य अनुकूल आवश्यक सामग्री—पंचेन्द्रिय संज्ञीपना आदि प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम भी जीव कर लेता है। वैसे समझने योग्य सामान्यबोध ज्ञान का क्षयोपशम तो प्रत्येक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को होता है। किन्तु जो जीव अपने उस ज्ञान का उपयोग तत्त्व (आत्मा) के निर्णय व उत्थान करने में लगावे, उन्हें ही यह क्षयोपशम लब्धि होती है।

२. **विशुद्धि लब्धि**—जीव को अनंत भव-भ्रमण कराने वाले कर्मों में मन्दता व न्यूनता

आने से परिणामों में कुछ विशुद्धि प्रकट होती है। जिससे देह तथा भोगों के प्रति तीव्र आसक्ति व कषायों में उग्रता कम हो जाती है। इस लब्धि के प्राप्त हो जाने से जीव के परिणाम कुछ इस प्रकार के होते हैं—'मेरे जीवन का अंत तो सुनिश्चित है, फिर मैं कहां जाऊंगा? इस जन्म-मरण के चक्र का अंत कैसे हो? इस लोक में तो अनंतानंत जीव हैं, उनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अत्यल्प हैं। उनमें भी मनुष्य कितने हैं? मनुष्यों में भी दश बोल-(१. मनुष्य २. आर्य क्षेत्र, ३. उत्तम कुल, ४. पूर्ण इन्द्रिय ५. लम्बी आयुष्य ६. नीरोगता ७. संत समागम ८. शास्त्र—श्रवण ९. सम्यग् श्रद्धा व १०. संयम में पराक्रम) प्राप्त जैन कितने हैं? फिर उनमें भी अपने ज्ञान व पुरुषार्थ को तत्त्वार्थ (मोक्ष) हेतु लगाने वाले जीव कितने हैं? मैं किस भूमिका पर हूँ? पुण्योदय से सब कुछ मिला। अतः अब समय व्यर्थ न खोकर के धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसकी पालना करना उचित है, जिससे इच्छित फल प्राप्त कर सकूँ। जब अंतर में ऐसे प्रशस्त भाव पैदा हों तो उसे 'विशुद्धि लब्धि' समझना चाहिए।

३. **देशना लब्धि**—'देशना' अर्थात् मोक्षप्राप्ति का उपदेश। किसी विशिष्ट ज्ञानी से जीव को सम्यक्त्व पोषक गूढ़ तत्त्व ज्ञान रूप देशना गंभीरता से सुनने की आन्तरिक रुचि जागृत होती है। वह सत्संग के माध्यम से द्रव्यों और तत्त्वों का ज्ञाता होता है। ऐसी भूमिका उपलब्धि हेतु देशना उपदेशक सर्वोत्कृष्ट—अरिहन्त, मध्यम—आचार्य, उपाध्याय, मुनि एवं जघन्य—आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष होते हैं। यह देशनालब्धि पांच प्रकार की होती है-१. श्रवण २. ग्रहण ३. धारण ४. निर्धारण व ५. परिणमन। अतः मात्र देशना श्रवण करने का नाम ही देशना लब्धि नहीं है। वरन् चिंतनपूर्वक श्रवण के बाद उसका सम्यग्ग्रहण, धारण आदि हो, उसे देशना लब्धि कहते हैं। इस भूमिका पर जीव कर्मों की शिलाखण्ड रूप दीर्घ स्थिति को कम कर लोढ़ी (बट्टी) वत् अल्प कर लेता है।

४. **प्रायोग्य लब्धि**—जब जीव देशना लब्धि से अपने ज्ञायक स्वरूप को समझ लेता है, तो उसमें पर ज्ञेयों का आकर्षण छूट जाता है। वह समभाव व संतोषवृत्ति का धारक हो जाता है। किन्तु अनन्तानुबंधी कषाय अंतर में बनी रहती है। गहन चिंतन से उसका उपयोग पर से हटकर, आत्मा के सन्मुख उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने लगता है। आत्मा के ऐसे प्रशस्त बने भावों की भूमिका को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। इस भूमिका पर वह व्यावहारिक व्रत-प्रत्याख्यान, तप-त्याग करके कर्मों के तीव्ररस को मंद करता है, और पूर्व में रहे लोढी कर्मों को भी पचेटेवत् लघु कर लेता है। वह आयु कर्म को छोड़ शेष सातों कर्मों की स्थिति को अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण सीमित कर लेता है।

५. **करण लब्धि** - आत्मा के सम्यक्त्व ग्रहण के अनुकूल विशेष प्रशस्त परिणामों को करण लब्धि कहते हैं। इसे प्राप्त करने के बाद ही जीव सम्यक्त्वी बनता है। इसकी पूर्ण उपलब्धि के लिए चारों गतियों में से किसी गति का जीव हो, किन्तु

भव्य हो, संज्ञी हो, पर्याप्तक हो , निर्मल परिणाम वाला हो, ज्ञानोपयोग वाला हो, जाग्रत हो और शुभ लेश्यावाला हो ये सब आवश्यक हैं[३] । इस करण लब्धि के तीन भेद हैं–

(i) यथाप्रवृत्तिकरण (अध:प्रवृत्तिकरण)–इसमें जीव आयु कर्म को छोड़ शेष सातों कर्मों की स्थिति को पूर्व में रही प्रत्येक कर्म की अन्त:कोटाकोटि सागरोपम स्थिति को भी कुछ कम कर उसे पचेटे से बोर परिमाण कर लेता है। इस दशा में वह अंतर में रही अनादिकालीन राग-द्रेष की अभेद्य प्रगाढ ग्रंथि को अनुभव करने लगता है। किन्तु वह उसका भेद करने में सक्षम नहीं होता है। वह अपने चेहरे रूप आत्मा पर लगे प्रगाढ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के दाग-धब्बों की भी भावों से अनुभूति करता है। कोई अभव्य जीव भी विशिष्ट पुरुषार्थ से ज्ञान क्रिया का अभ्यास करते हुए पूर्व की चार लब्धियां प्राप्त कर करणलब्धि के इस प्रथम भेद तक भूमिका को प्राप्त हो जाता है। अभव्य जीव वे होते हैं जिनमें मोक्ष जाने की क्षमता (योग्यता) स्वभाव से नहीं होती है। ये जीव थोड़े होकर भी जघन्य युक्तानंत हैं इस करणलब्धि के जीव नीचे से परिणाम विशुद्ध करते-करते ऊपर बढते हैं, जिससे इसे अध:प्रवृत्तिकरण भी कहते हैं। यथा प्रवृत्तिकरण भव्य अभव्य दोनो जीवों को ही अनंतबार होता है। इस भूमिका तक को प्राप्त कोई कोई जीव नवपूर्व ज्ञान तक के धारी हो, व्यवहार समकित के सभी लक्षणों से युक्त हो अनेक बार मुनिलिंग धारण कर कठोर तप व शुद्धाचार की पालना कर अंत में संलेखना संथारा ग्रहण कर नवग्रैवेयक तक पहुंच कर महान् ऋद्धिशाली देवलोकों के भोक्ता इन्द्र भी बनते हैं। किन्तु सम्यक्त्व से रहित होने से संसार-चक्र का एक भव भी कम करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। जैसे बिना अंक की बिंदियों का कोई महत्त्व नहीं, वैसे ही बिना सम्यग्दर्शन के ऐसे जीवों की साधना का कोई सार नहीं बताया है।

(ii) अपूर्वकरण–इसमें जीव के अपूर्व और विशिष्ट निर्मल भाव प्रकट होते हैं जो जीवन में कभी-कभी किसी के कदाचित् ही होते हैं। अपूर्वकरण से रागद्रेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य में आग्रह) की बाधक है। ऐसी राग-द्रेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा 'सत्य' के लिए जागृत हो उसका उपासक बन जाता है। विशिष्ट निर्मल परिणामों से वह पूर्व में रहे बोर परिमाण कर्मों को मूंग समान बना लेता है। इसमें जीव रागद्रेष की अभेद्यग्रंथि के निकट आकर उसे तोड़ने की रुचि वाला होता है। कुछ आचार्यों की मान्यतानुसार इसमें ग्रंथि-भेद आरंभ करने व कुछ आचार्यों के अनुसार ग्रंथि-भेद पूर्ण करने की स्थिति बनती है। यहां जीव को मोक्ष प्राप्त करने की अंतरंग रुचि नियम से प्रकट होती है और संसार से विरक्ति होने लगती है। वह विशिष्ट चिंतन भी करता है। जैसे-

> "लक्ष्मी अने अधिकार वढ़ता, शुं बढ़यो ते तो कहो ?
> शुं कुटुम्बने परिवार ने वढ़वा पणु, ए नहीं कह्यो।
> वढ़वा पणु संसार नुं, नर देह ने हारी जयो,
> एवो विचार नहीं अहो हो ! एक पल तुमने हुवो ॥[४]

(iii) अनिवृत्तिकरण–यह अपूर्वकरण के अनन्तर होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना तीसरा करण निवृत्त नहीं होता। इसलिए इसका नाम 'अनिवृत्तिकरण' कहा

गया है।[५] इस भूमिका पर जीव के परिणाम इतने निर्मल हो जाते हैं कि वह अपूर्व बल-सामर्थ्य प्रकट कर शेष रहे मूंग परिमाण कर्म दलिकों को बजरीवत् चूर्ण करता हुआ नियम से दर्शन सप्तक प्रकृतियों का (अनंतानुबंधी चतुष्क व दर्शन त्रिक) का उपशम, क्षयोपशम या क्षय करते हुए ग्रंथिभेद करता है जिससे आत्मा के अत्यन्त निर्मल विशुद्ध भाव प्रगट होते हैं और अंतर में तत्त्वसंवेदन से अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है । इस सम्यक्त्व के स्पर्श करते ही जीव अनंत संसारी से परीत संसारी हो जाता है। उसके भव भी सीमित हो जाते हैं। किन्तु जिन जीवों की भव स्थिति देशोन अर्ध पुद्गल परावर्तन काल की शेष होती है, उन्हें तो सम्यक्त्व स्पर्श करने के बाद भी नियम से पुनः मिथ्यात्वी हो अनंत भवों तक संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है।

उपर्युक्त पांच लब्धियों में काल व देशना लब्धि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में बहिरंग कारण व शेष तीन लब्धियां अंतरंग कारण होती हैं।[६]

अंत में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, इसे व्यक्त करने वाला स्तवन दिया जा रहा है जो तत्त्व दृष्टि से चिंतनीय है–

समकित नहीं लियो रे, यो तो रुलयो चतुर्गति मांहि ॥टेर॥

त्रस स्थावर की करुणा कीनी, जीव न एक विराध्यो।

तीन काल सामायिक की, पण शुद्ध उपयोग न साध्यो ॥१॥

झूठ बोलने को व्रत लीनो, चोरी को भी त्यागी।

व्यवहारादिक में कुशल भयो, पर अन्तर दृष्टि न जागी ॥२॥

निज-पर नारी त्याग न करके, ब्रह्मचर्य व्रत लीधो।

स्वर्गादिक या को फल पाये, निज कारज नहीं सीधो ॥३॥

ऊर्ध्व भुजा करी ऊंधो लटके भस्मी रमाय धूम गटके।

जटा जूट सिर मूंडे झूंठो, श्रद्धा विन भव भटके ॥४॥

द्रव्य क्रिया सब त्याग परिग्रह, द्रव्यलिंग धर लीनो।

'देवीचन्द' कहे इण विधि तो हम, वहुत वार कर लीनो ॥५॥

सन्दर्भ

१. 'आत्म-तत्त्व विचार' से

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६५० एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन अ. ६

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, ६५०

४. श्रीमद् राजचन्द्र के पदों से

५. समर्थ समाधान, भाग १, पृ. २७

६. आचार्य जिनसेन के मतानुसार

–डागा सदन, संघपुरा, टोंक (राज.)

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप

☒ डॉ. यशोधरा वाधवाणी शाह*

डॉ. (श्रीमती) वाधवानी ने तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी विभिन्न टीकाओं का आधार लेकर सम्यग्दर्शन का इस लेख में गम्भीर दार्शनिक विवेचन किया है। डॉ. वाधवानी का यह लेख जिज्ञासु पाठकों के लिए अतीव उपयोगी है। इसमें तत्त्वार्थभाष्य, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एवं तत्त्वार्थवृत्ति का मुख्यतः उपयोग किया गया है।—सम्पादक

यह बात तो सर्वविदित है कि ब्राह्मण धर्म की कर्मकांड-बहुलता तथा जीव हिंसा के विरोध में ईसवीय सन् से अनेक सहस्र पूर्व भारत में अहिंसावादी जैन परंपरा का उदय हुआ, और एक के बाद एक २४ तीर्थंकरों ने ततत्कालीन 'प्राकृत' लोकभाषाओं के माध्यम से इस दिशा में जनता का उद्बोधन किया, जो अधिकतर प्रश्नोत्तर रूप में होता था। अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के पश्चात् गणधरों ने अपनी स्मरणशक्ति के आधार पर उन सारे उपदेशों को आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि सूत्रग्रन्थों में संकलित किया। इन्हीं 'अंगप्रविष्ट' धर्मग्रन्थों को अब 'जैन आगम' कहा जाता है। परन्तु इन प्राकृत आगमों से जैन तत्त्वदर्शन के सिद्धान्तों का नियमबद्ध, तर्कप्रतिष्ठ, निःसंशय बोध नहीं हो पाता था। उन्हें वैसे रूप में व्यवस्थित करके, अन्य भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों के समकक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास जैन परंपरा में सबसे पहले ई. १०० के आसपास तत्त्वार्थसूत्र नामक संस्कृत-ग्रन्थ में दृग्गोचर होता है।

समग्र जैन साहित्य में संस्कृत की धारा को शुरू करने वाला यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र लघुकाय है, तथापि अपने प्रतिपाद्य तात्त्विक विषय की विवेचना एवं संकलना सूत्रशैली में ऐसी उत्तम कुशलता से करता है कि जैन परंपरा के सभी संप्रदायों में इसे समान आदर से अपनाया जाता रहा है। केवल एक दार्शनिक ग्रन्थ के रूप में ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक शिक्षा के मूलग्रंथ के रूप में भी। किं बहुना, जो मूर्धन्य स्थान मुसलमानों में कुरान को, ईसाइयों में बाईबल को एवं वैदिक-परम्परा में भगवद्गीता को प्राप्त है, वही जैन परंपरा में तत्त्वार्थसूत्र का माना गया है।[1]

ऐसे इस उत्तम प्रमाणभूत ग्रंथ के महान् रचयिता के बारे में विवाद हो, यह स्वाभाविक तो है, पर दुर्भाग्यपूर्ण भी। उत्तर भारत एवं श्वेतांबर जैन सम्प्रदाय में उनका नाम 'वाचक' परंपरा का 'आचार्य उमास्वाति' माना जाता है और उन्हीं को तत्त्वार्थसूत्र का भी कर्ता माना जाता है। परन्तु दक्षिण भारत[2] एवं दिगंबर जैन संप्रदाय में उनका नाम 'उमास्वामी' बताते हुए, इन्हें आचार्य कुन्दकुन्द का शिष्य गिनाया जाता है। और उन दिगंबर गुरु की तरह उनके नाम के साथ भी (वाचक की बजाय) 'गृद्धपिच्छ' उपनाम जोड़ा जाता है। उमास्वाति का इस सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य भी है। करीब विक्रम की ५वीं (या ८वीं) शती में श्वेताम्बर आचार्य श्री सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य पर अपनी 'टीका' लिखी, तो दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद देवनंदी ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक वृत्ति स्वतंत्र रूप में लिखी। इसी पर विक्रम की ९वीं शती के आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्त्तिक और ८वीं शती के आचार्य

---

* सहायक सम्पादक, संस्कृत महाशब्दकोश, डेकन कॉलेज, पूना

विद्यानंदी ने श्लोकवार्त्तिकलंकार नामक टीका ग्रंथों की रचना की। अनेक शतकों बाद श्री श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति और २०वीं शती में पंडित सुखलालजी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र विवेचन भी इसी पर लिखे। मूल ग्रन्थकर्ता का काल 'वीरात् ४७१ वर्ष' यानी वि.सं. के प्रारंभ के लगभग माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी परवर्ती ग्रंथ-परंपरा के बारे में उपर्युक्त जानकारी के पश्चात्, उसमें 'सम्यग्दर्शन' की परिकल्पना का विचार-विवेचन करने हेतु हमें इस लोकप्रिय ग्रंथ के उन सूत्रों का गहराई से अध्ययन करना होगा, जिनमें यह शब्द (सम्यग्दर्शन) या इसकी ओर दिशा निर्देश प्राप्त होता है। इनमें से सर्वप्रथम है– तत्त्वार्थसूत्र, १.१, जहां ग्रंथारम्भ में ही सम्यग्दर्शन शब्द प्रयुक्त हुआ है और संपूर्ण सूत्र का पाठ इस प्रकार है : **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"** इस सूत्र पर रचित भाष्य एवं सभी टीकाओं को ध्यान से पढ़ें तो ज्ञात होता है कि यहां सम्यग्दर्शन शब्द में मौजूद विशेषण 'सम्यक्' इतरेतर द्वन्द्व समास के प्रत्येक पद के साथ (यानी ज्ञान और चारित्र के साथ भी) संबद्ध होता है। अतः सूत्र का प्रारंभिक फलितार्थ है : "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों सम्मिलित रूप में[3] (आत्मा के) मोक्ष का मार्ग हैं (और बन सकते हैं)।"

मोक्षमार्ग के तीनों अंगों के साथ संलग्न इस 'सम्यक्' विशेषण का अर्थ सबसे पहले जान लेना आवश्यक है। इस संदर्भ में तत्त्वार्थसूत्रकार के स्वोपज्ञ माने गए तत्त्वार्थभाष्य का कथन है : (पृ. २५.१) 'सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः, समञ्चतेर्वा भावः।" करीब-करीब इसी बात को दूसरे शब्दों में पूज्यपाद देवनंदी का यह कथन प्रकट करता है: **'सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो, व्युत्पन्नो वा। अञ्चतेः क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति। अस्यार्थः प्रशंसा (प्रकृते ग्रंथे)** " किन्तु दोनों विधानों में साम्य होते हुए भी कुछ महत्त्वपर्ण भेद हैं। साम्य यह है कि दोनों में सम्यक् विशेपण को या तो एक निपात यानी अव्युत्पन्न शब्द माना गया है या फिर वैकल्पिक रूप में व्युत्पन्न, और दूसरे विकल्प में उसकी व्युत्पत्ति 'सम्' उपसर्ग लगे अञ्च् धातु (को पूज्यपाद के कहे मुताबिक 'क्वि' अर्थात् 'क्विप्' प्रत्यय लगने) से होती है और भेद यह है कि पूज्यपाद दोनों ही रूपों में सम्यक् विशेषण को 'प्रशंसा' का अर्थ जताने वाला मानते हैं, '(सत्य हकीकत (तत्त्व)' या 'इष्ट' अर्थ जताने वाला नहीं, जबकि तत्त्वार्थभाष्य में केवल निपात रूप अव्यय 'सम्यक्' को प्रशंसा का अभिधायक माना गया है और व्युत्पन्न 'सम्यक्' को 'सम्+अञ्च्' का भाव प्रकट करने वाला।

वह भाव क्या है, इसका स्पष्टीकरण हमें तत्त्वार्थभाष्य पर लिखी गई आचार्य सिद्धसेन की टीका से मिलता है। (बम्बई १९२६, पृ. ३०) **'समञ्चति गच्छति व्याप्नोति सर्वान् द्रव्यभावानिति सम्यक् (दर्शनम्) । एवमेते जीवादयोऽर्थाः यथा नयसामग्र्या जैनैराख्यायन्ते... कथञ्चित्सन्ति कथञ्चिन्न सन्ति। कथञ्चिन्नित्याः कथञ्चिदेवानित्याः द्रव्यपर्यायनयद्वयप्रपञ्चापेक्षया...। एवं च तत्र यदा दृष्टिः प्रवर्तते तदा सम्यगिति कथ्यते।'** तात्पर्य, "जीवादि पदार्थ द्रव्यनयकी अपेक्षा से सत् नित्य आदि हैं, पर उन्हीं के पर्याय रूप असत्, अनित्य आदि हैं, ऐसे जैनोक्त यथार्थरूप में जो दृष्टि सभी भावरूप द्रव्यों में व्याप्त (या व्यापृत) होती है, वही 'सम्यक् दर्शन' है। सिद्धसेन यहां

आगे कहते हैं कि द्रव्य-पर्याय-नय की दृष्टि से विचार करना शास्त्र के अध्ययन-अभ्यास द्वारा संभव होता है और उसके लिए गुरूपदेश आवश्यक होता है, अतः सम्यग्दर्शन का यह वैकल्पिक व्युत्पन्न अर्थ उसके उस दूसरे प्रकार को परिलक्षित करता है जिसे तत्त्वार्थसूत्र, १.३ **(तन्निसर्गादधिगमाद्वा)** में 'अधिगमज' कहा है।

अर्थात्, उपरिलिखित सूत्रगत सम्यग्दर्शन का पहला प्रकार जो नैसर्गिक या स्वभाव सहज कहा गया है, उसी का निर्देश तत्त्वार्थभाष्य, १.१ में बताए गए 'सम्यक्' शब्द के पहले अव्युत्पन्न या नैतापिक 'प्रशंसार्थ' से हुआ है, ऐसा भी सिद्धसेन प्रतिपादित कर ही चुके हैं, उन्हीं के शब्दों में **'प्रशंसा अविपरीतता यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदिता, साभिधेया वाच्यास्येति प्रशंसार्थः। इदं च किल निसर्गसम्यग्दर्शनाङ्गीकरणात् व्याख्यानमव्युत्पत्तिपक्षाश्रयं परिगृह्यते, यतस्तत् पूजिततरं, स्वत एवोपजायमानत्वात्।...'** **सारांश**–'परोपदेशकमूलक शास्त्राध्ययन के बिना निसर्गतः ही उत्पन्न होने वाला पदार्थों का सही-सही दर्शन अधिक सम्मान या प्रशंसा का पात्र है, अतः उसी का निर्देश 'सम्यक्' के प्रशंसापरक अव्युत्पन्न अर्थ से मानना चाहिए।

'प्रशंसा' तथा 'समञ्चति' का इस प्रकार का अर्थघटन श्री सिद्धसेन गणि का अपना मौलिक है, जो और किसी पूर्वाचार्य ने नहीं दिया, यह बात यहां विशेष उल्लेखनीय है।

अस्तु अभी तक 'सम्यक्' शब्द की चर्चा में उलझे रहने के कारण हम 'दर्शन' के तत्त्वार्थसूत्र गत अर्थ का विचार नहीं कर पाए हैं। अब उसीकी ओर लक्ष्य केन्द्रित करें। वैसे, यह शब्द प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होने के कारण सबका परिचित है, किन्तु अधिक उपयोग के कारण इसकी अर्थच्छटाएं भी अनेक हैं।

१. मूलतः यह दृश् (देखना) धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर बना है, इसका व्युत्पत्त्यर्थ बताते हुए सर्वार्थसिद्धि (पृ. ६.१) में कहा गया है **'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्'** अर्थात् 'दर्शन' का अर्थ (कभी कभी 'दोषदर्शन' जैसे समासों में) 'देखने वाला' यानी कर्तृवाची होता है, या तो करणवाची 'देखने का साधन, जैसे आंख' या फिर 'भाव' यानी क्रियावाची, जैसे 'देखने की क्रिया, दृष्टि, इत्यादि।'

२. इसी अंतिम अर्थ को जरा विस्तारित करके, ज्ञान की मीमांसा करने वाले प्राचीन भारतीय तत्त्वचिंतकों ने कभी 'इन्द्रिय-संवेदना मात्र यानी आलोचन अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' को, तो कभी तन्मूलक (चाक्षुष आदि) सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान को परिलक्षित करने हेतु 'दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है।

३. उपर्युक्त द्वितीय अर्थ का और भी विस्तार करते हुए, किसी विषय के सही (यथातथ) मानसिक आकलन या आंतरिक साक्षात्कार को, जिसमें शंका, भ्रम, मतभेद आदि को कोई स्थान न हो, उसे भी 'सम्यक् दर्शन' कह सकते हैं। शायद इसी अर्थ की ओर इंगित करते हुए तत्त्वार्थभाष्य, १.१ (पृ. ३६.१-३) में कहा गया है **'(सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः। समञ्चतेर्वा भावः) दर्शनमिति दृशेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिः।'** (प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। सङ्गतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम्)' इसी वाक्य को प्रकारान्तर से सिद्धसेन ने यों कहा है **'दृष्टिर्या अविपरीतार्थग्राहिणी जीवादिकं विषयमुल्लिखन्तीव प्रवृत्ता सा सम्यग्दर्शनम्'** और

अव्यभिचारिणी की विशेष स्पष्टता करते हुए लिखा है **'या सर्वान् नयवादान् साकल्येन परिगृह्य प्रवृत्ता'** 'जो सभी दृष्टिकोणों को लेकर, समग्रतया सभी जीवादि पदार्थों का, (चाहे वे इन्द्रियों के, अनिन्द्रिय मन के या ओघ ज्ञान के विषय हों, उन सभी का) अविपरीत यानी यथार्थरूप में ग्रहण करती है, ऐसी दृष्टि (अर्थात् प्रबल मानसिक प्रतीति या सुस्पष्ट साक्षात्कार) 'सम्यग्दर्शन' है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष यानी स्थूल तथा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष यानी सूक्ष्म दोनों प्रकार के विषयों/तत्त्वों के विषय में इस प्रकार की यथातथ प्रबल प्रतीति ही (आगे चलकर) दृढ़ विश्वास या श्रद्धा को जन्म देती है या उसीका रूप धारण कर लेती है, और शायद इसी कारण तत्त्वार्थसूत्र, १.२ में व्याख्या दी है **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'**।[५] यानी, सम्यक् = तत्त्वार्थ, और दर्शन = श्रद्धान।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धि (पृ. ८.३-५) में कहा है **'तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची (अत्र) कथम् ? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? (अर्थस्य) योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। अथवा तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः**। और आगे (वही, पृ. ९.१-२) **तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम्। तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादिः**। सारांश 'जिसका निश्चय किया जाता (या किया जाना) है वह प्रमेय अर्थ कहलाता है, और जो अर्थ तत्त्व (जैसा है उसी यथार्थ या अविपरीत रूप में पाया जाता हो या रहता हो यानी स्वयं तत्त्व ही हो, वह होगा तत्त्वार्थ; जैसे, जीव आदि पदार्थ; और ऐसे यथाभूत विद्यमान पदार्थों के (विषय में) श्रद्धान को सम्यग्दर्शन जानना चाहिए।

सर्वार्थसिद्धि का उपर्युक्त अर्थघटन तत्त्वार्थभाष्य (पृ. ३२.९-११) गत व्याख्यान से मिलता जुलता ही है, फिर भी हम यहां तत्त्वार्थभाष्य को बाद में उद्धृत कर रहे हैं, केवल इस हेतु से कि तत्पश्चात् तुरन्त तदुपरि-लिखित टीका भी ले सकें। जैसे तत्त्वार्थसूत्रभाष्य में कथन है **'तत्त्वानामर्थानां श्रद्धानं, तत्त्वेन वा अर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं, सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः।'** इस पर सिद्धसेन स्पष्टता करते हैं कि (यहां) तत्त्व यानी (तात्त्विक, यानी) अविपरीत, अर्थात् स्याद्वाद के सिंह (समान समर्थ सर्वश्रेष्ठ) प्रतिपादकों के निरूपण का उल्लंघन/अतिक्रमण किए बिना स्थित, ऐसे अर्थ यानी पदार्थ (जो अपने अपने ग्राहक ज्ञानों द्वारा ग्रहण किए जा सकते है), उनके संबंध में श्रद्धान, अथवा भाष्योक्त त्रिपद-तृतीया तत्पुरुष, जो (व्याकरण की दृष्टि से) असंभव है, उसको हम इस प्रकार समझेंगे, 'अर्थों का श्रद्धान = अर्थ श्रद्धान, और तत्त्वतः यानी भावसे अर्थात् मातापितादि के जोर देने पर नहीं और न ही धनादिका लाभ होने की अपेक्षा से, अपितु अपने आप सच्चे दिल या मनोभाव से जिनोक्त पदार्थों के यथार्थ रूप के प्रति समुचित श्रद्धान, यानी अभिप्रीति अथवा रुचि, जो वैसे ही ज्ञान एवं चारित्र से जुड़कर मोक्षका सम्मिलित कारण बने, वही सम्यग्दर्शन है। अथवा 'संगत दर्शन' यानी जिनवचनानुसार तत्संगत विचार करना ही 'सम्यग्दर्शन' है।

अब 'दर्शन' का ऐसा अर्थ स्वीकारने के विरोध में किसी की आपत्ति भी सर्वार्थसिद्धि (पृ. ९.३) में दर्ज की गई है। **'दृशेरालोकार्थत्वात्'** अर्थात "दृश धातु से बने

दर्शन शब्द का अर्थ 'आलोक' है, जिससे (ज्ञान का बोध तो हो सकता है पर) श्रद्धान रूप अर्थ का बोध नहीं हो सकता।" उत्तर में पूज्यपाद ने बताया है कि "धातुओं का अर्थ" न तो कोई एक होता है, न अतिसीमित, उलटे वह तो) अनेक (अर्थच्छटाओं वाला) होता है; अतः दर्शन का अर्थ श्रद्धान मानने में कोई दोष नहीं है। परन्तु विरोधी फिर भी आपत्ति उठाता है, कि विशेष अनिवार्य कारण के बिना किसी धातु/शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ देना उपयुक्त नहीं होता। यहां ऐसा कौन-सा कारण है? **उत्तर**-क्योंकि यहां (तत्त्वार्थसूत्र, १.१ में) प्रकरण मोक्ष मार्ग का है, और वहां चक्षु आदि के निमित्त से होने वाला[६] 'रूपी' द्रव्यों का क्षायोपशमिकज्ञान रूप आलोक, जो साधारण रूप से सभी संसारी जीवों में पाया जाता है, यह मोक्ष के उपाय का एक अंग बन नहीं सकता। तद्विपरीत, 'भव्य' जीवों (में से भी 'आसन्नभव्य' जीवों) में पाया जाने वाला जीव आदि अरूपी तत्त्वों का श्रद्धान बनने वाला आत्मपरिणाम[७] मोक्षोपाय बन सकता है। सम्यग्दर्शन को 'तत्त्वार्थश्रद्धान, तथा 'आत्म-परिणाम' मानने के विरुद्ध एक शंका (एकदेशी जैनों के भी) मनमें उठ सकती है, जिसे अभिव्यक्ति देकर उसका समाधान तत्त्वार्थसूत्र, १.२ पर रचित वार्तिक ९-१६ में आ. अकलंक ने दिया है। शंका कुछ इस प्रकार की है; "आगे 'निर्देशस्वामित्व...' आदि सूत्र में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोह नामक एक प्रकृति का निर्देश हुआ है। अतः यहाँ भी उसी का निर्देश मानकर सम्यग्दर्शन से 'सम्यक्त्व कर्म पुद्गल रूप अर्थ ग्रहण करना प्राप्त है।'

इस पर अकलंक की प्रतिक्रिया नकारात्मक है क्योंकि 'सम्यक्त्वप्रकृति तो उन पुद्गलों की पर्याय है जो आत्मा के लिए पराये हैं, जबकि यहां, मोक्ष के कारणों के रूप में आत्मा के अपने परिणामों की विवक्षा है, जैसे कि औपशमिकादि सम्यग्दर्शन वास्तव में हैं।[८] यहां अगर कोई कहे कि 'घट आदि कार्यों की उत्पत्ति में उपादान कारण रूप मिट्टी जैसे निमित्त बनती है, वैसे ही, दंडरूप पर-पदार्थ भी बनते हैं,[९] तो उस पर आचार्य का उत्तर है—'(हां, परन्तु) वे दण्ड आदि पर-पदार्थ घटोत्पति में साधारण उपकरण-मात्र बनते हैं, बाह्य साधन रूप। वस्तुतः तो मिट्टी ही उसका मुख्य कारण (सिद्ध) होती है। उसी तरह आत्मा के मोक्षरूप कार्य/फल की उत्पत्ति का कारण भूत माना हुआ सम्यग्दर्शन भी आत्मा का अंतरंग परिणाम ही होना चाहिए, न कि सम्यक्त्व-कर्मपुद्गल जो वास्तव में दर्शनमोह नामक आत्मगुणों के घातक कर्म के ही, (किंसी आत्मपरिणामवशात्), क्षीणशक्ति (यानी रसघात होने पर स्वल्पघाती) बने हुए रूप का (नया/स्वतंत्र) नाम है।[१०] फिर, सम्यक्त्व-प्रकृति कर्मपुद्गल के विना भी क्षायिक सम्यग्दर्शन का उदय होता है, यानी कि वह बाह्य सम्यक्त्व 'हेय' है। तथा वह अप्रधान भी है, क्योंकि आत्मीय सम्यग्दर्शन रूप परिणाम के रहते ही वह उपकारक सिद्ध होता है।[११] इसके अतिरिक्त आगे अकलंक और भी तर्क देते हैं;'**सम्यग्दर्शनमात्मपरिणामं श्रेयोऽभिमुखमध्यवस्यामः।**' आत्म-परिणाम रूप सम्यग्दर्शन (यानी तत्त्वार्थश्रद्धान) को ही हम (मोक्षरूप) कल्याण के प्रति अभिमुख (उपायों का अंगभूत) मानते हैं।' इस निर्णय से पूज्यपाद के (पृ. ५-६ पर के) विधान को भी पुष्टि मिलती है जिसमें कहा गया है कि '**भावानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य 'सम्यग्' विशेषणम्।**' परंतु इस विधान का हिंदी अनुवाद (काशी १९५५ वाले संस्करण में) इस प्रकार किया गया है, 'पदार्थों

के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए 'सम्यक्' विशेषण जोड़ा है। संभवत: तत्वार्थसूत्र १.३ में वर्णित अधिगमज सम्यग्दर्शन को ध्यान में रखकर यह कहा गया हो। (द्रष्टव्य, ऊपर 'समञ्चतेः' की चर्चा) परन्तु इस संदर्भ में एक प्रश्न मन में उठ सकता है 'अगर सम्यग्दर्शन का अर्थ 'ज्ञान-मूलक श्रद्धान' ऐसा ही अपेक्षित था, तो फिर तत्त्वार्थसूत्रकार ने सम्यग्दर्शन को त.सू. १.१ में सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही क्यों नहीं रखा? वैसे भी, अपेक्षाकृत कम वर्णों से बने होने के आधार पर भी, समास में ज्ञान का स्थान दर्शन के पहले ही अपेक्षित था।"

यही शंका पूर्वपक्ष के रूप में सर्वार्थसिद्धि में दी गई है **'ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् अल्पाच्तरत्वाच्च'**, पर पूज्यपाद ने इस पर अपना मत दिया है कि 'यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान के पश्चात् नहीं, अपितु साथ-साथ ही श्रद्धान उत्पन्न होता है। जिस समय दर्शनमोह कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होकर शीघ्र ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसी समय ज्ञानावरणीय कर्मका उपशमादि होने से मत्यज्ञान तथा श्रुताज्ञान की निवृत्तिपूर्वक सम्यग्ज्ञान भी होता है। जैसे मेघपटल के दूर हो जाने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश दोनों एक साथ ही व्यक्त होते हैं।" (सर्वार्थसिद्धि, पृ. ६.७-८ तथा ७.१-२) यही बात दूसरे शब्दों में राजवार्तिक (पृ. ९) में भी कही गई है। परंतु...

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूर्य का प्रताप (यानी गर्मी) उसके प्रकाश के साथ अविनाभाव से जुड़ा हुआ है और एक ही कारण 'मेघपटल' से दोनों का अवरोध तथा उस अकेले के दूर हटने से दोनों का प्रकट होना संभव है। किन्तु जैन मत में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का अवरोधक कहीं भी एक नहीं माना गया। स्वयं पूज्यपाद ने भी एक के उदय के लिए दर्शनमोह-कर्म का उपशमादि कारण माना है, तो दूसरे के लिए मति-अज्ञान एवं श्रुताज्ञान की निवृत्ति। अतः सूर्य के प्रकाश-प्रताप का उदाहरण न ही यहां ठीक बैठता है, न सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की समकालीन उत्पत्ति सिद्ध कर सकता है। फिर, तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १.१ (पृ. २५.२१-२२) का निम्नलिखित विधान भी तो इसके विरुद्ध जाता हुआ प्रतीत होता है: **'एषां च (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां) पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।'**

इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए सिद्धसेन की टीका में (पृ.२८.९ पर) कहा गया है 'पूर्व निर्दिष्ट सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर बाद में गिनाए गए सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र प्राप्त हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते (यही अर्थ है भजनीय का) (अतः उनके लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित होते हैं)१२ परंतु सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र प्राप्त हो जाने का मतलब है कि सम्यग्दर्शन (तत्पूर्व) निश्चित रूप से प्राप्त हो चुका होता है।'

इन प्रतिपादनों से स्पष्ट अनुमान निकाला जा सकता है कि कम से कम श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार तो सम्यग्ज्ञान के पूर्व सम्यग्दर्शन का प्राप्त/उत्पन्न हो जाना ही तत्त्वार्थसूत्रकार को अभिप्रेत था। इससे यह भी जाहिर है कि ऐसे में वे सम्यग्दर्शन को ज्ञानमूलक श्रद्धान भी नहीं मानते होंगे, अपितु सम्यग्दर्शन (श्रद्धान) को सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक मानते होंगे। परन्तु फिर तत्त्वार्थसूत्र १.३ में प्रतिपादित 'अधिगमज' सम्यग्दर्शन का क्या तात्पर्य होगा?[१३]

इस श्वेतांबर मत एवं तद्विरुद्ध पूज्यपाद द्वारा प्रतिपादित दिगंबर मत इन दोनों को उद्धृत करके, समन्वयात्मक भूमिका का प्रयत्न करते हुए आचार्य अकलंक ने मत प्रकट किया है कि श्वेताम्बर मत पूर्ण ज्ञान को लक्षित करता है, और दिगम्बर मत ज्ञानसामान्य को, अतः दोनों में विरोध नहीं है। दूसरे, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान साथ साथ उत्पन्न होते हुए भी तथा एक ही आत्मद्रव्य के पर्याय होते हुए भी एक नहीं बल्कि परस्पर भिन्न हैं। जैसे, एक साथ उत्पन्न होने पर भी गाय के दो सींग या सूर्य का प्रकाश एवं प्रताप परस्पर भिन्न माने जाते हैं। विशेषतः इसलिए भी, कि दर्शन का स्वरूप (या सामर्थ्य) है 'श्रद्धान', और ज्ञान का स्वरूप है–'तत्त्व का अवाय'।[१३] और, पूज्यपाद स्वयं भी तो ऐसे ही भेद को स्वीकार करते हैं। जब वे कहते हैं कि **'अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति। ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्।'** इसी को समझाते हुए अकलंक ने कहा है **'दर्शनसंनिधाने सति अज्ञानस्यापि ज्ञानभावात्, ज्ञात्वाप्यश्रद्दधतस्तदभावात्।'**[१४] अर्थात्, दर्शन हो तभी अज्ञान भी 'ज्ञान' हो जाता है, सम्यग्दर्शन (रूप सम्यक् श्रद्धान) न हो तो, ज्ञान भी अज्ञानवत् सिद्ध होता है। या, पूज्यपाद की बात को अक्षरशः लें तो सम्यग्दर्शन हो, तभी (सामान्य) ज्ञान को भी 'सम्यक् ज्ञान' कहलाने का अवसर प्राप्त होता है, इसी कारण सम्यग्दर्शन अधिक मान्य/पूज्य है और अल्पवर्णों वाले सम्यग्ज्ञान से भी पहले द्वन्द्व समास में स्थान मिलने का अधिकारी भी। (यहां भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (सामान्य का परस्पर भेद गृहीत है, हालांकि दोनों का युगपद्लाभ भी कहा गया है, पर (द्वादशांगों तथा चतुर्दश पूर्वों के) 'पूर्ण श्रुतज्ञान' तथा केवलज्ञान के लिए तत्पूर्व सम्यग्दर्शन होना आवश्यक है' ऐसा श्वेताम्बर मत का अर्थघटन करें, तो उसके साथ कोई विरोध नहीं होगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भेदाभेद तथा पौर्वापर्य की चर्चा के इस संदर्भ में, सम्यग्दर्शन की द्विविध उत्पत्ति बताने वाले त.सू. १.३ (तन्निसर्गादधिगमाद्वा) और उस पर पूज्यपाद की वृत्ति का परामर्श यहां प्रसंग प्राप्त लगता है।[१५] यहां पृ. १२ पर इसकी चर्चा का कथन है; 'निसर्ग यानी स्वभाव, अधिगम यानी अर्थावबोध। **शंका :–** क्या निसर्गज सम्यग्दर्शन में पदार्थों का ज्ञान नहीं होता? यदि होता है तो वह अधिगमज से भिन्न नही रहता; यदि नहीं होता, तो किसी पदार्थ के बारे में न जानने वाले को उसके विषय में श्रद्धान (यानी सम्यग्दर्शन) कैसे हो सकता है?' इस प्रकार की शंका उपस्थित करके, फिर समाधान किया गया है 'यह दोष (लगाना ठीक) नहीं है, सूत्रोक्त दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में अंतरंग हेतु समान है: 'दर्शन मोह कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम। उस अंतरंग हेतु के रहते, जो सम्यग्दर्शन बाह्योपदेश के बाद जीवादि पदार्थों के अवबोध (रूप निमित्त) वशात् उत्पन्न हो, उसे अधिगमज कहा है, और जो ऐसी प्रक्रिया के बिना ही उत्पन्न हो उसी को निसर्गज नाम दिया गया है।' लगता है, सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने वाले इस अधिगम का स्वरूप दिगंबराचार्यों के मत में भी 'अवबोध' का है यानी निश्चित ज्ञान विशेष का नहीं।

एक ओर उत्पत्ति की दृष्टि से बताए गए सम्यग्दर्शन के तत्त्वार्थसूत्रोक्त ये दो भेद है तो दूसरी ओर तत्त्वार्थसूत्र, १.२ पर अपनी वृत्ति सर्वार्थसिद्धि के अंत में (पृ. १०.२-३) पूज्यपाद ने ही उसके दो और भेद भी बताए हैं **'तद्द्विविधम्, सराग-वीतरागविषयभेदात्, प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्**

आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।' इसके हिंदी अनुवाद में 'विषय' का अर्थ 'पात्र' किया गया है, तदनुसार ये दो भेद पात्रों के हिसाब से किए गए हैं। यानी जिस पात्र या व्यक्ति के चित्त में राग नामक कषाय विद्यमान हो, उसमें सम्यग्दर्शन (की उत्पत्ति) का लक्षण है प्रशम (= राग के उद्रेक का शांत होना), संवेग (= संसार से भीति), अनुकम्पा (= प्राणी मात्र के प्रति दया/सहानुभूति/मैत्री), आस्तिक्य (=जीवादि पदार्थ (जैसे जैनमत में बताया है वैसे) यथार्थ स्वरूप में है' ऐसी (बुद्धि), की अभिव्यक्ति ।[१६] और जो व्यक्ति राग नामक कषाय से चित्त को मुक्त कर चुका हो उसमें सम्यग्दर्शन (की उत्पत्ति का लक्षण) केवल आत्मा का विशुद्ध परिणाम होता है। इसका कारण है (दर्शन-मोहनीय की) सात कर्मप्रकृतियों का आत्यंतिक अपगम (=दूरीकरण/निर्जरा), ऐसा तत्त्वार्थसूत्र १.२ पर लिखे राजवार्तिक ३१ में (पृ.२२ पर) बताकर, आगे विधान किया है कि यह वीतराग का सम्यग्दर्शन साध्य है एवं सराग सम्यग्दर्शन उसीका साधन । विद्यानंदी ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में करीब ऐसा ही मत व्यक्त किया है।

दिगम्बर आचार्यों द्वारा बताया हुआ 'सराग/वीतराग सम्यग्दर्शन' रूप यह द्विधाभाव श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तत्त्वार्थभाष्य एवं सिद्धसेनगणि की टीका में दृग्गोचर नहीं होता, किंतु साथ साथ यह भी लक्षणीय है कि सराग सम्यग्दर्शन के गिनाए गए चार लक्षण, साथ में (तीसरे स्थल पर) 'निर्वेद' नामक पांचवे अभिलक्षण सहित त.सू. १.२ पर लिखित तत्त्वार्थभाष्य में एवं तदुपरि सिद्धसेन की टीका में भी मौजूद है। पर दोनों में कहीं भी उपर्युक्त दो भेदों का नाम नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य में (पृ. ३२.१०-११पर) तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते त एव चार्थाः, तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्ययावधारणम्' के बाद विधान है 'तदेवं प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्ति-क्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति।' और इन्हीं पांचों की व्याख्या सम्यग्दर्शन के सर्वसामान्य लक्षणों के रूप में सिद्धसेनगणि की टीका (पृ. ३३४) में की गई है।

इस प्रकार हम ऊपर देखते आए हैं कि तत्त्वार्थसूत्र १.१-३ के तीन सूत्रों के एक-समान पाठों को स्वीकार करते हुए भी, श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपने ढंग से समझते-समझाते आए हैं और दिगम्बर आचार्य अपने ढंग से। उनके बीच कहां, कब, कितना साम्य-वैषम्य आ गया है, इस ओर भी हम पद-पद पर टिप्पणी करते रहे हैं। फिर भी दोनों के समान तत्त्वों का अवलंब करके संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'जिनोक्त पदार्थों के अनेकान्त नयों के आधार पर वर्णित स्वरूप की सत्यता के बारे में समीचीन श्रद्धान, जो या तो किसी में सहजतया उद्भूत हो या फिर किसी के उपदेशजन्य (सामान्य) अधिगम/अवबोध द्वारा उद्भूत हो और सराग साधक में प्रशमादि लक्षणों द्वारा अभिव्यक्त हो, उसे सम्यग्दर्शन माना गया है, और सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र सहित वह मोक्ष का उपाय भी सिद्ध होता है।'

इस संदर्भ में कुछ और शंकाओं की चर्चा भी दिगम्बर आचार्यों ने की है। जैसे, तत्त्वार्थसूत्र, १.२ गत व्याख्या की युक्तता प्रदर्शित करते हुए विद्यानंदी कहते हैं, 'सम्यग्दर्शन' को केवल श्रद्धान न कहकर उसके आगे 'अर्थ' लगाया है, इससे (मिथ्याज्ञानवश होने वाले) अनर्थों के श्रद्धान में उसकी अतिव्याप्ति हो जाने का दोष टल गया है, और (मनसे आगे) 'तत्त्व' विशेषण के रूप में जोड़ा है, अतः 'कल्पित

अर्थों में श्रद्धान' से भी उसका भेद/व्यवच्छेद (ध्यान में आ जाता) है।[१७] किन्तु पूज्यपाद और अकलंक मानते हैं कि 'तत्त्व' शब्द निकाल देने से 'धन, प्रयोजन, (शब्द का) अभिधेय' ऐसे किसी भी 'अर्थ' या फिर (मिथ्यावादी) वैशेषिक शास्त्रोक्त द्रव्य, गुण, कर्म आदि किसी भी पदार्थ में श्रद्धान को 'सम्यक् दर्शन' संज्ञा प्राप्त हो जाती।[१८] इसी प्रकार 'अर्थ' शब्द निकाल देने में सम्यग्दर्शन की व्याख्या रह जाती— 'तत्त्वश्रद्धानम्' और फिर भावमात्र (के श्रद्धान) में वह प्रसक्त हो जाती, क्योंकि कुछ लोगों का कहना है कि 'तत्त्वं भावः सामान्यम्', जैसे कि वैशेषिकों के (कल्पित) सामान्य पदार्थ सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व आदि। या फिर 'तत् त्वम् असि, पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि वेदान्ती-कल्पना के अनुसार 'सर्वैक्य' में श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन मानना पड़ता। लेकिन वैसा कुछ भी जैन मत को इष्ट नहीं है।[१९]

इसी संदर्भ में आ. अकलंक (वार्तिक २६-२८ में) एक और मतका उल्लेख एवं खंडन भी करते हैं, यथा **'इच्छा-श्रद्धानमित्यपरे (वर्णयन्ति) तदप्ययुक्तम् मिथ्यादृष्टेरपि प्रसङ्गात्। केवलिनि सम्यक्त्वाभावप्रसङ्गाच्च।'** 'कुछ वादी इच्छापूर्वक श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, लेकिन वह ठीक नहीं, क्योंकि फिर वह संज्ञा स्वयं को बहुश्रुत कहलाने या खंडन की इच्छा से अर्हत्तत्त्वों का झूठमूठ श्रद्धान करने पर मिथ्यादृष्टियों को भी प्राप्त हो जाएगी। दूसरी ओर, इच्छा लोभ की पर्याय होने से लोभमुक्त केवली को कभी सम्यग्दर्शन युक्त नहीं कहा जा सकेगा।

अन्त में सम्यग्दर्शन की 'मोक्षोपयोगिता' पर ही प्रश्नचिह्न लगाने वाले एक पूर्वपक्षी के मत की चर्चा हम अनिवार्य मानते हैं। तत्त्वार्थसूत्र १.१ पर वार्तिक ४७-९ में आ. अकलंक ने यह चर्चा प्रस्तुत की है। एक विरोधी कहता है, 'त.सू. ८.१ में यद्यपि बन्ध के ५ कारण बताए हैं; फिर भी बाद के चारों का कारण सीधा या परंपरासे अन्ततः 'मिथ्याज्ञान' (= अज्ञान) को ही माना गया है। अतः मोक्ष का उपाय भी (अन्य दर्शनों की तरह) तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान को ही मानना चाहिए था, उसके आगे पीछे सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् चारित्र को जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? उत्तर में अकलंक एक समीचीन उदाहरण देते हैं: 'किसी रसायनविशेष (की गुणकारिता) का मात्र ज्ञान हो, तो इतने भर से वह किसी का रोग दूर नहीं कर सकता, उस रसायन की शक्ति पर सच्चा भरोसा रखें एवं उसका उपयुक्त ढंग से विनियोग करें, तभी उससे आरोग्य-लाभ होता है। ठीक वैसे ही, संसार-व्याधि की निवृत्ति यानी मोक्षप्राप्ति भी तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा (सामायिकाचरणादि रूप) सम्यक्चारित्र, इन तीनों के अविनाभाव संबंध या मेल से ही हो सकती है। तत्पश्चात् दो श्लोकों द्वारा अन्य दृष्टान्त देकर समझाया है कि (दावानल से दग्ध वन में) सब कुछ देखते हुए भी लंगड़ा (भागकर) अपनी जान नहीं बचा सकता, और अंधा दौड़-भाग की क्रिया खूब करने के बावजूद (सही दिशा न सूझने से) जल जाता है, पर अगर दोनों मिलकर परस्पर सहयोग करें तो दोनों की जानें बच सकती हैं। रथ भी एक चक्र से नहीं चल सकता, चार पहिये (दिशा एवं गति में) परस्पर सहयोग करें, तभी वह वेग से चलेगा। ठीक वैसा ही सहभाग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का मोक्षोपाय के रूप में अति आवश्यक है।

संदर्भ

१. देखिए, सर्वार्थसिद्धि (वाराणसी, ७१), प्रस्तावना, पृ. १९-२०

२. उदाहरणार्थ श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में तथा अन्यत्र भी जैसे तत्त्वार्थसूत्र (बम्बई) की अंग्रेजी प्रस्तावना में श्री हीरालाल र. कापड़िया

३. सम्मिलित रूप में इसलिए कि "मार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य (सम्यग्दर्शनादेः) मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति" सर्वार्थसिद्धि, पृ. ७

४. यह भाष्यांश पुनः लिखने का कारण यह है कि सिद्धसेनगणि की टीका (पृ.३०) में 'भावः दर्शनमिति' एक स्वतंत्र वाक्य मानकर, अर्थ किया है कि ल्युट् के करण, अधिकरण, उपादान आदि गौण अर्थों की बजाय मुख्य अर्थ 'भाव' ही यहां अभिप्रेत है।'

५. चर्चा की रुख यों सहजतया तत्त्वार्थसूत्र की ओर फिर मुड़ गई, यह अच्छी बात है फिर भी, अतींद्रिय अथवा एन्द्रियक तत्त्वों की स्वयं को हुई दृढ प्रतीति किसी अन्य में संक्रामित करने का प्रयत्न और इस हेतु किया हुआ तर्क प्रतिष्ठित व्यवस्थित शाब्दिक प्रतिपादन, यह भी दर्शन शब्द का एक और (चौथा) अर्थ है और इसी अर्थ में वैदिक विचार परंपराओं को आस्तिक दर्शन तथा वेद बाह्य तात्त्विक परंपराओं को नास्तिक दर्शन कहते हैं। जाहिर है, समग्र जैन दर्शन को लागू होने वाला वह अर्थ यहां तत्त्वार्थ सूत्र १-३ में) तदुक्त मोक्षोपाय के एक अंग में लागू नहीं है।

६. द्रष्टव्य, अकलंक राजवार्तिक (पृ. १९.१३) अलोकश्चेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिः।

७. वही (पृ १९.२७-८) स तु श्रद्धानशब्दवाच्योऽर्थ करणादिव्यपदेशभाग् आत्मपरिणामो वेदितव्यः। कस्य ? आत्मन इत्येवमादि। (पृ.१९.३२)

८. तन्न,_ मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात्। औपशमिकादिसम्यग्दर्शनम् आत्मपरिणामत्वात्_ विवक्ष्यते, न च सम्यक्त्वकर्मपर्यायः, पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात्।-राज वार्तिक पृ. २० (वा. १० त.सू.१.२ पर)

९. वही (त. सू १.२ पर वा. ११) स्यादेतत्-स्वपरनिमित्त-उत्पादो दृष्टो यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च, तथा सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्तः सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति।

१०. वही (वा.११-१२) तन्न; किं कारणम् ? उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम्। किञ्च यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादेवोपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते।_ आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यते_

११. वही : वार्तिक १३-१४

१२. इन दोनों स्थानों पर भगवद्गीता का यह कथन मननीय है: श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

१३. द्रष्टव्य यहां तत्त्वार्थसूत्र, १.१ पर राजवार्तिक ६९-७२, (पृ-.१७)

१४. द्रष्टव्य, वही (तत्त्वार्थसूत्र १.१ पर राजवार्तिक ३१, पृ. ९) एवं सर्वार्थसिद्धि (१९५५, पृ. ७.२-३ : तत्त्वार्थसूत्र १.१ पर ही)

१५. तत्त्वार्थसूत्र १.३ पर श्वेताम्बर के श्री सिद्धसेनगणि का मत हम 'सम्यक्' शब्द की चर्चा के समय देख चुके हैं (यद्यपि उनकी चर्चा का रुख भिन्न है, फिर भी शब्दों का अर्थघटन समान है।

१६. यहां तत्त्वार्थसूत्र १.२ पर राजवार्तिक (पृ. २२, वार्तिक २९-३०) भी द्रष्टव्य हैं।

१७. अर्थग्रहणतोऽनर्थश्रद्धानं विनिवारितम्। कल्पितार्थव्यवच्छेदोऽर्थस्य तत्त्वविशेषणात्। -तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, द्वितीय खंड, पृ.५ गाथा ३

१८. अर्थश्रद्धानमिति चेत्सर्वार्थप्रसङ्गः- सर्वार्थसिद्धि (त.सू.१.२ पर), पृ. ९८; साथ ही त. सू. १-२ पर राजवा. १८-१९ _तत्त्वग्रहणादृते मिथ्यावादिप्रणीतेषु सर्वार्थेषु श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति। अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु (वैशे. ७.२.३) इति वचनात्।_

१९. तत्त्वार्थसूत्र, १.२ पर सर्वार्थसिद्धि (पृ. ९८ से १०.१ तक) और तदुपरि राजवार्तिक २२-२५ (पृ. २१)

-संस्कृत विभाग, डेकन कॉलेज, पूना

सम्यक् दर्शन का श्रद्धा अर्थ

☒ डा. रामजी सिंह

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं के पूर्व कुलपति एवं गांधी विद्या संस्थान, वाराणसी के वर्तमान निदेशक डा. रामजीसिंह जैन धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् हैं। उनका यह लेख सम्यग्दर्शन के श्रद्धा अर्थ के महत्त्व को स्पष्ट करता है।—सम्पादक

धर्म-साधना के तीन अंगों को ही जैन-परम्परा में रत्न-त्रय माना गया है। ये तीन अंग ही मोक्ष के मार्ग बनते हैं, यथा—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" सम्यक् दर्शन का अर्थ है कि हम मूल तत्त्वों के प्रति श्रद्धा या विश्वास रखें-'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। दर्शन के बाद ज्ञान आता है। इससे 'दर्शन' का महत्त्व मालूम होता है। असल में 'श्रद्धा' ही ज्ञान का अधिष्ठान है। गीता में इसीलिए कहा गया है-'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं।' जैन परम्परा में भी 'सम्यक् दर्शन' का अर्थ राग-द्रेष से ऊपर उठकर सत्य का दर्शन करना है। राग-द्रेष ही सत्य-दर्शन के बाधक हैं। आग्रह एवं एकान्त (मतवादी) दृष्टि ही सत्य का शत्रु है। अतः आग्रह एवं पक्षपात से मुक्ति ही सम्यक् दर्शन का उद्देश्य है।

इसलिये सम्यक्-दर्शन में दो बातें आयीं —१. सत्य दृष्टि २. श्रद्धा। यहां पहले को ज्ञान और दूसरे को भक्ति कह सकते हैं। ज्ञान के बिना भक्ति अंधविश्वास का पर्याय हो जाती है। किन्तु भक्ति के बिना ज्ञान चंचल, अस्थिर एवं शंकाशील रहता है। असल में मनुष्य को ज्ञान की आंख चाहिए तो भक्ति का भाव भी चाहिये। सत्य दर्शन ठीक है। यह या तो आत्मबोध से हो सकता है या फिर वीतराग के प्रति श्रद्धाभाव से। लेकिन एक प्रश्न उठता है कि यदि 'सम्यक्-दर्शन' में ज्ञान और श्रद्धा दोनों तत्त्वों का समावेश है तो फिर सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त रत्नत्रय में 'सम्यक् ज्ञान' देने की आवश्यकता ही क्या थी?

'दर्शन' शब्द चूंकि अनेकार्थक है इसलिए यह अर्थ-व्यामिश्र हो जाता है। दर्शन शब्द के तीन अर्थ सभी परम्पराओं में प्रचलित हैं, यथा (१) चाक्षुष-ज्ञान (२) साक्षात्कार और (३) निश्चित विचारसरणी । किन्तु जैन-परम्परा में दो अन्य अर्थ प्रसिद्ध हैं जो अन्य परम्पराओं में नहीं मिलते। उनमें एक अर्थ है-'श्रद्धान' और दूसरा अर्थ है-'आलोचन-मात्र'। तत्त्वार्थसूत्र ने 'श्रद्धान' स्वीकार किया है लेकिन, न्याय ग्रंथों में निर्विशेषसत्तामात्र के बोध अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। संक्षेप में दर्शन के विषय में जैन-परम्परा में एक आगमिक दृष्टि है जो भक्ति-प्रधान है और दूसरी न्याय-दृष्टि है जो भिन्न है। प्रमात्व किंवा प्रामाण्य का प्रश्न जैन-परम्परा में तर्क युग आने के बाद का है। पहले यानी आगमयुग और आगमिक दृष्टि तो भाव-भक्ति मूलक है। दर्शन का सम्यक्त्व आध्यात्मिक भावानुसारी है। अगर कोई आत्मा कम से कम चतुर्थ गुणस्थान का अधिकारी हो अर्थात् वह सम्यक्त्व-प्राप्त हो तो उसका दर्शन और ज्ञान मोक्षमार्ग रूप तथा सम्यक् रूप माना जाता है।

सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेना कई दृष्टियों से उपयुक्त है—

१. साधना के क्षेत्र में श्रद्धा की आवश्यकता होती है, श्रद्धा के बिना प्रगति संभव ही नहीं। 'संशयात्मा विनश्यति।' यदि हमें विश्वास न हो कि फलां मार्ग हमें गन्तव्य को पहुंचायेगा तो गन्तव्य को जानने पर भी हम पथ-विचलित होंगे।

२. आस्था एवं विश्वास हमारे सामाजिक जीवन के मूलाधार हैं। पारस्परिक विश्वास नहीं रहने से परिवार टूटता है, समाज टूटता है, भय और आशंका बनी रहती है। 'कामायनी' में आहत मनु के सिराहने बैठकर श्रद्धा तो मनु को कह रही है-

'मनु तुम श्रद्धा को क्यों गये भूल?'

३. आत्मिक शांति के लिए श्रद्धा और विश्वास जरूरी है। तर्क उपयोगी है; उससे हम किसी को चुप तो कर सकते हैं, लेकिन आंतरिक अवबोध नहीं दे सकते हैं। फिर तर्क की एक सीमा होती है। 'सभी चीजों का तर्क है--इसका कोई तर्क नहीं, मात्र तर्क में हमारी आस्था है। यानी तर्क का भी आचार अन्ततोगत्वा आस्था ही है। इसलिये यदि हम यह पूछते जाये कि 'इसका क्या तर्क है?' 'ततः किम्?' तो हमें शांति नहीं मिल सकती है। अतः हमें एक अधिष्ठान चाहिये। चाहे उसे हम परमात्मा कहें या वीतराग देव कहें या शुद्ध आत्मा मानें।

यह आस्था चाहे तो किसी परमप्रभु के प्रति हो या किसी परानियम के प्रति। लेकिन जब मनुष्य उस पर अटल विश्वास रखकर कुछ करता है तो उसको अपार शक्ति मिलती है। ट्रेन में हम ड्राइवर पर विश्वास करके सो जाते हैं। अगर ऐसी आस्था उस परानियम या परमप्रभु पर हो जाय तो मानव को दुःख हो ही नहीं सकता। वह सुख से जी सकेगा और निश्चित होकर मर भी सकेगा। आनन्दघन ने ठीक ही कहा है--

'सुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी।
छार पर लीपनो तेह जानो रे।'

यानी बिना श्रद्धा के क्रिया राख पर लीपने के समान व्यर्थ है। अनास्थावान् व्यक्ति जब गंगा में स्नान करता है तो केवल उसका शरीर शुद्ध होता है, लेकिन आस्थावान् का शरीर तो साफ होता ही है उसका मन निर्मल तथा हृदय एवं आत्मा उद्बुद्ध होती है। इसलिए श्रद्धा मात्र पारलौकिक एवं अमूर्त्त चीज नहीं, वह तो उपयोगी तत्त्व है।

जैन परम्परा में ऐसे परम तत्त्वों पर श्रद्धा रखना ही सम्यक् दर्शन है। जिस तरह ब्रह्म या ईश्वर, अल्लाह या खुदा पर कोई तर्क संभव नहीं है, उसी प्रकार जैन दर्शन के मूल तत्त्वों पर संशय से प्रारंभ करना ही गलत है। वे तत्त्व कौन-कौन से हैं? आत्म-अनात्म आदि। अज्ञान के कारण आत्मबुद्धि से हम विलग होते हैं, राग-ममता का सृजन होता है। फिर तो आत्म-बुद्धि समाप्त हो जाती है। इस अर्थ में यदि हम देखें तो सम्यक्-दर्शन एवं सम्यक्-ज्ञान में बहुत कम अन्तर रहता है। दुःखों से स्थायी छुटकारा पाने के लिए सबसे प्रथम दृढ़ श्रद्धा आवश्यक है।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥-नियमसार, १०२

शरीर को ही आत्मा मान लेने का जो मिथ्याभाव हो रहा है, उसे दूर करके

आत्मतत्त्व को अच्छी तरह जानकर, उससे विचलित न होना ही परम पुरुषार्थ या मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है।

'विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्माद् विचलनं स एव पुरुषार्थसिध्युपायोऽयम् ॥- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १५

जिस प्रकार नाव को ठीक दिशा में ले जाना खेने वालों के हाथ में नहीं होता, किन्तु नाव के पीछे लगे हुए डांड के संचालन करने वाले मनुष्य के हाथों में होता है, उसी प्रकार प्रारंभ में मनुष्य की श्रद्धामयी तत्त्वदृष्टि ही उसके जीवन को सही ढंग से संचालित करती है। अतः सम्यक्दर्शन के बिना सम्यंक् ज्ञान या चारित्र संभव ही नहीं है।

सम्यक्दर्शी को अपने ज्ञान, तप आतिथ्य, बल, ऐश्वर्य, कुल, जाति और सौंदर्य आदि का मद नहीं करना चाहिए।

इस दृष्टि से हम विचार करें तो स्पष्ट होगा कि सम्यक् दर्शन में भक्ति-तत्त्व की प्रधानता अवश्य है लेकिन ज्ञान तत्त्व भी विद्यमान है। यदि तत्त्वों का ज्ञान ही नहीं होगा तो श्रद्धा किस पर होगी ? धर्म तो सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीयप्रत्ययनीकानि भवति भवपद्धतिः ॥- रत्नकण्डक श्रावकाचार, ३

इसीलिए उमास्वामीजी ने तीनों को मोक्ष मार्ग बताया है। किन्तु प्रथम तो श्रद्धा या सम्यक् दर्शन ही है।

-निदेशक, गांधी विद्या संस्थान, राजघाट, वाराणसी-२२१००१

सच्ची राह

एक मनुष्य किसी देवालय में प्रतिदिन दीपक रखा करता था। ऐसा करते-करते उसे कई दिन हो चुके थे। अकस्मात् एक दिन किसी सम्यक्त्वी पुरुष के साथ उसकी भेंट हो गई। सारी बात सुनकर उस सम्यक्त्वी ने उस भूले हुए प्राणी को उपदेश दिया और जिन प्ररूपित धर्ममार्ग का दिग्दर्शन कराया। उसने सच्चे देव के स्वरूप को भलीभाँति विवेचन करके समझाया। उसके विवेचन को सुनने से उस भावुक प्राणी के हृदय में सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसी दिन से उसने दीपक जलाना बंद कर दिया और धर्मध्यान में तत्पर रहने लगा।

संयोग की बात ! कुछ दिनों बाद दैववशात् उसके बच्चे वगैरह बीमार हो गए। तब कई लोगों ने उसे बहुत बुरा भला कहा और यह भी कहा कि यह सब देवालय में दीपक न जलाने का ही फल है, अगर अब भी अक्ल ठिकाने न आई तो अभी ओर मजे चखने होंगे। अभिप्राय यह है कि उस बेचारे को लोगों ने बहुत परेशान किया और भरसक चेष्टा की कि वह पथविचलित हो जाय; किन्तु अब वह सच्चे देव का परमोपासक था। कोई भी उसे पथभ्रष्ट न कर सका। उसके चित्त में क्षण भर के लिए भी दुर्बलता उत्पन्न नहीं हुई। सब लोग हार मान-कर बैठ गए और सत्य की विजय हुई। उसके बाल बच्चे स्वस्थ हो गए। कहने का मतलब यह है कि वह व्यक्ति अपनी सच्ची श्रद्धा पर अटल रहा। उसने अपनी आत्मा का उद्धार करते हुए कई प्राणियों को सच्ची राह दिखलाई।

भाइयों ! अज्ञानी प्राणी कई प्रकार के वहमों के शिकार हो रहे हैं। किसी के शरीर में थोड़ी सी बाधा-पीड़ा उत्पन्न हुई नहीं कि वे उसे दैवी-बाधा समझने लगते हैं। कोई भूत-प्रेत की करामात मानकर बीमारों का ठीक-ठीक इलाज नहीं करवाते और फिर उसका अनिष्ट परिणाम भोगते हैं। मगर जब तक पुण्य सिकन्दर है तब तक किसी भी देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि का जोर नहीं चल सकता।

-श्री चौथमल जी म.सा.

सम्यग्दर्शन के भेद एवं प्रकार

¤ चांदमल कर्णावट*

शिक्षाविद् प्रो. चांदमल कर्णावट जैन धर्म-दर्शन के कुशल अध्यापक हैं। आपने सम्यग्दर्शन के भेद एवं प्रकारों का प्रस्तुत लेख में संक्षिप्त विवेचन किया है।—सम्पादक

'सम्यग्दर्शन' जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—सम्यक् श्रद्धा अथवा वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर सम्यक् विश्वास। सम्यग्दर्शन साधना का मूल आधार है। 'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् दर्शन धर्म का मूल है और 'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा', सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यक् दर्शन व ज्ञान के अभाव में सम्यक् चारित्र की प्राप्ति संभव नहीं है।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा प्रभु महावीर ने अपने अंतिम उपदेश में उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में इस प्रकार दी है—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं।

अर्थात् जीव-अजीवादि तत्त्वों का स्वरूप स्वभाव से या उपदेश से जानकर उन पर भावपूर्वक श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञों के वचन पूर्ण विश्वसनीय हैं, श्रद्धेय हैं, क्योंकि राग-द्वेष के विजेता होने से वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ही कथन करते हैं।

जीवादि नवतत्त्वों में जीव एवं अजीव ये दो तत्त्व ही प्रमुख हैं, शेष सात तत्त्व इन्हीं का परिणाम हैं। जीव को चेतनामय और अजीव को अजीव या चेतनारहित जड़ जानना-मानना ही सम्यग्दर्शन है। जड़ पदार्थों में आसक्त होकर अपने चेतन स्वरूप को विस्मृत कर देना और जड़ पदार्थों में चेतनाबुद्धि बन जाना गंतव्य के विपरीत दिशा है जिसमें अग्रसर होने से मुक्ति कभी संभव नहीं। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने भी 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहकर जीवादि तत्त्वों में यथार्थश्रद्धान को ही सम्यक् दर्शन माना है। जड़ पदार्थों की नश्वरता और आत्मतत्त्व की अजरता अमरता का बोध होने पर उस पर पूर्ण श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।

यह वीतराग वाणी की ही विशेषता है कि जहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अनंतानुबंधी क्रोधादि ७ प्रकृतियों के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से मानी गई है। अत्यन्त मोहमूढ़ आत्मा को यह यथार्थदृष्टि नहीं रहती। सम्यग्दर्शन का यह गुण बाहर से प्राप्त न होकर अंतर्हृदय से प्रकट होता है। सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में परम सहायक हैं।

सम्यग्दर्शन के भेद एवं प्रकार

सम्यग्दर्शन के प्रमुख ५ भेद बताए गए हैं—(१) सास्वादन (२) क्षायोपशमिक (३)औपशमिक (४) वेदक एवं (५) क्षायिक सम्यक्त्व। इनमें से प्रत्येक की व्याख्या आगे की जा रही है—

---

* सेवानिवृत्त आचार्य, शिक्षा एवं प्रमुख धर्म-शिक्षक

सास्वादन सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से गिरता हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता तब तक के परिणामों की स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व है। जैसे खीर के भोजन के बाद वमन होने पर भी कुछ समय तक उसका स्वाद जीभ पर रहता है, यही स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व की है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका की मानी गई है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्व मोहनीय एवं अनंतानुबंधी क्रोधादि के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह विशुद्धि ऐसी ही है जैसे जल प्रक्षालन से भी कोद्रवधान की मादक-शक्ति का कुछ अंश नष्ट हो जाता है, परन्तु कुछ अंश अवशिष्ट रहता है। उपशम सम्यक्त्व में न रसोदय होता है न प्रदेशोदय, परन्तु क्षयोपशम समकित में प्रदेशोदय होता है, रसोदय नहीं। इस सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से अधिक की मानी गई है।

इस सम्यक्त्व में ७ प्रकृतियों के नौ भंग बनते हैं—(१)चार अनंतानुबंधी क्रोधादि का क्षय हो, शेष तीन प्रकृतियों का उपशम हो (२) पाँच प्रकृतियों का क्षय हो दो का उपशम हो (३) छह प्रकृतियों का क्षय हो और एक का उपशम हो । इन तीनों को क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते है। (४) चार प्रकृतियों का क्षय हो, दो का उपशम हो और एक का वेदन हो (५) पाँच प्रकृतियों का क्षय, एक का उपशम और एक का वेदन हो इन दोनों भंगों को क्षयोपशम वेदक-सम्यक्त्व कहा गया है। (७) छह प्रकृतियों का क्षय और एक के वेदन को क्षायिक वेदक सम्यक्त्व कहा गया है। (७) छह प्रकृतियों का उपशम हो और एक को वेदा जाय, उसे उपशम वेदक समकित कहते हैं। सातों प्रकृतियों का क्षय हो उसे क्षायिक समकित कहते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व—अनंतानुबंधी क्रोधादि सात प्रकृतियों के उपशमन अथवा अनुदय से आत्मा में उत्पन्न होने वाली तत्त्वरुचि को उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इस दशा में मिथ्यात्व के दलिक सत्ता में रहते हैं भले ही वे उपशांत या दबे हुए हों, परन्तु उनका सर्वथा क्षय नहीं होता है। जैसे राख से दबी हुई आग पुनः वायु आदि निमित्त पाकर उभर सकती है, इसी प्रकार सत्ता में रहा हुआ मिथ्यात्व भी निमित्त पाकर पुनः उभर सकता है। उपशम सम्यक्त्व का काल जघन्य-उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त का माना गया है।

वेदक सम्यक्त्व—जिसमें अनन्तानुबंधी चतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय व मिश्रमोहनीय का क्षय या उपशम तथा सम्यक्त्व मोहनीय का अवश्य वेदन हो उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इस वेदक सम्यक्त्व के तीन भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं।

(अ) उपशम वेदक सम्यक्त्व —दर्शन सप्तक में से छह का उपशम एवं सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन उपशम वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

(ब) क्षायिक वेदक सम्यक्त्व—दर्शन सप्तक में से छह का क्षय एवं सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन क्षायिक वेदक सम्यक्त्व है।

(स) क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व—इसके दो भेद बनते हैं —(१) अनन्तानुबन्धी चतुष्क

का क्षय, मिथ्यात्व मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय का उपशम तथा सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन। (२) पांच (अनन्तानुबंधी एवं मिथ्यात्वमोहनीय) का क्षय, मिश्र मोहनीय का उपशम एवं सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन।

क्षायिक एवं उपशम वेदक सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य-उत्कृष्ट एक समय ही मानी गई है। क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व की स्थिति क्षयोपशम समकित के अनुसार होती है।

क्षायिक सम्यक्त्व—अनंतानुबंधी क्रोधादि ७ प्रकृतियों का पूर्ण क्षय होने पर आत्मिक परिणामों की पूर्ण विशुद्धता अथवा निर्मलता क्षायिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद फिर नष्ट नहीं होता। जैसे सभी प्रकार के मल से रहित होकर जल पूर्ण विशुद्ध हो जाता है, वैसे ही आत्मा की सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध दशा क्षायिक सम्यक्त्व है।

अन्य दृष्टिकोण से भी सम्यक्त्व के ३ भेद और किए गए हैं। वे हैं—कारक, रोचक और दीपक।

कारक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व की प्राप्ति करके जीव सम्यक् चारित्र के प्रति विशेष रुचिशील बनता है। स्वयं चारित्र-पालन के साथ दूसरों से भी चारित्र पालन करवाता है।

रोचक सम्यक्त्व—इस समकित के होने पर जीव में चारित्र-पालन के प्रति रुचि तो रहती है, किन्तु चारित्रमोहनीय के उदय के कारण चारित्र पालना नहीं कर सकता। फिर भी ऐसे जीव में संसार के स्वरूप का ज्ञान, मुक्ति की इच्छा या चाहना होती है। यह स्थिति चारित्र मोहनीय के उदय के प्रभाव से होती है।

दीपक सम्यक्त्व—इसके प्रभाव से जीव अपने उपदेश से दूसरे जीवों में सम्यक् रुचि जागृत कर सकता है। जैसे दीपक अन्यों को प्रकाश प्रदान कर सम्यक् मार्ग दिखाता है उसी प्रकार यह दीपक-सम्यक्त्व अन्यों का पथ प्रशस्त करता है। परन्तु जीव में स्वयं में सम्यक्त्व ज्योति नहीं जगती है।

एक अन्य प्रकार से भी सम्यक्त्व के भेद भी किए गए हैं, जैसे—द्रव्य सम्यक्त्व एवं भाव सम्यक्त्व, निश्चय सम्यक्त्व एवं व्यवहार सम्यक्त्व, निसर्गज एवं अधिगमज सम्यक्त्व।

द्रव्य एवं भाव सम्यक्त्व—मिथ्यात्व के पुद्गल जब विशुद्ध रूप से परिणत हो जाते हैं तब वे पुद्गल द्रव्य सम्यक्त्व कहलाते हैं और उनसे होने वाला जीव का सम्यक् श्रद्धा रूप विशिष्ट परिणाम भाव सम्यक्त्व कहलाता है।

निश्चय सम्यक्त्व एवं व्यवहार सम्यक्त्व—जिस सम्यक्त्व में देव, आत्मा, ज्ञान, गुरु और धर्म को उपयोग में माना जाता है तथा जब राग-द्वेष मंद हो जाता है, जीव आत्मिक गुणों में रमण करता है, पर पदार्थों से आत्मीय भाव मिट जाता है, देह में रहते देहातीत की स्थिति बन जाती है तब निश्चय सम्यक्त्व होता है। अरिहंत को देव, पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी को गुरु और जिनेश्वरदेव प्ररूपित धर्म को धर्म मानने रूप दृढ़ श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है।

सम्यक्त्व के प्रति रुचि-उत्पादन की दृष्टि से उत्तराध्ययनसूत्र के २८वें अध्ययन में

दशविध रुचियां इस प्रकार से बताई हैं—

निसर्गरुचि—गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वभाव से अथवा जातिस्मरण ज्ञान के योग से जो सम्यक्त्व के प्रति रुचि जागृत होती है उसे निसर्गरुचि कहते हैं। **उपदेश रुचि**—अरिहंत वीतराग भगवान तथा गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा उपदेश रुचि है। **आज्ञारुचि**—तीर्थंकर भगवान या निर्ग्रन्थ मुनियों की आज्ञाराधन से उत्पन्न सम्यक्त्व रुचि को आज्ञा रुचि कहा गया है। **सूत्र रुचि**— आचारांग आदि सूत्रों के अध्ययन से उत्पन्न श्रद्धा सूत्ररुचि है। **बीज रुचि**—जल में तैल-बिन्दु की तरह थोड़ा सीखने पर भी बहुत परिणत होकर जो सम्यंक्त्व रुचि हो, वह बीज रुचि है। **क्रियारुचि**—विशिष्ट प्रकार की धार्मिक क्रिया करते हुए सम्यक्त्व के प्रति रुचि क्रिया-रुचि कहलाती है। **अभिगम रुचि**— अंग, उपांग आदि सूत्रों के अध्ययन से उत्पन्न सम्यक्त्व रुचि को अभिगम रुचि कहते हैं। **विस्तार रुचि**— नवतत्त्व, छह द्रव्य, नय-निक्षेप आदि के विस्तृत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली रुचि विस्तार रुचि है। **संक्षेप रुचि**— आगमादि के विद्वान् न होने पर भी स्वल्प ज्ञान से जो तत्त्व श्रद्धा जागृत हो वह संक्षेप रुचि है। **धर्मरुचि**— श्रुत-चारित्र धर्म का सुचारु आराधन करते-करते सम्यक्त्व के प्रति रुचि प्रकट होने को धर्म रुचि कहा गया है।

इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी आत्माओं के वचनों पर उनके द्वारा निरूपित तत्त्वों पर श्रद्धा होना सम्यक् दर्शन है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करता है। 'संशयात्मा विनश्यति' संशयवान् नष्ट हो जाता है। 'यो यद्श्रद्धः स एव सः' जो जिसमें श्रद्धा रखता है वैसा ही वह स्वयं बन जाता है। रागद्वेषादि विकारों के विजेता वीतराग आत्माओं, सर्वज्ञों, सर्वदर्शी आत्माओं के वचन पूर्णरूपेण श्रद्धेय हैं, उन पर श्रद्धा रखकर उनका अध्ययन करने और सम्यक् चारित्र का पालन करने से आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था प्राप्त करती है। परन्तु यह स्मरणीय है कि सम्यक्ज्ञानादि रत्नत्रय का आधार सम्यग्दर्शन ही है।

—३५, अहिंसापुरी, उदयपुर

सम्यक्त्वी के अबन्ध

कोई पूछे सम्यक्त्वी जो भोग भोगता है क्या उसे बंध नहीं होता ? इसका उत्तर कहते हैं कि बन्ध यों तो दशम गुणस्थान तक बतलाया है पर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय जो सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी हैं उनका अभाव होने से अनंतसंसार की अपेक्षा से यह अबंध ही है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। वह पदार्थों के स्वरूप को यथावत् जानने लग जाता है। 'सब पदार्थ अपने स्वरूप में परिणमन कर रहे हैं। कोई पदार्थ किसी पदार्थ के अधीन नहीं है इसका उसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है। इसलिए वह किसी पदार्थ से रागद्वेषादि नहीं करता। उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थ में जाती अवश्य है, पर रत नहीं होती। यद्यपि औदयिक भावों का होना दुर्निवार है ; परन्तु जब उनके होते अन्तरंग की स्निग्धता की सहायता न मिले तब तक वह निर्विष सर्प के समान स्वकार्य करने में असमर्थ है, ऐसे अनुपम एवं अलौकिक या स्वात्मिक सुखका उसे अनायास ही अनुभव होने लगता है। यही कारण है कि सम्यक्त्वी बाह्य में मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धा में राग-द्वेषादि के स्वामित्व का अभाव होने से उसके अबंध है, और वही मिथ्यादृष्टि राग-द्वेषादि के स्वामित्व के सद्भाव से निरन्तर बंध करता ही रहता है। —श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

¤ प्रकाशचन्द जैन*

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उल्लेख या वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ गाथा ३१ में, आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के पांचवे अध्ययन के ५वें उद्देशक में तथा भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के तृतीय उद्देशक में मिलता है। ये सभी आठों अंग सम्यक्त्व की साधना करने वाले साधक में कमल के फूल की पंखुडियों के समान एक साथ विकसित होते हैं तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति पर सभी अंग एक साथ पूर्ण हो जाते हैं।

१. निःशंकित—श्री जिनेश्वर भगवान् के वचनों में, उनके द्वारा प्रणीत तत्त्वों में, सच्चे देव-गुरु-धर्म के स्वरूप में किञ्चिद् भी अश्रद्धा नहीं होना निःशंकित कहलाता है। 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' अर्थात् वही सत्य और निःशंक है, जो जिनेन्द्रदेव ने प्ररूपित किया है। 'निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे।' (भगवतीसूत्र २.५) निर्ग्रन्थ प्रवचन ही एक मात्र अर्थ रूप है, परमार्थ रूप है, बाकी सब अनर्थ रूप है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान होना निःशंकित होना है। इसमें निर्भयता उत्पन्न होती है तथा प्राणीमात्र के प्रति आत्मवत्भाव होता है। जीव इससे सातों भयों से रहित होता है।

२. निःकाक्षित—परदर्शन की इच्छा या आकांक्षा नहीं करना। जिनधर्म में दृढ़ रहना और यह विश्वास रखना कि-

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे॥—उत्तरा.२३.६३

अर्थात् जो कुप्रवचन को मानने वाले पाखण्डी लोग हैं वे सभी उन्मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले हैं। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित मार्ग ही सन्मार्ग है, इसलिए यह मार्ग ही उत्तम है। अथवा परद्रव्यों में राग रूप वाञ्छा का अभाव होना भी निःकाक्षित कहा जाता है। इसके अनुसार पंचेन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न सुख में सुख की मान्यता रहित श्रद्धान होता है, इन्द्रियसुख सुख नहीं सुखाभास है, ऐसी मान्यता उत्पन्न होती है। इसमें साधक शरीर को कैदखाना समझता है।

३. निर्विचिकित्सा—संयम और तप के फल के विषय में शंकाशील नहीं होना निर्विचिकित्सा है। जो भी क्रिया की जाती है उसका फल अवश्य मिलता है। वर्तमान में जो सुख-दुःख दिखाई देता है, वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। इस समय जो साधना की जा रही है उसका फल अवश्य मिलेगा, यह विचार करना निर्विचिकित्सा है। अथवा परद्रव्यों में द्वेषरूप ग्लानि का अभाव निर्विचिकित्सा है। अर्थात् यह देह अशुचिमय है फिर भी इसमें रहकर आत्मा रत्नत्रय प्रकट कर सकता है, अतः देह से द्वेष रूप ग्लानि क्यों की जाय।

अथवा व्रतधारियों के मलिन वस्त्र या मैलयुक्त शरीर को देखकर जुगुप्सा नहीं होना, उनकी रत्नत्रय साधना में प्रीति होना, देह जड़ है, सड़न, गलन, विध्वंसन रूप है,

---
* प्राचार्य, महावीर स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगाँव

रोगादि की खान है, इसमें क्या ग्लानि करना, ऐसा सोचना निर्विचिकित्सा है।

यह अंग दया व करुणा को उत्पन्न करता है, विषय-कषायों से अरुचि कराकर रत्नत्रय में प्रीति कराता है।

४. **अमूढदृष्टि**—अन्य दर्शनी को विद्या-बुद्धि और धन-सम्पत्ति में बढ़ा-चढ़ा देखकर भी विचलित नहीं होना, उस पर नहीं ललचाना और अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखना अमूढदृष्टि कहलाता है। अथवा तत्त्वों में सुदेवादि में अन्यथा प्रतीति रूप मोह का अभाव अर्थात् जड़-चैतन्य का, सत्य-असत्य का, बन्ध-मोक्ष का सुदेवादि-कुदेवादि का मार्ग समझने में किञ्चिद् भी मूढ़ न रहना, उनका तथारूप श्रद्धान करना अमूढदृष्टि है। यह अंग मूढता को हटाकर सही श्रद्धान करवाता है।

५. **उपवृहंण**—गुणवानों के गुण की प्रशंसा करना, उनके गुणों में वृद्धि करना और स्वयं भी उन गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना उपवृंहण कहलाता है। अथवा जिनधर्म का उद्योत करना, जिनमार्ग ही मोक्षमार्ग है, निर्मल है, निर्दोष है उसकी कहीं निंदा हो तो उसके कारणों को दूर कर उनका यथावत् निराकरण कर शुद्ध धर्म का स्वरूप समझाना उपबृंहण है। रत्नत्रय धर्म अनादि-अनन्त है, कल्याण स्वरूप है, अबाधित है, शाश्वत है, निर्मल है इस प्रकार यह सब मानना उपवृंहण है। अज्ञानी द्वारा धर्म की निन्दा हो तो उसे दूर करना आदि भी उपबृंहण है।

६. **स्थिरीकरण**—स्वयं कहीं धर्म से शिथिल हो जाये, कोई भूल प्रमादवश हो जाये तो पुनः अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित होना, तथा किसी भी सम्यग्दृष्टि या संयमी को (प्रबल कषाय के उदय से, कुसंग से, प्रमाद से, विस्मृति से, शिथिलता से रोगादि की तीव्र वेदना से, गरीबी आदि कारणों से मिथ्यात्वियों के मंत्र, तन्त्रादि चमत्कार से सच्ची श्रद्धा व संयम से गिरता हुआ जाने तो उसे) धर्मोपदेश द्वारा श्रद्धा व चारित्र में पुनः स्थिर करना स्थिरीकरण कहलाता है।

७. **वात्सल्य**—साधर्मियों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, उनके दुःखों को मिटाने का यथाशक्य प्रयत्न करना, शुद्ध चैतन्य को पाने हेतु शुद्ध रत्नत्रय धर्म की महिमा सुनकर, समझकर अत्यन्त प्रीतिवान् होना, ज्ञानी पुरुषों के जीवन-चरित्र के प्रति अत्यन्त बहुमान व प्रीति रखना, अति हर्ष आना तथा किसी के प्रति वैर-विरोध का भाव नहीं करना वात्सल्य कहलाता है।

८. **प्रभावना**—सच्चे देव-गुरु--धर्म तथा जिन प्रणीत तत्त्वों का, षट् द्रव्यों का, मोक्ष मार्ग का तथा जिनवाणी का महत्त्व प्रकट करना, प्रचार-प्रसार करना, जिज्ञासु रुचिशील मुमुक्षु जीवों को सत्संग में मोक्षमार्ग की महिमा बताकर जिनधर्म की प्रभावना करना, संसारमार्ग, कुमार्ग या कुदेवादि से छुड़ाकर विषय-कषायों को हिंसा, झूठ आदि पापों को, जन्म-जरा-मृत्यु आदि दुःखों का कारण बताकर वीतराग धर्म में संलग्न करना तथा आत्म-कल्याणकारी आगम-शास्त्र व सत्साहित्य उपलब्ध कराना प्रभावना कहलाता है। इससे दूसरे लोग भी धर्म के सम्मुख होकर आत्म-कल्याण कर सकते हैं।

इन आठों अंगों का स्वरूप समझकर इन्हें अपने जीवन में स्थान देना चाहिए।

—प्राचार्य, श्री महावीर जैन स्वा. विद्यापीठ, भीकमचन्द जैन नगर, पिंप्राला रोड़ जलगांव

सम्यक्त्व-प्राप्ति की प्रक्रिया

¤ प्रेमचन्द कोठारी *

वीतरागता और सम्यक्त्व

प्रत्येक प्राणी ऐसे जीवन की आवश्यकता का अनुभव करता है, जिस जीवन में सदैव के लिए शान्ति, आनन्द, अमरत्व एवं वीतरागता की प्राप्ति हो। इनकी प्राप्ति के लिए चिन्तनशील व्यक्तियों का अपना-अपना चिन्तन है। यह अलग बात है कि उनका चिन्तन सत्य है या असत्य।

अखण्ड शांति, आनन्द, अमरत्व एवं वीतरागता प्राप्त करने के लिए चरम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है—

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ –उत्तरा. २८.२

अर्थात् संसार के समस्त पदार्थों को भलीभांति देखने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेन्द्र देवों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप मोक्ष का मार्ग फरमाया है। यह मार्ग अमरत्व, वीतरागता रूप लक्ष्य को प्राप्त कराने में सक्षम है। अव्याबाध सुख-प्राप्ति के लिए उपर्युक्त चारों उपायों में प्रथम उपाय सम्यक्-ज्ञान है।

आगमकारों ने लोक को धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय इन षड् द्रव्य रूप बताया है। षट् द्रव्यों को जड़ व चेतन अथवा जीव व अजीव इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम पाँच द्रव्य जड़ या अजीव हैं, छठा द्रव्य चेतन या जीव है। जीव किन कारणों से संसार में भटकता है? किस तरह संसार से पार होता है? इत्यादि का ज्ञान तथा जीवाजीव की सामान्य व विशेष जानकारी वीतराग प्रभु के कथनानुसार होना सम्यक् ज्ञान कहलाता है। सम्यक् ज्ञान पर पूर्ण एवं अटल विश्वास करना सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्व–लक्षण

सम्यक्त्व का लक्षण समझाते हुए पूर्वाचार्यों ने बताया है—

१. यथार्थतत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्। (जैन सिद्धान्तदीपिका ५/३)

अर्थात् जीवादि तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करना सम्यक्त्व है।

२. हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सम्मद्दिट्ठी। (सूत्र पाहुड, ५)

अर्थात् जो हेय और उपादेय को तथारूप जानता है, वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है।

३. या देवे देवताबुद्धि र्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ॥ (योगशास्त्र २/२)

अर्थात् वीतराग देव में देवबुद्धि का होना, सद्गुरु में गुरु-बुद्धि का होना और शुद्ध धर्म में धर्म-बुद्धि का होना सम्यक् दर्शन कहलाता है।

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी: मिथ्यात्व

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है। जहां मिथ्यात्व नहीं है, वहां प्रायः सम्यक्त्व

---

* प्रमुख धर्म-शिक्षक एवं साधनानिष्ठ स्वाध्यायी

होता है। सम्यक्त्व-प्राप्ति व उसकी सुरक्षा के लिये मिथ्यात्व को समझना व उससे बचना अति आवश्यक है। मिथ्यात्व का अर्थ है—तात्त्विक एवं पारमार्थिक (जीव के परमअर्थ मोक्ष प्राप्ति की जानकारी आदि) विषयों में विपरीत या हीनाधिक दृष्टि होना। मिथ्यात्वी दूध को दही, पुरुष को स्त्री या पानी को आग नहीं समझता है। वह भी दूध को दूध, पुरुष को पुरुष एवं पानी को पानी ही समझता है। लेकिन तात्त्विक या पारमार्थिक विषयों में वह विपरीत या हीनाधिक मान्यता रखता है तथा वैसी ही प्ररूपणा करता है। उदाहरण के लिए धर्मास्तिकाय को आगमकारों ने चलने में सहायक व अरूपी अजीव-तत्त्व बताया है, मिथ्यात्वी कहता है कि यह बात तो उचित नहीं लगती है। हम हमारी इच्छा से चलते हैं, इच्छा से ठहरते हैं फिर धर्मास्तिकाय तत्त्व बीच में कैसे सहायक हो गया ; यह विपरीत भाव रूप मिथ्यात्व है। अथवा यह समझें कि धर्मास्तिकाय अजीव अरूपी तत्त्व है, चलने में सहायक भी है, लेकिन कोई विशिष्ट शक्ति के माध्यम से कार्य करता है यह अधिक भाव रूप मिथ्यात्व है। अथवा यह समझें कि धर्मास्तिकाय अजीव अरूपी तत्त्व है, लेकिन चलने में सहायक होने वाली बात समझ में नहीं आती ; ऐसा मानना हीनभाव रूप मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व को आगमकारों ने ५, १०, २५ आदि भेदों से समझाकर हम सामान्य बुद्धि वालों पर परम उपकार किया है। लेख को विस्तार से बचाने के लिए यहाँ इन भेदों का विवेचन नहीं किया जा रहा है। मिथ्यात्व १८ पापों में सबसे भयंकर पाप है। मिथ्यात्व के कारण ही नरक, निगोद, तिर्यंच आदि अशुभ स्थानों में भटकना पड़ता है। मिथ्यात्व के कारण ही जीव के उत्कृष्ट स्थिति वाले (आयुकर्म को छोड़कर) कर्मों का बंध होता है। सूयगडांग सूत्र (१-१२-१२) में तो यहां तक बताया है कि मिथ्यात्व से संसार मजबूत होता है, जिसमें प्रजा निवास करती है। भावपाहुड, १४३ में बताया है, 'जैसे जीव से रहित शरीर-शव (मुर्दा-लाश) है, उसी प्रकार सम्यक् दर्शन से रहित जीव चलता-फिरता शव है। जैसे शव लोक में त्याज्य होता है, ऐसे ही वह चल शव (मिथ्यात्वी) धर्म-साधना के क्षेत्र में अनादरणीय व त्याज्य होता है।' मिथ्यात्वी जीवों से समस्त लोक भरा पड़ा है। ऐसा कोई आकाश प्रदेश लोक में नहीं है, जहाँ मिथ्यात्वी जीव नहीं हो। अतः साधक को मिथ्यात्व के घोर पाप से बचने की, सम्यक्त्व प्राप्त करने की तथा उसे सुरक्षित रखने की प्राथमिक आवश्यकता है।

सम्यक्त्व-प्राप्ति की प्रक्रिया

सम्यक्त्व-प्राप्ति की आगमिक-प्रक्रिया का संक्षेप में विवेचन यहां किया जा रहा है। जिन आत्माओं की विवेक-शक्ति पर मिथ्यात्व मोहनीय का गहरा प्रभाव हो, जिनकी आत्मा एक कोटाकोटि से लेकर सित्तर कोटाकोटि सागरोपम तक की स्थिति के मोहनीय कर्म से जकड़ी हुई हो तथा जिन पर अनन्तानुबन्धी कषाय का गहरा आधिपत्य हो, वे आत्मायें उस अवस्था में सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकती हैं। जब जीव पर एक कोटाकोटि सागरोपम से कम स्थिति के कर्मों की सत्ता रह जाती है, तब जीव में समकित की पात्रता आती है। जीव की उस समय की वैचारिक भूमिका को **यथाप्रवृत्तिकरण** कहते हैं। उस समय जीव अनन्त काल की गूढ़ दुर्भेद्य उलझी हुई रागद्वेष की (अनन्तानुबन्धी कषाय की) गांठ तक पहुंचता है, इसी को ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण की प्राप्ति भव्य-अभव्य दुर्भव्य सबको हो सकती है,

लेकिन अभव्य, दुर्भव्य उस गांठ को भेद नहीं पाते हैं व वापस मिथ्यात्व के भीषण जंगल में भटक जाते है। ग्रंथिदेश तक पहुंचा हुआ भव्य जीव परिणामों की निर्मलता बढ़ाता हुआ **अपूर्वकरण** करके ग्रंथि भेद करता है अर्थात् अनन्तकाल की दुर्भेद्य अनन्तानुबन्धी कषाय की गांठ तोड़ देता है। इसके बाद परिणामों की निर्मलता बढ़ाता हुआ जीव **अनिवृत्तिकरण** करता है। इसके फलस्वरूप वह सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना निवृत्त नहीं होता। अनिवृत्तिकरण के भी अनेक भेद हैं। उसके अंतिम भेद में विचारों की बढ़ती निर्मलधारा के कारण वह अनिवृत्तिकरण से आगे बढ़ कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। यह बात यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण के अनेक भेदों में से अंतिम भेद में अन्तरकरण क्रिया करता है। (अन्तरकरण क्रिया का आशय है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिक उदयमान हैं उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के बाद अंतर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं, आगे पीछे कर लेना अर्थात् अंतर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय में आने वाले हों, उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय तक उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित करना और कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के बाद के अन्तर्मुहूर्त में उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिलाना) अन्तरकरण क्रिया के बाद उस जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, समकित प्राप्त करने पर उस जीव को ऐसा अपूर्व आनन्द आता है जैसा कि किसी असाध्य रोगी को पूर्ण नीरोग होने पर आनन्द का अनुभव होता है।

सम्यक्त्व के प्रकार

सम्यक्त्व के ३, ५, १२ आदि भेद बताये हैं, लेकिन मुख्यतः तीन भेद होते हैं—(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक व (३) क्षायिक। **औपशमिक समकित** में अनन्तानुबन्धी चतुष्क (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ) व दर्शनत्रिक (मिथ्यात्व, मिश्र व समकित मोहनीय) का उपशम हो जाता है। जैसे अग्नि राख से ढकी होने पर ताप बिल्कुल नहीं लगता है, इसी प्रकार इस समकित में उक्त सात प्रकृतियों का प्रदेशोदय भी नहीं रहता है। यह समकित एक भव में जघन्य एक बार उत्कृष्ट दो बार व अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार उत्कृष्ट पाँच बार प्राप्त हो सकती है। **क्षायोपशमिक समकित** में जीव उदय-प्राप्त मिथ्यात्व के कर्म दलिकों को तो क्षय कर देता है व सत्ता में रहे हुये अनुदय दलिकों को उपशान्त कर देता है, उनका प्रदेशोदय मात्र रहता है। इस समकित में समकित मोहनीय का उदय रहता है। यह समकित एक भव में जघन्य एक बार उत्कृष्ट पृथक्त्व हजार बार व अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार उत्कृष्ट असंख्याता बार प्राप्त हो सकती है। **क्षायिक समकित** में अनन्तानुबन्धी कषाय व दर्शनत्रिक की सत्ता नहीं रहती है। क्षायिक समकित आने के बाद कभी नहीं जाती है। सिद्धावस्था में भी क्षायिक समकित विद्यमान रहती है। अगर जीवन में पहले अगले भव के आयु का बन्ध नहीं किया हो व क्षायिक समकित प्राप्त हो जावे तो वह उसी भव में नियम से मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायिक समकित के पूर्व आयु का बन्ध हो गया हो तो वह जघन्य तीन भव (इस भव को मिलाकर) उत्कृष्ट चार भव (इस भव सहित) में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

क्षायिक समकित सिर्फ मनुष्य भव में प्राप्त होती है, किन्तु क्षायिक समकित प्राप्त जीव चारों गतियों में मिलते हैं। क्षायिक समकित उसी मनुष्य को प्राप्त होती है जो संख्याता वर्ष की आयु वाला हो, जिसने या तो पहले आयु नहीं बांधी हो या नारकी, (चौथी नारकी से नीचे का नहीं) देवता (१५ परमाधामी ३ किल्विषिक के अलावा) व युगलिक (३० अकर्म भूमि व थलचर तिर्यंच युगलिक) का आयु बांधा हुआ हो। उपशम समकित की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा क्षायोपशमिक समकित की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागरोपम से अधिक की होती है। (पन्नवणा पद १८ कायस्थिति) उपशम व क्षायोपशमिक समकित में मिथ्यात्व की सत्ता बनी रहती है, अतः उसके उदय होने की संभावना बनी रहती है।

सम्यक्त्व : मोक्ष प्रासाद की नींव

जिसने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त में और उत्कृष्ट देश न्यून अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। समकित के रहते हुए नारकी, तिर्यंच, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी, स्त्रीवेद व नपुंसकवेद का बन्ध नहीं होता। एक बार समकित में आयु का बन्ध हो जावे तो वह अधिक से अधिक १५ भव (उस भव सहित) में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जिसने एक बार समकित प्राप्त कर लिया, अगर वह गिरकर मिथ्यात्वी हो भी जावे तो भी उसके अंतः कोटाकोटि सागरोपम से अधिक की स्थिति के कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

समकित वह नींव है, जिसके आधार पर मोक्षरूपी महल का निर्माण किया जा सकता है। समकित मोक्ष रूपी नगर का प्रवेश द्वार है। समकित वह चमत्कार है जिसके फलस्वरूप प्रतिकूल अनुकूल प्रसंगों व परिस्थितियों में जीव समभाव में रह सकता है। सम्यक्त्वी जीव प्रत्येक घटना, प्रसंग-अवस्था को कर्म-निर्जरा का हेतु बनाता है। सम्यक्त्वी को संसार एक मायाजाल जैसा या स्वप्नवत् लगता है। वह संसार में रहते हुये अन्दर से अपने को अलग अनुभव करने लगता है। कहते हैं— **'सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल, अन्तरगत न्यारो रहे ज्यों धाय खिलावे बाल।'** समकिती प्रत्येक परिस्थिति, अवस्था, प्रसंग आदि के समय अन्दर से सजग, निर्लेप, निरासक्त भाव से रहता है। वह कहीं अटकता-भटकता नहीं है। भगवती आराधना, ७४२ में तो सम्यक्त्व की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ बताई है, 'सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो'।'

सम्यक्त्व की प्राप्ति एवं संरक्षण के उपाय

सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिये व प्राप्त-सम्यक्त्व को सुरक्षित रखने के लिये निम्न प्रकार के पुरुषार्थ करने के सुझाव संक्षेप में दिये जा रहे हैं, जो आवश्यक एवं आचरणीय हैं—

(१) नित्य निर्दोष सामायिक की आराधना करे। नित्य सत्साहित्य का स्वाध्याय करें, जिसमें अनुप्रेक्षा अवश्य करे।

(२) सम्यक्त्व की १० रुचियों की आराधना करता रहे। दस रुचियां हैं— निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, संक्षेप रुचि और धर्म रुचि ।

(३) सम्यक्त्व के ५ दूषणों से बचता रहे। पांच दूषण हैं—शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा, परपाखंडसंस्तव, परपाखंडप्रशंसा ।

(४) सम्यक्त्व के ५ लक्षणों की आराधना का लक्ष्य बनाया रखे। पांच लक्षण हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था ।

(५) आठ प्रकार के दर्शनाचारों को जीवन में स्थान देवे। आठ आचार हैं—णिस्संकीय, णिकंखीय, णिवितिगिच्छा, अमूढदिट्ठी, उवबूह, स्थिरीकरण, वात्सल्य भाव, धर्मप्रभावना ।

(६) अधिक से अधिक निवृत्ति में रहे। जब भी प्रवृत्ति करनी पड़े, उस प्रवृत्ति में जीवनबुद्धि नहीं रखता हुआ कर्तव्यपरायणता को प्रधानता देता हुआ ट्रस्टी या धायमाता की तरह प्रवृत्ति करे। किसी भी प्रवृत्ति में नहीं उलझने की पूर्ण सावधानी रखे।

(७) अन्तर में विजातीय द्रव्यों की छाप नहीं जमने देवे व विजातीय द्रव्यों में अपनापन नहीं रखे।

(८) सदैव सजग रहकर कषाय से बचने का पुरुषार्थ करता रहे। प्रेम भाव, विनम्रता, सरलता (कथनी करनी एक) संतोषी प्रकृति, प्रसन्नता, निर्मलता और कर्तव्य—परायणता से कषाय-विजय में सफलता मिलती है। कषाय-विजय संबंधी साहित्य का अध्ययन, अपने दोषों का निरीक्षण, दूसरे के गुणों का अनुमोदन, दोषों की पुनरावृत्ति नहीं करने की प्रतिज्ञा, सबके साथ आत्मीय-भाव व आत्मीय-व्यवहार से कषाय सरलता से शान्त हो सकते हैं।

(९) सदैव यह मानसिकता बनाकर रखे कि 'मैं चैतन्य हूँ, शरीर से अलग हूं, मैं देह नहीं हूं, देह रूप नहीं हूँ, देह मेरा नहीं है, मैं देह का नहीं हूँ। मैं आत्मा सदा काल शाश्वत हूँ, अविनाशी हूँ, सिद्ध भगवान और मेरी आत्मा में सिर्फ कर्म-मैल का अन्तर है। मरने की प्रक्रिया मात्र शरीर की होती है, मैं कभी नहीं मरता हूँ। मैं शुभाशुभ कर्मों का कर्ता व भोक्ता हूँ। दूसरे सुख-दुःख में निमित्त मात्र होते हैं, वास्तव में उन परिस्थितियों का निर्माता मैं स्वयं हूं। मैं सत् पुरुषार्थ कर अवश्य सच्चिदानन्द अजर-अमर पद को प्राप्त कर सकता हूं'। इस प्रकार अवसर निकाल कर एकान्त में सब तरफ से मन हटा कर शांत भाव से स्वयं को स्वयं से देखने का पुरुषार्थ करता रहे। भावपाहुड, ३१ में आया है कि जो आत्मा अपने में लीन है, वही वस्तुतः सम्यग्दृष्टि है—**अप्पा अप्पमि रओ, सम्मादिट्ठी हवेइ फुडु जीवो।**

अन्त में जिनेश्वर देव से प्रार्थना है कि हम सब सम्यग्दृष्टि बनें, सम्यक् चारित्र, सम्यक् तप की आराधना करें व शीघ्र मोक्ष प्राप्त करें।

—गौतम फायनेन्स, बूंदी (राज.)

पच्चीस दोष

आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए २५ दोषों के परिहार का कथन किया गया है (ज्ञानार्णव, षष्ठ सर्ग, श्लोक८) वे २५ दोष हैं—तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन, और शंकादि आठ दोष।

सम्यक्त्व-प्राप्ति में कारणभूत पाँच लब्धियां

☆ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री*

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य एवं करण इन पाँच लब्धियों का विवेचन इस ग्रंथ में अन्यत्र भी हुआ है, किन्तु प्रस्तुत लेख दिगम्बर स्रोत ग्रंथों पर आधारित है। इस लेख में प्रायोग्य लब्धि का विवेचन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। करण लब्धि के अन्तर्गत श्वेताम्बर-मत में जहां, यथाप्रवृत्तकरण मान्य है वहां दिगम्बर मत में इसके स्थान पर अधःप्रवृत्तकरण शब्द प्रचलित है।—सम्पादक

लभ् धातु से क्तिन् प्रत्ययपूर्वक स्त्रीलिंग में 'लब्धि' शब्द बनता है। लोक में इसके प्राप्ति तथा लाभ (मुनाफा) अर्थ एवं गणितशास्त्र में लब्धांक अर्थ माने गये हैं।[१]

तत्त्वार्थसूत्र में एक स्थल पर **'लब्धयः... पंच'** इस सूत्रांश द्वारा लब्धि से दानादि क्षायोपशमिक लब्धियां ग्रहण की हैं। यथा-लब्धियाँ पाँच प्रकार की हैं-क्षायोपशमिक दान (२) क्षायोपशमिक लाभ, (३) क्षायोपशमिक भोग, (४) क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य।[२] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र एक सूत्र आया है-**'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्'**। इसकी सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखा है—**'लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः।'**[३] अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम का नाम लब्धि है।

तत्त्वार्थसूत्र में ही अन्यत्र एक सूत्र आया है—**'लब्धिः प्रत्ययं च**। इसकी सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—**तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धिः।**[४] अर्थात् तप-विशेष के द्वारा ऋद्धि की प्राप्ति होती है उसे भी लब्धि कहते हैं। (जैसे विष्णुकुमार मुनि को तप के द्वारा जो ऋद्धि-विक्रियाऋद्धि प्राप्त हुई थी, वह भी लब्धि है।)

विद्यानन्दिस्वामी कहते हैं कि पदार्थों के जानने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। यथा—**'तत्त्वार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः।'**[५]

वीरसेनस्वामी बंधस्वामित्वविचय की टीका में कहते हैं **"सम्मदंसणणाणचरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम।"** अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो जीव का समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं। भाव यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति लब्धि है।[६]

अन्यत्र वीरसेनस्वामी ने ही लब्धि से 'आगम' अर्थ निकाला है।[७] जहाँ 'नवकेवललब्धिरमासमेत' कहा जाता है, वहाँ लब्धि नौ भेदों वाली जानी जाती है। यथा-क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन व चारित्र। नियमसार में काल, करण, उपदेश, उपशम व प्रायोग्य, इन पाँच भेदों वाली लब्धि का उल्लेख है।[८]

प्रकृत में 'लब्धि' शब्द

ऊपर लब्धि के विविध अर्थ एवं विविध भेद कहे गए। उन सब में से कोई भी लब्धि यहां प्रकृत नहीं है। यहां तो क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करण, इन

---

* प्रमुख दिगम्बर जैन विद्वान्

पाँच भेदों वाली लब्धि प्रकृत है। ये पाँच लब्धियां प्रथम सम्यक्त्व में कारणभूत होती हैं।[९]

क्षयोपशम लब्धि

पूर्व संचित कर्मों के मल रूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुण हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किए जाते हैं उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है। अर्थात् वह क्षयोपशम लब्धि है।[१०]

स्व. पं. टेकचन्द जी कहते हैं कि "कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होवे, ऐसा संज्ञीपना व पंचेन्द्रियपना तथा इनकी शक्तिरूप भाव का होना क्षयोपशम लब्धि है। जो संज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं होवे तो सम्यक्त्व नहीं होता है, इसलिए संज्ञीपंचेन्द्रियपने का क्षयोपशम होना आवश्यक है।

स्व. पं. भूधरदास जी कहते हैं कि 'प्रथम क्षयोपशम लब्धि सों सैनी पंचेन्द्रिय पर्याय होई।'[१२]

विशुद्धिलब्धि

प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन क्रम से उदीरित (वेदे जाते हुए) अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव-परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।[१३]

देशना लब्धि

छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारण की शक्ति के समागम को देशना लब्धि कहते हैं।[१४]

इतना विशेष है कि यह देशना लब्धि कदाचित् मिथ्यात्वी से भी प्राप्त हो सकती है। कहा भी है -'मिथ्यात्वी के जो ११ अंग का ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र है, उसके अर्थों का ज्ञान उसको नहीं होता, ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि मुनियों के उपदेश से अन्य कितने ही भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जाता है।'[१५]

देशना के पात्र

अष्टावनिष्टदुस्तर-दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति शुद्धधियः॥[१६]

अर्थात्—जो अप्रिय, कठिनाई से पार किय जाने वाले (कठिनाई से वश में किये जाने वाले) और पापों के घर स्वरूप इन ८ वस्तुओं (मधु, मांस, मद्य, बड़, पीपल, कठूमर, पाकर, ऊमर) का त्याग करते हैं वे ही देशना के पात्र होते हैं। सारतः देशनालब्धि के पूर्व ८ मूलगुणों का पालन आवश्यक है।

देशना के फल का अधिकारी

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥[१७]

अर्थात्-जो भव्य श्रोता व्यवहारनय व निश्चयनय के स्वरूप तथा भेद को सम्यक्

प्रकार से जान लेता है और माध्यस्थ भाव को धारण कर लेता है, अर्थात् निश्चय-व्यवहार में रागद्वेषरूप पक्ष नहीं करता, वह श्रोता जिनदेव की देशना का पूरा फल पाता है।

इस आर्षकथन से स्पष्ट हो जाता है कि नय-पक्षपाती जीव के देशना भी समीचीन नहीं है तथा इसी कारण देशना से मिलने वाला जो फल है वह भी उसे नहीं प्राप्त होता है। वस्तुतः एकान्त दृष्टिवाला देशनालब्धि से भी असम्पन्न है।

जयधवला में कहा है—**ते उण ण दिट्ठसमओ विहयइ सच्चे व अलीए वा।**[१८] अर्थात् अनेकान्त रूप समय (द्वादशांग या जिनवाणी) के ज्ञाता पुरुष, 'यह नय सच्चा है' और 'यह नय झूठा है', इस प्रकार का विभाग नहीं करते हैं। अतः नय-पक्षपाती जीव अज्ञानी-हठी होने के कारण देशना का फल प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

अधस्तन नरकों में देशना-लब्धि नहीं होती। तीसरे नरक से नीचे देव भी नहीं जा सकते। अतः चतुर्थ अंजना आदि नरकों में उन-उन जीवों द्वारा अपने-अपने पूर्व भव में गृहीत देशना (उपदेश) का स्मरण ही देशना—लब्धि का काम कर जाता है। इतना विशेष है कि उनके जो सम्यक्त्व होगा वह निसर्गज कहलायेगा।[१९]

प्रायोग्य लब्धि

सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग का घात करके उन्हें अन्तःकोटाकोटि स्थिति में तथा द्विस्थानिक अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं।[२०]

प्रायोग्य लब्धि के प्रथम क्षण से ही पूर्व स्थितिबन्ध के संख्यातवें भाग मात्र अन्तःकोटा-कोटि सागर प्रमाण सात कर्मों (आयु बिना) का स्थिति बन्ध होता है। अशुभ कर्मों का प्रतिसमय अनंतगुणा घटता द्विस्थानिक रस बँधता है। शुभ कर्मों का प्रतिसमय अनन्तगुणा बढ़ता चतुःस्थानिक रस बँधता है। प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट अथवा अनुत्कृष्ट होता है। उदीरणा एक स्थिति की होती है। अशुभ कर्मों का द्विस्थानिक उदय तथा शुभ कर्मों का चतुःस्थानिक रस उदित होता है-भोगा जाता है। स्थिति, अनुभाग व प्रदेश सत्त्व अजघन्य-अनुत्कृष्ट होता है।

इस लब्धि में स्थित जीव के ३४ बन्धापसरण होते हैं जिनके द्वारा ४६ प्रकृतियों का संवर (बन्धव्युच्छेद) होता है। इस लब्धि के प्रथम समय भावी अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण स्थिति बन्ध से अन्तर्मुहूर्त बाद पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन स्थितिबन्ध होता है, जो अन्तर्मुहूर्त तक समानरूप से होता रहता है। तत्पश्चात् उससे भी पल्योपम के संख्यातवें भागहीन अन्य स्थिति बन्ध प्रारम्भ होता है, जो अन्तर्मुहूर्त तक होता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में पल्य के संख्यातवें भाग स्थिति बन्ध घटते-घटते जब कुल मिलाकर पृथक्त्व (७ से ८) सौ सागर प्रमाण स्थितिबन्ध घट जाता है तब एक प्रकृति बन्धापसरण होता है। पुनरपि उक्त विधि से पृथक्त्व सौ सागर स्थिति बन्ध घटने पर दूसरा प्रकृतिबन्धापसरण होता है। ऐसे कुल ३४ बन्धापसरण होते हैं।

गणित करने पर इस प्रायोग्य लब्धि के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण-काल में संख्यात

कोटाकोटि का भाग देने पर प्राप्त एक भाग प्रमाण-काल भी अन्तर्मुहूर्त है, जिस काल में कि समान-समान स्थिति बन्ध होता है।[२१]

उक्त चार लब्धियां भव्य व अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं, किन्तु करणलब्धि भव्य के ही होती है तथा भव्यों में भी उस भव्य के होती है जो अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यग्दर्शन का धनी होने वाला हो। करणलब्धि नियम से सम्यक्त्व की कारण होती है। ये चार तथा करण, इस तरह पाँचों लब्धियां उपशम सम्यक्त्व के ग्रहण में होती हैं।

करण लब्धि

प्रायोग्य लब्धि के पश्चात् अभव्यों के योग्य परिणामों का उल्लंघन कर भव्य जीव क्रमशः अधः प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण, ऐसे तीन करणों (परिणामों) को करता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले जीव के उक्त तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं, यह कथनाभिप्राय है।

यह करण लब्धि सम्यक्त्व और चारित्र ग्रहण के समय ही होती है।[२२] तीनों करणों में से प्रत्येक करण का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। किन्तु ऊपर से नीचे के करणों का काल संख्यातगुणा क्रम लिए हुए है। अर्थात् अनिवृत्तिकरण का काल स्तोक है। उससे संख्यातगुणा अपूर्वकरण का काल है। उससे भी संख्यातगुणा अधः प्रवृत्तकरण का काल है।[२३]

अधःप्रवृत्तकरण–जिस करण में विद्यमान जीव के परिणाम अपने से नीचे के समयों में स्थित जीवों के परिणामों से समानता रखते हों वह अधः प्रवृत्तकरण है। इस करण में उपरिम समय के परिणाम नीचे के समयों में भी पाये जाते हैं।

अपूर्वकरण–जिस करण में प्रतिसमय, पहले नहीं हुए हों ऐसे भाव होते हैं वह अपूर्वकरण है।

अनिवृत्तिकरण–जिस करण में प्रतिसमय एक समान ही परिणाम होते हैं वह अनिवृत्तिकरण है।[२४]

शंका–जीवों के समान परिणाम कैसे हो सकते हैं? हमने तो सुना है कि नाना जीवों के परिणाम मिलते ही नहीं हैं?

समाधान–'नित्य ही परस्पर समान परिणाम वाले अनन्त जीव पाये जाते हैं।' क्योंकि 'संसारवर्ती जीवों के परिणाम असंख्याततलोकमात्र हैं और जीवराशि अनन्तानन्त है "जो जीवनि के परिणाम मिले नाहीं तो असंख्याततलोकमात्र परिणाम कैसे सिद्ध होई? और कहाँ सूं आवै? यातैं अनन्त जीवनिके परिणाम परस्पर मिले हैं, तब असंख्याततलोकमात्र परिणाम सिद्ध होई," ऐसा भूधरदास जी ने कहा है।[२५]

स्पष्टीकरण–अपूर्वकरण में विवक्षित जीव के परिणाम अपने से पूर्व के जीवों के परिणामों से साम्य नहीं रखते। हाँ, समसमयस्थित जीवों के परिणामों में समानता या असमानता दोनों सम्भव होती हैं। क्योंकि हर समय असंख्याततलोकप्रमाण परिणाम सम्भव होते हैं, तथा वे सब के सब अन्य समय के परिणामों के सदृश नहीं होते

(उनमें से एक भी परिणाम अन्य समय के परिणामों से नहीं मिलता, यह भाव है)।[२६]

अनिवृत्तिकरण में समसमयभावी जीवों के नियम से समान परिणाम ही होते हैं तथा भिन्न समय में स्थित जीवों के भिन्न ही।[२७] कहा भी है "अपूर्वकरण" पद की अनुवृत्ति से यह सिद्ध होता है कि इस गुणस्थान में प्रथमादि समयवर्ती जीवों द्वितीयादिसमयवर्ती जीवों के साथ परिणामों की अपेक्षा भेद है।"[२८]

स्मरणीय है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणिनिर्जरा व गुणसंक्रमण चालू हो जाते हैं। इस नियम के अनुसार प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण परिणामों का कर्ता, विशुद्ध, सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव गुणश्रेणिनिर्जरा (अविपाकनिर्जरा) प्रारम्भ कर देता है। वास्तव में अब वह सातिशय मिथ्यात्वी अथवा निकटभावी कालग्राही नैगमनय (भावी नैगम) की अपेक्षा सम्यक्त्वी हो गया है। अतः उसके समान परिणामी होना सम्भव नहीं है।

ज्योंही वह तीनों करणों को कर लेता है, तदनन्तर समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यह जीव अब मोक्षमार्गी, सान्तसंसारी तथा जघन्य या मध्यम अन्तरात्मा हो जाता है।

जो-जो सम्यक्त्वी हुए हैं, हैं तथा होंगे, हम भी उनके अनुचारी बनें यही भावना है।

विशेष बिन्दु

(१) कर्मोदय का कृश होना (क्षयोपशम), कषायों की मन्दता (विशुद्धि), उपदेशामृत का लाभ (देशना), पड़ोसी कर्मों के टिकने के काल व रस में कमी (प्रायोग्य) तथा आत्मानुभव (आत्मश्रद्धान) की समीपता का कारणभूत परिणाम (करण); ये पांच लब्धियां प्रथम सम्यक्त्व की कारण है।

(२) आज तक मध्यम अनन्तानन्त जीवों ने पाँच लब्धियाँ प्राप्त करके यथा आगम संसार का अन्त कर दिया है।

(३) अभी लाखों जीव पाँच लब्धियों को अपने-अपने योग्य समय में आत्मसात् करके सम्यक्त्व तथा चारित्र धारण कर वर्तमान में केवली पद पर आरूढ़ हैं।

(४) अनन्त जीव ऐसे हैं जिन्होंने पाँच लब्धियों को आत्मसात् तो किया, पर समकित रत्न पाकर पुनरपि अब वे अनन्त जीव अनात्मज्ञानियों के साथ रुल रहे हैं, अर्थात् लब्धिरूप परिणाम अब उनके पास नहीं है, पहले हुए थे। ऐसे अनन्त जीव अभी संसार में है।[२९] इस कथन से यह शिक्षा मिलती है कि सम्यक्त्व प्राप्त कर उसकी सुरक्षा तथा चारित्र के क्षेत्र में वृद्धि करनी चाहिए। कहा भी है-'सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दिढ़ चारित लीजे।'

(५) पंचम लब्धिसम्पन्न जीव अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण, इन परिणामों के समय संवर व निर्जरा तत्त्वमय होता है तथा भाविनैगम से सम्यक्त्वी होता है।

(६) इन देशनादि लब्धियों को प्राप्त कर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण

अगणित सम्यक्त्वी अभी भी इस मध्यलोक में विचरण कर रहे हैं। किन्तु उन सबके नाम भी ज्ञात नहीं हैं।

(७) जब काललब्धि निकट आती है तब संसारी जीव को पंच लब्धि होती है।

(८) जगत् में पन्द्रह पात्र—भेद हैं-१. उत्तम उत्कृष्ट पात्र (तीर्थंकर मुनि), २. उत्तम मध्यमपात्र (गणधर), ३. उत्तम जघन्यपात्र (सामान्य मुनि), ४. मध्यम उत्कृष्ट (दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमा वाले), ५. मध्यम-मध्यम (पंचम से नवम प्रतिमा धारी) ६. मध्यम-जघन्य (प्रथम से चतुर्थ प्रतिमा वाले) ७. जघन्य-उत्कृष्ट पात्र (क्षायिक सम्यक्त्वी अव्रती) ८. जघन्य-मध्यम (उपशम सम्यक्त्वी अव्रती) ९. जघन्य-जघन्य (वेदक सम्यक्त्वी) १०. उत्कृष्ट कुपात्र (सम्यक्त्व रहित मुनि) ११. मध्यम कुपात्र (सम्यक्त्व रहित देशव्रती) १२. जघन्य कुपात्र (सम्यक्त्व रहित अव्रती) १३. उत्कृष्ट अपात्र (जिनाज्ञा रहित लिंग के धारी, परिग्रह के धारी, स्वयं को यति मानने वाले तथा अनेक वेश-स्वांग के धारी) १४. मध्यम अपात्र (गृहस्थ, कुटुम्बादिक सहित, जिनाज्ञारहित हिंसामय तपसंयम के धारक) १५. जघन्य अपात्र (जिनाज्ञा रहित गृहस्थाचार के धारी)[३०]। इन १५ पात्रों में सभी संसारी छद्मस्थ आ जाते हैं। इनमें से अन्तिम तीन भेद वाले जीवों के तो देशना लब्धि का भी अभाव है। १०वें, ११वें तथा १२वें क्रमांक के पात्रों के लब्धिचतुष्टय सम्भव है। कदाचित् करणलब्धि भी सम्भव है, परन्तु करणलब्धि की पूर्णता होते ही वे सुपात्रों के किसी भेद में चले जायेंगे। प्रथम नौ क्रमांक तक के पात्र नियम से कभी पंच लब्धियों से परिणत हुए हैं तथा वे अन्तरात्मा हैं। जिस-जिस जीव को करणलब्धि हुई है वह कभी परमात्मा अवश्य बनेगा, अथवा बन रहा है या बन गया है।

(९) नित्य निगोद में एक भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसने कभी पंच लब्धि पाई हो। हाँ, इतर निगोदों में तो ऐसे अनन्त जीव नियम से हैं[३१] (जबकि इतर निगोदों से नित्य निगोद अनन्तगुणा है), यही आश्चर्य है।

हमें भी लब्धिपंचक के स्वरूप परिज्ञान से इन लब्धियों की प्राप्ति हो इसी कामना के साथ लेखनी को विराम देता हूँ।

संदर्भ-सूची

१. संस्कृत-शब्द-कौस्तुभ, पृ. ९९ , २. तत्त्वार्थसूत्र, २/५, ३. सर्वार्थसिद्धि, २/१८ , ४. सर्वार्थसिद्धि, २/४७, ५. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६१, ६. धवला ८/८६, ७. धवल, १३/२८३ , ८. नियमसार, ता०वृ०, १५६, ९. लब्धिसार, गाथा ३ , १०. लब्धिसार, गाथा ४, ११. सुदृष्टित, पृष्ठ १५ (जैनपुस्तक भवन, कलकत्ता) १२. चर्चा-समाधान, पृ. ७, १३. लब्धिसार, ५ १४. लब्धिसार, गाथा ६, १५. लाटी संहिता ५/१९ , १६. पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, ७४, १७. पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, ८ , १८. जयधवला १/२३३ नवसंस्करण तथा पृ. २५७ पुरातन संस्करण, १९. च. समा. पृष्ठ ७. २०. लब्धिसार, ७, २१. लब्धिसार १०, सर्वार्थसिद्धि ३/३८, तिलोयपण्णति १ /९४-१३०, २२. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ६५१, २३. कसायपाहुडसुत्त, पृ. ६२१, २४. कसायपाहुडसुत्त, पृ. ६२१ , २५. च.स., पृ. ८, २६. जयधवला १२/, २३४, २७. धवला ६/२२२, २८. धवला १/१८४, २९. जयधवला ४/१००, ३०. सु.तरं. पृ. २२१-२२३ तथा ब्रह्मविलास, पृ. १११-११२ ३१. जयधवला, ४/१००

–भीण्डर, जिला-उदयपुर (राज.)

सम्यक्त्व के दूषण और भूषण

¤ जम्बू कुमार जैन*

सम्यक्त्व के पाँच दूषण

हमें किसी वस्तु के गुणों को जानने के साथ दोषों की जानकारी भी करनी चाहिए। दोषों को दूर करके ही हम शुद्ध स्वरूप को आत्मसात् कर सकते हैं। सम्यक्त्व एक अनमोल रत्न है तथा मोक्ष का द्वार है। बिना सम्यग्दर्शन के कोई भी जीव मुक्त नहीं हो सकता। अतः सम्यक्त्व को मलीन करने वाले दोषों की जानकारी आवश्यक है ताकि हम उनसे बच सकें। यहाँ सम्यक्त्व के दोषों का वर्णन किया जा रहा है।

(१) **शंका**—जिनेश्वरों के वचनों में शंका करने से सम्यक्त्व में मलीनता आती है। कई बार हम यथार्थ को नहीं समझने के कारण उसकी सत्यता पर सन्देह करने लगते हैं और यहीं से शंका का जन्म होता है।

संसार में अनेक ऐसी अदृश्य वस्तुएं हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इनके अस्तित्व एवं स्वरूपादि का ज्ञान आप्त-वचनों से ही हो सकता है। जैसे किसी के शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो जाता है तो वह इलाज हेतु डॉक्टर के पास जाता है। उसे डॉक्टर की दवा पर विश्वास करना ही पड़ता है, चाहे डॉक्टर दवा के रूप में कुछ भी देवे। रोगी अगर डॉक्टर पर अविश्वास या शंका करके चलेगा तो वह ठीक नहीं हो सकता।

हमारा ज्ञान सीमित है, हम प्रत्यक्ष वस्तु को भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकते तो हमें भगवान् की वाणी पर शंका करने का क्या अधिकार है? वैसे भी धार्मिक विषयों में व्यक्ति के स्वतंत्र विचारों का कोई महत्त्व नहीं होता फिर चाहे वह उच्च कोटि का विद्वान् ही क्यों न हो। यदि व्यक्ति की इच्छा-मान्यतानुसार ही दर्शन का रूप बनता चला जाएगा तो जितने व्यक्ति उतने ही दर्शन हो जायेंगें। निर्ग्रन्थ प्रवचन पर शंका रूपी राक्षसी के जन्म से ही मत-विभिन्नताएं बढ़ती हैं, उन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति होती है। वर्तमान में ये बढ़ती प्रवृत्तियां जैन दर्शन के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं।

अतः हमें इस दोष से बचने का प्रयास करना चाहिए तथा 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' 'जो जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित है वही सत्य व शंका रहित है' इस पर दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए।

(२) **कांक्षा**—व्यक्ति-विशेष, किसी भौतिक विशेषता अथवा प्रलोभनों से आकर्षित होकर पर-दर्शन को अपनाने की इच्छा करना कांक्षा दोष कहलाता है। यह तभी होता है जब हमारी श्रद्धा ढीली होती है। कभी-कभी भोगी एवं रागी व्यक्ति विशिष्ट गुणों के धारक हो सकते हैं अतः हम उनके गुणों से प्रभावित हो जाते हैं। उनकी बातों का असर हमारे ऊपर होने लगता है, हम उनको बड़ा मानने लगते हैं तथा

---

* लेखाकार, राजकीय मुद्रणालय, जयपुर एवं पूर्व छात्र श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर

अगणित सम्यक्त्वी अभी भी इस मध्यलोक में विचरण कर रहे हैं। किन्तु उन सबके नाम भी ज्ञात नहीं हैं।

(७) जब काललब्धि निकट आती है तब संसारी जीव को पंच लब्धि होती है।

(८) जगत् में पन्द्रह पात्र—भेद हैं-१. उत्तम उत्कृष्ट पात्र (तीर्थंकर मुनि), २. उत्तम मध्यमपात्र (गणधर), ३. उत्तम जघन्यपात्र (सामान्य मुनि), ४. मध्यम उत्कृष्ट (दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमा वाले), ५. मध्यम-मध्यम (पंचम से नवम प्रतिमा धारी) ६. मध्यम-जघन्य (प्रथम से चतुर्थ प्रतिमा वाले) ७. जघन्य-उत्कृष्ट पात्र (क्षायिक सम्यक्त्वी अव्रती) ८. जघन्य-मध्यम (उपशम सम्यक्त्वी अव्रती) ९. जघन्य-जघन्य (वेदक सम्यक्त्वी) १०. उत्कृष्ट कुपात्र (सम्यक्त्व रहित मुनि) ११. मध्यम कुपात्र (सम्यक्त्व रहित देशव्रती) १२. जघन्य कुपात्र (सम्यक्त्व रहित अव्रती) १३. उत्कृष्ट अपात्र (जिनाज्ञा रहित लिंग के धारी, परिग्रह के धारी, स्वयं को यति मानने वाले तथा अनेक वेश-स्वांग के धारी) १४. मध्यम अपात्र (गृहस्थ, कुटुम्बादिक सहित, जिनाज्ञारहित हिंसामय तपसंयम के धारक) १५. जघन्य अपात्र (जिनाज्ञा रहित गृहस्थाचार के धारी)[३०]। इन १५ पात्रों में सभी संसारी छद्मस्थ आ जाते हैं। इनमें से अन्तिम तीन भेद वाले जीवों के तो देशना लब्धि का भी अभाव है। १०वें, ११वें तथा १२वें क्रमांक के पात्रों के लब्धिचतुष्टय सम्भव है। कदाचित् करणलब्धि भी सम्भव है, परन्तु करणलब्धि की पूर्णता होते ही वे सुपात्रों के किसी भेद में चले जायेंगे। प्रथम नौ क्रमांक तक के पात्र नियम से कभी पंच लब्धियों से परिणत हुए हैं तथा वे अन्तरात्मा हैं। जिस-जिस जीव को करणलब्धि हुई है वह कभी परमात्मा अवश्य बनेगा, अथवा बन रहा है या बन गया है।

(९) नित्य निगोद में एक भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसने कभी पंच लब्धि पाई हो। हाँ, इतर निगोदों में तो ऐसे अनन्त जीव नियम से हैं[३१] (जबकि इतर निगोदों से नित्य निगोद अनन्तगुणा है), यही आश्चर्य है।

हमें भी लब्धिपंचक के स्वरूप परिज्ञान से इन लब्धियों की प्राप्ति हो इसी कामना के साथ लेखनी को विराम देता हूँ।

संदर्भ-सूची

१. संस्कृत-शब्द-कौस्तुभ, पृ. ९९, २. तत्त्वार्थसूत्र, २/५, ३. सर्वार्थसिद्धि, २/१८, ४. सर्वार्थसिद्धि, २/४७, ५. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६१, ६. धवला ८/८६, ७. धवल, १३/२८३, ८. नियमसार, ता०वृं०, १५६, ९. लब्धिसार, गाथा ३, १०. लब्धिसार, गाथा ४, ११. सुदृष्टित, पृष्ठ १५ (जैनपुस्तक भवन, कलकत्ता) १२. चर्चा-समाधान, पृ. ७, १३. लब्धिसार, ५ १४. लब्धिसार, गाथा ६, १५. लाटी संहिता ५/१९, १६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ७४, १७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ८, १८. जयधवला १/२३३ नवसंस्करण तथा पृ. २५७ पुरातन संस्करण, १९. च. समा. पृष्ठ ७. २०. लब्धिसार, ७, २१. लब्धिसार १०, सर्वार्थसिद्धि ३/३८, तिलोयपण्णति १/१२८-१३०, २२. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ६५१, २३. कसायपाहुडसुत्त, पृ. ६२१, २४. कसायपाहुडसुत्त, पृ. ६२१, २५. च.स., पृ. ८, २६. जयधवला १२/, २३४, २७. धवला ६/२२२, २८. धवला १/१८४, २९. जयधवला ४/१००, ३०. सु.तर. पृ. २२१-२२३ तथा ब्रह्मविलास, पृ. १११-११२ ३१. जयधवला, ४/१००

—भीण्डर, जिला-उदयपुर (राज.)

लगते हैं, उनके अनुयायी बन जाते हैं व अपना धर्म छोड़कर उनका ही प्रचार करने लगते हैं।

ऐसा इसलिए होता है कि उन्हें जैन-धर्म के तत्त्वों का विशेष ज्ञान नहीं होता, जिससे उनकी श्रद्धा लुढकने वाले बिन पैंदे के लोटे की तरह हो जाती है। यदि हम इतिहास उठाकर देखें तो जैन धर्म में अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने बड़े बड़े राजा-महाराजाओं को हिंसा छुड़वाकर धर्म मार्ग में लगाया। वर्तमान में कई महान् आचार्य इस धरा पर मौजूद हैं जो अपनी प्रामाणिकता व धर्म-साधना के लिए विख्यात हैं। अतः हम जैन धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखें अपनी भक्ति को कुदेवों को अर्पित नहीं करे।

यहां प्रश्न उठता है कि सद्गुणों की प्रशंसा में भला दोष कैसा? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि गुणों के साथ दोषों पर भी विचार किया जाना चाहिए। किसी के गुण बताने के साथ-साथ उसके दोष भी बताने चाहिए ताकि व्यक्ति गुणावगुणों पर विचार कर सम्यक् निर्णय ले सकें। हमारे देव सब दोषों से रहित होते हैं अतः उनसे उत्तम कोई हो ही नहीं सकता।

(५) **परपाषंडपरिचय**—सम्यक्त्व का पांचवा दोष है परपाषंड परिचय। मिथ्या-मतियों से सम्पर्क बढ़ाना, उनसे परिचय करना परपाषंड परिचय कहलाता है। कहते हैं संगति का असर मानव पर होता ही है। वह जैसी संगति में पड़ता है वह वैसा ही हो जाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति, वृद्धि व शुद्धि के लिए परमार्थ परिचय जितना आवश्यक है उतना ही परपाषंडी परिचय से दूर रहना भी आवश्यक है।

हम मिथ्यामतियों के सम्पर्क में रहेंगें तो धीरे-धीरे हमें उनके सिद्धान्त सही लगने लगेंगे। हम उनके देव-गुरुओं को ही अपना मानने लगेंगे, तथा वास्तविक धर्म को भूल जायेंगे। इसलिए जब तक सम्यक्त्व की दृढ़ता न हो तब तक परपाषंड परिचय त्याज्य है। हमें अपने धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखकर मिथ्यामतियों के संसर्ग से बचना चाहिए।

सम्यक्त्व के पाँच भूषण

सम्यक्त्व के दोषों पर विचार करने के पश्चात् इसके भूषणों पर विचार किया जा रहा है। जैसे सहज सौन्दर्य युक्त शरीर सुन्दर वस्त्राभूषणों के धारण करने से निखर उठता है वैसे ही जिन कारणों से सम्यक्त्व चमकने लगता है वे सम्यक्त्व के भूषण कहलाते हैं। सम्यक्त्व के ५ भूषण निम्न प्रकार बताए गए हैं—

(१) **स्थिरता**—धर्म में स्थिर बने रहना स्थिरता भूषण है। जिनेन्द्र भगवान् ने जो मार्ग बताया है वही सत्य है। उसके अतिरिक्त दूसरे सब मार्ग मिथ्या हैं। धर्म में स्थिर रहने वालों से इतिहास भरा पड़ा है। इनमें कामदेव, सेठ सुदर्शन आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन्होंने मारणान्तिक कष्ट उपस्थित होने पर अपने धर्म को नहीं छोड़ा। ये कष्टों से जरा भी विचलित नहीं हुए और अन्त में जीत इन्हीं की हुई। हमें भी न केवल स्वयं दृढ़ रहना चाहिए बल्कि धर्म से डिगते हुए प्राणियों को भी समझाकर धर्म में पुनः स्थिर करना चाहिए।

अपना धर्म छोड़कर उनके धर्म की चाह करने लगते हैं।

अनेक बार हमें प्रलोभन मिलते हैं, हमें उपहार आदि का लालच दिया जाता है अथवा हमारी भौतिक लालसाओं जैसे धनादि की प्राप्ति, आरोग्य की प्राप्ति, पुत्र की प्राप्ति आदि के कारण भी प्रपञ्ची गुरुओं एवं देवों को मानने लगते हैं जिससे हमारे सम्यक्त्व में मलीनता आने लगती है।

हमें विचार करना चाहिए कि हमारे गुरु विशिष्ट व्रत नियमों का पालन करने वाले हैं तथा भगवान् के बताये मार्ग पर चलने वाले हैं उनकी साधना राग-द्वेष को जीतने के लिए होती है अतः उनसे अन्य को विशिष्ट मानना भूल है।

(३) **विचिकित्सा**–धर्म के फल में सन्देह करना विचिकित्सा दोष है। हम धर्म करते हैं, लेकिन जब उसका प्रत्यक्ष फल नजर नहीं आता तो फल में सन्देह होने लगता है कि क्या पता इस तपस्या, विरति एवं धार्मिक क्रिया-कलापों का कोई फल मिलेगा या नहीं?

कोई व्यक्ति खूब सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास-पौषध आदि क्रियाएं करता है, वर्षों तक करता रहता है, लेकिन जब वह वर्तमान जीवन में देखता है कि वह जो चाहता है वह नहीं मिल रहा है, जैसे धनादि का लाभ, मान-सम्मान, पुत्रादि की प्राप्ति, आरोग्य आदि, तो उसे लगने लगता है कि यह सब बेकार है। उसे सन्देह होने लगता है कि आगे भी इनका फल मिलेगा या नहीं।

यहां यह विचार करना चाहिए कि धर्म का भौतिक वस्तुओं से कोई संबंध नहीं है। धर्म करते समय हम जिन वस्तुओं को छोड़ते हैं उनको फल रूप में चाहना उपयुक्त नहीं है। धर्म तो सुख और शांति प्रदान करने वाला है। धर्म का फल तो तुरन्त मिलता है। यदि हम क्रोध छोड़ते हैं तो शान्ति उसी क्षण मिलती है। अतः धर्म के फल में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

साधुओं के मलिन वस्त्र देखकर उनसे घृणा करना भी विचिकित्सा के अन्तर्गत आता है। हमारे साधु छह काया के रखवाले होने के कारण बाहरी रंग-रूप, वस्त्र आदि पर ध्यान न देकर अपनी आत्मसाधना पर ही ध्यान केन्द्रित रखते हैं। अतः उनके बाहरी रूप-वस्त्रादि को देखकर घृणा करना ठीक नहीं है। श्रमणों का जीवन लोककल्याण के लिए होता है। वे भटके हुए अनेक मानवों को सन्मार्ग दिखाते हैं अतः हमें उनके गुणों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। बाहर के स्थान पर अन्तर की ओर झांकना चाहिए।

(४) **परपाषंड-प्रशंसा**–मिथ्यामति व जिनधर्म के विपरीत प्रचारकों की प्रशंसा करना परपाषंड प्रशंसा कहलाता है। कुछ अजैन अपने जप-तप, साधना एवं विशिष्ट वक्तृत्व-शैली के कारण सामान्य मनुष्यों से अधिक विशेषता वाले होते हैं तथा अपना अधिकांश समय जनता की सेवा में बिताते हैं। वे विभिन्न चमत्कार दिखा कर आम जनता को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। उनका रहन-सहन खान-पान, आचार-विचार और जीवन-चर्या लौकिक दृष्टि से अनुकरणीय होती है जिससे विरोधी पक्ष भी उनका आदर-सत्कार करने लगता है। कई जैन भाई भी उनकी प्रशंसा करने

सम्यग्दर्शन सम्प्रदायवाद नहीं

✠ डॉ. दयानन्द भार्गव*

तत्त्वार्थसूत्र के साथ जैसे ही जैन-परम्परा का दार्शनिक युग प्रारंभ हुआ, सम्यग्दर्शन का महत्त्व सम्मुख आने लगा, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र का प्रारंभ ही सम्यग्दर्शन से होता है, यथा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' यों तत्त्वार्थसूत्र से पहले भी आचारांग में सम्यग्दर्शन की महिमा इन शब्दों में प्रकट की गई है कि सम्यग्दृष्टि कोई पाप नहीं करता 'समत्तदंसी न करेति पावं।'[१] इस प्रकार के सभी वक्तव्यों से सम्यग्दर्शन की महिमा उजागर होती है। भिन्न-भिन्न जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन को भिन्न-भिन्न शब्दों में वर्णित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, सद् देव, सद् गुरु तथा सच्छास्त्र के प्रति श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, इत्यादि।

इस पृष्ठभूमि में सम्यग्दर्शन को देखें तो उसके दो स्वरूप सम्मुख आते हैं—१.आध्यात्मिक और २. साम्प्रदायिक। हमारी दृष्टि यह है कि सम्यग्दर्शन के साम्प्रदायिक स्वरूप को अधिक से अधिक गौण करते हुए आध्यात्मिक स्वरूप को अधिक से अधिक मुख्यता देनी चाहिए।

प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी कुछ न कुछ पहचान बनानी पड़ती है। सम्यग्दर्शन जैन सम्प्रदाय की पहचान है। आज से लगभग ४८ वर्ष पूर्व १२ वर्ष की बाल्यावस्था में मैंने किसी जैन ग्रन्थ में यह श्लोक पढ़ा था—

ज्ञानचारित्रहीनोऽपि जैनः पात्रायतेतराम्।
ज्ञानचारित्रयुक्तोऽपि न पुनरितरो जनः॥

श्लोक का सीधा-सादा अर्थ यह है कि जैन भले ही ज्ञान और चारित्र से हीन हो, किन्तु वह पात्र है जबकि अजैन ज्ञान और चारित्र से युक्त भी क्यों न हो, किन्तु वह पात्र नहीं है। मैं क्योंकि जैन नहीं हूँ, इसलिए इस श्लोक को पढ़कर मेरे मन में बहुत आक्रोश उत्पन्न हुआ। आज कुछ समझ की परिपक्वता के साथ इस श्लोक पर मुझे वैसा आक्रोश उत्पन्न नहीं होता। १२ वर्ष की अवस्था में जब इस श्लोक की संगति मैंने जैन विद्वानों से जाननी चाही तो उन्होंने कहा कि यहां जैन का अर्थ सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र निरर्थक हो जाते हैं, इसलिए इस श्लोक में सम्यग्दृष्टि को ही पात्र बताया गया है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। श्लोक की यह व्याख्या ठीक हो सकती है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस श्लोक में जैन आचार्य सम्यग्दर्शन का प्रयोग साम्प्रदायिक घेराबंदी बनाने के लिए कर रहे हैं।

ऊपर हमने सद् देव, सद् गुरु और सत् शास्त्र का नाम सम्यग्दर्शन के प्रसंग में लिया है। इस संदर्भ में भी एक रोचक घटना मुझे याद आ रही है। दिगम्बर सम्प्रदाय के एक साधक ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में एक वस्त्रयुक्त महापुरुष का चित्र देकर उसके नीचे सद् गुरुदेव लिख दिया। इस बात को लेकर उस जैन साधक के विरुद्ध एक मुहिम खड़ी कर दी गई कि सद् गुरु तो दिगम्बर ही हो सकता है, वस्त्र सहित चित्र के नीचे 'सद्गुरु' शब्द लिखना मिथ्यादृष्टि का सूचक है। यह घटना भी

---

* आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

(२) **प्रभावना**—सम्यक्त्वी को जिनधर्म का मान-सम्मान बढ़ाने के लिए प्रयासरत रहना चाहिए। सम्यक्त्वी का यह कर्त्तव्य है कि जिनमत में फैले हुए भ्रम का निवारण कर जिनधर्म की लौकिक व लोकोत्तर महिमा को प्रकाशित करे। जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। इसके सारे सिद्धान्त कारण-कार्य के सिद्धान्त पर आधारित हैं। इसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों को जनसाधारण को समझाकर तथा उनमें श्रद्धा उत्पन्न कर जिनधर्म की प्रभावना की जा सकती है। जिनधर्म पर संकट आने पर उसे दूर करने का यथासंभव प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार इन शुभ एवं उत्साहजनक प्रवृत्तियों से सम्यग्दर्शन को सुशोभित किया जा सकता है।

(३) **भक्ति**—गुरुजनों की भक्ति, विनय एवं वैयावृत्त्य से सम्यक्त्व निखरता है। सम्यक्त्वी को देव, गुरु व धर्म की सम्यगाराधना करनी चाहिए। जब भी गुरुदेव पधारें उनके दर्शन का लाभ लेकर उपदेशों के श्रवण को हृदयंगम करना चाहिए। उनकी आवश्यकताओं का यथासंभव ध्यान रखना चाहिए। अपने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र में जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हों उनका आदर सत्कार करना चाहिए चाहे वे उम्र में छोटे ही क्यों न हों। इस प्रकार भावपूर्ण भक्ति से सम्यक्त्व सुशोभित होता है।

(४) **कौशल**—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का सांगोपांग अधिकृत ज्ञान का नाम 'कौशल' या 'जिनशासन में निपुणता' नामक भूषण है। सम्यक्त्वी को जैनागमों एवं धर्म के गूढ़ रहस्यों की जानकारी होनी चाहिए ताकि वाद-विवाद होने पर अपने धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित कर सके। अधिकृत ज्ञान होने से स्वयं का आचरण तो सुन्दर बनता ही है साथ ही दूसरे लोगों को भी आसानी से समझाया जा सकता है। ज्ञान व क्रिया का समन्वय होने से वह दूसरे लोगों को भी धर्म में स्थिर करने में सक्षम होता है।

(५) **तीर्थसेवा**—चतुर्विध संघ, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका की यथोचित सेवा करना भी सम्यक्त्व को दृढ़ करता है। दान-सेवा के सौरभ से सुवासित होकर सम्यक्त्व और भी देदीप्यमान बन जाता है। सम्यक्त्वी को जब भी अवसर मिले, उसे महान् आत्माओं का सान्निध्य प्राप्त कर उनकी सेवा-सुश्रूषा का ध्यान रखना चाहिए। सेवा निर्जरा का एक महान् कारण है। जैसे लोहा पारस के सम्पर्क में आते ही सोना बन जाता है वैसे ही चतुर्विध संघ की सेवा दोषों को दूर कर गुणों को प्रकट करती है, अहं को गलाती है जिससे सेवक का व्यक्तित्व निखरने लगता है तथा हृदय में सरलता उत्पन्न होती है। इससे उसकी आत्मा निर्मल होती चली जाती है।

अतः हमें उक्त प्रकार के भूषणों से सम्यक्त्व को मंडित कर उसे दोषों से बचाना चाहिए तभी हमारा सम्यक्त्व सुरक्षित रह सकेगा।

—२३५१, राजा शिवदास जी का रास्ता,
गणगौरी बाजार, जयपुर

पिच्छत्त-कसायासंजमेहि जस्सादेसेण परिणमइ।
जीवो तस्सेव खया तव्विवरीदे गुणे लहइ ॥—धवला पुस्तक ७, गाथा ७

जिस मोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व, कषाय और असंयम रूप में परिणमन करता है, उसी मोहनीय के क्षय से इनके विपरीत गुणों को प्राप्त करता है।

शब्द लोक-प्रचलित है। किन्तु सम्प्रदाय का एक शास्त्रीय अर्थ भी है। यों तो किसी व्यक्ति को बिना किसी निमित्त के भी आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है, किन्तु अधिकतर आध्यात्मिक अनुभूति में सबसे बलवान् निमित्त ऐसा व्यक्ति रहता है जो स्वयं सत्य का अनुभव कर चुका हो। जब किन्हीं साधकों के लिए कोई ऐसा अनुभवी व्यक्ति आत्मानुभूति में निमित्त बनता है तो वे व्यक्ति उस सिद्धपुरुष के प्रति कृतज्ञता के भाव से भरकर उसे अपना गुरु मान लेते हैं। ऐसे सब व्यक्ति जो किसी एक व्यक्ति को अपना गुरु मानते हैं, एक सम्प्रदाय का निर्माण करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय अर्थ में सम्प्रदाय का अभिप्राय है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक आध्यात्मिक अनुभव का जीवन्त आदान-प्रदान। इस अर्थ में सम्प्रदाय आध्यात्मिक-साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनता है। किन्तु इस विशुद्ध आध्यात्मिक प्रयोजन के अतिरिक्त किसी अन्य लौकिक प्रयोजन के लिए जब कुछ व्यक्ति गठबंधन कर लेते हैं तो वह सम्प्रदाय अध्यात्म में साधक न होकर बाधक ही सिद्ध होता है।

संसार के सभी सम्प्रदायों पर दृष्टिपात करें तो जैनाचार्यों की इसके लिए प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने जैन सम्प्रदाय का आधार सम्यग्दर्शन जैसी आन्तरिक अवधारणा को बनाया ताकि सम्प्रदाय कोई लौकिक रूप धारण न कर ले। सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से है। यह प्रकृति में घटने वाली एक घटना है, कोई जोड़ तोड़ बैठाना वाला गठबंधन नहीं। यदि किसी को जैन सम्प्रदाय में जाना हो तो उसे सम्यग्दृष्टि होना ही होगा। किन्तु सम्यग्दृष्टि क्योंकि एक आन्तरिक घटना है, जिसका कोई बाह्य प्रमाण नहीं है, इसलिए सम्यग्दर्शन के व्यावहारिक रूप की भी चर्चा शास्त्रों में है। जैन-परम्परा में प्रत्येक अवधारणा को दो दृष्टियों से देखा जाता है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यवहार स्थूल है, प्रत्यक्षगोचर है, परमार्थ सूक्ष्म है, परोक्ष है। व्यवहार को शरीर कहें तो परमार्थ को आत्मा कहना चाहिए। परमार्थ के बिना व्यवहार ऐसा ही है जैसा आत्मा के बिना शरीर। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो, अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त हो तो शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य का उदय हो, इन्द्रियों को जीतने वाले जिनों को व्यक्ति अपना उपास्य माने,—ये सब सम्यग्दर्शन के पारमार्थिक लक्षण हैं। इन कसौटियों पर कसकर साधक अपने सम्बन्ध में यह निर्णय ले सकता है कि वह सम्यग्दर्शन के कितना निकट या दूर है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के ये लक्षण परोक्ष हैं, इसलिए किसी दूसरे के संबंध में यह घोषणा करना उचित नहीं है कि वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं है।

सम्यग्दर्शन व्यक्ति के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है जिसे जैन शास्त्रों में ग्रन्थिभेद जैसा सार्थक नाम दिया गया है। तीन प्रकार की परम्पराएं देखने में आती हैं- (१)मुसलमान, ईसाई जैसे सम्प्रदाय अपने सम्प्रदाय के विस्तार में विश्वास रखते हैं। इसलिए वे धर्मान्तरण में विश्वास रखते हैं। उनके लिए धर्मान्तरण का अर्थ है कुछ विशेष मान्यताओं को स्वीकार करना। (२) दूसरी ओर वैदिक-परम्परा धर्मान्तरण में विश्वास नहीं रखती। (३) जैन-परम्परा सम्यग्दर्शन के माध्यम से धर्मान्तरण में नहीं व्यक्ति के रूपान्तरण में विश्वास रखती है। यदि हम जैन धर्म की इस विशेषता को

सम्यग्दर्शन को साम्प्रदायिकता के घेरे में बांधने के प्रयत्न की ओर इंगित करती है। मैं स्वयं एक बार दिगम्बर जैनों की सभा में आचार्य कुन्दकुन्द पर भाषण देने के बाद एक श्वेताम्बर आचार्य के दर्शन करने गया तो, वहां उन श्वेताम्बर आचार्य के कुछ अनुयायियों ने यह कहा कि मैं (लेखक) तो मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि उनकी दृष्टि में आचार्य कुन्दकुन्द पर बोलना मिथ्यादर्शन की प्रशंसा करना था। इन सब घटनाओं के वर्णन करने का उद्देश्य केवल यह है कि यदि हम सम्यग्दर्शन जैसे रत्न को साम्प्रदायिक घेराबंदी बनाने के काम में लेते हैं तो सचमुच ही हम रत्न से कौए उड़ाने का वह काम ले रहे हैं जो एक कंकर से ही किया जा सकता है।

जैन-परम्परा के मूल में जाएं तो सम्यग्दर्शन का एक अत्यन्त गहरा गैर-साम्प्रदायिक और आध्यात्मिक रूप हमें प्राप्त होगा। उदाहरणतः जैन-परम्परा मानती है कि तिर्यञ्च भी सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। स्पष्ट है कि यहां सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मा की निर्मलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तिर्यञ्च जीव-अजीव, आश्रव-बंध इत्यादि तत्त्वों का विश्लेषण करके उनमें श्रद्धा करते हों, ऐसा संभव नहीं है। न ही उनका सम्यग्दर्शन किसी विशेष देव, गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से बंधा हो सकता है। उनका सम्यग्दर्शन तो केवल चेतन के उस परिणमन से जुड़ा हो सकता है जहां मान, माया, क्रोध, लोभ जैसी कषायों की पकड़ कुछ शिथिल पड़ती है।

कषायों की इस मन्दता का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं। यह नितान्त वैयक्तिक मामला है। जब हम सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग का प्रारंभ बिन्दु मानते हैं तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि जब तक व्यक्ति की कषाय मन्द पड़नी प्रारंभ न हो तब तक मोक्ष की यात्रा का प्रारम्भ नहीं माना जा सकता। सम्यग्दर्शन के इस स्वरूप का साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन के जो लक्षण बताए हैं—मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव, वे भी इसी ओर इंगित करते हैं कि सम्यग्दर्शन का एक व्यावहारिक रूप है जो जीवन के आचरण में अभिव्यक्त होता है। यदि सम्यग्दर्शन की ऐसी उदार परिभाषा को मानें तो सम्प्रदाय की दीवारों को तोड़कर सम्यग्दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाएगा। जैन-परम्परा के मूल में सम्यग्दर्शन का ऐसा ही व्यापक रूप परिलक्षित होता भी है। किन्तु इसके विपरीत यदि सम्यग्दर्शन को दार्शनिकों के विवाद में उलझा दें तो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के बीच ऐसी विभाजक रेखाएं खिंच जाती हैं जो विवाद में उलझाए रखने के लिए तो बहुत उपयुक्त हैं, किन्तु उनका जीवन से कोई संवंध नहीं है। 'केवली कवलाहार करता है या नहीं" जैसे प्रश्नों को सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन की अवधारणाओं से जोड़कर ऐसे शुष्क कलह उत्पन्न किए जा सकते हैं जो मोक्षमार्ग का प्रारंभ बिन्दु न होकर, वन्ध-मार्ग का प्रारंभ विन्दु वन जायें।

सम्प्रदायवाद के राजनैतिक या सामाजिक दुष्प्रभावों की चर्चा यहां प्रासंगिक नहीं है। किन्तु अध्यात्म की दृष्टि से सम्प्रदाय जितने सूक्ष्म, किन्तु सुदृढ राग-द्वेषों को जन्म देता रहा है वह इतिहास के अध्येताओं से छिपा नहीं है। अध्यात्म का एकमात्र लक्ष्य राग-द्वेष का समूलोन्मूलन है, जवकि सम्प्रदाय यत्किञ्चित् राग-द्वेष पर ही खड़ा होता है। हम यहां सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में कर रहे हैं जिस अर्थ में यह

शब्द लोक-प्रचलित है। किन्तु सम्प्रदाय का एक शास्त्रीय अर्थ भी है। यों तो किसी व्यक्ति को बिना किसी निमित्त के भी आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है, किन्तु अधिकतर आध्यात्मिक अनुभूति में सबसे बलवान् निमित्त ऐसा व्यक्ति रहता है जो स्वयं सत्य का अनुभव कर चुका हो। जब किन्हीं साधकों के लिए कोई ऐसा अनुभवी व्यक्ति आत्मानुभूति में निमित्त बनता है तो वे व्यक्ति उस सिद्धपुरुष के प्रति कृतज्ञता के भाव से भरकर उसे अपना गुरु मान लेते हैं। ऐसे सब व्यक्ति जो किसी एक व्यक्ति को अपना गुरु मानते हैं, एक सम्प्रदाय का निर्माण करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय अर्थ में सम्प्रदाय का अभिप्राय है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक आध्यात्मिक अनुभव का जीवन्त आदान-प्रदान। इस अर्थ में सम्प्रदाय आध्यात्मिक-साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनता है। किन्तु इस विशुद्ध आध्यात्मिक प्रयोजन के अतिरिक्त किसी अन्य लौकिक प्रयोजन के लिए जब कुछ व्यक्ति गठबंधन कर लेते हैं तो वह सम्प्रदाय अध्यात्म में साधक न होकर बाधक ही सिद्ध होता है।

संसार के सभी सम्प्रदायों पर दृष्टिपात करें तो जैनाचार्यों की इसके लिए प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने जैन सम्प्रदाय का आधार सम्यग्दर्शन जैसी आन्तरिक अवधारणा को बनाया ताकि सम्प्रदाय कोई लौकिक रूप धारण न कर ले। सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से है। यह प्रकृति में घटने वाली एक घटना है, कोई जोड़ तोड़ बैठाना वाला गठबंधन नहीं। यदि किसी को जैन सम्प्रदाय में जाना हो तो उसे सम्यग्दृष्टि होना ही होगा। किन्तु सम्यग्दृष्टि क्योंकि एक आन्तरिक घटना है, जिसका कोई बाह्य प्रमाण नहीं है, इसलिए सम्यग्दर्शन के व्यावहारिक रूप की भी चर्चा शास्त्रों में है। जैन-परम्परा में प्रत्येक अवधारणा को दो दृष्टियों से देखा जाता है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यवहार स्थूल है, प्रत्यक्षगोचर है, परमार्थ सूक्ष्म है, परोक्ष है। व्यवहार को शरीर कहें तो परमार्थ को आत्मा कहना चाहिए। परमार्थ के बिना व्यवहार ऐसा ही है जैसा आत्मा के बिना शरीर। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो, अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त हो तो शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य का उदय हो, इन्द्रियों को जीतने वाले जिनों को व्यक्ति अपना उपास्य माने,—ये सब सम्यग्दर्शन के पारमार्थिक लक्षण हैं। इन कसौटियों पर कसकर साधक अपने सम्बन्ध में यह निर्णय ले सकता है कि वह सम्यग्दर्शन के कितना निकट या दूर है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के ये लक्षण परोक्ष हैं, इसलिए किसी दूसरे के संबंध में यह घोषणा करना उचित नहीं है कि वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं है।

सम्यग्दर्शन व्यक्ति के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है जिसे जैन शास्त्रों में ग्रन्थिभेद जैसा सार्थक नाम दिया गया है। तीन प्रकार की परम्पराएं देखने में आती हैं- (१)मुसलमान, ईसाई जैसे सम्प्रदाय अपने सम्प्रदाय के विस्तार में विश्वास रखते हैं। इसलिए वे धर्मान्तरण में विश्वास रखते हैं। उनके लिए धर्मान्तरण का अर्थ है कुछ विशेष मान्यताओं को स्वीकार करना। (२) दूसरी ओर वैदिक-परम्परा धर्मान्तरण में विश्वास नहीं रखती। (३) जैन-परम्परा सम्यग्दर्शन के माध्यम से धर्मान्तरण में नहीं व्यक्ति के रूपान्तरण में विश्वास रखती है। यदि हम जैन धर्म की इस विशेषता को

ध्यान में रखें तो हमें यह भी कहना होगा कि जिस प्रकार जैनमत में कोई जन्म से ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नहीं होता, कर्म से होता है उसी प्रकार कोई किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो जाता। उसके लिए आत्मा की आन्तरिक विशुद्धि आवश्यक है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अन्य परम्पराओं में भी आन्तरिक विशुद्धि को बल दिया जाता है। उदाहरणतः वैदिक-परम्परा में दूसरे जन्म की चर्चा है, जिससे व्यक्ति द्विज बनता है-'संस्कारेण द्विज उच्यते।' किन्तु दुर्भाग्य से वहां भी अनेक बार कन्धे पर यज्ञोपवीत के सूत्र डाल लेने को संस्कार मान लिया जाता है। जबकि संस्कार वस्तुतः एक मानसिक प्रक्रिया है। यज्ञोपवीत आदि उस प्रक्रिया के बाह्य लक्षण मात्र हैं।

अच्छा होगा कि जैन-परम्परा सम्यग्दर्शन की अवधारणा के माध्यम से आध्यात्मिक यात्रा में बाह्य आडम्बर को गौण बनाकर आन्तरिक रूपान्तरण पर बल दे। जैनेतर परम्पराएं भी सम्प्रदाय को रूढ़िवादिता की जकड़ से मुक्त करके चेतना की ऊर्ध्वोन्मुखता पर बल दें । ऐसा होने पर ही व्यक्ति पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकेगा और अध्यात्म समाज की शुद्धि कर सकेगा। अन्ततोगत्वा यही अध्यात्म और विज्ञान का मिलन बिन्दु भी सिद्ध होगा। विज्ञान प्रकृति का विश्लेषण करेगा, अध्यात्म चेतना का विश्लेषण करेगा और दोनों मिलकर पूरे अस्तित्व की सही समझ प्रदान करेंगे।

टिप्पण

१. आचारांग की इस परम्परा की छाया गीता में स्थान-स्थान पर दिखाई देती है। जहां अर्जुन को कृष्ण ने यह आश्वासन दिया है कि यदि वह स्थितप्रज्ञ भाव से युद्ध करेगा तो पाप को प्राप्त नहीं होगा 'नैवं पापमवाप्स्यसि।' पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥-गीता, २.३८

जहां तक इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का प्रश्न है, जैन-परम्परा उससे शतप्रतिशत सहमत है—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो णिंदा पसंसासु तहा माणावमाणओ। उत्तरा. १९.९१

किन्तु उत्तरार्द्ध में दिए गए युद्ध के आदेश से जैन-परम्परा सहमत नहीं है। यही विन्दु प्रवृत्ति और निवृत्ति के परस्पर भिन्न होने का कारण बनता है।

२. इस प्रकार की उक्तियों की तुलना मिस्टर मोहम्मद अली जिन्ना के उस प्रसिद्ध वक्तव्य से की जा सकती है, जिसमें उन्होंने कहा था कि इस्लाम का मानने वाला खराव से खराव आदमी भी इस्लाम न मानने वाले महात्मागांधी की अपेक्षा अच्छा है।

१, विश्वविद्यालय आवास, रेजीडेन्सी रोड, जोधपुर

सम्यग्दृष्टि का चिन्तन

☐ फूलचन्द मेहता

सम्यग्दर्शन है सत्यदृष्टि, तत्त्वदृष्टि यथार्थदृष्टि, शुद्ध चैतन्यदृष्टि या परमात्मदृष्टि। परम प्रतीति, परम अनुभव, परम श्रद्धा एवं अखंड प्रतीति ही सम्यग्दर्शन का मूल है। यही परमार्थ सम्यग्दर्शन है। इसे निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

इस निश्चय सम्यग्दर्शन का कारणभूत व्यवहार सम्यक्त्व है, जिसमें परम वीतराग निर्ग्रन्थ सद्गुरु परमात्मा ही देव हैं, उनकी आज्ञा के परम उपासक निर्ग्रन्थ सद्गुरु भगवन्त ही सुसाधु हैं और जिन प्रणीत मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय धर्म की आराधना ही धर्म है। संक्षेप में कहें तो वीतराग प्रणीत तत्त्वों में निःशंक श्रद्धा ही व्यवहार सम्यक्त्व है।

जड व चैतन्य के गुणधर्मों व लक्षणों का यथावत् स्वरूप समझकर दोनों की भिन्नता का यथार्थ बोध हो जाना, प्रतीति हो जाना सम्यक्त्व है। यही भेदविज्ञान का सार है।

भेदविज्ञान से तात्पर्य है आत्मस्वरूप को अन्य द्रव्यों से भिन्न अनुभव कर लेना। मूलतः जो अरिहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है वही निज आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है । उसी को मोह एवं भ्रान्ति मिटने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन होते समय जीव को यथार्थ निर्णयात्मक बोध निश्चित होता है जिसे निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है—

१. मैं अकेला अनादि-निधन चैतन्य आत्मा हूँ। सर्व संयोगों से रहित अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-वीर्य-उपयोग आदि से युक्त अनंत ऐश्वर्यवान जिनके सदृश परिपूर्ण आत्मा हूँ। मेरी शक्ति महान् है।

२. अनादि से कर्मों का संबंध आत्मा के साथ प्रवाह रूप से है, कोई कर्म अनादि से नहीं, उनका संयोग-वियोग प्रतिसमय होता रहता है। संयोग संबंध एक क्षेत्रावगाह संबंध है तादात्म्य संबंध नहीं। आत्मा अमूर्त्त है उसका मूर्त्त कर्मों के साथ एकत्व हो रहा है। इसी एकत्व के कारण आत्मा में भी मूर्तिकपना माना जाता है। जिस प्रकार एक साथ पिघलाये हुए सुवर्ण व चांदी का एक पिण्ड बनाये जाने पर परस्पर प्रदेशों के मिलने से दोनों में एकरूपता मालूम होती है फिर भी सोना अपने पीत वर्णादि से युक्त व चांदी श्वेत वर्णादि से युक्त ही है। विशेष विक्रिया के आधार पर दोनों भिन्न किये जा सकते हैं। ऐसे ज्ञान से जीव व कर्म या देह का स्वरूप उनके गुणधर्म लक्षणों के आधार पर जाना या अनुभव किया जा सकता है ।

३. कर्म की उत्पत्ति में जीव के ही अज्ञानमय रागादि भावों का योग है और कर्म के उदय में जीव रागादि भाव अनादि से करता आ रहा है। कर्म व रागादि भाव दोनों अनादि से जीव के संयोगी हैं। जैसा कि सोना-किट्टिक का, तुष-कण का, तेल-तिल का, जल-दूध का संबंध देखा जाता है। जैसे विशेष प्रक्रिया से जल को दूध से तेल को तिल से सोने को किट्टिक से अलग किया जाता है वैसे ही परम ज्ञानियों के निश्चय अनुभव से विशेष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना द्वारा आत्मा कर्म रहित होती है। देह में रहते हुए भी देहातीत आत्मा अलग-थलग अनुभव में आती है। यही

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान व सम्यक्त्व है। इस प्रकार केवलज्ञान व अनुमान से आत्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न भासित हुआ । अनादि से कर्म व जीव परस्पर मिले हुए थे फिर भिन्न हुए । जब मिले हुए थे तब भी अपने गुण-धर्म-लक्षणों से भिन्न ही थे, तभी पृथक हुए। इस भिन्नता का बोध, भिन्न करने की प्रक्रिया का मूल भेदज्ञान है।

४. जीव एक है । कर्मों के उदय काल में जीव में अनेक प्रकार के भाव मन्द-मन्दतर, तीव-तीव्रतर होते रहते हैं । जीव एक द्रव्य है जबकि कर्म व देह अनंत परमाणु पुद्गलों का पिण्ड है। इसलिए एक द्रव्य नहीं है । इस तरह दोनों के गुण-धर्म लक्षण-परिणमन भिन्न-भिन्न ही हैं।

५. अमूर्त्तिक का मूर्त्तिक से संबंध कैसे संभव है? जैसे व्यक्त कई परमाणु पुद्गल इन्द्रियगम्य नहीं हैं, वेसे ही सूक्ष्म पुद्गल तथा व्यक्त इन्द्रियगम्य स्थूल पुद्गलों का संबंध माना जाता है । उसी प्रकार मूर्त्तिक कर्मों का अमूर्त्त आत्मा से संबंध होना माना जाता है। फिर भी कोई किसी का कर्ता नहीं। चूंकि ये संबंध अस्थाई हैं।

६. जीव का ज्ञान-दर्शन-वीर्य स्वभाव है। वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म के निमित्त से जितना व्यक्त नहीं है उतने का तो उस काल में अभाव है तथा उन कर्मों के क्षयोपशम से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट हैं, वह उस जीव के ही स्वभाव का अंश हैं, कर्म जनित औपाधिक भाव नहीं। ऐसा स्वभाव अनादि से है और इसी स्वभाव अंश के द्वारा जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है और इस स्वभाव से नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। क्योंकि निज-स्वभाव बन्ध का कारण नहीं होता तथा उन कर्मों के उदय से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभावरूप हैं उनसे भी बन्ध नहीं होता।

७. मोहनीय कर्म के द्वारा जीव को अयथार्थ श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव तथा क्रोधादि कषाय होते हैं। ये यद्यपि जीव के अस्तित्वमय है जीव से भिन्न नहीं हैं जीव ही उनका कर्त्ता है जीव के परिणामरूप ही वे कार्य हैं तथापि उनका होना मोहनीय कर्म के निमित्त से ही है। कर्म निमित्त दूर होने पर उनका अभाव ही होता है, इसलिये ये जीव के निज स्वभाव नहीं, औपाधिक भाव हैं तथा उन भावों द्वारा नवीन बन्ध होता है। इसलिये मोह के उदय से उत्पन्न भाव बन्ध के कारण हैं। अघाती कर्मों के उदय से देह, कुटुम्ब, परिवार, बाह्य सामग्री का संयोग होता है। इनमें शरीर, इन्द्रियां, मन आदि तो जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही होकर एक बंध रूप होते हैं व धन, कुटुम्ब आदि आत्मा से भिन्न रूप हैं इसलिये ये सब बन्ध के कारण नहीं हैं। इनमें आत्मा ममत्वादि करता है, ऐसे भाव ही बन्ध के कारण हैं, पर-द्रव्य बन्ध के कारण नहीं।

८. कर्म के निमित्त से होने वाली नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव गति की पौद्गलिक पर्यायों से भिन्न आत्मा त्रिकाल अनुभव में आती है। गति की पर्यायें अमुक कालवर्ती क्षणिक संयोगी हैं, नश्वर हैं, जबकि संस्कारों से अलग-अलग हैं ऐसी अनुभूति होती है। जानने, देखने, अनुभव करने वाला स्मरण में रखने वाला चेतन आत्मा भिन्न अनुभव में आता है।

९. देह इन्द्रियां, मन-वचन काय योग स्पष्ट भिन्न हैं इनका विषय वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श, शब्द आदि हैं । ये सभी पौद्गलिक ही हैं इन सभी के विभिन्न विषयों को

स्पष्ट जाना जाता है । वह अनुभव-ज्ञान आत्मा का ही है।

१०. आत्मा कर्म के निमित्त से राग-द्वेष, सुख-दुःख युक्त दिखाई देती है। फिर भी इन सुख-दुःख रूप रागादि भावों का स्वरूप जानने, देखने, अनुभव करने में आता है। वेदनभाव संयोगी दिखाई देता है।

११.मैं हूं ऐसे अस्तित्व का बोध प्रतिसमय रहता है।मैं नहीं हूँ ऐसा बोध नहीं होता।

१२. पुनर्जन्म व पूर्वभव के संस्कार होते हैं, वे सत्य सिद्ध होते हैं। अतः शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है। वह आत्मा नित्य है। क्रोधादि प्रकृतियां सर्पादि में जन्म से ही देखने में आती है।

१३. प्रत्येक जड़ एवं चेतन पदार्थ अपनी ही क्रिया करते हैं। शरीर आदि जड़ पदार्थ जड रूप से क्रिया करते हैं जबकि जीव चेतन पदार्थ है। वह जानने, देखने, अनुभव करने रूप चेतन क्रिया ही करता है। यदि ये क्रियायें भिन्न न हों तो दोनों एक हो जायें। इस न्याय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का, एक गुण दूसरे गुण का व एक पर्याय दूसरी पर्याय का कर्त्ता नहीं है। सभी स्वाधीन हैं, यह समझना अनुभवना और मानना सिद्धान्त है।

१४. मैं कर चुका, मैं करता हूं, मैं करूंगा इत्यादि रूप जो अहं प्रत्यय होता है उससे भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। शरीर अर्थात् मन, वचन, काया, इन्द्रियां, आत्मा नहीं, चूंकि मृत शरीर में अहं प्रत्यय नहीं होता । मैं हूं या नहीं, ऐसा संशय भी शरीर के किसी भी अंग में नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष जानना, वेदन होना यह चेतना का ही गुण है।

१५. द्रव्य उसे ही कहते हैं जिसमें उसकी गुण-पर्यायें उसी में व्यापक एवं अभिन्न रूप से रहें एकरूप रहें। द्रव्य में कोई भी गुण नष्ट नहीं होते। मात्र पर्याये पर्यायांतर होती हैं। परिणमन होना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। उनका अस्तित्व त्रिकाल है, नहीं तो कोई द्रव्य कायम नहीं रह सकता।

१६. लोक में प्रत्येक पदार्थ का विरोधी धर्म अवश्य है। जैसे दुःख का प्रतिपक्षी सुख, लोक का अलोक, दिन का रात्रि, वैसे ही जड़ का प्रतिपक्षी चेतन अवश्य है इससे भी आत्मा के मानने की सिद्धि होती है। इससे आत्मा की स्वतंत्रता सिद्ध होती है। इसी तरह छहों द्रव्य अनादि से स्वतंत्र हैं।

१७. जीव औपशमिक आदि भावों वाला है जबकि देह आदि जड़ पदार्थों में ये भाव नहीं होते। जीव के गुण विनय, सरलता, क्षमा, समता, दया, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, उपयोग अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाये जाते। जीव बिना सारा जगत शून्यवत् है।

सम्यग्दर्शन आत्मा का निर्मल परिणाम है अतः चौथे गुणस्थान से सिद्ध तक समान रूप से रहता है, उसका विच्छेद नहीं होता। यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है। इससे देह में आत्मबुद्धि व आत्मा में देहबुद्धि दूर हो जाती है।

ज्ञानी की शरण में समर्पित होकर उनके वचनों को सुनना उनका विचार यथातथ्य करना, उनकी प्रतीति करना व्यवहार सम्यक्त्व है और आत्मा की पहचान-प्रतीति एवं अनुभव परमार्थ समकित है।

३८२, अशोक नगर, उदयपुर (राज.)

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान व सम्यक्त्व है। इस प्रकार केवलज्ञान व अनुमान से आत्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न भासित हुआ । अनादि से कर्म व जीव परस्पर मिले हुए थे फिर भिन्न हुए । जब मिले हुए थे तब भी अपने गुण-धर्म-लक्षणों से भिन्न ही थे, तभी पृथक हुए। इस भिन्नता का बोध, भिन्न करने की प्रक्रिया का मूल भेदज्ञान है।

४. जीव एक है । कर्मों के उदय काल में जीव में अनेक प्रकार के भाव मन्द-मन्दतर, तीव-तीव्रतर होते रहते हैं । जीव एक द्रव्य है जबकि कर्म व देह अनंत परमाणु पुद्गलों का पिण्ड है। इसलिए एक द्रव्य नहीं है । इस तरह दोनों के गुण-धर्म लक्षण-परिणमन भिन्न-भिन्न ही हैं।

५. अमूर्त्तिक का मूर्त्तिक से संबंध कैसे संभव है? जैसे व्यक्त कई परमाणु पुद्गल इन्द्रियगम्य नहीं हैं, वैसे ही सूक्ष्म पुद्गल तथा व्यक्त इन्द्रियगम्य स्थूल पुद्गलों का संबंध माना जाता है । उसी प्रकार मूर्त्तिक कर्मों का अमूर्त्त आत्मा से संबंध होना माना जाता है। फिर भी कोई किसी का कर्ता नहीं। चूंकि ये संबंध अस्थाई हैं।

६. जीव का ज्ञान-दर्शन-वीर्य स्वभाव है। वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म के निमित्त से जितना व्यक्त नहीं है उतने का तो उस काल में अभाव है तथा उन कर्मों के क्षयोपशम से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट हैं, वह उस जीव के ही स्वभाव का अंश हैं, कर्म जनित औपाधिक भाव नहीं। ऐसा स्वभाव अनादि से है और इसी स्वभाव अंश के द्वारा जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है और इस स्वभाव से नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। क्योंकि निज-स्वभाव बन्ध का कारण नहीं होता तथा उन कर्मों के उदय से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभावरूप हैं उनसे भी बन्ध नहीं होता।

७. मोहनीय कर्म के द्वारा जीव को अयथार्थ श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव तथा क्रोधादि कषाय होते हैं। ये यद्यपि जीव के अस्तित्वमय है जीव से भिन्न नहीं हैं जीव ही उनका कर्त्ता है जीव के परिणामरूप ही वे कार्य हैं तथापि उनका होना मोहनीय कर्म के निमित्त से ही है। कर्म निमित्त दूर होने पर उनका अभाव ही होता है, इसलिये ये जीव के निज स्वभाव नहीं, औपाधिक भाव हैं तथा उन भावों द्वारा नवीन बन्ध होता है। इसलिये मोह के उदय से उत्पन्न भाव बन्ध के कारण हैं। अघाती कर्मों के उदय से देह, कुटुम्ब, परिवार, बाह्य सामग्री का संयोग होता है। इनमें शरीर, इन्द्रियां, मन आदि तो जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही होकर एक बंध रूप होते हैं व धन, कुटुम्ब आदि आत्मा से भिन्न रूप हैं इसलिये ये सब बन्ध के कारण नहीं हैं। इनमें आत्मा ममत्वादि करता है, ऐसे भाव ही बन्ध के कारण हैं, पर-द्रव्य बन्ध के कारण नहीं।

८. कर्म के निमित्त से होने वाली नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव गति की पौद्गलिक पर्यायों से भिन्न आत्मा त्रिकाल अनुभव में आती है। गति की पर्यायें अमुक कालवर्ती क्षणिक संयोगी हैं, नश्वर हैं, जबकि संस्कारों से अलग-अलग हैं ऐसी अनुभूति होती है। जानने, देखने, अनुभव करने वाला स्मरण में रखने वाला चेतन आत्मा भिन्न अनुभव में आता है।

९. देह इन्द्रियां, मन-वचन काय योग स्पष्ट भिन्न हैं इनका विषय वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श, शब्द आदि हैं । ये सभी पौद्गलिक ही हैं इन सभी के विभिन्न विषयों को

स्पष्ट जाना जाता है । वह अनुभव-ज्ञान आत्मा का ही है।

१०. आत्मा कर्म के निमित्त से राग-द्वेष, सुख-दुःख युक्त दिखाई देती है। फिर भी इन सुख-दुःख रूप रागादि भावों का स्वरूप जानने, देखने, अनुभव करने में आता है। वेदनभाव संयोगी दिखाई देता है।

११.मैं हूं ऐसे अस्तित्व का बोध प्रतिसमय रहता है।मैं नहीं हूँ ऐसा बोध नहीं होता।

१२. पुनर्जन्म व पूर्वभव के संस्कार होते हैं, वे सत्य सिद्ध होते हैं। अतः शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है। वह आत्मा नित्य है। क्रोधादि प्रकृतियां सर्पादि में जन्म से ही देखने में आती है।

१३. प्रत्येक जड़ एवं चेतन पदार्थ अपनी ही क्रिया करते हैं। शरीर आदि जड़ पदार्थ जड रूप से क्रिया करते हैं जबकि जीव चेतन पदार्थ है। वह जानने, देखने, अनुभव करने रूप चेतन क्रिया ही करता है। यदि ये क्रियायें भिन्न न हों तो दोनों एक हो जायें। इस न्याय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का, एक गुण दूसरे गुण का व एक पर्याय दूसरी पर्याय का कर्त्ता नहीं है। सभी स्वाधीन हैं, यह समझना अनुभवना और मानना सिद्धान्त है।

१४. मैं कर चुका, मैं करता हूं, मैं करूंगा इत्यादि रूप जो अहं प्रत्यय होता है उससे भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। शरीर अर्थात् मन, वचन, काया, इन्द्रियां, आत्मा नहीं, चूंकि मृत शरीर में अहं प्रत्यय नहीं होता । मैं हूं या नहीं, ऐसा संशय भी शरीर के किसी भी अंग में नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष जानना, वेदन होना यह चेतना का ही गुण है।

१५. द्रव्य उसे ही कहते हैं जिसमें उसकी गुण-पर्यायें उसी में व्यापक एवं अभिन्न रूप से रहें एकरूप रहें। द्रव्य में कोई भी गुण नष्ट नहीं होते। मात्र पर्याये पर्यायांतर होती हैं। परिणमन होना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। उनका अस्तित्व त्रिकाल है, नहीं तो कोई द्रव्य कायम नहीं रह सकता।

१६. लोक में प्रत्येक पदार्थ का विरोधी धर्म अवश्य है। जैसे दुःख का प्रतिपक्षी सुख, लोक का अलोक, दिन का रात्रि, वैसे ही जड़ का प्रतिपक्षी चेतन अवश्य है इससे भी आत्मा के मानने की सिद्धि होती है। इससे आत्मा की स्वतंत्रता सिद्ध होती है। इसी तरह छहों द्रव्य अनादि से स्वतंत्र हैं।

१७. जीव औपशमिक आदि भावों वाला है जबकि देह आदि जड़ पदार्थों में ये भाव नहीं होते। जीव के गुण विनय, सरलता, क्षमा, समता, दया, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, उपयोग अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाये जाते। जीव बिना सारा जगत शून्यवत् है।

सम्यग्दर्शन आत्मा का निर्मल परिणाम है अतः चौथे गुणस्थान से सिद्ध तक समान रूप से रहता है, उसका विच्छेद नहीं होता। यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है। इससे देह में आत्मबुद्धि व आत्मा में देहबुद्धि दूर हो जाती है।

ज्ञानी की शरण में समर्पित होकर उनके वचनों को सुनना उनका विचार यथातथ्य करना, उनकी प्रतीति करना व्यवहार सम्यक्त्व है और आत्मा की पहचान-प्रतीति एवं अनुभव परमार्थ समकित है।

३८२, अशोक नगर, उदयपुर (राज.)

सम्यक्त्व का स्पर्श

¤ विद्यानुरागी श्री गौतममुनिजी म.सा.

स्व. आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. के शिष्य एवं वर्तमान आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के आज्ञानुवर्ती संत विद्यानुरागी श्री गौतममुनि जी म.सा. की सन्निधि में श्री मीठालाल जी मधुर के द्वारा ज्ञान-चर्चा में भाग लेते हुए प्रस्तुत संवाद संकलित किया गया है। आशा है जिज्ञासु पाठक इस संवाद से संक्षेप में गहन ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।—सम्पादक

प्रातः लगभग ९ बजे प्रवचन प्रारम्भ हुआ। विशाल जनसमूह तन्मयतापूर्वक साधुजी के पीयूषवर्षी प्रवचन-श्रवण का लाभ ले रहा था। प्रवचन का विषय था-'सम्यक् दर्शन का महत्त्व।' जिनवाणी के अमृतपान से सभी अपने आपको धन्य-धन्य, कृत-कृत्य अनुभव कर रहे थे। प्रवचन-समाप्ति पर स्वाध्यायी बन्धु हंसराज मुदितमन गुरु-चरणों में नमन करता हुआ अपने घर लौटा।

मध्याह्न के समय में हंसराज अपने साथियों (विशाल, मनीष, चन्दन) के साथ धर्म स्थानक में प्रवेश करता है, जहां पहले से ही कुछ भाई-बहनें सामायिक में, ज्ञान-चर्चा करते हुए धर्म स्थानक की शोभा बढ़ा रहे थे और सन्त-समुदाय भी आगम-स्वाध्याय व ज्ञान-चर्चा में तन्मय था। प्रमुख सन्त प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रों का गौर से अवलोकन कर रहे थे। हंसराज आदि उसके सभी साथी वन्दन-नमस्कार कर उनके पास आसनस्थ हो गये। सभी आगन्तुक उन धीर-वीर-सन्त प्रमुख को अपलक निहार रहे थे, ब्रह्मचर्य से दीप्तमान चेहरे पर अलौकिक अपूर्व शान्ति एवं आनन्द झलक रहा था। शम-दम-शान्त मुद्रा में बैठे सच्चे साधुत्व का सभी दर्शन कर रहे थे। इतने में ही गुरुदेव ने उनकी तरफ दृष्टि कर 'दया पालो' कहा तथा वाणी में मिश्री घोलते हुए समूह के साथ आने का कारण पूछा।

हंसराज—गुरुदेव! आज जब मैंने आप द्वारा प्रदत्त प्रवचन 'सम्यक् दर्शन का महत्त्व' विषय पर इन लोगों के बीच चर्चा की तो इन्होंने कुछ अपनी जिज्ञासाएं रखी तो मैंने परामर्श देते हुए कहा कि जब यहां गीतार्थ साधुजी विराज रहे हैं, तो क्यों नहीं वहाँ चलें जहाँ न केवल हमें सन्तोषजनक समाधान मिलेगा, बल्कि जीवन के [illegible] ध्येय का मार्गदर्शन भी प्राप्त हो जायेगा।

गुरुदेव—हंसराज! तुम्हारी भावना बहुत अच्छी है। आज के इस ज़माने में ज़हाँ अधिकांश व्यक्ति राजनैतिक, व्यापारिक, खेल-कूद, तमाशे आदि पर विकथा कर अपने अमूल्य समय का अपव्यय कर देते हैं वहीं तुमने एक आदर्श उपस्थित कर आगमगत सच्चे श्रोता का परिचय दिया है। आगम में यह पढ़ने को मिलता है कि स्थविर भगवन्तों के प्रवचन श्रवण कर तत्त्व रसिक श्रोता चर्चा किया करते थे, जिससे धर्म प्रभावना होती थी। जिनशासन की प्रभावना को जीवंत रखने में तुम्हारा यह प्रयास अनुकरणीय है।

हंसराज—भगवन्! अभी आपको समय की अनुकूलता तो है न?

गुरुदेव–हां-हां, क्यों नहीं। प्रिय आत्मन् ! ये आत्मलक्ष्यी धर्मचर्चाएं तो जहाँ साधक की साधना को पुष्ट करती हैं, वहीं कर्म-निर्जरा का माध्यम भी बनती हैं।

(इस बीच इधर-उधर धर्म-आराधना में बैठे अन्य श्रावक-श्राविकाएं भी उस ज्ञान-चर्चा में सम्मिलित हो जाते है)

विशाल–भंते ! सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

गुरुदेव–विशाल ! समकित समझने से पूर्व उसका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व समझना अति आवश्यक है। तत्त्वों के विपरीत श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं । जैसे जीव को अजीव श्रद्धना, अजीव को जीव श्रद्धना, धर्म को अधर्म श्रद्धना आदि १० बोलों की विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप के श्रद्धान को समकित कहते हैं। वह सम्यक्त्व व्यवहार व निश्चय की अपेक्षा से दो प्रकार का है। व्यवहार में सुदेव, सुगुरु, सुधर्म पर श्रद्धा होना सम्यक् दर्शन है। निश्चय में आत्मा की अनुभूति अर्थात् जड़-चेतन का भेद-ज्ञान होना सम्यग्दर्शन है।

मनीष–गुरुदेव ! क्या सम्यक्त्व के और भी भेद किये गये हैं ?

गुरुदेव–मुख्यतः तीन भेद बताये हैं–उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक।

(१) **उपशम**–जिस जीव ने सात (अनंतानुबंधी चौक, दर्शनत्रिक) प्रकृतियों का उपशमन कर दिया, जीव के ऐसे परिणाम को उपशम समकित कहते हैं। इसमें विपाकोदय एवं प्रदेशोदय दोनों का अभाव रहता है और यह समकित प्रतिपाती है। इसकी स्थिति जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

(२) **क्षयोपशम**–उपर्युक्त सात प्रकृतियों में से चार प्रकृति का क्षय, तीन का उपशम, पांच का क्षय दो का उपशम छह का क्षय एक का उपशम, इन तीन विकल्पों में से कोई भी विकल्प जीव का परिणाम भाव हो तो उसे क्षयोपशम समकित कहते हैं, इसमें सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति का विपाकोदय एवं प्रदेशोदय बना रहता है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागर झाझेरी है।

(३) **क्षायिक**–उपर्युक्त सातों ही प्रकृति का जिसमें क्षय होता है जीव के ऐसे परिणाम को क्षायिक समकित कहते हैं। यह अप्रतिपाती होती है। इसकी स्थिति सादि अनंत है।

इनके अतिरिक्त सास्वादन एवं वेदक को लेकर कुल पांच भेद माने गए हैं।

(४) **सास्वादन**–उपशम समकित से गिरता हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व की अवस्था में नहीं पहुंचता, इस बीच की अवस्था को सास्वादन समकित कहते हैं। जिसकी स्थिति जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट छह आवलिका की है।

(५) **वेदक**–सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन जिसको रहता है उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

यह तीन प्रकार का होता है-१. उपशम २. क्षयोपशम और ३. क्षायिक। इनमें से उपशम एवं क्षायिक वेदक की स्थिति एक समय की है। क्षयोपशम वेदक की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट ६६ सागर झाझेरी है।

अनेक श्रोता–गुरुदेव ! सम्यक् दर्शन से क्या लाभ है और इसकी क्या महिमा है ?

कृपाकर फरमाएं।

गुरुदेव–चतुर्गति रूप इस अनन्त संसार में यह सांसारिक प्राणी अनादि अनन्तकाल से जन्म, जरा, रोग एवं मरण के भीषणतम दुःख उठाता हुआ परिभ्रमण कर रहा है। जीव ने इन दुःखों से मुक्त होने के लिये कठिन साधना की, घोर तपश्चर्या की, गहरे ज्ञान में अवगाहन किया, कषाय-मंदता के लिए प्रखर-साधना भी की और अनेक बार चारित्र-पर्याय (द्रव्य चारित्र) का पालन भी किया, मगर सम्यक् दर्शन के अभाव में समस्त धार्मिक क्रियाकलाप मोक्षमार्ग में एक कदम भी सहायक नहीं बन सके। सम्यक् दर्शन के अभाव में सारा ज्ञान मिथ्या है, सारा तप अज्ञान तप (बालतप) है, सारा चारित्र कोरा क्रियाकांड है। अर्थात् सम्यक्त्व मूल है, नींव है, समस्त धर्म-साधना में आगे बढ़ने की ठोस भूमिका है। जब कभी भी किसी ज्ञानी ने प्रभु प्रार्थना करते हुए याचना की है तो 'सद् बोधिरत्न' की याचना की है, ज्ञान की नहीं चारित्र की नहीं, स्वर्ग-अपवर्ग की नहीं, पूजा-पद प्रतिष्ठा की नहीं, बस एक मात्र 'बोधिरत्न' (सम्यक्त्व) की ही प्रार्थना की है। क्योंकि यह है तो सभी कुछ है। जैसा कि कहा है-

> विनैककं शून्यगणा वृथा यथा विनार्कतेजो नयने वृथा यथा।
> विना सुवृष्टिं कृषिर्वृथा यथा, विना सुदृष्टिं विपुलं तपस्तथा।

अर्थात्-जिस प्रकार एक अंक के बिना केवल शून्यों का कोई मूल्य नहीं, वर्षा के बिना खेती व्यर्थ हो जाती है, आँखे होते हुए भी सूर्य के प्रकाश के बिना उनकी कोई कीमत नहीं है, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि के बिना विपुल तपश्चरण व्यर्थ है। सम्यक् दर्शन बिना कर्म क्षय नहीं, मात्र पुण्य बन्ध हो सकता है। इसीलिए उत्तराध्ययन २८/३० में कहा कि सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के अभाव में चारित्र नहीं, तथा चारित्र के बिना मोक्ष और निर्वाण असंभव है। इसीलिए कहा है कि 'सम्यक् दर्शन आध्यात्मिक विकास का प्रथम सोपान है। सम्यक् दर्शन केवलज्ञान का उत्पत्ति स्थान है जिसे विद्वज्जनों ने केवलज्ञान की जननी भी कहा है।

- यदि जीव एक बार सम्यक्त्व स्पर्श कर ले तो निश्चय ही अधिकतम देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन काल में मुक्ति-लाभ प्राप्त कर लेता है।

- सम्यक्त्व के रहते जीव नारकी, तिर्यंच, भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद--इन सात बोलों का बन्ध नहीं करता।

- यदि सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद मिथ्यात्व में चला भी गया तो भी वह जीव अंतः कोटाकोटी सागरोपम की स्थिति से ज्यादा कर्म बंध नहीं करता।

- यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय और पूर्व में आयु बन्धा हुआ नहीं है तो जीव उसी भव मे मोक्ष चला जाता है, यदि पूर्व में आयुष्य बंध गया तो चार भव से ज्यादा नहीं करता है। मिथ्यात्वी जीव उत्कृष्ट तप करता हुआ करोडों वर्षों में जिन कर्मों को नहीं खपाता उसे सम्यक् दृष्टि अल्पसमय में ही क्षय कर लेता है। हर सम्यक्त्वधारी जीव का दृष्टिकोण इतना सम्यक्, उच्च एवं आदर्श होता है कि सांसारिक-क्रियाकलाप करता हुआ भी वह जल कमलवत् निर्लिप्त रहता है तथा वह

अभिनेता की तरह हानि-लाभ, संयोग-वियोग, जय-पराजय में सुख-दुःख नहीं मानता। संसार को कैद समझता है व खुद को घर का स्वामी नहीं ट्रस्टी समझता है। चारित्र के अभाव में भी इन्द्रियजन्य भोगों में आसक्त नहीं होता, आत्मभाव में परम आनन्द की अनुभूति करता हुआ परभावों से विरत रहता है। ममत्व एवं आसक्ति के जाल से बचता हुआ एकांत आत्मधन की सुरक्षा में सजग एवं देहातीत बन कर रहता है। उसका आत्मबल इतना प्रखर होता है कि वह किसी भी परिस्थिति से विचलित नहीं होता। यदि श्रमणोपासक अर्हन्निक श्रावक का सम्यक् दर्शन इतना प्रभावी नहीं होता तो वह उपसर्ग से भटक जाता, लेकिन संयोग-वियोग में उसका दृष्टिकोण सम्यक् तथा नव तत्त्व की आत्मस्तर तक उसे अनुभूति थी।

उपर्युक्त भाव निश्चय सम्यक्त्वधारी में पाए जाते हैं, जो जन्म-मरण की दुःख मूलक परम्परा का उच्छेद कर अन्ततः जीवन के सच्चे ध्येय एवं लक्ष्य रूप परम आनंद, शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।

चन्दन—गुरुदेव! महती कृपा कर आपने सम्यक्त्व की महिमा बताई लेकिन ऐसे लाभकारी सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय क्या है?

गुरुदेव—कर्मों की स्थिति जब अन्तः कोटा-कोटि के भीतर आती है तब जीव में सम्यक्त्व प्राप्ति की पात्रता आती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा—(१) निसर्गज और (२) अधिगमज

(१) निसर्गज—अर्थात् स्वाभाविक रूप से स्वतः प्राप्त होना।

(२) अधिगमज—अर्थात् गुरु के उपदेश अथवा बाह्य निमित से प्राप्त होना। वैसे अन्तरंग में तो मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम, क्षयोपशम रहता है। इसके लिये जीव तीन करण करता है (करण-आत्मशक्ति को कहते हैं)—१. यथा-प्रवृत्तिकरण २. अपूर्वकरण एवं ३. अनिवृत्तिकरण।

१. यथा प्रवृत्तिकरण वाला ग्रन्थि-भेद तक पहुँच जाता है, अभवी जीव भी अनेक बार यथाप्रवृत्तिकरण कर लेता है।

(२) अपूर्वकरण वाला ग्रन्थिभेद के लिये प्रयत्न करता है।

(३) अनिवृत्तिकरण वाला ग्रन्थिभेद करके ही रहता है। अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करके ही रहता है। समझने के लिये जैसे कुछ लोग पहाड़ी रास्ते से ग्रामांतर जा रहे थे। मार्ग में डाकू मिल गए। कुछ तो डाकुओं को देखकर पुनः लौट गये। कुछ ने साहस कर मुकाबला किया मगर विजय नहीं पा सके और कुछ ने मुकाबला कर विजय मिला ली। इसी क्रम में यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण को समझना चाहिये।

- और वैसे उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में वर्णित, निसर्गरुचि, उपदेश रुचि आदि १० रुचियों की निरन्तर आराधना करनी चाहिये।

विशाल—गुरुदेव! सम्यक्त्व को पुष्ट करने एवं इसे स्थिर रखने में किन बातों की अपेक्षा है?

गुरुदेव—सम्यक्त्व की स्थिरता तभी तक है जब तक जीव की जीवादि नव तत्त्वों पर, सुदेव, सुगुरु, सुधर्म पर एवं आत्मभाव पर अटल आस्था रहती है।

- उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन की ३१ वीं गाथा में सम्यक्त्व के जो आठ अंग बताए हैं उन पर चिन्तन करने से सम्यक्त्व पुष्ट होता है और सम्यक्त्व के पांच दूषण से बचकर रहने से रक्षा होती है। जिसने सम्यक्त्व का वमन कर दिया उसकी संगति से दूर रहने और विशेष रूप से निरंतर स्वाध्याय, ध्यान, संत-सान्निध्य में तत्पर रहने से सम्यक्त्व पुष्ट एवं स्थिर रहता है।

विशाल—गुरुदेव! अनादि का मिथ्यात्वी क्या उसी भव में मोक्ष लाभ प्राप्त कर सकता है?

गुरुदेव—अनादि का मिथ्यात्वी उसी भव में पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में फिर सातवें गुणस्थान में और फिर आगे क्षपक श्रेणी करता हुआ अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष जा सकता है।

(इसी बीच एक स्वाध्यायी बन्धु ने उपर्युक्त कथन को पुष्ट करते हुए बात रखी कि किसी भी सम्यक्त्वधारी का भवी होना जरूरी है। साथ ही कृष्णपक्ष से शुक्लपक्षी होना जरूरी है, जिसका कालमान कुछ कम अर्ध पुद्गल-परावर्तन माना गया। वही अनादि का मिथ्यात्वी मुक्ति लाभ अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त करता है।)

गुरुदेव—आपने यह धारणा व्यक्त कर आगम अध्ययन का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया जो कि प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अनुकरणीय है।

मनीष—भन्ते! जब भव्यत्व-अभव्यत्व का निर्णय ही नहीं तो फिर सम्यक्त्व—प्राप्ति के उपाय का प्रयास निष्फल तो नहीं होगा?

गुरुदेव—यद्यपि भव्यत्व-अभव्यत्व का निर्णय केवलीगम्य है तथापि प्राचीन आचार्यों की यह मान्यता रही कि जिसके अन्तर्मन में यह जिज्ञासा होती है कि 'मैं भवी हूँ या अभवी' इस प्रकार की जिज्ञासा ही भव्यत्व की पहचान है अर्थात् भवी के मन में ही ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है । तथापि अनिश्चितता की स्थिति में प्रयास को निष्फल कहना अनुपयुक्त है, क्योंकि जीव जितना शुभ भावों में रहेगा, कषाय मन्द करेगा उतना तनावमुक्त रहेगा, शान्ति मिलेगी, दुर्गति टलेगी।

विशाल—गुरुदेव! यह कैसे ज्ञात करें कि अमुक व्यक्ति सम्यक् दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है?

गुरुदेव—प्रिय विशाल! निश्चय में तो केवली भगवन्त ही बता सकते हैं जैसा कि गत जिनवाणी अंक (मार्च, १९९६) में समाधान प्राप्त हुआ था, स्थानांग सूत्र के दशवें ठाणे में कहा है कि "चार-ज्ञान चौदहपूर्व के धारी छद्मस्थ भी यह निर्णय नहीं दे सकते हैं कि अमुक जीव भव्य है अथवा अभव्य, सम्यक्त्वी है अथवा नहीं, अरूपी भाव होने के कारण विकल प्रत्यक्षज्ञानी अर्थात् अवधि एवं मनःपर्यवज्ञानी छद्मस्थ ऐसा नहीं बता सकते।"

किन्तु व्यवहार में लक्षणों से भी पहचाना जा सकता है। वे लक्षण हैं—

१. शम—कषायों की मंदता

२. संवेग—वैराग्य भाव तथा मोक्ष की अभिलाषा

३. निर्वेद—संसार से उदासीनता

४. अनुकंपा—दुःखियों को देख कर हृदय का पिघलना

५. आस्था—देव, गुरु एवं जिनवाणी के प्रति श्रद्धा।

हंसराज—गुरुदेव! वर्तमान में जो सम्यक्त्व को लेकर जोड़-तोड़ की जाती है, वह कहां तक उचित है?

गुरुदेव—समकित कोई लेने-देने की वस्तु नहीं है, यह तो आत्मिक भाव है, आत्मा की शुद्ध परिणति है। जब तक मोह कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम रहता है तब तक यह रहता है, अन्यथा चला भी जाता है। व्यवहार में जो सम्यक्त्व दिलाई जाती है उसमें मात्र देव, गुरु, धर्म का शुद्ध स्वरूप समझाया जाता है। इस स्वरूप को समझने वाले कम होते हैं। मगर ममत्व को जोड़ने वाले अधिक होते हैं। जहाँ मोह ममता है वहां संसार वृद्धि ही है।

मनीष—तो क्या गुरुदेव, ऐसा कहा जा सकता है कि आज जो अशांति एवं तनाव भरा वातावरण है उसमें एक कारण सम्यक् दर्शन का अभाव भी है।

गुरुदेव—प्रिय मनीष! सत्य कहा तुमने, यही नहीं बल्कि जो साम्प्रदायिकता, पारिवारिक कलह, सामाजिक विग्रह आदि समस्याएं हैं उनमें भी सम्यक् दर्शन का अभाव होना एक कारण है। गहराई से देखें तो समस्त दुःखों का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। यही कारण है कि अठारह पापों में उसे सबसे बड़ा पाप माना गया है। पर में स्व की बुद्धि होने से दुःख की कड़िया जुड़ती हैं। जो वस्तुएं स्वयं क्षणभंगुर हैं, अस्थिर हैं, अशरणभूत हैं, भला वे जड़ वस्तुएं कैसे किसी के शान्ति-आनन्द में सहायक बन सकती हैं। अतः ज्ञाताद्रष्टा बनकर, जगत् को स्वप्नवत् समझ कर आत्म-भाव में रमण करता हुआ आचरण करे तो निश्चित ही वह तनावमुक्त बन सकता है। यही तो सम्यक्त्व का लक्षण है। जितना शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्था का भाव जागेगा, उतना-उतना समस्त दुःख मूलक समस्या का समाधान प्राप्त करेगा।

चन्दन—गुरुदेव! आज हमें पता चला कि गुरु का सान्निध्य कितना सुखद एवं ज्ञानवर्धक है। हम लोग प्रमाद एवं संकोचवश इतने दिन नहीं आये, हमें गहरा पश्चात्ताप है, लेकिन आज की चर्चा ने हमारे अन्तर्मन की आंखें खोल दी। भाई हंसराज! साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने हमारी धर्म रुचि जगाई।

(अन्त में सभी गुरुदेव का मांगलिक श्रवण कर विसर्जित हुए)

प्रेषक—मीठालाल मधुर, मधुर टेक्सटाइल, बालोतरा (राज.)

सम्यक्त्व-प्रकटीकरण भावनाएं

अपनी आत्मा अनादिकाल से सम्यक्त्व के अभाव में अनंत जन्म-मरण के दुःख भोग रही है। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही सब जगह से अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण प्रकट होते ही सब प्रकार के दुःख और दोष नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानी मनुष्य सादा भोजन रोटी, छाछ कढी आदि में ही सुख मानता है पर अज्ञानी या विलासी मनुष्य अनेक प्रकार के भोजन मिलने पर भी एकाध वस्तु न मिलने से क्रोध, अरुचि और दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव नरक में रहते हुए भी अपने पुराने किये हुए कर्मों का नाश होते ही स्वयं शुद्ध होता है। शरीर पर मोह रखने से दुःख होता है। आत्मा अजर, अमर एवं ज्ञान स्वरूप है, ऐसा सोचकर सम्यक्त्वी शांति प्राप्त करता है, पर मिथ्यात्वी जीव बारहवें देवलोक का महान् देवता होने पर भी मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण अन्य देवों की विशेष सम्पत्ति देखकर ईर्ष्या, द्वेष और तृष्णा के दुःख से दुःखी रहता है। इन उदाहरणों का सारांश यही है कि समकित अर्थात् सच्ची समझ ही सुख का मूल है।

अनेक पूर्वाचार्य समकित की भावना का आराधन करने की शिक्षा देते हुए फरमाते हैं—"हे भव्य ! तू छह महीने तक सब कामकाज कोलाहल छोड़कर शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर। शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इन पांच इन्द्रिय-विषयों, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों और आर्त-रौद्र ध्यान (संकल्प-विकल्प) का त्याग कर। एकाग्र चित्त से समकित भावना का चिंतन कर। छह महीने में तुझे अवश्य सम्यक्त्व गुण प्राप्त होगा। आत्मदर्शन अर्थात् शुद्ध निज आत्मा का अनुभव प्राप्त होगा। यही सिद्धों के सुख का आंशिक अनुभव है। यह सम्यक्त्व गुण प्रकट होने के पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति स्वयंसिद्ध है।"

ऐसी कल्याणकारी भावनाएँ शास्त्रकारों और पूर्वाचार्यों ने भाव दया लाकर अनंत जन्म-मरण के दुःख से बचाने के लिए भव्य जीवों के लाभार्थ फरमायी है। वे अनेक स्थानों से यहां संग्रह कर लिखी गई हैं, इनका पढ़ना, मनन करना और चिन्तन करना अपना परमहित साधने में अवश्य लाभदायक है—

(१) सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची समझ मुझे प्राप्त हो।

(२) मिथ्यात्व अर्थात् उलटी समझ का नाश हो।

(३) कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को सच्चे मानने रूप व्यवहार मिथ्यात्व का नाश हो।

(४) व्यवहार नय से **(i)** देव—सर्वज्ञ वीतराग प्रभु **(ii)** गुरु—तत्त्व के ज्ञाता, सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पालने वाले मुनिराज, **(iii)** धर्म—विवेक सहित अहिंसा तथा विषय-कषाय का त्याग। इन व्यवहार देव, गुरु और धर्म की मदद से निश्चय

देव, गुरु और धर्म को प्राप्त करूं। निश्चय तो मैं शुद्ध सिद्ध रूप हूँ, ऐसा स्वानुभूति रूप सम्यक्त्व निश्चय देव है। मैं शरीरादि सकल बाह्य पदार्थों से भिन्न हूँ, अनंत ज्ञानादि गुण मुझ में भरे हैं, ऐसा ज्ञान निश्चय गुरु है। भोगादि सर्व पदार्थ अपने नहीं, ऐसा समझकर उनका त्याग, राग-द्वेष-मोह रहित बन आत्मध्यान में लीन रहना, यह निश्चय चारित्र है। इन गुणों की मुझे प्राप्ति हो। आत्मा को जानना 'ज्ञान' आत्मा की श्रद्धा-अनुभूति 'दर्शन', आत्मा में रमण निश्चय 'चारित्र', इच्छा का त्याग निश्चय 'तप' है तथा इन चारों गुणों में सदा निश्चलता, अक्षीणता होना वीर्य है। ये पांच आचार मुझे प्राप्त होवें।

(५) तत्त्व की अरुचि रूप मिथ्यात्व के चिह्न का नाश होकर मुझे तत्त्व पर अतिशय रुचि हो, यह सम्यक्त्व का चिह्न प्रकट होवे।

(६) पर वस्तु मेरी नहीं है तो उसके नाश से मैं क्यों भय पाऊँ? खेद देह को होता है, आत्मा अनंत वीर्यमय है सो मैं क्यों खेदित बनूं? मेरी आत्मा से भय, द्वेष एवं खेद का नाश हो।

(७) शरीर और अन्य पदार्थों के लिए मैं हिंसा, विषय, कषाय (क्रोधादि) का सेवन करता हूँ। ये दोष दूर हों। मैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप, अशरीरी, अरूपी हूँ। ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव रूप सम्यक्त्व गुण मुझमें प्रकट हो।

(८) आत्मा से भिन्न वस्तुओं को अपनी वस्तुएँ मानने रूप मिथ्यात्व का नाश हो। अविकारी, शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा ही मेरा सत्य स्वरूप है, ऐसा दृढ़ श्रद्धा रूप सम्यक्त्व गुण प्रकट हो।

(९) अनादि काल से मिथ्यात्व, मोह या भूल द्वारा भोग व इन्द्रिय सुख को अपना मानने रूप विपरीत बुद्धि अर्थात् मिथ्यात्व का नाश हो। सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की स्व-पर-प्रकाशक जिनवाणी सुनकर अतीन्द्रिय-आत्मिक सुख का अनुभवरूप समकित गुण प्रकट हो।

(१०) विषयों की इच्छा कर्मरोग की खुजली है, विकार है। इसका नाश हो। विषयेच्छा रहित आत्मिक सुख प्रकट हो।

(११) पर वस्तु की अभिलाषा भी बड़ा भारी दुःख है। इसका नाश हो। पर वस्तु की इच्छा का त्याग, शांति, समभाव एवं अवांछा रूप सत्य सुख प्रकट हो।

(१२) कोई भी संयोग, सुख-दुःख नहीं देते। मैं ही मोह द्वारा, राग-द्वेष की प्रवृत्ति से स्वयं सुख-दुःख उत्पन्न करता हूँ यह मेरी ही भूल है। सत्य ज्ञान प्रकट होकर मोह मिथ्यात्व का नाश हो और सम्यक्त्व गुण प्रकट हो।

(१३) अपनी आत्मा के सिवाय सब पदार्थ दूसरे हैं। उन पर से मोह-ममत्व का नाश हो। आत्मा के शुद्ध गुण प्रकट करने की रुचि उत्पन्न हो।

(१४) बाह्य पदार्थ, शरीर, धन, परिवार, वैभव, निंदा, प्रशंसा, सुख-दुःख में आत्मलीनता का नाश हो।

पुद्गल में राचे सदा, जाने यही निधान।
तस लाभे लोभी रहे, बहिरातम दुःख खान॥
बहिरातम ताको कहे, लखे न आत्मस्वरूप।
मग्न रहे पर द्रव्य में, मिथ्यावंत अनूप॥

भावार्थ–जो आत्मस्वरूप को नहीं पहचानते और इंद्रियों के सुख में मग्न रहते हैं वे बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यात्वी हैं। आत्मज्ञान, आत्मानुभव और समभाव, ये अंतरात्मा के गुण मुझमें प्रगट होवें।

पुद्गल भाव रुचि नहिं, ताते रहत उदास।
अंतर आतम वह लहे, परमातम परकाश॥१॥
अंतर आतम जीवसो, सम्यक् दृष्टि होय।
चौथे अरु पुनि बारवें, गुण थानक लों सोय॥२॥

(१५) शरीर-मोह से शरीरधारी बन सदा जन्म-मरण करने पड़ते हैं। इससे इस शरीर-मोह का नाश हो और परमात्मस्वरूप प्रकट हो।

स्थिर सदा निज रूप में, न्यारो पुद्गल खेल।
परमातम तब जाणिये, नहिं जब भव को मेल॥

भावार्थ–जो आत्मस्वरूप में लीन हैं, पुद्गल को हमेशां भिन्न समझते हैं, जो सर्वज्ञ वीतराग हुए हैं, जिन्हें संसार में भव करने नहीं पड़ते, ऐसा परमात्म-स्वरूप मुझमें प्रकट हो।

(१६) मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, अन्य द्रव्य से ममत्व रहित हूँ, पुद्गल से सर्वथा भिन्न हूँ, ज्ञान-दर्शन से एक स्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, आनंद स्वरूप हूँ, इंद्रिय रहित, वांछा रहित, आत्मिक सुख से भरा हुआ हूँ, ये गुण मेरे में शीघ्र प्रकट हों।

(१७) इन्द्रिय सुख में आनंद और दुःख में खेद बुद्धि नष्ट हो और संयम अर्थात् त्याग में अरुचि रूप मिथ्यात्व का लक्षण दूर हो।

(१८) विषयेच्छा दूर होकर आत्मकल्याण की इच्छा प्रकट हो।

(१९) अनेक नय, अभिप्राय, अपेक्षा आदि की समझ प्रकट हो।

(२०) विषय के साधन शरीर, धन, स्त्री, पति, पुत्र, परिवार, मकान, वस्त्र, गहने और वैभव में ममता, मिथ्यात्व दूर हो और ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आत्मा के गुणों में स्वामित्व रूप सम्यक्त्व गुण प्रकट हो।

(२१) भोग, उपभोग और सांसारिक कार्यों में लीनतारूपी मिथ्यात्व का नाश हो और ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप में रुचि बढ़े।

(२२) मिथ्यात्वी का साध्य विषय सुख होता है, जिससे शरीर, धन, भोग प्राप्त कर वह राजी होता है। समदृष्टि का साध्य आत्मिक सुख है जिससे ज्ञानदर्शन-चारित्र-तप की प्राप्ति कर वह इसी में आनंद मानता है।

परम ज्ञान सो आत्म है, निर्मल दर्शन आत्म।
निश्चय चारित्र आत्म है, निश्चय तप भी आत्म॥

(२३) शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, पुद्गल हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं, आत्मा से बिल्कुल भिन्न पदार्थ हैं। इनमें मेरापन मानना मिथ्यात्व है। इन पर से सुख-दुःख बुद्धि हटाकर

यह समझना कि अनंत ज्ञानादि गुण सम्पन्न मैं ही शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसी सच्ची समझरूप सम्यक्त्व गुण प्रकट हो।

(२४) द्रव्य कर्म (आठ कर्म जो आत्मा से लगे है), भावकर्म (राग-द्वेष-मोह) और नोकर्म (शरीरभोगादि) पुद्गल हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं, आत्मा से बिल्कुल भिन्न पदार्थ हैं। इनमें अपनापन समझना मिथ्यात्व है। इन पर से सुख-दुःख बुद्धि नाश होकर सर्व कर्म रहित अनंत ज्ञानादि गुण सम्पन्न बनने की सच्ची श्रद्धारूप समकित गुण प्रकट हो।

(२५) कर्म व कर्मफल पुद्गल हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं, आत्मा से भिन्न हैं। इनसे ममत्व और सुख-दुःख-बुद्धि का तथा हर्ष, शोक, राग, द्वेष आदि का नाश हो और सर्व-कर्म रहित मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, ऐसी भावना जागृत हो।

(२६) मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ अनंतज्ञानयुक्त हूँ अरूपी हूँ, अन्य सब पदार्थों से भिन्न हूँ, ज्ञान, दर्शन सुख और शक्ति से परिपूर्ण हूँ, नित्य हूँ, सत् हूँ, आनंद स्वरूप हूँ ये मेरे गुण हैं। ऐसी अनुभव सहित अंतर श्रद्धारूप भावना जागृत हो।

(२७) एक सम्यक्त्व गुण ऐसा प्रबल है कि जो मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र आदि अनंत दोषों को एक साथ दूर करता है। समकित हुआ कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुण प्रकट होते हैं, इसलिये मुझे सम्यक्त्व प्राप्त हो।

(२८) सम्यक्त्वी की पहचान

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी, दिन दिन रीति गहे समता की।
छिन छिनकरे सत्य को साको, समकित नाम कहावे ताको॥

भावार्थ-जो आत्मा का सच्चा स्वरूप निश्चय पूर्वक जाने, समझे और हमेशा समताभाव बढ़ाता रहे, प्रतिक्षण आत्मा का अनुभव करे उसे सम्यक्त्वी कहते हैं, वही सम्यक्त्व गुण मुझमें प्रकट हो।

(२९) सम्यक्त्व के व्यावहारिक पांच लक्षण हैं, वे प्रकट हों—सम (समताभाव), संवेग (धर्म-धर्मी और धर्म के फल-मोक्ष से अतिशय प्रीति और भक्ति) निर्वेद, (विषय विकार से अरुचि, त्याग में आनंद) अनुकम्पा (द्रव्य-भाव दुःख को दूर करने की सदा चिंता) और आस्था (सत्य तत्त्वों पर श्रद्धा)।

(३०) सम्यक्त्व के आठ गुण प्रकट होवें।

करुणा, वत्सल, सुजनता, आतमनिंदा पाठ।
समता, भक्ति, विरागता, धर्मराग गुण आठ॥

भावार्थ—करुणा, मैत्री, गुणानुराग, आत्मनिंदा (अपने दोष के लिए पश्चात्ताप) समभाव, तत्त्वश्रद्धा, उदासीनता (राग, द्वेष रहित रहना) और धर्म प्रेम, ये गुण प्रकट होवें।

(३१) समकित के पांच भूषण हैं-

चित्त प्रभावना भाव युत, हेय उपादेय वाणी।
धीरज हर्ष प्रवीणता भूषण पंच बखाणी॥

भावार्थ-(१) अपने और दूसरे के ज्ञान की वृद्धि करना (२) विवेक पूर्वक सत्य, प्रिय और हितकर बोलना (३) दुःख में धैर्य रखना और सत्य न त्यागना (४) सदा संतोषी व आनंदी रहना और (५) तत्त्व में प्रवीण बनना, ये गुण मुझ में प्रकट हों।

(३२) समकित को मलिन करने वाले आठमद जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और अधिकार मद का क्षय हो।

आशंका अथिरता वांछा, ममता दृष्टि दशा दुर्गंच्छा।
वत्सल रहित दोष पर भाखे, चित्त प्रभावना मांहि न राखे ॥

(i) सत्य तत्त्व में संशय (ii) धर्म में अस्थिरता (iii) विषय की वांच्छा (iv) देह-भोग आदि में ममत्व (v) प्रतिकूल प्रसंग में घृणा, अरुचि (vi) गुणानुरागी न होना (vii) किसी के दोष कहना और (viii) अपने और दूसरे के ज्ञान की वृद्धि न करना। देव, गुरु और धर्म तथा शास्त्र की परीक्षा न करना मूढता है। ये सब दोष समकित गुण को मलीन करने वाले हैं, इन्हें सदा त्यागूँ।

(३३) समकित के नाश करने वाले पांच कारण सदा छोड़ूं।

ज्ञानगर्व, मति मंदता, निष्ठुर वचन उद्गार।
रुद्रभाव आलस दशा, नाश पंच प्रकार ॥

(i) ज्ञान का घमंड करना (ii) तत्त्व जानने में मंद रुचि और कम प्रयत्न (iii) असत्य और निर्दय वचन बोलना (iv) क्रोधी परिणाम (v) चारित्रादि में आलस्य। समकित के नाश करने वाले इन पांच दोषों से सदा बचूँ। समकित के पांच अतिचार हैं—

लोक हास्य भय भोग रुचि, अग्र शोच थितिमेव।
मिथ्या आगमकी भक्ति, मृषा दर्शनी सेव ॥१ ॥

(१) मेरी सम्यक्त्वादि प्रवृत्ति से लोग हँसेंगे, ऐसा भय रखना शंका (२) पाच इन्द्रिय के भोगों की रुचि करना (३) सद्गुण अथवा उत्तम तत्त्व की अरुचि वितिगिच्छा (४-५) मिथ्या देव, गुरु, धर्म की प्रशंसा करना अथवा सेवा करना, इन पांच दोषों को हमेशा छोड़ूं।

(३४) पर वस्तुओं को अपनी समझकर क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ पैदा करना अनंतानुबंधी कषाय है जिससे अनंत संसार तथा अनंत दुःख मिलता है। मिथ्यात्व मोह (खोटे में आनंद), मिश्र मोह (सत्य-असत्य दोनों में आनंद), समकित मोह (सत्य में कुछ मलिनता), इन सात प्रकृतियों को दूर करने से समकित गुण प्रकट होता है। इन सातों प्रकृति का मैं नाश करूँ और हमेशा सम्यक्त्व गुण धारण कर अनंत, अक्षय सुख पाऊँ।

—संकलित

समकित-आराधना

इस काल में समकित धर्म का आराधन हो सकता है, परंतु यह उदय भाव नहीं है कि जिससे अपने आप प्रेरणा हो। भोगादि क्रिया उदय कर्म से होती है। बालक जन्म से ही दूध पीने लग जाता है, नवयुवक बिना शिक्षा दिये भी विषयों के प्रति उत्तेजित होता है। ये क्रियाएँ उदयजनित पूर्वसंस्कार से होती है। आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, समकित-धर्म क्षयोपशम जनित गुण है। जो पुरुषार्थ करे, सद्गुरु के उपदेश या सत्शास्त्र वाचन का रहस्य समझे उसे ही परम सत्य प्राप्त हो सकता है। आज अनेक जीव असद्गुरु आदि में सत्यपने की बुद्धि करके वहीं रुक जाते हैं। इसका कारण सदविवेक बुद्धि का कम होना है। कई बार सत्समागम होता है तो बल वीर्य आदि की इतनी शिथिलता होती है कि चिन्तामणि रत्न के सन्मुख आने पर भी उसे नहीं ले सकते। कई जीव शुष्क ज्ञानप्रधान है तो कई जीव शुष्क क्रियाप्रधान। जहां ज्ञान और क्रिया दोनों का योग होता है वहीं सत्य की प्राप्ति होती है।

—आचार्य श्री आत्मारामजी

सम्यग्दर्शन की आगमिक-सन्दर्भ में संगति

☐ कन्हैयालाल लोढ़ा*

दर्शन, दर्शनगुण, दर्शनावरण, दर्शनापयोग एवं दर्शन मोहनीय से सम्यग्दर्शन का क्या भेद है, इसका सूक्ष्म प्रतिपादन करते हुए जैनागम-मर्मज्ञ श्री लोढा सा. ने दर्शनगुण के विकास को सम्यग्दर्शन में सहायक माना है। लेखक ने अपने इस लेख में मिथ्यात्व के दश प्रकारों एवं सम्यग्दर्शन के आठ आचारों पर नया किन्तु संगत विचार किया है। आशा है पाठकों को इस लेख में सम्यग्दर्शन पर नया चिन्तन एवं प्रकाश प्राप्त होगा। -सम्पादक

भारतीय भाषाओं में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग देखना मान्यता, अनुभव, साक्षात्कार आदि अनेक अर्थों में होता है। इनमें 'दर्शन' का अर्थ [illegible] मान्यता का बौद्धिक स्तर पर प्रतिपादन करना भी है। इसे अंग्रेजी में फिलासॉफी (Philosopy) कहते हैं। इसमें मुख्यतः जीव और जगत् क्या है, सत्य है या असत्य, द्वैत है या अद्वैत या अन्य कुछ है, इसका कर्त्ता कोई है या नहीं, आदि पर विचार किया जाता है। इसमें प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से या तर्क-वितर्क से किसी मान्यता का समर्थन व विरोध बौद्धिक स्तर पर किया जाता है । इस दर्शन में तर्क-वितर्क, वाद-विवाद ही मुख्य होता है, अनुभूति नहीं । यह दार्शनिकों का दर्शन है। यह दर्शन ऐसा ही है जैसे किसी के तीर लगा हो उस तीर को निकालने के बजाय यह तीर किसने, किस धातु से, कब और कैसे बनाया, तीर चलाने वाला पुरुष था या नारी, बालक था या जवान या बूढा, उसने तीर दाहिने हाथ से चलाया या बायें हाथ से, और इन सब बातों के उत्तर का क्या प्रमाण है इत्यादि तर्क-वितर्क व वाद-विवाद बहस करते रहना। एक युग था तब ब्रह्मांड से संबंधित दार्शनिक मान्यताओं पर शास्त्रार्थ होते थे। उनमें छल, जल्प, जाति, वितंडा, हेत्वाभास, निग्रह, आदि का प्रयोग होता था और जो तर्क देने में निपुण होता था वह ही विजयी हो जाता था। अब वह दार्शनिक युग समाप्त हो गया है, उसकी उपयोगिता नहीं रही है। अतः प्रस्तुत लेख में उस दार्शनिक दर्शन का विचार व विवेचन न करके जैन दर्शन में वर्णित 'दर्शन' का ही विवेचन अभीष्ट है।

दर्शनगुण दर्शनोपयोग

जैनदर्शन में जीव का लक्षण 'दर्शन' और 'ज्ञान' को कहा है। इनमें पहले दर्शन होता है और पीछे ज्ञान होता है। अर्थात् दर्शन होने पर ही ज्ञान होता है अतः दर्शन का महत्त्व ज्ञान से भी अधिक है। (धवलाटीका पुस्तक, १ पृष्ठ ३८५) दर्शन है 'स्व-संवेदन'। इसी दर्शन के निर्विकल्पता, अनाकार, अभेद, सामान्य, अंतर्मुख चैतन्य, अंतरंग ग्रहण, आलोचन, अव्यक्त, निर्विशेष आदि पर्यायवाची शब्द हैं। वस्तुतः जिसमें संवेदन गुण है वही चेतन है, जीव है। संवेदन होने के पश्चात् उस संवेदना के प्रति अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि विकल्पों के रूप में ज्ञान होता है। संवेदना न हो तो ज्ञान का उपयोग ही न हो। अतः जहां संवेदन शक्ति रूप दर्शनगुण है वहां ही

---

* अधिष्ठाता , श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, बजाजनगर, जयपुर एवं अध्यक्ष, अ.भा. जैन विद्वत्परिषद्, जयपुर

चेतना है, जीव है। (धवलाटीका पुस्तक, १ पृष्ठ , १९६)

यह नियम ही है कि जिसमें दर्शन गुण का अभाव होता है, उसमें ज्ञान गुण का अभाव होता ही है। अभिप्राय यह है कि दर्शन गुण ही चेतना का आधारभूत मूल गुण है। दर्शनगुण की पहली विशेषता स्वसंवेदनशीलता है और दूसरी विशेषता निर्विकल्पता है, अर्थात् जहां संवेदनशीलता है वहीं निर्विकल्पता भी है, और जहां निर्विकल्पता है वहीं संवेदनशीलता है। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि एक विचार से दूसरे विचार पर, एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर जाते समय जहां पहला विचार समाप्त होता है और फिर दूसरा विचार उत्पन्न होता है इन दोनों विचारों के मध्य में जो निर्विचार अवस्था है वही 'दर्शन' है। अर्थात् जहां विचार, चिंतन व विकल्प नहीं होता है उस निर्विकल्प अवस्था के समय जीव का दर्शनोपयोग होता है। जैन दर्शन में यह भी कहा गया है कि अंतर्मुहूर्त में उपयोग बदलता ही है अर्थात् दर्शनोपयोग से ज्ञानोपयोग में और ज्ञानोपयोग से दर्शनोपयोग में बदलाव आता ही है। तात्पर्य यह है कि अंतर्मुहूर्त के भीतर-भीतर प्रत्येक जीव को अनेक बार दर्शनोपयोग होता ही है अर्थात् जीव इस निर्विकल्प अवस्था का अनुभव करता ही है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि जीव को निर्विकल्पता (दर्शनोपयोग) की उपलब्धि अंतर्मुहूर्त में अनेक बार स्वतः सहज, अनायास ही होती है[1], परन्तु सामान्यतया जीव को उस निर्विकल्प अवस्था का बोध या परिचय नहीं होता है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि सामान्य प्राणी को इस निर्विकल्प अवस्था रूप दर्शनोपयोग की अनुभूति अत्यल्प काल पलभर से भी कम काल तक होती है। अतः उसे इसका पता ही नहीं चलता। द्वितीय कारण यह है कि जैसे ही व्यक्ति इसे जानना चाहता है वैसे ही उसमें चिंतन प्रारंभ हो जाता है, विचार या विकल्प चालू हो जाते हैं, जिससे दर्शनोपयोग तिरोहित हो जाता है और ज्ञानोपयोग चालू हो जाता है। अतः दर्शनोपयोग का अनुभव उन्हीं को होता है जो अधिक काल तक निर्विकल्प अवस्था में ठहर कर स्वसंवेदन कर सकें। यह स्थिति अंतर्मुखी अवस्था में ही संभव है जैसा कि षट्खंडागम की, धवलाटीका में कहा है—'अंतर्मुख चैतन्य दर्शन है और बहिर्मुख चित्प्रकाश ज्ञान है।' (धवला पुस्तक, ७) ऐसी अंतर्मुख अवस्था की अनुभूति ध्यान के समय ही होती है। अतः जो साधक ध्यान-साधना के द्वारा अंतर्मुखी होकर कुछ समय तक निर्विकल्प रहते व स्वसंवेदन करते हैं वे ही दर्शनोपयोग व दर्शनगुण से परिचित होते हैं। स्व-संवेदन करना ही स्वरूप-संवेदन करना है, आत्मसाक्षात्कार करना है। अतः आत्म-साक्षात्कार करने वाले साधकों को ही दर्शनोपयोग व दर्शनगुण का बोध होता है, अन्य सब प्राणियों को भी दर्शनोपयोग व दर्शनगुण होता है, परन्तु उन्हें इनका बोध नहीं होता है।

दर्शन से ठीक विपरीत परिभाषा ज्ञान की है—ज्ञान सविकल्प, साकार, सविशेष, बहिर्मुख-चित्प्रकाश व चिंतन रूप होता है। यद्यपि ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण चेतना के हैं, परन्तु दोनों गुणों के लक्षण एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता है और जब ज्ञानोपयोग होता है तब

---

१. कषायपाहुड गाथा १६ से २० के अनुसार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल एक क्षुद्रभव प्रमाण है।

दर्शनोपयोग नहीं होता है। यहां पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जैनागमों में कहीं यह नहीं कहा है कि ज्ञान के समय दर्शन नहीं होता और दर्शन के समय ज्ञान नहीं होता, अपितु यह कहा है कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों उपयोग किसी भी जीव को एक साथ नहीं होते। क्योंकि ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण आत्मा के लक्षण हैं, अतः ये दोनों गुण आत्मा में सदैव विद्यमान रहते हैं। इनमें से किसी भी गुण का कभी अभाव नहीं होता है। यदि ज्ञान या दर्शन गुण का अभाव हो जाये तो चेतना का ही अभाव हो जाये, कारण कि गुण का अभाव होने पर गुणी के अभाव हो जाने का प्रसंग उपस्थित होता है। अतः चेतना में ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण सदैव विद्यमान रहते हैं। परन्तु इन दोनों गुणों में से उपयोग एक समय में किसी एक ही गुण का होता है, दोनों गुणों का नहीं होता है।

उपर्युक्त तथ्य से यह भी फलित होता है कि ज्ञान गुण और ज्ञानोपयोग एक नहीं हैं तथा दर्शन गुण और दर्शनोपयोग एक नहीं हैं, दोनों में अंतर है जैसा कि षट्खंडागम की धवलाटीका पुस्तक २ पृष्ठ ४११ पर लिखा है—'स्व-पर को ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञान मार्गणा और दर्शन मार्गणा में अंतर्भूत नहीं होता है।' इसी प्रकार पन्नवणासूत्र में भी ज्ञानदर्शन द्वार को अलग कहा है और उपयोग द्वार को अलग से कहा है। तात्पर्य यह है कि गुणों की उपलब्धि का होना और उनका उपयोग होना ये दोनों एक नहीं है, दोनों में अंतर है।

उपलब्धि और उपयोग के अंतर को उदाहरण से समझें। मानव में गणित, भूगोल, खगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि अनेक विषयों के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है, परन्तु किसी ने गणित व भूगोल इन दो विषयों का ज्ञान प्राप्त किया है तो उसे इन दोनों विषयों के ज्ञान की उपलब्धि हुई, यह कहा जायेगा। और अन्य विषयों के ज्ञान की उपलब्धि उसे नहीं है, यह भी कहा जायेगा, गणित और भूगोल इन दो विषयों में से भी अभी वह गणित का ही चिंतन, अध्ययन या अध्यापन कार्य कर रहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें भूगोल के ज्ञान का अभाव है। उसे इस समय भी भूगोल का ज्ञान उपलब्ध है, परन्तु वह उसका उपयोग नहीं कर रहा है। एक दूसरा उदाहरण और लें—एक धनाढ्य व्यक्ति में अनेक वस्तुओं के क्रय करने की क्षमता है, परन्तु उसने रेडियो और टेलीविजन ही खरीदा है तथा इस समय वह रेडियो चला रहा है, टेलीविजन नहीं चला रहा है तो यह कहा जायेगा कि उस धनाढ्य व्यक्ति में क्षमता तो अनेक वस्तुओं को प्राप्त करने की है, उपलब्धि उसे रेडियो और टेलीविजन की है और उपयोग वह रेडियो का कर रहा है। यह क्षमता, उपलब्धि और उपयोग में अंतर है। किसी गुण की उपलब्धि या लब्धि, कर्मों के क्षयोपशम या क्षय से होती है और 'उपयोग' लब्धि के अनुरूप व्यापार से होता है। जैसा कि उपयोग की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः।

—प्रज्ञापना, २४ वें पद की टीका

अर्थात् वस्तु के जानने के लिए जीव के द्वारा जो व्यापार किया जाता है, उसे उपयोग कहते हैं।

"उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।" "इन्द्रियफलमुपयोगः।" (सर्वार्थसिद्धि अ. २ सूत्र ९ व १८) अर्थात् जो अतरंग और बहिरंग दोनों निमित्तों से उत्पन्न होता है और चैतन्य का अनुसरण करता है, ऐसा परिणाम उपयोग है। अथवा इन्द्रिय का फल उपयोग है।

'स्व-परग्रहणपरिणाम उपयोगः'—धवलाटीका पु. २ पृ. ४११

अर्थात् स्व-पर को ग्रहण करने वाला परिणाम (भाव) उपयोग है।

वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो।—पंचसंग्रह, गाथा १९८

अर्थात् वस्तु के निमित्त से जीव के भाव का प्रवृत्त होना उपयोग है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह फलित होता है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से या क्षय से होने वाले गुणों की प्राप्ति को लब्धि कहते हैं और उस लब्धि के निमित्त से होने वाले जीव के परिणाम या भाव का प्रवृत्तमान होना उपयोग है। परिणाम या भाव एक समय में एक ही हो सकता है। अतः एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है, दोनों उपयोग युगपत् नहीं हो सकते। परन्तु लब्धि ज्ञान-दर्शनगुण के साथ दान, लाभ, भोग आदि गुणों की भी होती है। यही नहीं किसी को अनेक ज्ञानों की उपलब्धि या लब्धि हो सकती है, परन्तु वह एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग करता है, जैसा कि कहा है-'मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत्' (तत्त्वार्थभाष्य अ. १ सूत्र ३१) अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान इन चार ज्ञानों का उपयोग एक साथ नहीं होता। किसी भी जीव को एक साथ एक से अधिक ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। कारण कि ये सब ज्ञान की पर्यायें हैं और यह नियम है कि एक साथ एक से अधिक पर्यायों का उपयोग नहीं हो सकता। इसीलिए पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं, सहवर्ती नहीं। अतः चारों ज्ञानों की उपलब्धि तो एक साथ हो सकती है, परन्तु उनका उपयोग क्रमवर्ती होता है, सहवर्ती नहीं और एक ज्ञान में भी उसके अनेक भेदों में से किसी एक भेद का ही ज्ञानोपयोग हो सकता है अनेक भेदों का उपयोग एक साथ नहीं हो सकता।

अभिप्राय यह है कि जैनागमों में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के एक साथ होने का निषेध नहीं किया गया है। निषेध किया गया है दो उपयोग एक साथ होने का।

अतः स्वानुभव या चैतन्य के बोध अथवा आत्मसाक्षात्कार के लिए चाह, चर्चा व चिंतन रहित होना आवश्यक है, भले ही वह सत् चर्चा व सत् चिंतन ही क्यों न हो। परन्तु जब तक साधक प्रवृत्ति (क्रिया) करने के राग के उदय के कारण चर्चा व चिंतन रहित नहीं रह सकता हो तो उसके लिए आवश्यक है कि वह सत् चर्चा और सत् चिंतन करे। कारण कि यदि वह सत् चर्चा और सत् चिंतन नहीं करेगा तो राग के उदय के कारण से असत् चर्चा और असत् चिंतन उत्पन्न होगा जिससे राग की वृद्धि होगी। असत् चर्चा और असत् चिंतन सर्वथा त्याज्य हैं, तथा सत् चर्चा और सत् चिंतन आदरणीय हैं, क्योंकि सत् चर्चा और सत् चिंतन रूप ज्ञानोपयोग राग से रहित करने में सहायक हैं, अतः वे साधना के अंग हैं। परन्तु साधना को ही साध्य न बना लें इसके लिए सदैव जागरूक रहने की आवश्यकता है। कारण कि साधना को

साध्य मान लेना भूल है और भूल के रहते साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है।

'साध्य' साधक का सर्वस्व होता है और साधना उस साध्य की उपलब्धि में सहायक होती है । अतः साधना का महत्त्व है, परन्तु साधना को ही सर्वस्व समझ लेना, साध्य मान लेना भूल है। वैसे ही सहायक को सहायक न मानना भी दूसरी भूल है और सहायक को बाधक मान लेना तीसरी भयंकर भूल है। साधक को इन भूलों से बचना चाहिए।

जो साधना सहायक है उस साधना को साध्य मान लेने रूप पहली भूल से प्रगति रुक जाती है कारण कि वह साधक सहायक (साधना) में ही अटक जाता है वह आगे नहीं बढ पाता है। सहायक को सहायक न मानने पर दूसरी भूल से साधक में सहायक (साधन या साधना) के प्रति रुचि नहीं जगती। रुचि न जगने से उस ओर कदम-चरण ही नहीं बढते। सहायक को बाधक मान लेने रूप तीसरी भूल से विपरीत दिशा की ओर कदम बढते हैं जिससे साध्य या लक्ष्य से दूरी बढ़ती जाती है। अतः साधक का हित इसी में है कि जब तक साध्य को प्राप्त न कर ले तब तक साधना में रत रहे, साधना की उपेक्षा न करे। साधना की उपेक्षा करना असाधना है जो त्याज्य है।

आशय यह है कि सत् चर्चा और सत् चिंतन रूप ज्ञानोपयोग 'दर्शनगुण' की उपलब्धि में सहायक है, सहयोगी है, बाधक नहीं है। अतः जब तक दर्शनोपयोग से स्व में स्थिरता की उपलब्धि न हो जाये तब तक ज्ञानोपयोग का आदर करते रहना चाहिए। कारण कि सत् चर्चा से चर्चा (बोलने) का राग गलता है और सत् चिंतन से चिंतन का राग गलता है। चर्चा और चिंतन का राग गलने से निर्विकल्पता की उपलब्धि होती है। निर्विकल्पता से दर्शन पर आया आवरण क्षीण व पतला होता है। जिससे दर्शन गुण प्रकट होता है। इस प्रकार सत् चिंतन दर्शनावरण के क्षय में एवं दर्शन गुण के प्रकटीकरण में सहायक होता है । अतः इस दृष्टि से सत् चिंतन का अपना महत्त्व है। ऊपर कह आए हैं कि दर्शन गुण के प्रकट होने पर ही स्वानुभव होता है। स्वानुभव से सत्य का साक्षात्कार होता है।

सम्यग्दर्शन

सत्य का साक्षात्कार होना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वानुभव से होती है, केवल चिंतन या ज्ञान से नहीं। जीव-अजीव, जड़-चेतन भिन्न-भिन्न हैं, यह ज्ञान एक बालक से लेकर नौपूर्वधर ज्ञानी को भी होता है। कौन बालक नहीं जानता है कि कलम कागज, कमीज, कमरा, किताब आदि कलश जड़ हैं और मैं चेतन जीव हूँ। इसी प्रकार नौ पूर्वधारी मिथ्यात्वी जीव भी जो तत्त्वों के ज्ञान को खूब जानता है, जीव-अजीव तत्त्वों पर सैकडों भाषण दे सकता है व सैकड़ों ग्रंथ लिख सकता है, परन्तु जीव-अजीव के भेद व भिन्नता का इतना ज्ञान होने पर भी उसे सम्यग्दर्शन हो, यह आवश्यक नहीं है। कारण कि इस बौद्धिक ज्ञान का प्रभाव बौद्धिक स्तर पर ही होता है आध्यात्मिक स्तर पर नहीं। आध्यात्मिक स्तर पर प्रभाव तभी होता है जब अन्तर्यात्रा कर आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर स्थूल देह (औदारिक शरीर) सूक्ष्म देह (तैजस-कार्मण शरीर) से अपने को अलग अनुभव करता है अर्थात् देहातीत होकर

अपने चैतन्य स्वरूप का दर्शन करता है। देहातीत होने पर निज चैतन्य स्वरूप का दर्शन होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

केवल जीव-अजीव या जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न जान लेने या मान लेने से ऐसा चिंतन करते रहने से या अपने को ऐसा निर्देश देने (आत्म-सम्मोहन) मात्र से सम्यग्दर्शन होना संभव नहीं है। इन सबसे सम्यग्दर्शन के लिए प्रेरणा मिल सकती है, परन्तु सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तो तभी संभव है जब साधक अंतर्मुखी होकर स्व संवेदन करता है तथा देहातीत बन कर जड़ देह से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का दर्शन करता है।

आशय यह है कि जड़-चेतन की भिन्नता पर चिन्तन व चर्चा करके आत्म निर्देशन देकर अपने को भेद-विज्ञानी व सम्यग्दृष्टि मान लेना भूल है, अपने आपको धोखा देना है अतः अंतर्मुखी होकर स्व-संवेदन करते हुए जब तक देहातीत चिन्मय-चैतन्य अवस्था की अनुभूति न हो जाय तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये सतत पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। वस्तुतः दर्शन अनुभूति का विषय है ज्ञान का नहीं। फिर चाहे वह दर्शन सम्यग्दर्शन रूप हो अथवा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट दर्शन गुण रूप हो। ये दोनों ही दर्शन विकल्पात्मक ज्ञान के विषय न होकर निर्विकल्प स्व-संवेदन रूप अनुभव के विषय हैं। भेद-विज्ञान से संबंधित चिंतन व चर्चा अन्तर्मुखी बनने में सहायक होती है, परन्तु भेद-विज्ञान का अनुभव तो अंतर्मुखी होने पर निज स्वरूप के दर्शन से ही संभव है। यही अनुभव सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन : निसर्गज-अधिगमज

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तन्निसर्गादधिगमाद्वा' (तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र २-३) अर्थात् तत्त्वार्थों पर यथार्थ रूप में श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यक् दर्शन निसर्ग से भी होता है और अधिगम से भी होता है। निसर्ग स्वभाव को कहते हैं जो स्वतः होता है। वस्तु के यथार्थ स्वभाव को निज ज्ञान से जानकर उस पर श्रद्धा करना निसर्गज सम्यक् दर्शन है और वस्तु के यथार्थ स्वभाव को अन्य किसी महापुरुष की वाणी से, उपदेश से, गुरु से, ग्रन्थ से जानकर उस पर श्रद्धा करना अधिगमज सम्यक् दर्शन है। निसर्ग या स्वभाव उसे कहते हैं जो स्वतः होता है किसी के द्वारा पैदा किया हुआ नहीं होता है। जो स्वतः होता है वह अविनाशी होता है। अतः उसका किसी भी काल, देश, अवस्था में कभी भी विनाश या अभाव नहीं होता है। समस्त संसार का संचरण या संचालन नैसर्गिक नियमों के अनुसार हो रहा है। निसर्ग के नियम कारण-कार्य पर आधारित होते हैं। निसर्ग में कोई कार्य या घटना विना कारण के संभव नही है। कारण-कार्य पर आधारित ये नैसर्गिक नियम, अखण्ड, अपरिवर्तनीय, स्वयं सिद्ध, शाश्वत व सनातन होते हैं। नैसर्गिक नियम ही प्राकृतिक विधान, कुदरत के कानून (नेचुरल ला) कहे जाते हैं। ये ही नियम शास्त्रीयभाषा में सिद्धान्त कहे जाते हैं, क्योंकि ये स्वयंसिद्ध होते हैं, इन्हें सिद्ध करने के लिए किसी तर्क, युक्ति व प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। जैन धर्म में प्रतिपादित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर आदि तत्त्वों तथा कर्म-सिद्धान्त से

सम्बन्धित जितने सूत्र हैं वे सब नैसर्गिक नियम ही हैं, इसलिए त्रैकालिक व सनातन सत्य हैं, सार्वजनिक हैं, सार्वदेशिक हैं।

प्रकृति की किसी घटना को देखकर शान्त व तटस्थ चित्त से उस पर चिंतन-मनन कर नैसर्गिक नियमों को जानना व जीवन की यथार्थता का अनुभव व बोध करना ही नैसर्गिक सम्यक् दर्शन है। निसर्ग की प्रत्येक घटना में उत्पाद-व्यय या उत्पत्ति विनाश चल रहा है, परन्तु इनका मौलिक तत्त्व एवं इनका द्रष्टा ज्यों का त्यों अक्षुण्ण रहता है। यह मौलिक तत्त्व तथा द्रष्टा आत्मा अनुत्पन्न तत्त्व है, अविनाशी तत्त्व है, ध्रुव तत्त्व है उत्पाद, व्यय, ध्रुव यही निसर्ग का एवं संसार का स्वरूप है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव इस त्रिपदी के ज्ञान में ही समस्त ज्ञान का सार समाहित है। यही वीतराग वाणी है। निसर्ग का उत्पाद-व्यय रूप अनित्य है, नश्वर है। इन अनित्य नश्वर वस्तुओं, घटनाओं व सुखों के प्रति राग-द्वेष करना इन सुखों के भोगों की दासता व प्रलोभन में आबद्ध होना समस्त दोषों व दुःखों का मूल है। अतः समस्त दुःखों से मुक्ति पाने का उपाय है राग रहित होना, वीतराग होना। वीतरागता में ही समस्त दुःखों की निवृत्ति एवं अक्षय, अखण्ड व अनन्त सुखों की उपलब्धि संभव है। वीतरागता को ही जीवन का लक्ष्य बनाना सम्यक् दर्शन है।

संसार के समस्त पदार्थ व इनसे मिलने वाला सुख अनित्य है, नश्वर है, निस्सार है। अतः आश्रय ग्रहण करने योग्य नहीं है। इस प्रकार निसर्ग को देखकर संसार के प्रति अनित्य, अशरण, असारता की भावना जागृत होना, संसार व सांसारिक सुखों के प्रति विरक्ति होना, वीतरागता की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न होना निसर्ग सम्यक् दर्शन है। यही सम्यक् दर्शन जब किसी महापुरुष की वाणी द्वारा होता है तो अधिगमज सम्यक् दर्शन कहलाता है। सम्यक् दर्शन निसर्ग से हो या अधिगम से हो उसमें नैसर्गिक नियमों का ही बोध होता है।

प्रकारान्तर से कहें तो संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसे रोग, शोक, मृत्यु जरा, चिन्ता, भय, अभाव, वियोग, प्रतिकूलता आदि अगणित दुख न हों। नैसर्गिक नियमानुसार दुःख उसे ही भोगना पड़ता है जो विषयसुख का भोगी है। समस्त दुःखों या दोषों का कारण विषय का भोग ही है। विषयसुख का भोग वही करता है जो विषय सुख, सुख की सामग्री तथा साधन शरीर, इन्द्रिय व भोग की वस्तु को स्थायी, सत्य व सुन्दर मानता है। संसार की वस्तुओं को व विषयसुखों को स्थायी, सत्य व सुन्दर वही मानता है जो निसर्ग के यथार्थ स्वरूप, क्रिया व कार्य पर ध्यान नहीं देता है।

संसार के समस्त कार्य-कलाप नैसर्गिक नियमों से संचालित हो रहे हैं। समस्त तत्त्वज्ञान व कर्मसिद्धान्त आदि में निसर्ग के नियमों का ही प्रतिपादन है। निसर्ग के नियमों के यथार्थ ज्ञान से यह स्पष्ट बोध होता है कि निसर्ग की समस्त वस्तुएं शरीर, सम्पत्ति आदि समस्त पौद्गलिक पदार्थ सड़न, गलन, विध्वंसन व नश्वर स्वभाव वाले हैं। इन वस्तुओं के नश्वर स्वभाव का ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा अविनश्वर, ध्रुव स्वभाव वाला है। अतः जड़ पुद्गल व आत्मा इन दोनों की जाति व गुणों में मौलिक भिन्नता है। इस भिन्नता का ज्ञान ही भेद-विज्ञान है जिसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

निसर्ग के इस यथार्थ ज्ञान से यह भी बोध होता है कि आत्मा के द्वारा पौद्गलिक नश्वर पदार्थों के सुख का भोग करने से इनसे संबंध जुड़ता है। यह संबंध जुड़ना ही बंधन है। पौद्गलिक पदार्थों से संबंध जुड़ने से ही कामना, ममता, राग, द्वेष, मोह आदि समस्त दोष (पाप) उत्पन्न होते हैं। इन्हीं दोषों से आत्मा को जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, चिन्ता, पराधीनता आदि दुःख भोगने पड़ते हैं। अतःसमस्त दुःखों से मुक्ति पाने का उपाय शरीर, संसार, सम्पत्ति आदि समस्त पौद्गलिक अनित्य वस्तुओं से संबंध विच्छेद करना है, इनकी कामना, ममता, तादात्म्य आदि का त्याग करना है, इनसे अतीत होना है।

यह लक्ष्य ही सम्यक् दर्शन का लक्षण है जो शम, संवेग, निर्वेद एवं अनुकंपा के रूप में प्रकट होता है।

आशय यह है कि जो सम्यग्दर्शन निसर्ग के अवलोकन, चिंतन-मनन के निमित्त से होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जो किसी महापुरुष की वाणी, गुरु व ग्रंथ के निमित्त से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यात्व के दश प्रकार

सम्यग्दर्शन के विपरीत मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है। मिथ्यात्व के दश भेद प्रसिद्ध हैं। इन्हें समझलें तो सम्यग्दर्शन का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जायेगा। इसलिए अभी इन्हीं पर विचार किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि मिथ्यात्व के उदय से रहित होने से ही होती है। स्थानांग सूत्र के दशवें स्थान में मिथ्यात्व दश प्रकार का कहा है-(१) अधर्म को धर्म श्रद्धना (२) धर्म को अधर्म श्रद्धना (३) उन्मार्ग को सन्मार्ग श्रद्धना (४) सन्मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना (५) अजीव को जीव श्रद्धना (६) जीव को अजीव श्रद्धना (७) असाधु को साधु श्रद्धना (८) साधु को असाधु श्रद्धना (९) अमुक्त को मुक्त श्रद्धना और (१०) मुक्त को अमुक्त श्रद्धना।

(१-२) अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म श्रद्धना

वस्तु का स्वभाव धर्म है और पर के संयोग से उत्पन्न हुई दशा विभाव है, अधर्म है। विभाव वे हैं जिनका वियोग हो जावे, जो सदा साथ न दें, धोखा दे जावें। इस दृष्टि से संपत्ति, संतति, शक्ति, सत्ता, शरीर, इन्द्रियाँ आदि संसार की समस्त वस्तुएं पर हैं। इनके संयोग से मिलने वाला विषय-भोगों का एवं सम्मान-सत्कार, पद प्रतिष्ठा आदि का सुख विभाव है। इस सुख को स्वभाव मानना, जीवन मानना अधर्म को धर्म मानना है तथा इस सुख की पूर्ति, पोषण व रक्षण के लिए दूसरों का शोषण करना, धन का अपहरण करना, हिंसा, झूठ आदि पाप करना भी अधर्म है। इस अधर्म को अपना कर्त्तव्य मानना, आवश्यक मानना, न्यायसंगत मानना भी अधर्म को धर्म मानना है। इसी प्रकार अकरुणा को अर्थात् करुणा के त्याग को, दया भाव के त्याग को स्वभाव व धर्म मानना अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व है।

संयम, त्याग, तप, मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्य, वैयावृत्य-सेवा, दान, दयालुता, मृदुता, विनम्रता, सरलता आदि गुण जीव के स्वभाव हैं, धर्म हैं, क्योंकि ये किसी कर्म के उदय से नहीं होते हैं। इन गुणों को विभाव मानना, संसार-भ्रमण का

एवं दुःख का कारण मानना धर्म को अधर्म मानना है। यह मिथ्यात्व जीव के स्वभाव-विभाव से संबंधित है।

(३-४) उन्मार्ग को मार्ग और मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना

विषय-कषाय जनित भोगों के सुखों की प्राप्ति के लक्ष्य से जो भी कार्य किए जाएं वे उन्मार्ग हैं। इस दृष्टि से भोगों की प्राप्ति के लिए किए गए आरंभ-परिग्रह, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कार्य तो उन्मार्ग हैं ही, इन्हें जीवन मानना उन्मार्ग को मार्ग मानना है। लेकिन जो भक्ति-भजन, संयम, त्याग, तप, जप आदि साधनाएं अथवा क्रियाकांड संपत्ति, संतति, सत्कार, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा पाने के लोभ से या स्वर्ग के भोगों के सुख पाने के प्रलोभन के लक्ष्य से किए जाते हैं वे भोगों का पोषण, संरक्षण, संवर्धन करने वाले होने से साधनाओं के भेष में सन्मार्ग के रूप में घोर असाधन व उन्मार्ग हैं। कारण कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोष या दुष्प्रवृत्तियां दोष के रूप में आती हैं, उन्हें दूर करने की प्रेरणा कभी भी जग सकती है, क्योंकि दोषी कहलाना या रहना कोई भी अच्छा नहीं मानता है। परन्तु जो दोष गुण व धर्म के रूप में आते हैं उन्हें व्यक्ति हितकारी मानकर पुष्ट करने में अपना कल्याण समझता है, उसे उन्हें त्यागने का विचार ही पैदा नहीं होता है और वह व्यक्ति अपने को साधन-पथ पर, सन्मार्ग पर चलने का मिथ्या विश्वास व झूठा संतोष देता रहता है। परन्तु जब साधनाएं राग-द्वेष, विषय-कषाय के सुखों के त्याग के लक्ष्य से की जाती हैं तो सन्मार्ग हो जाती हैं। आशय यह है कि विषय-विकारों एवं भोगों के त्याग के लक्ष्य से की गई प्रवृत्ति-निवृत्ति सन्मार्ग है और विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए की गई प्रवृत्ति-निवृत्ति (त्याग-तप) उन्मार्ग है। उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना मिथ्यात्व है।

चरस, अफीम, गांजा, भांग, सुलफा, ड्रग्स, स्मैक, हेरोइन आदि के नशे को सुख का साधन मानना, संभोग को समाधि का हेतु मानना, अतिभोग को मुक्ति का मार्ग मानना, प्रभावना के नाम पर सम्मान, सत्कार, पुरस्कार आदि से अपने मान-लोभ आदि कषायों का पोषण करना, सतीत्व के नाम पर जीवित स्त्रियों को जलाना, मनुष्य-पशु-पक्षी की बलि को, मद्य-मांस-मैथुन सेवन को, परधर्मावलंबियों की हत्या को साधना मानना, उन्मार्ग को सन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है।

करुणा, दया, दान, वैयावृत्त्य, सेवा, परोपकार, नमस्कार, मृदुता, मित्रता आदि समस्त सद्प्रवृत्तियों को पुण्य-बंध का हेतु कहकर इन्हें संसार परिभ्रमण का कारण मानना सन्मार्ग को उन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। कारण कि प्रथम तो पुण्य कर्म की समस्त ४२ प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती हैं अर्थात् इनसे किसी भी जीव के किसी भी गुण का कभी भी अंश मात्र भी घात नहीं होता है। अतः ये अकल्याणकारी हैं ही नहीं। जो अकल्याणकारी नहीं हैं उन्हें अकल्याणकारी मानना अथवा अघाती को घाती कर्म मानना मिथ्यात्व है। द्वितीय, कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि पुण्य का उत्कर्ष उत्कृष्ट या परिपूर्ण होने के पूर्व यदि सातावेदनीय, उच्चगोत्र, आदेय, यशकीर्ति, मनुष्य-देवगति आदि पुण्य-प्रकृतियों का आस्रव व बंध नहीं होता है तो असातावेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्त्ति, नरक-तिर्यंचगति आदि पाप प्रकृतियों

का आस्रव व बंध अवश्य होता है। अतः पुण्य के आस्रव का निरोध व विरोध करना पाप के आस्रव व बंध का आह्वान व आमंत्रण करना है। अतः पुण्य के आस्रव के निरोध को मुक्ति का मार्ग मानना पाप के आस्रव के आगमन को मुक्ति का मार्ग मानना है जो घोर मिथ्यात्व है। तृतीय, दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों से पुण्य का जितना उपार्जन होता है उससे अनंतगुणा पुण्य के अनुभाग का सर्जन संयम, त्याग, तप व श्रेणीकरण की साधना से होने वाली आत्म-पवित्रता से होता है । अतः पुण्य को संसार-भ्रमण का कारण मानने वालों को संयम, त्याग, तप, श्रेणीकरण आदि मुक्ति-प्राप्ति की साधनाओं को भी संसार-भ्रमण का कारण मानना पड़ेगा जो घोर मिथ्यात्व है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की साधनाओं को दुःख रूप मानना, सुख में बाधक मानना, सन्मार्ग को उन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। विषयभोग समस्त दुःखों के व संसार-भ्रमण के कारण हैं, इन्हें दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग मानना उन्मार्ग को सन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है।

उपर्युक्त दोनों मिथ्यात्व साधना से संबंधित हैं।

(५-६) अजीव को जीव तथा जीव को अजीव श्रद्धना

अपने को देह मानना जीव को अजीव मानने रूप मिथ्यात्व है और देह के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। देह पौद्गलिक है, हाड-मांस-रक्त से बनी हुई है, अंत में मिट्टी में मिलकर मिट्टी बन जाने वाली है। मिट्टी और देह दोनों एक ही जाति के हैं। अतः अपने को देह मानना अपने को मिट्टी मानना है, जीव को अजीव मानना है; जो विवेक के विरुद्ध है। आत्मा यदि देह होती तो देह के अंग हाथ-पैर आदि अंश कट जाने पर आत्मा में भी उतने ही अंशों में कमी हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं होता है। देह के अंग भंग होने पर भी आत्मा के अंश का भंग नहीं होता, आत्मा अखण्ड रहती है अतः यह सिद्ध होता है कि देह आत्मा या जीव नहीं है। देह के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता है। अतः देह के अस्तित्व को जीवन व जीव मान लेना भूल है, मिथ्यात्व है। अपने को देह मान लेने से ही विषय-भोगों की इच्छा, राग-द्वेष, कामना, ममता, माया, लोभ आदि समस्त दोषों की एवं भूख-प्यास, भय, चिन्ता, खिन्नता, रोग-शोक आदि समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है अर्थात् अपने को देह मानना ही समस्त दोषों व दुःखों का मूल है। अतः अपने को देह मानना भयंकर मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व आत्मा के स्वरूप से संबंधित हैं।

(७-८) असाधु को साधु और साधु को असाधु श्रद्धना

इन्द्रियों के विषय-भोग विकार हैं, दोष हैं एवं समस्त दुःखों की जड़ हैं। जो इन विषय-भोगों में गृद्ध है, आबद्ध है, भोग सामग्री बढ़ाने में, परिग्रह की वृद्धि करने में रत है, परिग्रही है, भोगी है, मायाचारी है, नशे का सेवन करने वाला है, व्यभिचारी है, वह असाधु है। उस भोगी को, परिग्रही को सुखी व श्रेष्ठ मानना, उसके जीवन को सार्थक व सफल मानना असाधु को साधु मानने रूप मिथ्यात्व है। और जिसने

भोगों को, परिग्रह को, हिंसा-झूठ आदि पापों को त्यागकर संयम धारण किया है, वीतराग मार्ग का आचरण कर रहा है उसे परावलंबी, पराधीन, असहाय, अनाथ व दुःखी मानना साधु को असाधु मानने रूप मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व साधक से संबंधित हैं।

(९-१०) अमुक्त को मुक्त और मुक्त को अमुक्त श्रद्धना

जिसका जीवन तथा सुख, शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, संपत्ति, सत्ता, सत्कार, परिवार, संसार आदि पर से जुड़ा हुआ है, बंधा हुआ है, 'पर' पर आधारित है, जो पराधीन है, पराश्रित है, भोगों का दास है वह अमुक्त है, वह दुःख व दोषों से ग्रस्त है। उस दुःख व दोष से ग्रस्त को, अमुक्त को स्वाधीन व सुखी मानना अमुक्त को मुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है।

जो विषय-कषाय, राग-द्वेष-मोह आदि समस्त विकारों से या दोषों से मुक्त है, निर्दोष है, निर्विकार है, स्वाधीन है, इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत, भयातीत है, उसके जीवन को सुख से वंचित, दुःखी, पराधीन, अकर्मण्य, नीरस, निस्सार या व्यर्थ मानना मुक्त को अमुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व सिद्धत्व से संबंधित हैं।

मिथ्यात्व के उदय का अभाव सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन एवं दर्शनगुण में परस्पर क्या सम्बन्ध है अब इस पर विचार किया जा रहा है।

दर्शन गुण के विकास से सम्यग्दर्शन

पहले कह आए हैं कि दर्शन गुण है—'स्व-संवेदन'। स्व-संवेदन होता है निर्विकल्पता से। इसलिये दर्शन की परिभाषा में स्व-संवेदन और निर्विकल्पता दोनों को स्थान दिया गया है। इनमें निर्विकल्पता कारण है और स्व-संवेदन कार्य। स्व संवेदन ही चिन्मय चैतन्य का अनुभव है जो चेतना का सबसे श्रेष्ठ, मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण गुण है।

यह नियम है कि जितनी-जितनी निर्विकल्पता बढ़ती जाती है उतना-उतना दर्शन गुण का विकास होता जाता है अर्थात् चिन्मयता का, निज स्वरूप का अनुभव (बोध) होता जाता है। जितना-जितना निज स्वरूप का अनुभव होता जाता है उतना-उतना ही जड़ देह से चेतन की भिन्नता का अनुभव होता जाता है तथा सत्य प्रकट होता जाता है। जितना-जितना सत्य प्रगट होता जाता है उतना-उतना सत्य का दर्शन (अनुभव) होता जाता है। सत्य के दर्शन से, सत्य के साक्षात्कार से अविनाशी चैतन्य निज स्वरूप का अनुभव देहातीत स्थिति के स्तर पर हो जाता है। तब देह (जड़) से चेतन की भिन्नता का स्पष्ट अनुभव या दर्शन होता है। यही ग्रंथिभेद है, यही भेद विज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है। अतः सम्यग्दर्शन के लिए दर्शन गुण (स्व संवेदन) का विकास अनिवार्य है। दर्शन गुण का विकास निर्विकल्पता से ही संभव है। निर्विकल्पता वहीं संभव है जहां समभाव है अर्थात् आंतरिक स्थिति या अनुभूति के प्रति कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव न होकर केवल द्रष्टाभाव है।

अभिप्राय यह है कि समत्वभाव से निर्विकल्पता आती है। निर्विकल्पता से

स्व-संवेदन, चिन्मय-स्वरूप 'दर्शन' गुण प्रकट होता है। दर्शन गुण से निज अविनाशी चैतन्यस्वरूप आत्मा देह से भिन्न है इस सत्य का अनुभव होता है। यही जड़-चिद् ग्रंथि का भेदन है, यही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति के उदय का अभाव हो जाता है। अतः दर्शन गुण दर्शनमोहनीय के क्षय-उपशम का हेतु है।

तात्पर्य यह है कि दर्शनगुण और सम्यग्दर्शन में घनिष्ठ संबंध है। इसलिये सम्यक्दृष्टि का प्रत्येक आचरण दर्शनगुण को प्रकट करने वाला, निर्विकल्पता को पुष्ट करने वाला होता है। आगम में सम्यग्दर्शन के आठ आचार कहे हैं । इनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन के आठ आचार

सम्यग्दर्शन से जीवन में आठ आचारों का, सद्प्रवृतियों का आविर्भाव होता है, जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र २८ गाथा ३१ में कहा है–

णिस्संकिय-णिक्कंखिय-णिवितिगिच्छा, अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ।।

अर्थात् निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ दर्शनाचार हैं। रत्नकरंड श्रावकाचार में ये आठों सम्यग्दर्शन के अंग कहे गये हैं। इन आचारों से संकल्प-विकल्प मिटते हैं, निर्विकल्पता बढ़ती है जिससे दर्शनगुण प्रकट होता है। अतः इन्हें दर्शनाचार कहा गया है।

निःशंकित–सम्यग्दृष्टि को यह बोध होता है कि पराधीनता, जड़ता, खिन्नता, नीरसता, दीनता, हीनता, चिन्ता, भय आदि समस्त दुःखों का मुख्य कारण इन्द्रिय-विषयों के भोगों की कामना, ममता, मोह एवं कषाय हैं। अतः विषय-कषाय के त्याग पूर्वक, स्वभाव में स्थित होने में ही अपना कल्याण है। इसमें उसे किंचित् भी शंका-संदेह व विकल्प नहीं रहता है। निर्विकल्प होने से दर्शन गुण प्रकट होता है। यह निःशंकित दर्शनाचार है।

निःकांक्षित–सम्यग्दृष्टि अपनी अनुभूति के आधार पर यह जानता है कि कांक्षा अर्थात् कामना की उत्पत्ति ही अशांति का, अभाव का, कामना अपूर्ति-पूर्ति रूप पराधीनता का कारण है। कामना पूर्ति के समय होने वाले सुख की प्रतीति उस समय कामना न रहने से, निष्कांक्ष होने से होती है। अतः सुख कामना पूर्ति में नहीं है कामना के अभाव में है। कामना-पूर्ति का सुख सुखाभास है, भ्रान्तिमात्र है। अतः विषय-सुखों की आकांक्षाओं के त्याग में ही अपना कल्याण है। इस निःकांक्षित भाव से चित्त शान्त व निर्विकल्प होता है जिससे दर्शन गुण की अभिव्यक्ति होती है। यह निःकांक्षित दर्शनाचार है।

निर्विचिकित्सा–चिकित्सा का अर्थ है उपचार। उपचार उसी का किया जाता है जिससे अरुचि हो, जो नापसंद हो, जिससे घृणा हो। अरुचि अपने कष्टों, पीड़ाओं, प्रतिकूल परिस्थितियों एवं दुःखों से होती है। इन्हें दूर करने का उपाय ही उपचार कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि अपने कष्टों-पीडाओं से आर्त्त होकर उन्हें दूर करने के

लिए, उपचार के लिए आकुल-व्याकुल रहता है तथा बाहरी उचित-अनुचित साधन जुटाता है। सम्यग्दृष्टि पीड़ाओं, कष्टों, रोगों आदि के उत्पन्न होने पर उन्हें समभाव से, शान्ति से सहन करता है, चिकित्सा नहीं करता है, और आर्त्तध्यान व संकल्प-विकल्प भी नहीं करता है, यह निर्विचिकित्सा दर्शनाचार है।

अमूढ़दृष्टि—मूढता का अर्थ है अज्ञानता। अज्ञानता है मिथ्या मान्यता या मिथ्यात्व। मिथ्यात्व है स्वभाव, साधना, सिद्ध, साध्य आदि के विषय में विपरीत धारणा होना। सम्यक्दृष्टि इन मिथ्या धारणाओं से दूर रहता है। वह स्वभाव में स्थित होने को ही धर्म मानता है। आत्मा की पूर्ण शुद्ध, वीतराग अवस्था को ही देव मानता है। स्वाभाविक ज्ञान एवं सनातन सत्य-सिद्धान्त रूप सम्यग्ज्ञान को ही गुरु मानता है। सम्यग्दृष्टि राग-द्वेष वर्द्धक प्रवृत्तियों को धर्म नहीं मानता है, रागी को देव नहीं मानता है, भोगी को गुरु नहीं मानता है। यह दर्शनाचार का अमूढ़दृष्टि आचार है।

उपगूहन—उपगूहन का अर्थ है अंतर्गुफा में स्थित होना। सम्यग्दृष्टि बहिरात्मा से विमुख होकर अंतरात्मा में स्थित होने का प्रयत्न करता है। अंतर्मुखी होकर अंतरात्मा में अपने आप में स्थित होना उपगूहन है। अपने आप में स्थित रहने से संकल्प- विकल्प नहीं उठते, जिससे दर्शन गुण प्रकट होता है।

स्थिरीकरण—अपने स्वरूप में स्थित रहना स्थिरीकरण है। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप में अपने स्वभाव रूप धर्म में स्थित रहने का प्रयत्न करता है जिससे संकल्प-विकल्प उठना रुकता है और दर्शन गुण प्रकट होता है।

वात्सल्य—जैसे माता अपने वत्स के हित के लिए अपनी शक्ति अनुसार सब कुछ करती है और प्रतिफल कुछ भी नहीं चाहती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का संसार के सर्व प्राणियों के प्रति पूर्ण हितकारी वात्सल्य भाव होता है, सबके हितकी, कल्याण की, मंगल की भावना होती है जिससे हृदय में प्रसन्नता उमड़ती है, जिससे चित्त शान्त होता है, निर्विकल्प होता है और दर्शन गुण प्रकट होता है।

प्रभावना—सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य ध्रुवत्व की, अविनाशी की, सत्य की, सत् की उपलब्धि करना होता है। सत् की प्राप्ति की भावना सद्भावना है। यह प्रकृष्ट भावना होती है। प्रकृष्ट भावना ही प्रभावना है। सद्भावना से विषय-कषाय, राग-द्वेष आदि विकार एवं असद्भाव गलता है, संकल्प-विकल्प मिटते हैं, दर्शन गुण प्रकट होता है।

सम्यग्दृष्टि के उपर्युक्त आठों आचरण या गुण, राग-द्वेष, आर्त्त-रौद्र ध्यान एवं संकल्प-विकल्प को दूर करने, दर्शनावरणीय को क्षय करने तथा दर्शन गुण प्रकट करने में सहायक होते हैं; जबकि इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि का आचरण शंका (संदेह), कांक्षा (कामना), चिकित्सा, मूढ़ता, बहिर्दृष्टि, स्वार्थपरता, चांचल्य, दुर्भावना रूप होने से संकल्प-विकल्प उत्पन्न करने वाला एवं दर्शन पर आवरण करने वाला होता है।

सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य उपर्युक्त आचारों का अधिकाधिक आचरण करने का रहता है। उसके आचरण में ये गुण जितने बढ़ते जाते हैं उतना ही उसका दर्शनावरणीय कर्म का आवरण हटता जाता है जिससे उसका दर्शनगुण (चेतनता-संवेदनशीलता) का

विकास होता है। यह आत्म-विकास चन्द्रकला के बढ़ने से चन्द्रमा के विकास के समान बढ़ता जाता है।

उपसंहार

सारांश यह है कि मन जितना निर्विकल्प होता जाता है उतना दर्शन गुण प्रकट होता जाता है तथा उतना ही मन शान्त होता जाता है। मन की शान्त स्थिति का भी एक रस है, यह शान्तरस भी दर्शन का रस है। इस शान्त रस का भोग न करने से इसके प्रति समत्वभाव बनाये रखने से, द्रष्टा बने रहने से दर्शनावरणीय का आवरण और हटता है, जिससे ग्रन्थि-भेदन का प्रत्यक्षीकरण तथा आत्म-साक्षात्कार होता है। फलस्वरूप अंतःकरण में जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाती है। फलतः 'विषय भोग ही जीवन है' यह मिथ्या मान्यता (मिथ्यात्व) बौद्धिक चिंतन स्तर पर तथा आंतरिक (चैतन्य के) स्तर पर मिट जाती है। यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि भोग का सुख, सुख नहीं है, प्रत्युत उत्तेजना, आकुलता, पराधीनता एवं जड़ता उत्पन्न करने वाला होने से दुःख रूप है। अतः भोग जीवन नहीं है। निर्विकल्प एवं निर्विकार होने पर जो निज-रस आता है वह अक्षय-अखंड एवं स्वाधीन होता है। इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार के आधार पर भोग में दुःख और त्याग में सुख अनुभव करना अथवा जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाना ही सम्यग्दर्शन है।

दर्शन है निर्विकल्प होना, और निर्विकल्प होने से चित्त शान्त होता है। शान्तचित्त में, समता भरे चित्त में यथार्थता का अनुभव होता है जो सम्यग्दर्शन है और इससे विवेक रूप सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

इस दृष्टि से दर्शनगुण का विकास ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में, दर्शन मोह के क्षय में हेतु है और सम्यग्दर्शन 'सम्यग्ज्ञान' की उत्पत्ति में हेतु होता है। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के अनुरूप आचरण सम्यक् चारित्र है, जिसका फल मुक्ति के रूप में प्रकट होता है।

दर्शनोपयोग (निर्विकल्पता) सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में व दर्शनमोह के क्षय में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के अनुरूप आचरण करने (चारित्र पालन) से दर्शन व ज्ञान गुण के आवरण का क्षय होता है, जिससे दर्शन व ज्ञान गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार दर्शनोपयोग सम्यग्दर्शन में और सम्यग्दर्शन दर्शनगुण प्रकट करने में तथा दर्शनावरण व दर्शन मोहनीय के क्षय करने में सहायक होता है। इस प्रकार दर्शनोपयोग, सम्यग्दर्शन, दर्शनगुण परस्पर में पूरक व सहायक हैं। आगे जाकर, अंत में पूर्ण दर्शन, पूर्ण ज्ञान अथवा अनंतदर्शन अनंत ज्ञान के रूप में प्रकट होकर ये साधक के जीवन के अभिन्न अंग बन जाते हैं। फिर साधक-साधना-साध्य एक रूप होकर सिद्धत्व को प्राप्त हो जाते हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति में ही जीवन की सिद्धि है, सफलता है, पूर्णता है।

-२८११, घी वालों का रास्ता, जयपुर (राज.)

सम्यग्दर्शन-गाथानुवाद

☐ डॉ. हरिराम आचार्य

गाथा	काव्यानुवाद
१. धम्मादीसद्दहणं	धर्म आदि में श्रद्धा है सम्यक् दर्शन,
सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।	ज्ञान अंगपूर्वों का सम्यक् ज्ञान है।
चिट्ठा तवंसि चरिया	तप-निष्ठा में वर्तन है सम्यक् चारित्र,
ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥	यही रत्न-त्रय सच्चा मोक्ष-विधान है॥
२. नादंसणिस्स नाणं	सम्यक् दर्शन बिना न होता ज्ञान है,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।	बिना ज्ञान कैसा चारित्र्य-विधान है?
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो	बिन चारित्र्य मोक्ष कैसे मिल पाएगा?
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥	मोक्ष बिना निर्वाण कहाँ से आयेगा?
३. अप्पा अप्पम्मि रओ	आत्मा से आत्मारत होना।
सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।	ही सम्यक् दर्शन कहलाता।
जाणइ तं सण्णाणं	आत्मज्ञान संज्ञान रूप हैं.
चरदिह चारित्तमग्गु त्ति॥	आत्म-चरण चारित्र्य कहाता।
४. सम्मत्त रयणसारं मोक्ख-	मोक्ष-महातरु का [illegible] है.
महारुक्खमूलमिदि भणियं।	सम्यक् दर्शन [illegible] है
तं जाणिज्जइ णिच्छय-	दो भेदों में इसका [illegible] है.
ववहार-सरूवदो भेयं॥	एक रूप 'निश्चय', दूजा 'व्यवहार' है।
५. जह सलिलेण ण लिप्पइ	जैसे [illegible] सहज प्रकृति के कारण,
कमलिणीपत्तं सहावपयडीए।	लिप्त नहीं होता है कभी सलिल से।
तह भावेण ण लिप्पइ	वैसे ही सम्यक्त्व भाव में सज्जन
कसाअ-विसएहिं सप्पुरिसो॥	लिप्त न होता कभी कषाय-कलिल से

सम्यक्त्वं हि परमज्योतिः

☆ श्री रमेश मुनि शास्त्री
(स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. के शिष्य)

सम्यक्त्वं भूषणं भव्यं, शिवदं सुखदं क्षमम् ।
भव्याः प्राप्य यतः रत्नं प्रयान्ति परमं पदम् ॥१ ॥

भौतिकं वैभवं द्रष्टुं, मत्पार्श्वे लोचनद्वयम् ।
प्रेक्षितुं किन्तु चात्मानं, सम्यक्त्वं हि समर्हति ॥२ ॥

सुलभं वस्तु सम्पूर्णं, सम्यक्त्वं दुर्लभं मतम् ।
दुर्लभं सुलभं जातं, किमाश्चर्यं ततः परम् ॥३ ॥

सम्यक्त्वं हि परं ज्योतिरन्यज्योतिः क्षयान्वितं ।
अतः प्राप्तुं यते नित्यं, कृत्स्नं यत्नेन लभ्यते ॥४ ॥

निर्धनोऽपि धनाढ्योऽहं, सम्यक्त्वं यदि विद्यते ।
द्रव्यद्रव्यं क्षयं चैति, भावद्रव्यं न नश्यति ॥५ ॥

साधना-शाखिनः सुष्ठु, सम्यक्त्वं मूलमुच्यते ।
लब्धं मूलं मया यर्हि, तर्हि सर्वं स्वतः लभे ॥६ ॥

सम्यक्त्वं शिवसद्मनः शुभपथः नित्यं प्रशस्यं प्रियम्,
सम्यक्त्वं विपुलं धनं सुखकरं शुद्धेन संसाध्यते ।
सम्यक्त्वेन नराः भवन्ति गुणिनः मुक्तिं लभन्ते तथा,
सम्यक्त्वाय सुरः सदा सुयतते, भव्येन संभाव्यते ॥७ ॥

सम्यक्त्वात् पतिताः पतन्ति नितरां वाप्यां जगत्यां ध्रुवम्,
सम्यक्त्वस्य यशः यथा कथयितुं नाहं क्षमः मन्दधीः ।
सम्यक्त्वे सुतरां सुखं हि सततं, नित्यं प्रियं पावनम्,
हे सम्यक्त्व ! विना त्वया भवजले, लीनः रमेशो मुनिः ॥८ ॥

सी-१३, विवेकविहार, दिल्ली

(क्रमशः)

जिज्ञासा और समाधान

जिज्ञासा ७५-अनादि मिथ्यात्वी को सर्वप्रथम समकित कौनसी तथा किस गति में प्राप्त होती है?

समाधान--समकित की प्राप्ति के विषय में मान्यताओं में कुछ भेद हैं । दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि-

> **चदुगदि-मिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज-विसुद्ध-सागारो ।**
> **पदमुवसमं स गिण्हदि पंचमवरलद्धि चरिमम्हि ।।**
> **खय-उवसमिय वइसोही देसणापाउग्गकरणलद्धीय ।।--लब्धिसार, गाथा २-३**

अर्थात् चारों गति के मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पर्याप्त, गर्भज जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करण ये लब्धियां कर विशुद्ध लेश्या व साकारोपयोग में सर्वप्रथम उपशम समकित को प्राप्त करते हैं। कषायपाहुड में भी इसी प्रकार का वर्णन है। साथ ही वहां गाथा १०५ में प्रथमोपशम से नियमतः गिरने की बात कही गई है, द्वितीय उपशम से क्षयोपशम आदि की प्राप्ति की भजना है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार द्वितीय कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों की विवेचना में तथा छट्ठे कर्मग्रन्थ की ६२वीं गाथा की विवेचना में कर्मग्रन्थकारों के मत का विस्तार से वर्णन किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य की गाथा ५३० की टीका व वृहत्कल्पभाष्य गाथा ९५ व १२० आदि में भी कर्मग्रन्थकारों के मत का उल्लेख किया गया है। प्राप्ति के अधिकारी का वर्णन तो प्रायः समान है और प्रथम बार उपशम समकित प्राप्ति का ही उल्लेख है, किन्तु उस जीव के गिरने की नियमा नहीं भजना है अर्थात् कोई जीव उपशम से सीधा क्षयोपशम समकित प्राप्त कर सकता है। इसी भाषा में सैद्धान्तिक मत का विस्तृत विवेचन किया गया है। वहां उल्लेख है कि प्रथम बार जीव को उपशम या क्षयोपशम समकित प्राप्त हो सकती है। अकृतत्रिपुञ्ज उपशमी जीव निश्चय ही नीचे गिरता है जबकि क्षयोपशम वाला कोई जीव बिना गिरे भी मोक्ष में जा सकता है।

जिज्ञासा ७६--उपशम समकित वाला जीव क्या सीधा क्षायिक समकित को प्राप्त कर सकता है?

समाधान--नहीं, उपशम समकित से सीधी क्षायिक समकित नहीं आ सकती है। क्षायिक समकित क्षयोपशम समकित से ही प्राप्त होती है। उपशम समकित वाला जीव क्षयोपशम समकित को प्राप्त करके क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है।

जिज्ञासा ७७--क्षायिक समकित कब, कैसे किनके सान्निध्य में किन जीवों को प्राप्ति होती है?

समाधान--पांचवे कर्मग्रन्थ की गाथा ९९ एवं १०० तथा विशेषावश्यक भाष्य गाथा १३२१-२३ में इसका विवेचन किया गया है। संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है--

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे, पांचवे, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षायिक समकित प्राप्त करता है।

चार में से किसी भी गति का पूर्व बद्धायु मनुष्य अनन्तानुबन्धी चौक, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोह का क्षय कर काल कर सकता है और समकित मोहनीय को नवीन भव (चारों गतियों) में खपा कर क्षायिक समकित प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य गति में प्रारंभ प्रक्रिया की पूर्ति चारों गति में हो सकती है।

दिगम्बर परम्परा के लब्धिसार ग्रन्थ व कषायपाहुड की गाथा ११० व १११ में वर्णन है कि क्षपणा का प्रारंभ कर्मभूमि मनुष्य तीर्थंकर, केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है, श्वेताम्बर परम्परा में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। क्षायिक समकित आने के पहले आयु कर्म नहीं बंधा हो तो वह जीव उसी भव में मोक्ष जाता है। नारकी व देवता की आयु का बंध करने वाला जीव तीसरे भव में और युगलिक मनुष्य या युगलिक तिर्यञ्च की आयु का बंधन करने वाला जीव चौथे भव में अवश्य ही मोक्ष जाता है।

क्षयोपशम समकिती जीव अनन्तानुबन्धी चौक, मिथ्यात्व, मिश्र मोह का क्षय तो पहले ही कर चुका होता है, बाद में वह समकित मोह की क्रमशः क्षपणा करके क्षायिक समकित को प्राप्त करता है। जिसका विस्तृत विवेचन कर्मग्रन्थों से देखा जा सकता है।

जिज्ञासा ७८-चौथे गुणस्थान में जिन ७ बोलों का विच्छेद होता है वह तद्भव की अपेक्षा या सदा-सदा के लिए?

समाधान–नियम से उनका विच्छेद न तो तद् भव के लिए होता है न सदा-सदा के लिए। सम्यक्त्व की अवस्था (४ थे गुणस्थान या ऊपर) में इन ७ बोलों का बंध कभी नहीं हो सकता, मिथ्यात्व आदि गुणस्थान में जाने पर उस भव या अगले भवों में इन प्रकृतियों का बंध अपने-अपने कारणों के अनुरूप होता है। दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में इनका विस्तृत विवेचन मिलता है। वहां चौथे गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों के बंध-विच्छेद का अधिकार है जिसका सम्बन्ध गुणस्थान से है, भव से नहीं।

क्षायिक समकित प्राप्त होने के पश्चात् इन प्रकृतियों का बन्ध सदा-सदा के लिए विच्छिन्न हो जाता है।

जिज्ञासा ७९-यदि सम्यक्त्व अवस्था में आयुष्य बांधे तो जीव १५ भव में मोक्ष जाता ही है तो फिर चौथे गुणस्थान के फल में उत्कृष्ट १५ भव क्यों नहीं बताये?

समाधान–गुणस्थान के स्तोक में सम्पूर्ण विवेचन न होकर कतिपय बातों का उल्लेख ही आ पाया है, सामान्यतः २८ द्वारों से विवेचना है, अधिक द्वारों वाला स्तोक भी मिलता है, परन्तु फिर भी बहुत सारी बातें वर्णित नहीं हो पाती।

भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देशक १० में जघन्य ज्ञान, जघन्यदर्शन और जघन्य चारित्र आराधक के १५ भव में मोक्ष जाने का अधिकार मिलता है। चौथे से सातवें

गुणस्थान तक के आराधक जीव १५ भव में निश्चित मोक्ष जाएंगे ही। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार उपशम श्रेणि में काल करने वाला जीव तीसरे भव में मोक्ष जाता है, ये विस्तृत विवेचन शास्त्र व ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों पर वर्णित हैं, जिज्ञासु के लिए ये सभी वर्णन उपयोगी हैं, सामान्य जानकारी स्तोक में वर्णित है।

जिज्ञासा ८०-अप्रतिपाति सिद्ध किसे समझना? क्या उपशम समकित प्राप्त कर नीचे गिरे बिना सिद्ध हो सकते हैं?

समाधान–जो जीव एक बार समकित प्राप्त कर मिथ्यात्व में गिरे बिना सिद्ध होता है उसे अप्रतिपाति सिद्ध कहते हैं। जिज्ञासा ७५ में तीनों मान्यताओं का उल्लेख किया जा चुका है। कार्मग्रन्थिक व सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार बिना गिरे भी सिद्ध होते हैं।

जिज्ञासा ८१-क्या उपशम समकित वाला जीव उपशम-श्रेणि करके पुनः क्षयोपशम, या क्षायिक समकित प्राप्त कर सकता है? यदि कर सकता है तो कौनसे गुणस्थान में करता है? चौथे तक आना जरूरी है या नहीं?

समाधान–उपशम श्रेणि करने वाले जीव के उस भव में पुनः क्षयोपशम अथवा क्षायिक समकित प्राप्त करने में कोई बाधा ध्यान में नहीं आती। प्रायः क्षयोपशम समकित प्राप्त होती है, क्योंकि उपशम की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक की नहीं है। अबद्धायु उस भव में क्षायिक समकित प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि अबद्धायु होने से उसके उसी भव में क्षपक श्रेणि आरोहण की नियमा हो जाएगी और सैद्धान्तिक मान्यता में एक भव में दोनों श्रेणि का निषेध किया गया है।

पूर्वबद्धायु जीव के उपशम श्रेणि से गिरकर क्षायिक समकित प्राप्त करने में कोई बाधा ध्यान में नहीं आती। समकित का परिवर्तन चौथे से सातवें गुणस्थान तक ही संभव है, अथवा मिथ्यात्व में गिरकर पुनः अभ्युदय भी हो सकता है।

श्रेणि में काल करने वाला जीव तो सीधे चौथे गुणस्थान में चला जाता है, और श्रेणि से पतित होने वाला जीव उतरते-उतरते सातवें या छठे गुणस्थान में ठहरता है और यदि वहां भी अपने को संभाल नहीं पाता है तो पांचवें और चौथे गुणस्थान में पहुंचता है। यदि अनंतानुबंधी का उदय आ जाता है तो सासादन सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्व में पहुंच जाता है।

जिज्ञासा-८२–किस सम्यक्त्व का धारी जीव कितने भवों में मोक्ष में जाता है?

समाधान – क्षायिक सम्यक्त्वी मनुष्य यदि बद्धायु नहीं हो तो उसी भव में मोक्ष जाता ही है, किन्तु यदि वह नारकी-देवायु का बद्धायु हो तो तीसरे भव में और यदि (युगलिक मनुष्य एवं युगलिक तिर्यञ्च का बद्धायु हो तो चौथे भव में वर्तमान भव सहित) मोक्ष जाता है। शेष चारों (उपशम क्षयोपशम, वेदक एवं सास्वादन) सम्यक्त्व के धारी अबद्धायु मनुष्य जघन्य उसी भव में क्षायिक समकित प्राप्ति कर लेने पर एवं उत्कृष्ट अनन्त भव करके मोक्ष जाते हैं। सम्यक्त्वधारी मनुष्य चौथे से सातवें गुणस्थान में से किसी में भी आयुष्य बंध कर लेता है तो उत्कृष्ट १५ भवों में

अवश्य मोक्ष जाता है। १५ भवों में ८ भव मनुष्य के (वर्तमान-भव सहित) एवं ७ भव वैमानिक के होते हैं।

जिज्ञासा -८३—एक सम्यक्त्व की प्राप्ति एक भव एवं अनेक भव के जघन्य एवं उत्कृष्ट आश्रित कितनी बार हो सकती है?

समाधान — क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति एक ही बार होती है। अबद्धायु हो तो नियम से उसी भव में मनुष्य मोक्ष जाता है। यदि बद्धायु हो तो उत्कृष्ट लगातार चार भव कर सकता है। (जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है) यह सम्यक्त्व सिद्धों में भी पायी जाती है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व एक भव में जघन्य एक बार एवं उत्कृष्ट प्रत्येक हजार बार और अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार एवं उत्कृष्ट असंख्य बार आ सकती है।

उपशम एवं सास्वादन सम्यक्त्व एक भव में जघन्य एक बार एवं उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार एवं उत्कृष्ट पांच बार आ सकती है।

वेदक सम्यक्त्व तीन प्रकार का है—१. उपशम २ क्षयोपशम एवं ३ क्षायिक । उपशम वेदक एवं क्षयोपशक वेदक सम्यक्त्व का कथन क्रमशः उपशम एवं क्षयोपशम सम्यक्त्व के समान है। क्षायिक वेदक सम्यक्त्व की प्राप्ति क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व समय में एक ही बार होती है। अनेक भवों की इसमें अपेक्षा नहीं होती है।

गुरु-स्वरूप

गरेइ मोक्खमग्गं जो, समिओ गुत्तिधारओ ।
खंत्तो दंतो निरारंभो , सो गुरू परिकित्तिओ ॥१॥

जो पांच समितिओं के पालक एवं त्रिगुप्ति के धारक होते हैं, क्षान्त—क्षमाशील होते है, दान्त—जितेन्द्रिय होते हैं, निरारम्भ—आरंभ से रहित होते हैं, मोक्ष-मार्ग के उपदेशक होते हैं, वे ही गुरु कहलाते हैं।

धम्मण्णू धम्मकत्ता य, सया धम्मपरायणो ।
भव्वाणं धम्मसत्थत्थ-देसगो वुच्चई गुरू ॥२॥

जो धर्म के ज्ञाता होते हैं, धर्ममय अपना जीवन बनाते हैं, धर्मसेवन में सदा परायण रहते हैं और भव्यजीवों के लिये धर्मशास्त्र के अर्थ का उपदेश देते हैं, वे ही गुरु कहलाते हैं।

सत्तभय-विहूणो य, अट्ठमयविवज्जिओ ।
नवबंभजुओ संतो, दस-धम्मपरायणो ॥३॥

जो सात प्रकार के भय से सर्वथा रहित होते हैं, आठ प्रकार के मद से जो रहित होते हैं, नौ बाड़ से जो ब्रह्मचर्य को पालते हैं, शान्तस्वभाव के धारक होते हैं और दश प्रकार के श्रमण धर्मो के आराधन में जो तत्पर रहते हैं, वे ही सदगुरु हैं।

सम्यक्त्व-प्रश्नोत्तर

☐ पारसमल चण्डालिया*

१. **प्रश्न**—सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर तथा जीव आदि नव तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।

२. **प्रश्न**—सुदेव किसे कहते हैं?

उत्तर—जो राग-द्वेष से रहित हैं, अठारह दोष रहित और बारह गुण सहित हैं सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, जिनकी कथनी और करनी में भेद नहीं है, जिनकी वाणी में जीवों का एकान्त हित है वे ही परम आराध्य परमेश्वर सुदेव कहलाते हैं। ऐसे सुदेव कर्म रूप भाव शत्रुओं का नाश करने वाले होने से 'अरिहन्त' कहलाते हैं।

३. **प्रश्न**—सुगुरु किसे कहते हैं? अथवा सुगुरु कौन है?

उत्तर—जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का सर्वथा प्रकार से त्याग कर तीन करण, तीन योग से पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का पालन करते हैं, जो २७ गुणों के धारक हैं वे सुगुरु हैं। सुगुरु स्वयं संसार-सागर से तिरते हैं और दूसरों को भी संसार-सागर से तिराते हैं।

४. **प्रश्न**—सुधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर-अर्हन्त देव द्वारा जीवों के शाश्वत सुख के उद्देश्य से बतायी हुई अहिंसा-प्रधान साधना धर्म है। जो आत्मा को अशुभ गतियों से बचा कर मोक्ष में ले जाता है वह सुधर्म है।

५. **प्रश्न**—तत्त्व कितने हैं?

उत्तर—तत्त्व नौ हैं—१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आस्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८. बंध और ९. मोक्ष। इन नव तत्त्वों पर श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है।

६. **प्रश्न**—सम्यक्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर—सम्यक्त्व के दो भेद हैं—१. व्यवहार सम्यक्त्व और २. निश्चय सम्यक्त्व।

७. **प्रश्न**—व्यवहार सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—सुदेव, सुगुरु, सुधर्म एवं जिनागमों पर श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्त्व है।

८. **प्रश्न**—निश्चय सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—देव, आत्मा, गुरु, ज्ञान, धर्म, चैतन्य इनमें निःशंक एवं अडिग श्रद्धा होना निश्चय सम्यक्त्व है। वस्तुतः निज आत्मा ही देव, गुरु और धर्म है।

९. **प्रश्न**—सम्यक्त्व कैसे जाना जाता है?

---

* सह सम्पादक, सम्यग्दर्शन पत्रिका, ब्यावर

अवश्य मोक्ष जाता है। १५ भवों में ८ भव मनुष्य के (वर्तमान-भव सहित) एवं ७ भव वैमानिक के होते हैं।

जिज्ञासा -८३—एक सम्यक्त्व की प्राप्ति एक भव एवं अनेक भव के जघन्य एवं उत्कृष्ट आश्रित कितनी बार हो सकती है?

समाधान — क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति एक ही बार होती है। अबद्धायु हो तो नियम से उसी भव में मनुष्य मोक्ष जाता है। यदि बद्धायु हो तो उत्कृष्ट लगातार चार भव कर सकता है। (जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है) यह सम्यक्त्व सिद्धों में भी पायी जाती है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व एक भव में जघन्य एक बार एवं उत्कृष्ट प्रत्येक हजार बार और अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार एवं उत्कृष्ट असंख्य बार आ सकती है।

उपशम एवं सास्वादन सम्यक्त्व एक भव में जघन्य एक बार एवं उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार एवं उत्कृष्ट पांच बार आ सकती है।

वेदक सम्यक्त्व तीन प्रकार का है—१. उपशम २ क्षयोपशम एवं ३ क्षायिक । उपशम वेदक एवं क्षयोपशक वेदक सम्यक्त्व का कथन क्रमशः उपशम एवं क्षयोपशम सम्यक्त्व के समान है। क्षायिक वेदक सम्यक्त्व की प्राप्ति क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व समय में एक ही बार होती है। अनेक भवों की इसमें अपेक्षा नहीं होती है।

गुरु-स्वरूप

गरेइ मोक्खमग्गं जो, समिओ गुत्तिधारओ ।
खंत्तो दंतो निरारंभो , सो गुरू परिकित्तिओ ॥१॥

जो पांच समितिओं के पालक एवं त्रिगुप्ति के धारक होते हैं, क्षान्त—क्षमाशील होते है, दान्त—जितेन्द्रिय होते हैं, निरारम्भ—आरंभ से रहित होते हैं, मोक्ष-मार्ग के उपदेशक होते हैं, वे ही गुरु कहलाते हैं।

धम्मण्णू धम्मकत्ता य, सया धम्मपरायणो ।
भव्वाणं धम्मसत्थत्थ-देसगो वुच्चई गुरू ॥२॥

जो धर्म के ज्ञाता होते हैं, धर्ममय अपना जीवन बनाते हैं, धर्मसेवन में सदा परायण रहते हैं और भव्यजीवों के लिये धर्मशास्त्र के अर्थ का उपदेश देते हैं, वे ही गुरु कहलाते हैं।

सत्तभय-विहूणो य, अट्ठमयविवज्जिओ ।
नवबंभजुओ संतो, दस-धम्मपरायणो ॥३॥

जो सात प्रकार के भय से सर्वथा रहित होते हैं, आठ प्रकार के मद से जो रहित होते हैं, नौ बाड़ से जो ब्रह्मचर्य को पालते हैं, शान्तस्वभाव के धारक होते हैं और दस प्रकार के श्रमण धर्मो के आराधन में जो तत्पर रहते हैं, वे ही सद्गुरु हैं।

सम्यक्त्व-प्रश्नोत्तर

☆ पारसमल चण्डालिया*

१. प्रश्न—सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर तथा जीव आदि नव तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।

२. प्रश्न—सुदेव किसे कहते हैं?

उत्तर—जो राग-द्वेष से रहित हैं, अठारह दोष रहित और बारह गुण सहित हैं सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, जिनकी कथनी और करनी में भेद नहीं है, जिनकी वाणी में जीवों का एकान्त हित है वे ही परम आराध्य परमेश्वर सुदेव कहलाते हैं। ऐसे सुदेव कर्म रूप भाव शत्रुओं का नाश करने वाले होने से 'अरिहन्त' कहलाते हैं।

३. प्रश्न—सुगुरु किसे कहते हैं? अथवा सुगुरु कौन है?

उत्तर—जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का सर्वथा प्रकार से त्याग कर तीन करण, तीन योग से पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का पालन करते हैं, जो २७ गुणों के धारक हैं वे सुगुरु हैं। सुगुरु स्वयं संसार-सागर से तिरते हैं और दूसरों को भी संसार-सागर से तिराते हैं।

४. प्रश्न—सुधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर-अर्हन्त देव द्वारा जीवों के शाश्वत सुख के उद्देश्य से बतायी हुई अहिंसा-प्रधान साधना धर्म है। जो आत्मा को अशुभ गतियों से बचा कर मोक्ष में ले जाता है वह सुधर्म है।

५. प्रश्न—तत्त्व कितने हैं?

उत्तर—तत्त्व नौ हैं—१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आस्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८. बंध और ९. मोक्ष। इन नव तत्त्वों पर श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है।

६. प्रश्न—सम्यक्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर—सम्यक्त्व के दो भेद हैं—१. व्यवहार सम्यक्त्व और २. निश्चय सम्यक्त्व।

७. प्रश्न—व्यवहार सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—सुदेव, सुगुरु, सुधर्म एवं जिनागमों पर श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्त्व है।

८. प्रश्न—निश्चय सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—देव, आत्मा, गुरु, ज्ञान, धर्म, चैतन्य इनमें निःशंक एवं अडिग श्रद्धा होना निश्चय सम्यक्त्व है। वस्तुतः निज आत्मा ही देव, गुरु और धर्म है।

९. प्रश्न—सम्यक्त्व कैसे जाना जाता है?

---

* सह सम्पादक, सम्यग्दर्शन पत्रिका, ब्यावर

उत्तर—सम्यक्त्व इन पाँच लक्षणों से जाना जाता है—१. सम (शम) २. संवेग, ३. निर्वेद ४. अनुकम्पा और ५. आस्था।

१०. प्रश्न—सम (शम) किसे कहते हैं?

उत्तर—शत्रु पर समभाव रखना 'सम' कहलाता है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय न होना 'शम' है।

११. प्रश्न—संवेग का क्या अर्थ है?

उत्तर—वैराग्यभाव या मोक्ष की अभिलाषा होना संवेग है।

१२. प्रश्न—निर्वेद किसे कहते हैं?

उत्तर—भोग एवं संसार में अरुचि रखना, संसार को कैदखाना समझना और आरंभ परिग्रह से निवृत्त होना निर्वेद है।

१३. प्रश्न—अनुकम्पा किसे कहते हैं?

उत्तर—दुःखी जीवों को देखकर दया करना, उनके दुःख दूर हो ऐसी भावना रखना अनुकम्पा है।

१४. प्रश्न—आस्था किसे कहते हैं?

उत्तर—धर्म, पुण्य, पाप, आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि को मान्य करना, जिन-वचनों पर दृढ़ विश्वास रखना आस्था है।

१५. प्रश्न—सम्यक्त्व के कुल कितने लक्षण बताये हैं?

उत्तर—६७—चार श्रद्धान, तीन लिंग, दस विनय, तीन शुद्धि, पाँच लक्षण, पाँच दूषण, पाँच भूषण, आठ प्रभावना, छह आगार, छह यतना, छह स्थान और छह भावना।

१६. प्रश्न—सम्यक्त्व के पाँच प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं?

उत्तर—१. सास्वादन सम्यक्त्व २. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ३. औपशमिक सम्यक्त्व ४. वेदक सम्यक्त्व और ५. क्षायिक सम्यक्त्व।

१७. प्रश्न—सम्यक्त्व की कितनी रुचियाँ हैं?

उत्तर—दस—१. निसर्ग रूचि २. उपदेश रुचि ३. आज्ञा रुचि ४. सूत्र रुचि ५. बीज रुचि ६. अभिगम रुचि ७. विस्तार रुचि ८. क्रिया रुचि ९. संक्षेप रुचि और १०. धर्म रुचि।

१८. प्रश्न—सम्यक्त्व के कितने आचार हैं?

उत्तर—सम्यक्त्व के आठ आचार हैं—१. निःशंकित २. निःकांक्षित ३. निर्विचिकित्सक ४. अमूढदृष्टि ५. उपबृंहण (उववूह) ६. स्थिरीकरण ७. वत्सलता और ८. प्रभावना।

१९. प्रश्न—अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि काललब्धि पाकर यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता हुआ सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

२०. प्रश्न—काललब्धि का क्या अर्थ है?

उत्तर—जिस आत्मा का मुक्त होने का स्वभाव दबा हुआ हो, जो अनादिकाल से अज्ञान अन्धकार में भटक रहा हो, जिस पर मिथ्यात्व रूपी कालिमा अनादिकाल से जम रही हो ऐसी आत्मा का जब भव्यत्व रूप स्वभाव प्रकट होने का काल निकट आता है तब उसकी आत्मा पर कालिमा घटते-घटते उज्ज्वलता आती है वह कृष्ण पक्ष से शुक्लपक्षी होता है । इसे काललब्धि कहते हैं।

२१. प्रश्न—काललब्धि अथवा जीव का कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी होना यह सरलता से समझ में आ जाय, इसका कोई उदाहरण दीजिये?

उत्तर—जैसे कोई पत्थर नदी में बहता हुआ टकरा-टकरा कर बहुत काल के बाद गोल-मटोल हो जाता है उसी प्रकार जीव अनादिकाल से जन्म-मरण करते हुए अकाम निर्जरा करते-करते जितने समय के बाद मिथ्यात्व त्याग करने के योग्य होता है उस काल को काललब्धि कहते हैं।

२२. प्रश्न—यथाप्रवृत्तिकरण किसे कहते हैं?

उत्तर—आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों में प्रत्येक की स्थिति को अंतः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण रख कर शेष स्थिति को क्षय कर देने वाले सम्यक्त्व के अनुकूल आत्मा के अध्यवसाय विशेष को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

२३. प्रश्न—अपूर्वकरण किसे कहते हैं?

उत्तर—यथाप्रवृत्तिकरण से अधिक विशुद्ध रागद्वेष की तीव्रतम गांठ को तोड़ने रूप आत्म-परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम पूर्व में कभी नहीं होने से अपूर्वकरण कहलाता है।

२४. प्रश्न—अनिवृत्तिकरण किसे कहते हैं?

उत्तर—अपूर्वकरण से भी अधिक विशुद्ध आत्म-परिणाम, जिससे मिथ्यात्व की गांठ टूट कर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण करने वाला जीव सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त करता है।

२५. प्रश्न—सम्यक्त्वी जीव की क्या विशेषता है?

उत्तर—सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि) सात स्थान के आयुष्य का नया बंध नहीं करता है।

२६. प्रश्न—ये सात स्थान कौन-कौन से हैं?

उत्तर—१. नारकी २. तिर्यंच ३. स्त्री ४. नपुंसक ५. भवनपति ६. वाणव्यंतर और ७. ज्योतिषी। सम्यक्त्वी जीव इन सात स्थानों का बंध नहीं करता है।

२७. प्रश्न—सम्यक्त्व प्राप्त होने पर स्थायी रहे तो जीव कितने भव करके मोक्ष प्राप्त करता है? ।

उत्तर—जघन्य तीसरे भव में उत्कृष्ट ७-८ (पन्द्रह) भव में मोक्ष पाता है।

२८. **प्रश्न**—सम्यक्त्व आ कर चली गयी हो तो जीव कितने काल में मोक्ष प्राप्त करता है?

उत्तर—जिस जीव ने एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया हो वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में अवश्य मुक्त हो जाता है।

२९. **प्रश्न**—अमुक मनुष्य सम्यक्त्वी है या नहीं यह कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर—सम्यक्त्व आत्मा का गुण होने से अरूपी है इसे ज्ञानी ही जान सकते हैं, परन्तु जिसमें सम्यक्त्व के पाँच लक्षण देखने में आते हैं उसे अनुमान से सम्यक्त्वी कहा जा सकता है।

३०. **प्रश्न**—सम्यक्त्व की प्राप्ति से जीव को क्या लाभ है?

उत्तर—सम्यक्त्व गुण जन्म-मरण का नाश कर मोक्ष का अनंत सुख प्राप्त करने में बीजरूप है। सम्यक्त्व से जीव संसार-समुद्र से तिर कर मोक्ष के अव्याबाध सुखों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। अतः सम्यक्त्व जीव के लिए कल्याणकारी है।

—सम्यग्दर्शन कार्यालय, नेहरू पार्क ब्यावर (राज.)

समझो चेतनजी अपना रूप

¤ आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.

समझो चेतनजी अपना रूप, यो अवसर मत हारो ॥टेर॥

ज्ञान दरस-मय, रूप तिहारो, अस्थि-मांसमय, देह न थारो।
दूरकरो अज्ञान, होवे घट उजियारो ॥समझो ॥१॥

पोपट ज्यूं पिंजर बंधायो, मोह कर्म वश स्वांग बनायो।
रूपधरे हैं अनपार, अब तो करो किनारो ॥समझो ॥२॥

तन धन के नहीं तुम हो स्वामी, ये सब पुद्गल पिंड है नामी।
सत् चित गुण भण्डार, तूं जग देखन हारो ॥समझो ॥३॥

भटकत-भटकत नरतन पायो, पुण्य उदय सब योग सवायो।
ज्ञान की ज्योति जगाय, भ्रम तम दूर निवारो ॥समझो ॥४॥

पुण्य-पाप का तूं है कर्ता, सुख-दुःख फल का भी तूं भोक्ता।
तूं ही छेदनहार, ज्ञान से तत्त्व विचारो ॥समझो ॥५॥

कर्म काट कर मुक्ति मिलावे, चेतन निज पदको तब पावे।
मुक्ति के मार्ग चार, जानकर दिल में धारो ॥समझो ॥६॥

सागर में जलधार समावे, त्यूं शिवपद में ज्योति मिलावे।
होवे 'गज' उद्धार, अचल है निज अधिकारो ॥समझो ॥७॥

समकित : स्वरूप, महत्त्व और शर्तें

☒ डा. चेतन प्रकाश पाटनी*

साध्य के बारे में संसार में कोई विवाद नहीं है। विवाद है तो साधना को लेकर। संसार के सब प्राणी सुख चाहते हैं। निराकुलता का नाम सुख है, अतः 'आकुलता शिवमाहिं न तातैं-शिवमग लाग्यो चाहिए।' जैन दर्शन कहता है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' –त.सू. १/१

दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो सम्यक् हैं—वे मोक्ष का मार्ग हैं, अलग-अलग नहीं, मिल कर मोक्ष का मार्ग हैं। आचार्य उमास्वाति परिभाषा देते हैं-

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' –त.सू. १/२

अर्थात् तत्त्व और उसके अर्थ पर श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन है। देखना सम्यग्दर्शन नहीं है। जो दिखता है वह तत्त्व नहीं, जो दिखाने की कोशिश कर रहे हैं, वे भी दिखा नहीं सकते। क्या कोई वस्तुतत्त्व को हथेली पर रख कर आंखों से देख सकता है या दिखा सकता है? साक्षात् तीर्थङ्कर भी देशना दे रहे हों तब भी जो तत्त्व आयेगा वह परोक्ष ही होगा।

श्रद्धान परोक्ष पदार्थ का होता है, उसमें लीन होने के बाद अध्यात्म में उसका नाम संवेदन है। आगम में 'सम्यग्दर्शन' श्रद्धान का ही नाम है, लेकिन कोरे श्रद्धान से तीन काल में भी मोक्ष नहीं मिलता। बात यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों एक उपयोग की तीन धाराएं हैं। जिस धारा के द्वारा तत्त्वों पर श्रद्धान किया जाता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब वही धारा चिन्तन संलग्न हो जाती है तो सम्यग् ज्ञान कहलाती है और जब कषायों का परित्याग या रागद्वेष का विमोचन करने में प्रवृत्त होती है तब उसे ही सम्यक् चारित्र से अभिहित किया जाता है। इन तीनों की एकता से ही शिवत्व सम्भव है, अन्यथा नहीं। अमृतचन्द्राचार्य 'आत्मख्याति' में यही कहते हैं-**"तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्।"**

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन नहीं हैं, किन्तु उपयोग की धारा में जब तक भेद प्रणाली चलती है तब तक ये भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। परन्तु मार्ग तीनों मिलकर ही बनाते हैं। आचार्यों ने मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन को कर्णधार बताया है—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ रत्नकरण्डक श्रावकाचार, ३१

सम्यग्दर्शन कर्णधार है, क्योंकि इसके होने पर ही ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' और चारित्र 'सम्यक् चारित्र' की संज्ञा प्राप्त करता है।

पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य ने 'रत्नकण्डक श्रावकाचार' की प्रस्तावना में सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण बताये हैं - १. परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति २. तत्त्वार्थश्रद्धान ३. स्वपर का श्रद्धान ४. आत्मा का श्रद्धान ५. सात कर्मप्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धागुण की निर्मल परिणति। इन लक्षणों में पांचवां लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन हैं। जहां इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है

* सह आचार्य, हिन्दी-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

वहां कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिये।"

जब तक आत्मा अपने गुणों का प्रत्यक्ष नहीं कर लेता तब तक उसे श्रद्धान करना ही होगा। जब श्रद्धान पक्का होगा तभी श्रद्धेय - पदार्थ/तत्त्वार्थ/आत्मा की ओर उसकी यात्रा होगी। आचार्यों ने इस दृढ़ श्रद्धान को वीतरागसम्यग्दर्शन का साधक हेतु स्वीकार किया है। इस निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ ही रत्नत्रय की अभिन्नता, लीनता और स्थिरता मानी गई है। सरागसम्यग्दर्शन परोक्ष पदार्थ का होता है और श्रद्धान तभी तक होता है जब तक पदार्थ परोक्ष है। वीतराग सम्यग्दर्शन का विषय आत्मतत्त्व, शुद्ध पदार्थ, शुद्ध अस्तिकाय और शुद्ध समयसार है ऐसा आचार्यों ने कहा है। पहले हमें जो सम्यग्दर्शन होगा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन ही होगा। इसी के बल पर आगे बढ़ा जायेगा। निश्चय, व्यवहार बिना नहीं होता और व्यवहार जो होता है वह निश्चय के लिए होता है।

आचार्य विद्यासागरजी ने व्यवहार और निश्चय से पहले एक स्थिति और मानी है जिसका नाम उन्होंने निर्णय दिया है। वे कहते हैं- "निर्णय के बिना, अवाय के बिना कदम ही आगे नहीं उठा सकते। निश्चय का नाम साध्य है, व्यवहार साधन होता है। इस प्रकार जिस साध्य को सिद्ध करना है, प्राप्त करना है, उसका लक्ष्य बनाना निर्णय है और जिसके माध्यम से, साधन से साध्य सिद्ध होता है, वह व्यवहार है, तथा साध्य की उपलब्धि होना निश्चय है, इस तरह पहले निर्णय होता है, फिर व्यवहार और अन्त में निश्चय।""वह निर्णय सही नहीं है जो व्यवहार की ओर कदम नहीं बढ़ाता और वह व्यवहार भी सही नहीं कहा जाता जो निश्चय तक नहीं पहुंच पाता।वह मात्र व्यवहाराभास है।"

व्यवहार और निश्चय दोनों को समझना आवश्यक है। व्यवहार निश्चय के लिए है। जब तक निश्चय नहीं है तब तक व्यवहार का पालनपोषण करना जरूरी है। कार्य सम्पन्न हो जाने पर कारण की कोई कीमत नहीं रहती, लेकिन कार्य से पूर्व कारण की उतनी ही महिमा है जितनी कार्य की। व्यवहार पक्ष में हमें किस रूप से चलना है - यह जानना बड़ा जरूरी है। व्यवहार को व्यवहार बनाए रखना आवश्यक है, व्यवहाराभास नहीं।

आज बड़ी विषम स्थिति है। "सम्यग्दर्शन होने में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय कारण है। सम्यग्दर्शन का बाधक मिथ्यात्व कर्म है, चारित्र मोहनीय कर्म बाधक कारण नहीं," ऐसा कह कर घोर असंयम का पोषण किया जा रहा है। इस पर गम्भीरता से विचार अपेक्षित है–

'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' और 'जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी' इस लोक-उक्ति के अनुसार हमारे खान-पान का आत्म-परिणामों पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। यद्यपि भोजन जड़ पदार्थ है और आत्मा चैतन्य द्रव्य है फिर भी आहार का प्रभाव हमारे परिणामों पर साक्षात् देखा जाता है।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ६२

अमृतचन्द्राचार्य ने तो मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों के भक्षण करने का त्याग करने वाले को ही जिनधर्म के उपदेश का पात्र माना है। इनका सेवन करने

वाले तो उपदेश के पात्र भी नहीं हैं। फिर उनके सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? मांसादि भक्षण करने वाले मनुष्य की बुद्धि मलिन रहती है—

अष्टावनिष्टपुस्तकदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ७४

करणानुयोग में कहा है कि उपशम सम्यग्दर्शन से पूर्व क्षयोपक्षम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियां होती हैं। इनमें से पाँचवी करणलब्धि उसी भव्यजीव के होगी जिसका झुकाव सम्यक्त्व और चारित्र की ओर है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लब्धिसार में कहा है - 'करणसम्मत्तचारित्ते'। सम्यक्त्व और चारित्र की तरफ झुके हुए भव्यजीव के ही करण लब्धि होती है।

आज अफसोस की बात तो यह है कि मनुष्य को ज्ञान मिलने के उपरान्त भी वह धर्म को भोग का ही निमित्त मानता है। विशुद्धि लब्धि के बिना यानी परिणामों की विशुद्धता के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। मद्य मांस मधु यानी हिंसाजन्य पदार्थों का सेवन करने वाले के परिणाम विशुद्ध नहीं हो सकते। अतः उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

प्रशम (समता भाव), संवेग (संसार-परिभ्रमण से भय), अनुकम्पा (पर दुःखकातरता) और आस्तिक्य (स्व-पर की यथार्थ मान्यता) ये चार भाव सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण होते हैं और सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर भी ये उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं, तो इन भावों को धारण करने वाला मद्य-मांस-मधु का सेवन कर संकल्पी हिंसा में कैसे प्रवृत्त हो सकता है।

जिसे सम्यक्त्व उपलब्ध हो जाता है उसकी बाह्य और आभ्यन्तर की प्रवृत्तियों में गहरा परिवर्तन हो जाता है। व्रत रूप चारित्र भले ही उसने अभी धारण नहीं किया हो, परन्तु उसकी सारी स्वच्छन्द अनर्गल प्रवृत्ति छूट जाती है और वह विवेकपूर्ण जीवन जीने लगता है। अनादिकाल से निरन्तर बंधने वाली कर्मप्रकृतियों में से ४१ प्रकृतियों के बंध उसके रुक जाता है यानी इन कर्म प्रकृतियों को बांधने वाले परिणाम और क्रियाकलाप उसके योगों में से तिरोहित हो जाते हैं।

आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखते हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।।

जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे व्रतरहित होने पर भी नारकी, तिर्यञ्च, नपुंसक, स्त्री-पने को प्राप्त नहीं होते हैं और नीचकुली, विकृत अंगी, अल्पायु और दरिद्री नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में-

प्रथम नरक बिन षट्भू ज्योतिष वान भवन षंढ नारी ।
थावर विकलत्रय पशु में नहीं उपजत समकितधारी ।।

विचारणीय यह है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव को नीच गोत्र कर्म का भी बंध नहीं होता (जिसके कारण हैं - "परात्मनिन्दाप्रशंसे। सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य" यानी जिसके इतने सरल परिणाम हो जाते हैं) उसकी प्रवृत्ति में संकल्पी हिंसा, क्रूरता और खोटे अभिप्राय कैसे रह सकते हैं?

सम्यग्दर्शन 'दर्शनगुण' की पर्याय है। स्वभाव व विभाव रूप उसकी दो अवस्थाएं ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व हैं। गुण की स्वाभाविक अवस्था को भी गुण कह देते हैं। जैसे सिद्धों के आठ गुणों में प्रथम गुण सम्यक्त्व कहा है। सम्यग्दर्शन एक अद्‌भुत गुण है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उस वस्तु का उस स्वभावसहित विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। निःशंकित आदि आठ गुणों से युक्त सम्यग्दर्शन समकितवान् जीव को एक अभूतपूर्व व्यक्तित्व प्रदान करता है। ऐसा अतिदुर्लभ सम्यग्दर्शन जिन्हें उपलब्ध है, वे प्रणम्य हैं।

E-३४, पार्श्वनाथ जैन मन्दिर, शास्त्रीनगर, जोधपुर

सम्यक्त्व : इन्द्रियादि मार्गणाओं में

- इन्द्रियों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय के कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- काय की अपेक्षा त्रसकायिकों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं और स्थावरकायिकों के एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- योग की अपेक्षा तीनों योग वाले के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अयोगियों के मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- वेद की अपेक्षा तीनों वेदों में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु अवेद अवस्था में औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।
- कषायों की अपेक्षा चारों कषायों में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अकषाय अवस्था में औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।
- ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि एवं मनः पर्यायज्ञानियों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, केवलज्ञानी के मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- संयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। परिहारविशुद्धि संयम में क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात संयम में औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। संयतासंयत और असंयतों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।
- दर्शन की अपेक्षा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। केवलदर्शन में मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- लेश्या की अपेक्षा छहों लेश्याओं में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, और अलेश्यी अवस्था में मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- भव्यत्व की अपेक्षा भव्यों के तीनों ही सम्यक्त्व हो सकते हैं किन्तु अभव्यों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

-सर्वार्थसिद्धि के आधार पर

कुन्दकुन्दाचार्य-प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का स्वरूप

¤ डॉ. (श्रीमती) सुषमा सिंघवी*

'जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं' समयसार (अध्याय IV/गाथा 11) में मोक्षमार्ग की व्याख्या के प्रसङ्ग में कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा कि जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उन्हीं पदार्थों का संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि का परित्याग सम्यग्चारित्र है।

जीव के उद्धार का मूल कारण श्रद्धा है। अपनी श्रद्धा स्थिर रहे तो सुधार निश्चित होता है। आत्मश्रद्धा से वञ्चित मनुष्य कितने ही उपाय करे, सुख नहीं पा सकता, संसार की यातनाओं से छूट नहीं सकता। इसलिए आत्मश्रद्धा से च्युत नहीं होने का उपदेश ही ज्ञानी जन देते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव को यह दृढ़ विश्वास (प्रतीति) होता है कि 'रागादि भाव निश्चय से न तो आत्मा के हैं और न ही पुद्गल के'। इस प्रतीति के कारण ही रागादि भाव स्वयं असहाय होकर क्षीण हो जाते हैं। यही सम्यग्दृष्टि के मुक्त होने का रहस्य है। रागादि वैभाविक, आकुल्योत्पादक, औपाधिक भाव हैं, इनमें हित की श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। यह अकाट्य श्रद्धा ही आत्मश्रद्धा है कि हे आत्मन्, मैं अनादि अनन्त हूँ, शरीरादि सब पदार्थों से भिन्न हूँ। तृष्णा का स्वभाव ही आकुलता है और आत्मश्रद्धा ही मुक्ति का मार्ग।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को समझने हेतु कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रस्तुत व्यवहार नय की आवश्यकता को ध्यान में रखना आवश्यक है—'तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं' (व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है) तभी निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से प्रस्तुत विषय को समझने में सहायता मिलेगी। निश्चयनय भूतार्थ है, व्यवहारनय अभूतार्थ।

जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है निश्चय ही वह सम्यग्दृष्टि है - भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो। —समयसार I/११

शुद्धनय से जानना सम्यक्त्व है। शुद्धनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध ,निर्जरा और मोक्ष ये नवतत्त्व अभेदोपचार से सम्यक्त्व के विषय और कारण होने से सम्यक्त्व हैं। अथवा शुद्धनय से नव तत्त्वों को जानने से आत्मानुभूति होती है अतः नवतत्त्व सम्यक्त्व है—

> भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
> आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥—समयसार I/१३

कुन्दकुन्दाचार्य ने रत्नत्रय को निश्चय नय से आत्मा कहा। साधु को रत्नत्रय की उपासना का क्रम दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई अर्थार्थी (धन अथवा अन्य प्रयोजन का इच्छुक) पुरुष राजा को छत्र, चमर आदि राजचिह्नों से या अन्यथा पहचान कर उस पर श्रद्धान करता है उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसकी सेवा

---

* निदेशक , क्षेत्रीय केन्द्र, कोटा खुला विश्वविद्यालय, उदयपुर

सम्यग्दर्शन 'दर्शनगुण' की पर्याय है। स्वभाव व विभाव रूप उसकी दो अवस्थाएं ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व हैं। गुण की स्वाभाविक अवस्था को भी गुण कह देते हैं। जैसे सिद्धों के आठ गुणों में प्रथम गुण सम्यक्त्व कहा है। सम्यग्दर्शन एक अद्भुत गुण है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उस वस्तु का उस स्वभावसहित विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। निःशंकित आदि आठ गुणों से युक्त सम्यग्दर्शन समकितवान् जीव को एक अभूतपूर्व व्यक्तित्व प्रदान करता है। ऐसा अतिदुर्लभ सम्यग्दर्शन जिन्हें उपलब्ध है, वे प्रणम्य हैं।

E-३४, पार्श्वनाथ जैन मन्दिर, शास्त्रीनगर, जोधपुर

सम्यक्त्व : इन्द्रियादि मार्गणाओं में

- इन्द्रियों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय के कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- काय की अपेक्षा त्रसकायिकों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं और स्थावरकायिकों के एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- योग की अपेक्षा तीनों योग वाले के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अयोगियों के मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- वेद की अपेक्षा तीनों वेदों में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु अवेद अवस्था में औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।
- कषायों की अपेक्षा चारों कषायों में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अकषाय अवस्था में औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।
- ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि एवं मनः पर्यायज्ञानियों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, केवलज्ञानी के मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- संयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। परिहारविशुद्धि संयम में क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात संयम में औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। संयतासंयत और असंयतों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।
- दर्शन की अपेक्षा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। केवलदर्शन में मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- लेश्या की अपेक्षा छहों लेश्याओं में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, और अलेश्यी अवस्था में मात्र क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।
- भव्यत्व की अपेक्षा भव्यों के तीनों ही सम्यक्त्व हो सकते हैं किन्तु अभव्यों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

–सर्वार्थसिद्धि के आधार पर

कुन्दकुन्दाचार्य-प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का स्वरूप

¤ डॉ. (श्रीमती) सुषमा सिंघवी*

'जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं' समयसार (अध्याय IV/गाथा 11) में मोक्षमार्ग की व्याख्या के प्रसङ्ग में कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा कि जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उन्हीं पदार्थों का संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि का परित्याग सम्यग्चारित्र है।

जीव के उद्धार का मूल कारण श्रद्धा है। अपनी श्रद्धा स्थिर रहे तो सुधार निश्चित होता है। आत्मश्रद्धा से वञ्चित मनुष्य कितने ही उपाय करे, सुख नहीं पा सकता, संसार की यातनाओं से छूट नहीं सकता। इसलिए आत्मश्रद्धा से च्युत नहीं होने का उपदेश ही ज्ञानी जन देते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव को यह दृढ़ विश्वास (प्रतीति) होता है कि 'रागादि भाव निश्चय से न तो आत्मा के हैं और न ही पुद्गल के'। इस प्रतीति के कारण ही रागादि भाव स्वयं असहाय होकर क्षीण हो जाते हैं। यही सम्यग्दृष्टि के मुक्त होने का रहस्य है। रागादि वैभाविक, आकुल्योत्पादक, औपाधिक भाव हैं, इनमें हित की श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। यह अकाट्य श्रद्धा ही आत्मश्रद्धा है कि हे आत्मन्, मैं अनादि अनन्त हूँ, शरीरादि सब पदार्थों से भिन्न हूँ। तृष्णा का स्वभाव ही आकुलता है और आत्मश्रद्धा ही मुक्ति का मार्ग।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को समझने हेतु कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रस्तुत व्यवहार नय की आवश्यकता को ध्यान में रखना आवश्यक है—'तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं' (व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है) तभी निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से प्रस्तुत विषय को समझने में सहायता मिलेगी। निश्चयनय भूतार्थ है, व्यवहारनय अभूतार्थ।

जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है निश्चय ही वह सम्यग्दृष्टि है - भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो। —समयसार I/११

शुद्धनय से जानना सम्यक्त्व है। शुद्धनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध ,निर्जरा और मोक्ष ये नवतत्त्व अभेदोपचार से सम्यक्त्व के विषय और कारण होने से सम्यक्त्व हैं। अथवा शुद्धनय से नव तत्त्वों को जानने से आत्मानुभूति होती है अतः नवतत्त्व सम्यक्त्व है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥—समयसार I/१३

कुन्दकुन्दाचार्य ने रत्नत्रय को निश्चय नय से आत्मा कहा। साधु को रत्नत्रय की उपासना का क्रम दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई अर्थार्थी (धन अथवा अन्य प्रयोजन का इच्छुक) पुरुष राजा को छत्र, चमर आदि राजचिह्नों से या अन्यथा पहचान कर उस पर श्रद्धान करता है उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसकी सेवा

---

* निदेशक , क्षेत्रीय केन्द्र, कोटा खुला विश्वविद्यालय, उदयपुर

करता है (अनुचरण करता है) तथैव मोक्षकामी पुरुष जीव रूपी राजा को जाने, उसी का श्रद्धान करे, उसी का अनुचरण या अनुभव करे–

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥-समयसार I/१६

जीव के अतिरिक्त सभी भाव पर हैं यह जानकर साधु उन्हें त्याग देता है, इस कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही है–

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खादी परे त्ति णादूण। -समयसार I/३४

समस्त नयपक्ष से रहित समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम पाता है–

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥-समयसार III/७६

कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत नियमसार के अनुसार आप्त-आगम और तत्त्वों में श्रद्धा ही सम्यक्त्व है–

'अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।' नियमसार, ५

आप्त, आगम तथा तत्त्वार्थ का निरूपण करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार जो क्षुधा आदि समस्तदोषरहित तथा केवलज्ञानादि समस्त गुण सहित हैं वे आप्त जाने जाते हैं। आप्त के मुख से निःसृत वचन जो पूर्वापरदोषरहित तथा शुद्ध हों, वह आगम कहलाता है। आगम में जीवादि तत्त्वार्थ निरूपित होते हैं।

नियमसार में अन्य प्रसङ्गों पर भी सम्यक्त्व की चर्चा की गई है, यथा- विपरीत अभिनिवेश से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है (नियमसार, ५१)। चल-मलिन-अगाढ दोषों से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का निमित्त (बाह्य) कारण जिनसूत्र तथा जैन आगमों के ज्ञाता हैं तथा दर्शनमोह का क्षय आदि सम्यक्त्व के अन्तरङ्ग कारण हैं।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व तथैव तिरोहित हो जाता है जैसे मैल से वस्त्र का श्वेतपन नष्ट हो जाता है ।(समयसार IV/१३)। कुन्दकुन्दाचार्य ने रत्नत्रय के प्रतिबन्धक की चर्चा की है। सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक मिथ्यात्व है जिसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से जीव अज्ञानी होता है। चारित्र का प्रतिबन्धक कषाय है जिसके उदय से जीव चारित्ररहित होता है। सम्यग्दृष्टि के आस्रवों का अभाव है। सम्यग्दृष्टि के आस्रवनिमित्तक बन्ध नहीं है, किन्तु आस्रव का निरोध है। नवीन कर्मों को न बांधता हुआ वह सत्ता में विद्यमान पूर्व में बांधे हुए कर्मों को जानता है-

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो। -समयसार V/३

रत्नत्रय का जघन्यभाव कर्मबन्ध का कारण है। (समयसार V/९) दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से जो परिणमन करते हैं उसके कारण ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मों के बन्ध को प्राप्त होता है।

'सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं होता' इसे कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्ट किया है। सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व की सराग दशा में बांधे हुए सभी द्रव्यास्रव सत्ता में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव/रागादि भाव प्रत्ययों के द्वारा बन्ध को प्राप्त

होते हैं सत्ता में विद्यमान रहते हैं तथापि उदय से पूर्व वे भोगने योग्य नहीं होते। वे ही कर्म मिथ्यादृष्टि दशा में उदयकाल में भोगने योग्य होने पर नये कर्मों को बांधते हैं। रागादि भावास्रव के सद्भाव में द्रव्यप्रत्यय बन्धकारक होते हैं और रागादि भावास्रव के अभाव में द्रव्य प्रत्यय बन्धकारक नहीं होते हैं; इसीलिये सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं माना जाता है, वह अबन्धक कहा गया है - 'सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो' (समयसार V/१३) सम्यग्दृष्टि पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से नहीं बंधता, जैसे विषवैद्य विष का उपयोग करता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। (समयसार VII/३)

सम्यग्दर्शन आत्मा का निज वैभव है (समयसार अध्याय, I/गाथा ५)।

सम्यग्दृष्टि स्वयं को ज्ञायक स्वभाव जानता है और आत्मतत्त्व को जानता हुआ कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न भावों को छोड़ देता है—

'एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो॥ समयसार VII/८

सम्यग्दृष्टि के रागभाव नहीं होता, अतः विषयों के सेवन में आसक्त नहीं होता, विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन नहीं करता। किन्तु अज्ञानी विषयों में रागभाव के कारण उनका सेवन नहीं करता हुआ भी सेवन करने वाला होता है। 'राग पुद्गलकर्म है। उसके फलरूप उदय से उत्पन्न यह राग रूप भाव है। यह मेरा भाव नहीं है। मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव हूँ' ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण हु त मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को॥ समयसार VII/६

कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि जिस जीव के रागादि का लेशमात्र भी विद्यमान है वह जीव सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी आत्मा को नहीं जानता और आत्मा को न जानता हुआ वह अनात्मा को भी नहीं जानता। इस प्रकार जीव और अजीव को न जानने वाला किस प्रकार सम्यग्दृष्टि हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है- 'किह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।'समयसार VII/१०

सम्यग्दृष्टि जीव निश्शंक होने के कारण सप्तभय से मुक्त होता है—

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥ समयसार, VII/ ३६

सम्यग्दृष्टि जीव सप्तभय से मुक्त तथा (१) निःशंक (२) निष्कांक्ष (३) निर्विचिकित्स (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहनकारी (६) स्थितिकरणयुक्त एवं (७) वात्सल्यभावयुक्त जाने जाते हैं।

(१) कर्मबन्ध का भ्रम उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग चारों को काट देने वाला जीव **निःशंक सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

(२) जो जीव कर्मों के फल तथा समस्त धर्मों की कांक्षा नहीं करता उसे निष्कांक्ष **सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

(३) जो आत्मा सभी धर्मों (वस्तु-स्वभाव) के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता

उसे **निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

(४) जो जीव समस्त भावों में अमूढ़ एवं यथार्थदृष्टि वाला होता है, उसे वस्तुतः **अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

(५) जो जीव शुद्धात्मभावनारूप सिद्धभक्ति से युक्त है और समस्त रागादि विभावधर्मों का उपगूहन (नाश) करने वाला है उसे **उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

(६) जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए, स्वयं अपनी आत्मा को शिवमार्ग में स्थापित करता है उसे **स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

(७) जो जीव त्रिविध मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) अथवा त्रिविध साधु (आचार्य, उपाध्याय, साधु) के प्रति वात्सल्य करता है उसे **वात्सल्यभावयुक्त सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिये।

-१०६, अशोक नगर, उदयपुर

निर्भयता

सम्यग्दृष्टि में सात प्रकार के भय नहीं होते -(१) ऐहिक भय (२) पारलौकिक भय (३) वेदनाभय (४) मरणभय (५) अत्राणभय (६) अश्लोकभय और (७) आकस्मिक भय

प्रश्न-परलोक का भय तो धर्मात्मा होने का चिह्न माना जाता है। जब कोई पाप करता है तो उसे पाप से निवृत करने के लिये कहा जाता है कि भाई! कुछ परलोक से डरो । फिर सम्यग्दृष्टि, परलोक का भय क्यों नहीं रखता?

उत्तर-'डरना' के प्रयोग अनेक तरह के हैं। कभी-कभी ऐसा बोला जाता है कि 'पाप से डरो!' तब पाप से डरने का अर्थ है पाप के फल से डरना 'परलोक से डरो' का अर्थ है कि पाप करने पर भी अगर तुम्हें इस जन्म में उसका फल नहीं मिल पाया है तो परलोक में जरूर मिलेगा, इसलिये परलोक से डर कर पाप मत करो। भावना के भेद से भय अनेक तरह का होता है। परलोक से डरने का अर्थ जहाँ कर्म फल पर विश्वास है और उस विश्वास से पाप से दूर होने का विचार है वह बुरी चीज नहीं है। ऐसा भय तो सम्यग्दृष्टि के संवेग चिह्न में बताया गया है। परन्तु एक दूसरे प्रकार का डर होता है जो पापी के मन में वास करता है। जिस प्रकार एक ईमानदार आदमी न्यायाधीश से नहीं डरता, क्योंकि वह जानता है कि वह निरपराध है और निरपराध को न्यायाधीश दण्ड नहीं दे सकता, किन्तु एक अपराधी व्यक्ति न्यायाधीश के नाम से कांपता है। सम्यग्दृष्टि जीव निरपराधी के समान है। इसलिये उसे परलोक का भय नहीं होता।

-स्वामी सत्यभक्त

श्रीमद् राजचन्द्र की दृष्टि में सम्यग्दर्शन

☆ डॉ. उदयलाल जारोली*

श्रीमद् राजचन्द्र बीसवीं शती के आध्यात्मिक पुरुष थे। सम्यग्दर्शन पर उनका गहन चिन्तन उपलब्ध होता है। डॉ. जारोली ने श्रीमद् राजचन्द्र जी के साहित्य एवं पत्रों से उनके विचारों को इस लेख में संजोया है।—सम्पादक

माहात्म्य

"सम्यक्त्व केवलज्ञान से कहता है-'मैं इतना कर सकता हूं कि जीवन को मोक्ष में पहुंचा दूँ और तू भी यही कार्य करता है। तू उससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता, तो फिर तेरी अपेक्षा मुझमें न्यूनता किस बात की? इतना ही नहीं अपितु तुझे प्राप्त करने में मेरी जरूरत रहती है।'[१]

"इस अनादि-अनन्त संसार में अनन्त-अनन्त जीव तेरे आश्रय के बिना अनन्त-अनन्त दुःख का अनुभव करते हैं। तेरे परमानुग्रह से स्वस्वरूप में रुचि हुई, परम वीतराग स्वभाव के प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होने का मार्ग ग्रहण हुआ।"[२]

वचनामृत की उक्त दो बूंदों से हम सम्यक्त्व का माहात्म्य समझ सकते हैं। जगत् के सर्व क्लेशों, संसार के जन्म-जरा-मृत्यु रूपी समस्त दुःखों का अन्त सम्यक् दर्शन से होता है। दुःखों से निवृत्ति, सुख की प्राप्ति सभी जीव चाहते हैं, परन्तु सुख-दुःख के वास्तविक स्वरूप की समझ के बिना दुःख नष्ट नहीं होते। उस दुःख के आत्यंतिक अभाव का नाम मोक्ष है। अत्यन्त वीतराग हुए बिना आत्यंतिक मोक्ष नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के बिना वीतराग नहीं हुआ जा सकता तथा सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान असम्यक् कहा जाता है।[३]

मूल मार्ग

वस्तु की जिस स्वभाव से स्थिति है, उस स्वभाव से उस वस्तु की स्थिति समझ में आने को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। 'जे ज्ञाने करीने जाणियुं रे, तेनी वर्ते ते शुद्ध प्रतीत, कह्यूं भगवंते दर्शन तेहने रे, जेनू बीजूं नाम समकित।'[४] सम्यक् दर्शन से प्रतीत हुए आत्मभाव से आचरण करना चारित्र है। इन तीनों की एकता से मोक्ष है। यह जिनेश्वर का मूल मार्ग है।

तत्त्वार्थ प्रतीति

जीव स्वाभाविक है। परमाणु स्वाभाविक है। जीव अनंत हैं। परमाणु अनंत हैं। जीव-पुद्गल का संयोग अनादि है। जब तक जीव का पुद्गल से संबंध है तब तक वह सकर्म जीव कहा जाता है। भाव कर्म का कर्त्ता जीव है। यही विभाव है। इससे जीव पुद्गल का ग्रहण करता है। उसे तैजस आदि शरीरों का ग्रहण होता है। वैभाविक भाव से विमुख हो तो जीव निज परिणामी होता है। सम्यक् दर्शन के बिना वह संभव नहीं

---

* पूर्व प्राचार्य, विधि महाविद्यालय, नीमच (म.प्र.)

और उसके मुख्य हेतुभूत जिनवचन से तत्त्वार्थ प्रतीति होती है।

सद्गुरु की पहचान और अर्पणता

तत्त्वार्थ ज्ञान और उसकी प्रतीति में आलंबन है—सद् देव सद् गुरु और सद् धर्म। अर्थात् राग-द्वेष विरहित वीतराग देव, मिथ्यात्व और राग-द्वेष की स्थूल ग्रन्थि का छेदन करने वाले वीतराग गुरु और उनके द्वारा प्ररूपित दया (अहिंसा) मय, वीतराग धर्म।

आत्मा और सद्गुरु एक ही समझें। जिसने आत्मस्वरूप का लक्षण से, गुण से और वेदन से प्रगट अनुभव किया है और वही परिणाम जिसकी आत्मा का हुआ है वह आत्मा और सद्गुरु एक ही है।[५]

सद्गुरु (सत्पुरुष या महात्मा) को पहचानना अत्यन्त कठिन है। मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहचानते हैं। इस जीव की भूल यह है कि इसने सद्गुरु को पहचानने का पुरुषार्थ नहीं किया। अनादि काल से परिभ्रमण में अनंत बार शास्त्र-श्रवण, विद्याभ्यास, जिन दीक्षा, आचार्यत्व प्राप्त हुआ पर 'सत्', मिला नहीं, सत् सुना नहीं, सत् की श्रद्धा की नहीं इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करने से ही छुटकारे की गूंज आत्मा में उठेगी।"[६]

अतः पहला कार्य यह कि सद्गुरु की शोध करके तन, मन, वचन और आत्मा से अर्पण बुद्धि करे, उसी की आज्ञा का आराधन सर्वथा निश्शंकता से करे। कुसंग का त्याग कर सत्संग करे। जिसे सत् का साक्षात्कार है ऐसे पुरुष के वचनों का परिशीलन करे । सत् पुरुष वही है जो रात-दिन आत्मा के उपयोग में है। अंतरंग में स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है।

'दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुष की खोज कर, उसके चरणकमल में सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह, फिर यदि मोक्ष नहीं मिले तो मुझ से लेना।"[७]

तन से, मन से, धन से, सब से गुरु देव की आन स्व आत्म बसे।
तब कारज सिद्ध बने अपनो रस अमृत पावहिं प्रेम धनो॥-बीस दोहरे

श्रीमद्जी ने कई पत्रों में सत्संग, सत्समागम एवं सत्पुरुष के वचनों के श्रवण-मनन-निदिध्यासन पर जोर दिया। सद्गुरु कहें या वीतराग गुरु कहें, उनके वचन सुनने के बाद भी विवेक जागृत क्यों नहीं होता? इसके लिए जीव में मुमुक्षुता और तीव्र मुमुक्षुता होनी चाहिए।

मुमुक्षुता

सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिए ही यत्न करना मुमुक्षुता है और तीव्र मुमुक्षुता है अनन्य प्रेम से मोक्ष के मार्ग में प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।[८] इसके लिए आवश्यक है कि जीव अपने दोष देखे, स्वच्छन्दता त्यागे। इतना होने पर भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति में तीन कारणों को बाधक कहा है—(१) इस लोक की अल्प भी सुखेच्छा (२) परम दीनता की न्यूनता (३) पदार्थ का अनिर्णय।

तत्त्वों का, जीवाजीव का, आत्मतत्त्व का निर्णय जैसा तीर्थंकर परमात्मा ने फरमाया वैसा समझकर यथातथ्य निर्णय नहीं होने से ही जीव का परिभ्रमण हो रहा है।

कर्मबंध से निवृत्ति ही नहीं हो रही है।

भ्रान्ति

इसलिए श्रीमद्‌जी ने आत्म भ्रांति या भूल के निवारण पर जोर दिया। इसके लिए आवश्यक है कि जीव अपने दोषों एवं भूलों का ध्यान करके, उनका निवारण करे तथा दूसरे जीवों के प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रवृत्ति करे। ज्यों-ज्यों जीव में वैराग्य, त्याग, और आश्रयभक्ति का बल बढ़ता है त्यों-त्यों सत् पुरुष के वचन का अपूर्व और अद्‌भुत स्वरूप भासित होता है और बंधन निवृत्ति के उपाय सहज ही सिद्ध होते हैं।

अनादि की भूल-निवृत्ति और सद्बोध की प्राप्ति हेतु आत्म-विचार प्रथम सीढ़ी है। भूल कौनसी? अनर्थ के हेतु कौन से? क्या करना योग्य है? इत्यादि विचार करते हुए सोचे—'जन्म-मरणादि क्लेश युक्त इस संसार का त्याग करना योग्य है। अनित्य पदार्थ में विवेकी को रुचि करना नहीं होता, माता-पिता, स्वजनादि सबका स्वार्थरूप संबंध होने पर भी यह जीव उस जाल का आश्रय करता है, यही उसका अविवेक है (भूल है)। त्रिविध तापरूप यह संसार ज्ञात होने पर भी मूर्ख जीव उसी में विश्रांति चाहता है। परिग्रह, आरंभ और संग ये सब अनर्थ के हेतु हैं।... आत्मा का अस्तित्व, नित्यत्व, एकत्व अथवा अनेकत्व, बंधादिभाव, मोक्ष, आत्मा की सर्व प्रकार की अवस्था, पदार्थ और उनकी अवस्था का चिन्तन करे।'[९]

भेदविज्ञान

जड़भाव जड़ परिणमे, चेतन चेतन भाव
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वभाव।
जड़ चेतन नो भिन्न छे केवल प्रकट स्वभाव।
एक पणूं पामे नहीं, भणे काल द्वयभाव।—आत्मसिद्धि

"जीव और पुद्गल कदाचित् एक क्षेत्र को रोककर रहें तो भी अपने-अपने स्वरूप से किसी अन्य परिणाम को प्राप्त नहीं होते। देहादिक से जो परिणाम होते हैं, उनका कर्त्ता पुद्गल है, क्योंकि देहादिक जड़ है और जड़ परिणाम तो पुद्गल में होता है। फिर जीव भी जीव रूप में ही रहता है। इस प्रकार वस्तु स्थिति को समझें तो जड़ संबंधी का जो स्व-स्वरूपभाव है वह मिटे और स्वस्वरूप जो तिरोभाव है वह प्रकट हो।"[१०]

यही भेद विज्ञान है। यही ग्रन्थि भेद है। इसी को चौथा गुणस्थानक कहा गया है। जीव तत्त्वविचार कर यह निश्चय करे कि—

"जीव यह पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहीं है, पुद्गल का आधार नहीं है, अपने स्वस्वरूप के सिवाय जो अन्य है उसका स्वामी नहीं है, क्योंकि पर का ऐश्वर्य स्वरूप में नहीं होता। वस्तु धर्म से देखते हुए वह कभी भी परसंगी भी नहीं है।'[११]

आत्मसिद्धि में स्पष्ट उद्‌घोष किया है कि-

केवल होत असंग जो भासत तने न केम।
असंग छे परमार्थथी, पण निज माने तेम॥—आत्मसिद्धि, ७६

सच्ची समझ हो जाय तो मुक्ति का मार्ग मिल जाए। जीव सर्व कर्मबंध से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाए। कैसे? वह यह जाने और दृढ़ता से माने, प्रतीति करे कि-

"द्रव्य से द्रव्य नहीं मिलता, इसे जानने वाले को कोई कर्त्तव्य नहीं कहा जा

और उसके मुख्य हेतुभूत जिनवचन से तत्त्वार्थ प्रत

सद्गुरु की पहचान और अर्पणता

तत्त्वार्थ ज्ञान और उसकी प्रतीति में आलंब
धर्म। अर्थात् राग-द्वेष विरहित वीतराग देव, मिथ्
का छेदन करने वाले वीतराग गुरु और उनके
वीतराग धर्म।

आत्मा और सद्गुरु एक ही समझें। जिसने आ
और वेदन से प्रगट अनुभव किया है और वही परि
वह आत्मा और सद्गुरु एक ही है।[५]

सद्गुरु (सत्पुरुष या महात्मा) को पहचानना अ
महात्मा को पहचानते हैं। इस जीव की भूल यह है कि
पुरुषार्थ नहीं किया। अनादि काल से परिभ्रमण में अन
जिन दीक्षा, आचार्यत्व प्राप्त हुआ पर 'सत्', मिला नहीं
की नहीं इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करने से ह
उठेगी।"[६]

अतः पहला कार्य यह कि सद्गुरु की शोध करके
अर्पण बुद्धि करे, उसी की आज्ञा का आराधन सर्वथा नि
त्याग कर सत्संग करे। जिसे सत् का साक्षात्कार है
परिशीलन करे । सत् पुरुष वही है जो रात-दिन आत्मा
स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है।

'दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुष की खोज
सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह, फिर यदि मोक्ष नहीं

> तन से, मन से, धन से, सब से गुरु देव की आन र
> तब कारज सिद्ध बने अपनो रस अमृत पावहिं प्रेम ध

श्रीमद्जी ने कई पत्रों में सत्संग, सत्समागम एवं स
श्रवण-मनन-निदिध्यासन पर जोर दिया। सद्गुरु कहें या वीत
वचन सुनने के बाद भी विवेक जागृत क्यों नहीं होता? इसके ि
और तीव्र मुमुक्षुता होनी चाहिए।

मुमुक्षुता

सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिए
मुमुक्षुता है और तीव्र मुमुक्षुता है अनन्य प्रेम से मोक्ष के मार्ग में
करना।[८] इसके लिए आवश्यक है कि जीव अपने दोष देखे, स्वच्छन्दत
होने पर भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति में तीन कारणों को बाधक कहा है–(१)
अल्प भी सुखेच्छा (२) परम दीनता की न्यूनता (३) पदार्थ का अनिर्णय।

तत्त्वों का, जीवाजीव का, आत्मतत्त्व का निर्णय जैसा तीर्थंकर परमात्मा
वैसा समझकर यथातथ्य निर्णय नहीं होने से ही जीव का परिभ्रमण हो

है। विरोधी साधन का दो प्रकार से त्याग हो सकता है। एक उस साधन के प्रसंग की निवृत्ति से दूसरा विचार पूर्वक उसकी तुच्छता समझने से। श्रीमद्जी कहते हैं—

"उस पंचविषयादि साधन की सर्वथा निवृत्ति करने के लिए जीव का बस न चलता हो तब क्रम-क्रम से, अंश-अंश से उसका त्याग करना योग्य है।... जीव क्वचित् विचार करे इससे अनादि अभ्यास बल घटना कठिन है, परन्तु दिन-दिन, प्रसंग-प्रसंग में प्रवृत्ति-प्रवृत्ति में पुनः पुनः विचार करे तो अनादि अभ्यास का बल घटकर अपूर्व अभ्यास की सिद्धि होकर सुलभ भक्तिमार्ग सिद्ध होता है।"[१६]

सम्यक्त्व के संदर्भ में सुलभ-बोधि एवं दुर्लभ-बोधि का उल्लेख आगमों में अंकित है। उक्त प्रेरणास्पद वाक्यों का निदिध्यास करने से दुर्लभ से सुलभ बोधिता होकर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है, ग्रन्थिभेद हो जाता है। ग्रंथिभेद के बिना जीव पहले गुणस्थानक में ही अनन्त काल तक पड़ा रहता है। योगानुयोग से अकाम निर्जरा करता हुआ जीव आगे बढ़े और प्रबल पुरुषार्थ करे, प्रमाद और शिथिलता का त्याग करे तो ही निविड़ ग्रंथि का भेदन होता है। यह जीव पहले गुणस्थानक से निकल कर ग्रंथिभेद तक अनन्त बार आया पर निर्बल होकर वापस लौटा। जीव सोचे कि सम्यक्त्व अनायास आ जाता होगा, ऐसा नहीं है, प्रबल पुरुषार्थ के बिना नहीं आता।

विषय-वासना से जिसकी इन्द्रियां आर्त्त हैं उसे शीतल आत्मसुख आत्मतत्त्व कहां से प्रतीति में आएगा? इसलिए श्रीमद्जी प्रेरणा करते हैं—

"देह से भिन्न स्व-परप्रकाशक परमज्योति स्वरूप यह आत्मा, उसमें निमग्न होवे। हे आर्यजनों! अन्तर्मुख होकर, स्थिर होकर उस आत्मा में ही रहे तो अनन्त अपार आनन्द का अनुभव करे"[१७]

सुख कहां ?

"सुख अंतर में है। बाहर खोजने से नहीं मिलेगा। अंतर का सुख अंतर की समश्रेणी में है, उसमें स्थित होने के लिए बाह्य पदार्थों का विस्मरण कर, आश्चर्य भूल। आभ्यंतर में समश्रेणी रखना अति दुर्लभ है, निमित्ताधीन दृष्टि पुनः पुनः चलित हो जाएगी, चलित न होने देने के लिए अचल उपयोग रख... तेरे दोष से तुझे बंधन है, यह संत की पहली शिक्षा है। तेरा दोष इतना ही है कि अन्य को अपना मानना और अपने आपको भूल जाना।"[१८]

आत्म-स्वरूप

स्व-पर का भेदविज्ञान ही सम्यक्त्व है सदेव, सद्गुरु और सद्धर्म के आलंबन से स्व-स्वरूप का भान होता है। 'स्व' कैसा है, इसके लिए कहा है—

"सर्व से सर्वथा मैं भिन्न हूं, एक, केवल शुद्ध, चैतन्य स्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य, सुखस्वरूप, मात्र एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूं। वहां विकल्प क्या? विक्षेप क्या? भय क्या? खेद क्या? दूसरी अवस्था क्या? मैं मात्र निर्विकल्प शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध, परम शांत चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूप उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ।"[१९]

"द्रव्य से द्रव्य नहीं मिलता, इसे जानने वाले को कोई कर्त्तव्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु वह कब? स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से यथावस्थित समझ आने पर स्व-द्रव्य स्वरूप परिणाम से परिणमित होकर अन्य द्रव्य के प्रति सर्वथा उदास होकर कृतकृत्य होने पर, कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता, ऐसा योग्य है और ऐसा ही है।"[१२]

जड़ ने चेतन्य बन्ने द्रव्य नो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीति पणे बन्ने जेने समझाय छे।
स्वरूप चेतन निज जड़ छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्य मांय छे।
एवो जे अनुभव नो प्रकाश उल्लासित थयो,
जड़ थी उदासी लेने आत्मवृत्ति थाय छे।
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया एवा
निर्ग्रन्थ नो पंथ, भव अंत नो उपाय छे॥[१३]

श्रीमद्जी स्पष्ट करते हैं कि जीव और काया पदार्थ रूप से भिन्न, परन्तु संबंध रूप से सहचारी हैं। जब तक उस काया से जीव को कर्म का भोग है तब तक नीरक्षीरवत् एकत्र हुए दीखते हैं, फिर भी परमार्थ से वे अलग हैं। यदि इसका स्पष्ट भान हो जाए तो सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।[१४]

उपाय

यही सर्वक्लेश और सर्वदुःख से मुक्त होने का उपाय है। यही सत् है। सत् कोई दूर नहीं, सुगम है। परन्तु उसको प्राप्त करने का मार्ग कठिन है, क्योंकि अनादि से इस जीव ने अनित्य पदार्थ के प्रति मोहबुद्धि कर रखी है और इसी से संसार परिभ्रमण का भोग रहा करता है। आत्म-विचार में बाह्य प्रसंग और असत्संग बाधक कारण कहे हैं। इसलिए श्रीमद्जी मुमुक्षु जीवों को बोध देते हैं—

"आरम्भ-परिग्रह की अल्पता करने से असत्प्रसंग का बल घटता है, सत्संग के आश्रय से असत्संग का बल घटता है। असत्संग का बल घटने से आत्मविचार होने का अवकाश प्राप्त होता है, आत्म-विचार होने से आत्मज्ञान होता है और आत्म-ज्ञान से निज स्वभाव स्वरूप सर्वक्लेश एवं सर्वदुःख से रहित मोक्ष प्राप्त होता है। यह बात सर्वथा सत्य है।[१५]

आज के भौतिक युग की आपाधापी में भागमभाग में जीव ऐसा उलझा हुआ है कि आत्म-विचार का समय ही नहीं है। हम नादान जीवों के लिए ही श्रीमद्जी प्रेरणा करते हैं—"सर्व विभाव से उदासीन और अत्यन्त शुद्ध निज पर्याय का सहज रूप से आत्मा सेवन करे... किसी ही जीव से इस गहन दशा का विचार हो सकता है, क्योंकि अनादि से अत्यंत अज्ञानदशा से इस जीव ने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्ति को एकदम असत्य, असार समझकर उसकी निवृत्ति सूझे, ऐसा होना बहुत कठिन है... ज्ञानी की शरण से यह सरल होता है। ज्ञानी पुरुष के चरण में मन का स्थापित होना पहले तो कठिन पड़ता है, परन्तु वचन की अपूर्वता से, उस वचन का विचार करने से और ज्ञानी को अपूर्व दृष्टि से देखने से मन का स्थापित होना संभव है।"

ज्ञानी पुरुष के आश्रय में विरोध करने वाले पंचविषयादि दोष हैं, उन दोषों के होने के साधनों से यथाशक्ति दूर रहना, प्राप्त साधनों में भी उदासीनता रखना अथवा उन साधनों में से मंदबुद्धि को दूर कर उन्हें रोग रूप समझ कर प्रवृत्ति करना योग्य

है। विरोधी साधन का दो प्रकार से त्याग हो सकता है। एक उस साधन के प्रसंग की निवृत्ति से दूसरा विचार पूर्वक उसकी तुच्छता समझने से। श्रीमद्जी कहते हैं—

"उस पंचविषयादि साधन की सर्वथा निवृत्ति करने के लिए जीव का बस न चलता हो तब क्रम-क्रम से, अंश-अंश से उसका त्याग करना योग्य है।... जीव क्वचित् विचार करे इससे अनादि अभ्यास बल घटना कठिन है, परन्तु दिन-दिन, प्रसंग-प्रसंग में प्रवृत्ति-प्रवृत्ति में पुनः पुनः विचार करे तो अनादि अभ्यास का बल घटकर अपूर्व अभ्यास की सिद्धि होकर सुलभ भक्तिमार्ग सिद्ध होता है।"[१६]

सम्यक्त्व के संदर्भ में सुलभ-बोधि एवं दुर्लभ-बोधि का उल्लेख आगमों में अंकित है। उक्त प्रेरणास्पद वाक्यों का निदिध्यास करने से दुर्लभ से सुलभ बोधिता होकर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है, ग्रन्थिभेद हो जाता है। ग्रंथिभेद के बिना जीव पहले गुणस्थानक में ही अनन्त काल तक पड़ा रहता है। योगानुयोग से अकाम निर्जरा करता हुआ जीव आगे बढ़े और प्रबल पुरुषार्थ करे, प्रमाद और शिथिलता का त्याग करे तो ही निविड़ ग्रंथि का भेदन होता है। यह जीव पहले गुणस्थानक से निकल कर ग्रंथिभेद तक अनन्त बार आया पर निर्बल होकर वापस लौटा। जीव सोचे कि सम्यक्त्व अनायास आ जाता होगा, ऐसा नहीं है, प्रबल पुरुषार्थ के बिना नहीं आता।

विषय-वासना से जिसकी इन्द्रियां आर्त्त हैं उसे शीतल आत्मसुख आत्मतत्त्व कहां से प्रतीति में आएगा? इसलिए श्रीमद्जी प्रेरणा करते हैं—

"देह से भिन्न स्व-परप्रकाशक परमज्योति स्वरूप यह आत्मा, उसमें निमग्न होवे। हे आर्यजनों! अन्तर्मुख होकर, स्थिर होकर उस आत्मा में ही रहे तो अनन्त अपार आनन्द का अनुभव करे"[१७]

सुख कहां ?

"सुख अंतर में है। बाहर खोजने से नहीं मिलेगा। अंतर का सुख अंतर की समश्रेणी में है, उसमें स्थित होने के लिए बाह्य पदार्थों का विस्मरण कर, आश्चर्य भूल। आभ्यंतर में समश्रेणी रखना अति दुर्लभ है, निमित्ताधीन दृष्टि पुनः पुनः चलित हो जाएगी, चलित न होने देने के लिए अचल उपयोग रख... तेरे दोष से तुझे बंधन है, यह संत की पहली शिक्षा है। तेरा दोष इतना ही है कि अन्य को अपना मानना और अपने आपको भूल जाना।"[१८]

आत्म-स्वरूप

स्व-पर का भेदविज्ञान ही सम्यक्त्व है सदेव, सद्गुरु और सद्धर्म के आलंबन से स्व-स्वरूप का भान होता है। 'स्व' कैसा है, इसके लिए कहा है—

"सर्व से सर्वथा मैं भिन्न हूं, एक, केवल शुद्ध, चैतन्य स्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य, सुखस्वरूप, मात्र एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूं। वहां विकल्प क्या? विक्षेप क्या? भय क्या? खेद क्या? दूसरी अवस्था क्या? मैं मात्र निर्विकल्प शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध, परम शांत चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूप उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ।"[१९]

द्रव्य से- मैं एक हूं, असंग हूं, सर्व परभाव से मुक्त हूँ।

क्षेत्र से- असंख्यात निज अवगाहना प्रमाण हूँ।

काल से - अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्व-पर्याय परिणामी शाश्वत हूँ।

भाव से - शुद्ध चैतन्य मात्र निर्विकल्प हूँ।[२०]

चित्त के संकल्प-विकल्प से रहित होना, यह महावीर का मार्ग है। अलिप्त भाव में रहना यह विवेकी का कर्त्तव्य है।[२१]

स्वरूप-भास क्यों नहीं

हमारा विवेक जागृत क्यों नहीं होता? चित्त स्थिर क्यों नहीं होता? आत्मविचार—आत्मा का ज्ञान, प्रतीति और आत्म-ध्यान क्यों नहीं होता? कारण बताते हुए श्रीमद्जी लिखते हैं-

"बाह्य के सुख, इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले सुख भ्रान्तिवश सुखस्वरूप भासमान होते हैं। ऐसे इन संसारी प्रसंगों में एवं प्रकारों में जब तक जीव को प्रीति रहती है तब तक जीव को अपने स्वरूप का भासमान होना असंभव है और सत्संग का माहात्म्य भी तथारूपता से भासमान होना असंभव है।"

तब क्या करें, तो बोध स्वरूप प्रेरणा देते हैं-

"जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीति को प्राप्त न हो जाए तब तक अवश्य ही अप्रमत्त भाव से पुरुषार्थ को स्वीकार करना योग्य है।[२२] उपाधि प्रसंग के कारण आत्मा संबंधी विचार अखंड रूप से नहीं हो सकता अथवा गौण रूप से हुआ करता है, ऐसा होने से बहुत काल तक प्रपंच में रहना पड़ता है।..." "चित्त स्थिर नहीं रह सकता...[२३] "जब तक आत्मा, आत्मभाव से अन्यथा अर्थात् देहभाव से व्यवहार करेगा, 'मैं' करता हूँ -ऐसी बुद्धि करेगा, मैं ऋद्धि आदि से अधिक हूँ, यों मानेगा, शास्त्र को जालरूप समझेगा, मर्म के लिए मिथ्यामोह करेगा तब तक शान्ति होना दुर्लभ है।"[२४] चेतावनी देते हैं कि 'सर्व की अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता है ऐसी यह काया, रोग, जरा आदि से स्वात्मा को ही दुःख रूप हो जाती हैं तो फिर उससे दूर धनादि जीव को सुखदायी होंगे ऐसा मानने में विचारवान् की बुद्धि क्षोभ को प्राप्त होनी चाहिए।[२५] "विचारवान् को देह छूटने संबंधी हर्ष-विषाद योग्य नहीं है। आत्म-परिणाम की विभावना (अबोधता) ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभाव-सन्मुखता तथा उसकी दृढ़ इच्छा भी हर्ष विषाद को दूर करती है।"[२६]

अनादि के अज्ञानवश यह जीव अपने को देहरूप, कर्मरूप और रागरूप मानता है। इनसे भिन्न, प्रकटतः स्पष्टतः भिन्न सहज आत्म-स्वरूप का भान ही नहीं हो पाता, सम्यक्त्व का स्पर्श ही नहीं हो पाता, ग्रन्थि भेद ही नहीं कर पाता, मिथ्यात्व गला ही नहीं पाता। इस अज्ञान को, मिथ्यात्व को दूर करने और सहज स्वरूप का भासमान कराने के लिए श्रीमद्जी अमूल्य संदेश देते हैं—

"मिथ्याग्रह, स्वच्छंदता, प्रमाद और इन्द्रिय विषय की उपेक्षा न की हो तो सत्संग फलवान् नहीं होता अथवा सत्संग में एकनिष्ठा, अपूर्व भक्ति न की हो तो फलवान्

मिथ्याग्रह का नाश हो जाए और अनुक्रम से जीव सर्व दोषों से मुक्त हो जाए।"

जीव सहज-स्वरूप से रहित नहीं है। परन्तु उस सहजस्वरूप का जीव को भान मात्र नहीं है, भान होना ही सहज स्वरूप से स्थिति है। संग के योग से यह जीव सहज स्थिति को भूल गया, संग की निवृत्ति से सहज स्वरूप का अपरोक्ष भान प्रकट होता है। असंगता सर्वोत्कृष्ट है। सर्वजिनागम में कहे हुए वचन-मात्र असंगता में समा जाते हैं।[२७]

'देहादि से भिन्न, उपयोगी, अविनाशी आत्मा' का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान और उसीकी प्रतीति सम्यक् दर्शन है।

प्रतीति कैसे हो?

वह प्रतीति आत्म-भावना करने से होती है। मैं देहादि स्वरूप नहीं, स्त्री-पुत्रादि मेरे नहीं, मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ। जब तक देहात्मबुद्धि दूर नहीं होती तब तक शुद्ध स्वरूप की प्रतीति नहीं होती। देव, गुरु, धर्म प्रबल प्रेरक है। सत्पुरुष और सत्शास्त्र माध्यम हैं। आत्मा का भान तो स्वानुभव से होता है। आत्मा अनुभवगोचर है। अनुमान जो है वह माप है। अनुभव जो है वह अस्तित्व है। जड़ और आत्मा तन्मय नहीं होते। सूत की आंटी सूत से कुछ भिन्न नहीं है। परन्तु आंटी खोलने में विकटता है। यद्यपि सूत न घटता है और न बढ़ता है। उसी तरह आत्मा में आंटी पड़ गई है।[२८] त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्ति को सहज स्वरूप किए बिना आत्मदशा प्रकट नहीं होती। शिथिलता और प्रमाद से यह विस्मृत हो जाती है।[२९] अपने क्षयोपशम बल को कम जानकर अहंता-ममतादि का पराभव होने के लिए नित्य अपनी न्यूनता (दोष-निरीक्षण करना) देखना, विशेष संग-प्रसंग कम करना योग्य है।[३०] आत्महेतु भूत संग (अर्थात् सत्संग) के सिवाय मुमुक्षु जीव को सर्व संग कम करना योग्य है। क्योंकि उसके बिना परमार्थ का आविर्भाव होना कठिन है।[३१] शरीरादि किसके हैं? यह मानें कि मोह के हैं। इसलिए असंग भावना रखना योग्य है।[३२] जो कोई सच्चे अन्तःकरण से सत्पुरुष (सद्गुरु) के वचनों को ग्रहण करेगा वह 'सत्य' को पाएगा, इसमें कोई संशय नहीं है।[३२] स्वभाव में रहना और विभाव से छूटना, यही मुख्य बात समझनी है।

> **उपजे मोह विकल्प थी समस्त आ संसार।**
> **अन्तरमुख अवलोकतां, विषय थतां नहीं वार॥**[३३]

इस जीव के अपनी-अज्ञानतावश उपजे मोह-विकल्प से ही जन्म-मरणादि समस्त संसार की अविचल धारा बह रही है। यदि संसार-दृष्टि हट जाए, अन्तरदृष्टि हो जाए, अन्तरमुख-अवलोकन, आत्मावलोकन हो जाए तो दृष्टि सम्यक् हो जाए और ऐसा होते ही समस्त मोह-विकल्प का विलय होना प्रारंभ हो जाता है। फिर कुछ देर नहीं लगती, उसी भव में, तीन भवों में अथवा पंद्रह भवों में और दृष्टि अपने से हटाकर विपरीत आचरण में लग जाए तो भी अर्ध पुद्गल परावर्तन में मोक्ष होगा ही होगा।

श्रीमद्जी अपने अन्तिम काव्य में उस मार्ग को प्रशस्त करते हैं-

> **इच्छे छे जे योगीजन, अनंत सुखस्वरूप।**
> **मूल शुद्ध ते आत्मपद, सयोगी जिन स्वरूप॥१॥**
> **आत्मस्वभाव अगम्य ते, अवलंबन आधार।**
> **जिनपदथी दर्शावियो, तेह स्वरूप प्रकार॥२॥**

जिनपद निज पद एकता, भेदभाव नहिं कांई।
लक्ष्य थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई ॥३ ॥
जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान।
अवलंबन श्री सद्गुरु सुगम अने सुखखाण ॥४ ॥

मार्गप्राप्ति हेतु पात्रता-दिग्दर्शन करते हैं-

विषय विकार सहित जे, रह्या मतिना योग।
परिणामनी विषमता, तेने योग अयोग ॥८ ॥
मंद विषय ने सरलता, सह आज्ञा सुविचार।
करुणा कोमलतादि गुण, प्रथम भूमिका धार ॥९ ॥
रोक्या शब्दादिक विषय, संयम साधन राग।
जगत इष्ट नहीं आत्मथी, मध्य पात्र महाभाग्य ॥१०
नहीं तृष्णा जीव्यातणी, मरण योग नहीं क्षोभ।
महापात्र ते मार्गना, परमयोग जितलोभ ॥११ ॥

रत्नत्रय धर्म को तीन वाक्यों में समेटते हुए कितने उत्कृष्ट वचन कहे हैं-

"सब जीवों के प्रति, सब भावों के प्रति अखंड एकरस वीतराग दशा रखना ही समस्त ज्ञान का फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्म-मरण रहित और निसंगस्वरूप है। इसी में समस्त ज्ञान समा जाता है। उसकी प्रतीति में समस्त सम्यक् दर्शन आ जाता है।आत्मा का निस्संग-स्वभाव दशा में रहना, सम्यक् चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतराग दशा है जिसकी पूर्णता को पहुंचने पर समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं, तनिक भी संदेह नहीं।"

ऐसी सर्वोत्कृष्ट दशा की प्राप्ति हेतु दर्शनमोहनीय के क्षयादि की प्रथम आवश्यकता है। वह कैसे हो? इसे समझना होगा।

जब तक स्वप्न दशा रहती है, अनन्तानुबंधी का उदय रहता है तब तक सत्पुरुष की बात सुनना भी नहीं आता। इसीलिए आत्मसिद्धि में आत्मार्थी के लक्षणों का निरूपण करते हुए कहा गया है—

कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३८ ॥
दशा न एवी त्यां सुदी, जीव लहे नहि जोग।
मोक्ष मार्ग पाये नहीं, मिटे न अन्तर रोग ॥३९ ॥
आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरु बोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रकटे सुखदाय ॥४० ॥
ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान।
ज्ये ज्ञाने क्षय मोह थई, पाये पद निर्वाण ॥४१ ॥

क्रोधादि कषाय उपशान्त हों (सम), इच्छा-आकांक्षा-वासना-तृष्णादि का अभाव होकर मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा हो (संवेग), अनादिकाल से भव-भ्रमण करते-करते, जन्मजरा मृत्यु के चक्र में फंसकर अनन्त दुःख पाया इसलिए अब संसार से विमुक्त होने, भवांत करने की दृढ़ इच्छाशक्ति हो (निर्वेद), प्राणिमात्र के प्रति, दसों प्राणों से युक्त इस संसारी आत्मा को दुःखों से दुःखी देखकर, सर्व के प्रति दया-करुणा (अनुकम्पा) और अन्तिम परन्तु सबसे प्रमुख आत्मार्थ साधने का प्रबल पुरुषार्थ जगाने

वाली आस्था ऐसे पांच कारण सम्यक्त्व प्राप्ति कराने वाले हैं।

"पंचपरमेष्ठी के स्वरूप को जानकर उनके प्रति आस्था तत्त्वों-पदार्थों के सच्चे स्वरूप को जानकर उनपर आस्था और सर्वोपरि, आत्मा की आस्था अर्थात् आत्मा का अस्तित्व है, नित्यत्व है, अज्ञान से कर्त्ता-भोक्तापन है, ज्ञान से पर योग का कर्त्ताभोक्तापन नहीं है, ज्ञानादि उपाय है, इतनी आस्था होना ही सम्यक् दर्शन है।[३४]"

आत्मवाद पर गणधर भगवंतों ने एक पूर्व की रचना की। वह लुप्त हो गया। श्रीमद्जी ने छः पदों के एक पत्र में और आगमों के सार-रूप 'आत्मसिद्धि' में आत्मा के छः स्थानकों का विशद, गंभीर और आत्मशुद्धि का मार्ग निरूपित किया है।

जो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं ऐसे ज्ञानी पुरुषों ने छह पदों को सम्यक् दर्शन के सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहा है - आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्त्ता है, आत्मा भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है। इन छः पदों का विवेक जीव को स्व स्वरूप समझने के लिए कहा है। अनादि स्वप्नदशा के कारण उत्पन्न हुए जीव के अहंभाव, ममत्वभाव के निवृत्त होने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने इन छः पदों की देशना प्रकाशित की है। उस स्वप्न दशा से रहित मात्र अपना स्वरूप है, ऐसा यदि जीव परिणाम करे तो वह सहज में जागृत होकर सम्यक् दर्शन को प्राप्त करता है, सम्यक् दर्शन को प्राप्त होकर स्व-स्वभावरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन का फल

सम्यक्त्वी या समदर्शी का व्यवहार कैसा होता है इसका सूक्ष्म विवेचन करते हुए श्रीमद्जी लिखते हैं-

"समदर्शिता अर्थात् पदार्थ में इष्टानिष्ट बुद्धिरहितता, इच्छारहितता, ममत्वरहितता।... यह मुझे प्रिय है, यह अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छा नहीं लगता, ऐसा भाव समदर्शी में नहीं होता। समदर्शी बाह्य पदार्थ को, उसके पर्याय को, वह पदार्थ तथा पर्याय जिस भाव से रहते हैं उन्हें उसी भाव से देखता है, परन्तु उस पदार्थ अथवा उसके पर्याय में ममत्व या इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करता। ...विषमदृष्टि आत्मा को पदार्थ में तादात्म्यवृत्ति होती है, समदृष्टि आत्मा को नहीं होती।... प्राप्त स्थिति में संयोग में अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्ट बुद्धि, आकुलता-व्याकुलता न करते हुए उनमें समवृत्ति से अर्थात् अपने स्वभाव से रागद्वेषरहित-भाव से रहना, यह समदर्शिता है।साता-असाता जीवन-मरण, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुःस्वर, सुरूप-कुरूप शीत-उष्ण आदि में हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टभाव, आर्त्तध्यान न रहे यह समदर्शिता है। हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का परिहार समदर्शी मे अवश्य होता है"।[३५]

जैसी दृष्टि इस आत्मा के प्रति है वैसी दृष्टि जगत् के सभी आत्माओं के प्रति जैसा स्नेह इस आत्मा के प्रति है वैसा सभी आत्माओं के प्रति और जैसी इस आत्मा की सहजानन्द स्थिति चाहते हैं वैसी जो जगत् के सभी आत्माओं की चाहते हैं वे समदृष्टि होते हैं।[३६]

जिसे वोध बीज की उत्पत्ति होती है, उसे स्वरूप सुख से परितृप्तता रहती है और

जिनपद निज पद एकता, भेदभाव नहिं कांई।
लक्ष्य थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई ॥३ ॥
जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान।
अवलंबन श्री सद्गुरु सुगम अने सुखखाण ॥४ ॥

मार्गप्राप्ति हेतु पात्रता-दिग्दर्शन करते हैं-

विपय विकार सहित जे, रह्या मतिना योग।
परिणामनी विपमता, तेने योग अयोग ॥८ ॥
मंद विषय ने सरलता, सह आज्ञा सुविचार।
करुणा कोमलतादि गुण, प्रथम भूमिका धार ॥९ ॥
रोक्या शब्दादिक विपय, संयम साधन राग।
जगत इष्ट नहीं आत्मथी, मध्य पात्र महाभाग्य ॥१०
नहीं तृष्णा जीव्यातणी, मरण योग नहीं क्षोभ।
महापात्र ते मार्गना, परमयोग जितलोभ ॥११ ॥

रत्नत्रय धर्म को तीन वाक्यों में समेटते हुए कितने उत्कृष्ट वचन कहे हैं-

"सब जीवों के प्रति, सब भावों के प्रति अखंड एकरस वीतराग दशा रखना ही समस्त ज्ञान का फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्म-मरण रहित और निसंगस्वरूप है। इसी में समस्त ज्ञान समा जाता है। उसकी प्रतीति में समस्त सम्यक् दर्शन आ जाता है।आत्मा का निस्संग-स्वभाव दशा में रहना, सम्यक् चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतराग दशा है जिसकी पूर्णता को पहुंचने पर समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं, तनिक भी संदेह नहीं।"

ऐसी सर्वोत्कृष्ट दशा की प्राप्ति हेतु दर्शनमोहनीय के क्षयादि की प्रथम आवश्यकता है। वह कैसे हो? इसे समझना होगा।

जब तक स्वप्न दशा रहती है, अनन्तानुबंधी का उदय रहता है तब तक सत्पुरुष की बात सुनना भी नहीं आता। इसीलिए आत्मसिद्धि में आत्मार्थी के लक्षणों का निरूपण करते हुए कहा गया है—

कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३८ ॥
दशा न एवी त्यां सुदी, जीव लहे नहि जोग।
मोक्ष मार्ग पाये नहीं, मिटे न अन्तर रोग ॥३९ ॥
आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरु बोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रकटे सुखदाय ॥४० ॥
ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान।
ज्ये ज्ञाने क्षय मोह थई, पाये पद निर्वाण ॥४१ ॥

क्रोधादि कषाय उपशान्त हों (सम), इच्छा-आकांक्षा-वासना-तृष्णादि का अभाव होकर मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा हो (संवेग), अनादिकाल से भव-भ्रमण करते-करते जन्मजरा मृत्यु के चक्र में फंसकर अनन्त दुःख पाया इसलिए अब संसार से विमुक्त होने, भवांत करने की दृढ़ इच्छाशक्ति हो (निर्वेद), प्राणिमात्र के प्रति, दसों प्राणों से युक्त इस संसारी आत्मा को दुःखों से दुःखी देखकर, सर्व के प्रति दया-करुणा (अनुकम्पा) और अन्तिम परन्तु सबसे प्रमुख आत्मार्थ साधने का प्रबल पुरुषार्थ जगाना

वाली आस्था ऐसे पांच कारण सम्यक्त्व प्राप्ति कराने वाले हैं।

"पंचपरमेष्ठी के स्वरूप को जानकर उनके प्रति आस्था तत्त्वों-पदार्थों के सच्चे स्वरूप को जानकर उनपर आस्था और सर्वोपरि, आत्मा की आस्था अर्थात् आत्मा का अस्तित्व है, नित्यत्व है, अज्ञान से कर्त्ता-भोक्तापन है, ज्ञान से पर योग का कर्त्ताभोक्तापन नहीं है, ज्ञानादि उपाय है, इतनी आस्था होना ही सम्यक् दर्शन है।[३४]"

आत्मवाद पर गणधर भगवंतों ने एक पूर्व की रचना की। वह लुप्त हो गया। श्रीमद्जी ने छः पदों के एक पत्र में और आगमों के सार-रूप 'आत्मसिद्धि' में आत्मा के छः स्थानकों का विशद, गंभीर और आत्मशुद्धि का मार्ग निरूपित किया है।

जो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं ऐसे ज्ञानी पुरुषों ने छह पदों को सम्यक् दर्शन के सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहा है - आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्त्ता है, आत्मा भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है। इन छः पदों का विवेक जीव को स्व स्वरूप समझने के लिए कहा है। अनादि स्वप्नदशा के कारण उत्पन्न हुए जीव के अहंभाव, ममत्वभाव के निवृत्त होने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने इन छः पदों की देशना प्रकाशित की है। उस स्वप्न दशा से रहित मात्र अपना स्वरूप है, ऐसा यदि जीव परिणाम करे तो वह सहज में जागृत होकर सम्यक् दर्शन को प्राप्त करता है, सम्यक् दर्शन को प्राप्त होकर स्व-स्वभावरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन का फल

सम्यक्त्वी या समदर्शी का व्यवहार कैसा होता है इसका सूक्ष्म विवेचन करते हुए श्रीमद्जी लिखते हैं-

"समदर्शिता अर्थात् पदार्थ में इष्टानिष्ट बुद्धिरहितता, इच्छारहितता, ममत्वरहितता।... यह मुझे प्रिय है, यह अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छा नहीं लगता, ऐसा भाव समदर्शी में नहीं होता। समदर्शी बाह्य पदार्थ को, उसके पर्याय को, वह पदार्थ तथा पर्याय जिस भाव से रहते हैं उन्हें उसी भाव से देखता है, परन्तु उस पदार्थ अथवा उसके पर्याय में ममत्व या इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करता। ...विषमदृष्टि आत्मा को पदार्थ में तादात्म्यवृत्ति होती है, समदृष्टि आत्मा को नहीं होती।... प्राप्त स्थिति में संयोग में अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्ट बुद्धि, आकुलता-व्याकुलता न करते हुए उनमें समवृत्ति से अर्थात् अपने स्वभाव से रागद्वेषरहित-भाव से रहना, यह समदर्शिता है। साता-असाता जीवन-मरण, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुःस्वर, सुरूप-कुरूप शीत-उष्ण आदि में हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टभाव, आर्त्तध्यान न रहे यह समदर्शिता है। हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का परिहार समदर्शी मे अवश्य होता है"।[३५]

जैसी दृष्टि इस आत्मा के प्रति है वैसी दृष्टि जगत् के सभी आत्माओं के प्रति जैसा स्नेह इस आत्मा के प्रति है वैसा सभी आत्माओं के प्रति और जैसी इस आत्मा की सहजानन्द स्थिति चाहते हैं वैसी जो जगत् के सभी आत्माओं की चाहते हैं वे समदृष्टि होते हैं।[३६]

जिसे वोध बीज की उत्पत्ति होती है, उसे स्वरूप सुख से परितृप्तता ८

विषय के लिए अप्रयत्नदशा रहती है। यदि जीव को परितृप्तता न रहा करती हो तो उसे अखंड आत्म-बोध नहीं है, ऐसा समझे।[३७]

देह में रोग होने पर जिसमें आकुलता-व्याकुलता दिखाई दे तो उसे मिथ्या दृष्टि समझें। (उपदेश छाया)

सम्यक्त्वी वह है जो कंचन को कीचड़, राजगद्दी को नीचपद, स्नेह को मृत्यु, बड़प्पन को लीपण, योग को जहर, सिद्धि आदि ऐश्वर्य को असाता, जगत् में पूज्यता को अनर्थ, औदारिक काया को राख, भोगविलास को जाल, गृहवास को भाला, कुटुम्ब कार्य को काल (मृत्यु), लोक प्रशंसा को लार, कीर्ति को नाक का मैल, पुण्य के उदय को विष्ठा-समान समझता है। ऐसी रीति वाले को बनारसीदास ने वंदन किया है, यथा

कीचसौ कनक जाके नीच सौ नरेसपद,
मीचसी मिलाई, गरुवाई जाके गारसी।
जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति,
हहरसी हौस, पुद्गल छवि छारसी।
जाल सौ जगबिलास, भाल सौ भुवनवास,
काल सौं कुटुम्बकाज, लोकलाज लारसी।
सीठ सौ सुजस जानै, बीठ सौ बखत मानै,
ऐसी जाकी रीति, ताही बंदत बनारसी॥

यदि अन्तर में यह प्रश्न गूंजे कि मुझे सम्यक्त्व है या नहीं तो उक्त वर्णन से जांच-परीक्षण कर ले, उत्तर मिल जाएगा। सम्यक्त्व केवलीगम्य है या जीव की समझ में आता है, इसके उत्तर में श्रीमद्जी ने बताया कि समकित होने पर भ्रान्ति दूर होती है तथा उसका फल स्वयं जाना जा सकता है। निश्चय सम्यक्त्व केवली गम्य है।

सम्यक्त्व के तीन प्रकार

(१.) स्वच्छंद मत आग्रह तजी वर्ते सद्गुरु लक्ष।
समकित तेने भाखियुं, कारणगणी प्रत्यक्ष॥ आत्मसिद्धि १७

स्वच्छंद तथा स्वयं की मति-कल्पना से बंधा मत और उसका दृढाग्रह त्यागकर, सद्गुरु की आज्ञा लक्ष्य में रखे तो उसे समकित का प्रत्यक्ष कारण मानकर उसे समकित कहा जाता है।

यह प्रथम समकित है। इसमें सत्पुरुष की खोज, उनके वचन की सच्ची प्रतीति, आज्ञाराधन में अपूर्व रुचि उत्पन्न होती है। रागद्वेष के विजेता जिनदेव के वचनों में अपूर्व श्रद्धा होती है। उनकी अपूर्व वाणी और तदनुसार प्रवर्तन से सम्यक्त्व तभी होता है जब स्वयं के मत-उसके आग्रह से मुक्त हों। 'मै जानता हूं' आदि दोषों तथा मताग्रह (अर्थात् कुलधर्म, लौकिकरूढ़ि और लोकसंज्ञा का अनुसरण करने वाले मताग्रही को इन दोषों) का त्याग करके ज्ञानी पुरुष की आज्ञा, अत्यन्त रुचिपूर्वक आराधनी चाहिए। उनके आशय को अन्तःकरण से समझकर उसी अनुसार चले तो उसके प्रत्यक्ष कारण रूप यह पहले प्रकार की समकित होती है।

छोड़ी मत दर्शन तजो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प॥ आत्मसिद्धि, १०५

यह मेरा मत है, इसलिए मुझे यही मानना चाहिए, अथवा यह मेरा दर्शन है

इसलिए चाहे जैसे मुझे इसे सिद्ध करना चाहिए, ऐसे आग्रह और ऐसे विकल्प को छोड़कर इस कहे गए मार्ग का जो साधन करेगा, उसके अल्प जन्म समझना।

(२) ते जिज्ञासु जीव ने, थाय सद्‌गुरु बोध।
तो पाये समकितने, वर्ते अन्तरशोध॥ आत्मसिद्धि १०९

कषाय उपशांत होने से, मात्र मोक्ष की अभिलाषा होने या भवांत करने की तीव्र अभिलाषा से संसार के भोगों से उदासीनता होने और अन्तर में प्राणियों के प्रति दया होने से उस जिज्ञासु जीव को सद्गुरु का बोध मिलते ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तथा वह फिर अन्तरशोधन करता है।

परमार्थ की स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति समकित का दूसरा प्रकार है। इसमें क्या घटित होता है, यह निम्नांकित पद से स्पष्ट होता है—

वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति बहे निजभावमां, परमार्थे समकित॥ आत्मसिद्धि १११

यहां आत्मस्वभाव का अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति रहती है तथा वृत्ति आत्मा के स्वभाव में बहती है, इसे ही परमार्थ से समकित कहा जाता है।

इसे निश्चय, सच्चा या वास्तविक सम्यक्त्व भी कहते हैं। इसमें क्या होता है? जिस पदार्थ को तीर्थङ्कर देव ने 'आत्मा' कहा, उसी पदार्थ की, उसी स्वरूप से प्रतीति हो उसी परिणाम से आत्मा साक्षात् भासित हो, उसे परमार्थ से सम्यक्त्व कहा है।

पूर्व कर्मसंयोग से आत्मा में जो संकल्प-विकल्प, रागद्वेषादिभाव उठें उन्हें तिरोहित कर उपयोग को शुद्ध चैतन्य की ओर बारंबार ले जाने से जिस क्षण उनका परिहार हो और शुद्ध चैतन्यपद का अनुभव हो वह शुद्ध अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति अखंड रूप से वर्तती रहती है। एक बार आनन्दानुभूति हुई कि बारंबार उसका लक्ष्य रहता है, उसी में लीन होना चाहता है। अखंड, अभेद शुद्ध चैतन्य सत्ता का एक बार अनुभव हुआ, प्रतीति हुई कि वह प्रतीति अखंड रहती है। आनन्द की अविच्छिन्न धारा में, स्वरूप की स्थिरता में, वीतरागभाव में व्यक्ति गृहस्थी आदि कार्यों के कारण टिक नहीं पाता, परन्तु लक्ष्य तो आत्मतत्त्व का अविछिन्न रहता है।

(३) वर्धमान समकित थई, टाले मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतराग पदवास॥ आत्मसिद्धि ११२

निर्विकल्प परमार्थ अनुभव समकित का तीसरा प्रकार है। वह समकित, बढ़ती हुई धारा से, हास्य, शोक आदि से जो कुछ आत्मा में मिथ्याभास हुआ है, उसे दूर करता है और स्वभाव समाधिरूप चारित्र का उदय होता है। जिससे सर्व राग-द्वेष के क्षय रूप वीतरागपद में स्थिति होती है।

समकित में पूर्वोपार्जित कर्मों की अंशें-अंशे निर्जरा, चारित्रगुण की अंशे-अंशे विशुद्धि अर्थात् रागद्वेष परिणामों की मंदता होते हुए, अप्रत्याख्यानावरणीय एवं प्रत्याख्यानावरणीय कषाय हटता है। हास्यादि नोकषाय मंद होते हैं, नष्ट होते हैं एवं वीतरागता बढ़ती जाती है। स्वभाव स्थिरता एवं आनंदानुभूति की पूर्णता होती जाती है। अलौकिक आत्मदशा प्रकट होती है। केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाता है। यह सब सम्यक्‌दर्शन का प्रताप है।

अन्त में - अनन्त काल से जो ज्ञान भव-हेतु रूप होता था उस ज्ञान को एक समयमात्र में जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्ति रूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार।

देह छतां जेनीदशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणित ॥ आत्मसिद्धि १४२

सन्दर्भ सूची

श्रीमद् राजचन्द्र (ग्रंथ), प्रकाशक श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम अगास में संकलित पत्रों, उपदेश छाया और सस्मरणपोथी पर आधारित ।

१. व्याख्यान सार पृ. ७५७
२. आभ्या. पो. ८३९
३. आभ्या. पृ. ८४२
४. पत्रांक ७१५
५. उपदेश छाया
६. पत्रांक १६६
७. पत्रांक ७६ एवं ९२
८. पत्रांक २५४
९. पत्रांक ५००
१०. पत्रांक ३१७
११. पत्रांक ३२२
१२. पत्रांक ४७१
१३. पत्रांक ९०२
१४. पत्रांक ५००
१५. पत्रांक ५६९
१६. पत्रांक ५७२
१७. पत्रांक ८३२
१८. पत्रांक १०८
१९. पत्रांक ८३३
२०. अभ्यां पो पृ. ८०८
२१. पत्रांक १२३
२२. पत्रांक ३३१
२३. पत्रांक ३३४
२४. पत्रांक १३६
२५. पत्रांक ५९४
२६. पत्रांक ६०५
२७. पत्रांक ६०९
२८. पत्रांक ६९२, उप. छा. ७२५, ७४५
२९. पत्रांक ६४३
३०. पत्रांक ६५२
३१. पत्रांक ६५३
३२. पत्रांक ७००, ७४१
३३. पत्रांक ६१३, ९५४
३४. पत्रांक १६१
३५. पत्रांक ८३७
३६. पत्रांक ४६९
३७. पत्रांक ३६०

जारोली भवन, नीमच (म.प्र.)

भेदविज्ञान और सम्यग्दर्शन

¤ डॉ. रमेशचन्द जैन

जीव और पुद्गल का अपने स्वत्व को न छोड़ते हुए परस्पर अनुप्रवेश होकर रहना संसार है तथा इन्हीं दोनों का अलग होकर अपनी सत्ता में स्थिर रहना मोक्ष है। यथार्थ में जीव और पुद्गल भिन्न हैं, किन्तु संसार अवस्था में इन दोनों के एक साथ रहने का चक्र चलता रहता है। संसार में जो जीव स्थित है, उसके संसार के निमित्त से परिणाम होता है। परिणाम से कर्मबन्धन होता है। कर्मबन्धन से जीव एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता रहता है। गतिभ्रमण में उसे देह की प्राप्ति होती है। देह से इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होता है। राग-द्वेष परिणाम से पुनः कर्मबन्धन होता है। इस प्रकार चक्र चलता रहता है। जो व्यक्ति इस चक्र से छूटना चाहते है, उन्हें इस बात की प्रतीति या दृढ़ प्रतीति होनी चाहिए कि जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। यही जैनागम का सार है। यह मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। सबसे पहले इसी का निखिल यत्न से आश्रय करना चाहिए। इसी के होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान की कोटि में और चारित्र सम्यक् चारित्र की कोटि में आता है। जिस प्रकार नींव के बिना महल का निर्माण नहीं होता हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र का प्रासाद निर्मित नहीं होता है। इसी सम्यक्त्वपने का दूसरा नाम भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान कारण है, सम्यग्दर्शन कार्य है। कारण में कार्य का उपचार कर भेदविज्ञान को ही सम्यग्दर्शन माना गया है।

इस संसार में जो कोई सिद्ध हुआ, वह भेदविज्ञान से ही हुआ। जो कोई भी बंधे हुए हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही बंधे हुए हैं। जितने अंश तक सुदृष्टि (सम्यग्दर्शन) होती है, उतने अंश तक बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार जितने अंश तक राग है, उतने अंश तक बन्धन है। दुःखों से छुटकारा पाने के लिए बन्धन से छुटकारा अनिवार्य है। अतः जीव और पौद्गलिक कर्मों में अपने-अपने प्रभाव के कारण द्वन्द्व होता रहता है। जब जीव का प्रभाव अपनी समग्रता पर होता है, तब कर्म की सत्ता विगलित हो जाती है। बुद्धिमान् को अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है-

> कर्मो कर्महिताबन्धी जीवो जीवहितावहः।
> स्व-स्व प्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥

पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने सम्यक्त्वी को स्वार्थी कहा है—

> स्वारथ के साँचे परमारथ के साचे चित्त,
> साचे साचे बैन कहै, साचे जैनमती हैं।
> काहू के विरुद्ध नाहि परजाय बुद्धि नाहि,
> आत्म गवेषी न गृहस्थ हैं, न जती हैं ॥
> सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रकट सदा
> अंतर की लच्छि सौं अजाची लच्छपती हैं।
> दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं
> सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥ समयसार नाटक, ७

सच्चा स्वार्थी बनने के लिए आत्मा का गवेषक बनना पड़ता है। या तो अपने स्वरूप की पहिचान और संभाल अपने आप करनी पड़ती है या श्रीगुरु के मुख से वाणी सुनकर भेदविज्ञान की ज्योति जगानी पड़ती है। इससे सुविवेक प्रकट होता है। सुविवेक प्रकट होने से आत्मा के अनन्त भाव प्रकट होने लगते हैं और जीवन तथा मोक्ष की दशा स्थिर होती है। ऐसे व्यक्ति दर्पण की तरह अविकार और सदा सुखदायक स्थिर-रूप में रहते हैं।

ज्ञानी व्यक्ति चिन्तन करता है कि यह आत्मा अपने ही गुण और पर्याय से तीनों काल प्रवाहरूप परिणमता है। उसका अपना ही आधार होता है। उसका अन्तर और बाह्य प्रकाशवान् एक रस रहता है। इससे उसमें किसी प्रकार भी न्यूनता नहीं आती है। वह भव विकार से रहित रहता है। जीव में सर्वाङ्ग चेतना का रस उसी प्रकार भरा हुआ है जैसे मिश्री में सर्वत्र मिठास अथवा नमक में सर्वत्र क्षार रस भरा हुआ है।[१]

उपर्युक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए सद्गुरु कहते हैं कि 'हे भव्य जीवों! मोहरूपी कारागार को तोड़ डालो, अपने गुणों को ग्रहण कर सम्यक्त्व को ग्रहण करो और अपने शुद्ध अनुभव में क्रीडा करो। पौद्गलिक कर्म पिण्ड और रागादिक भाव से तुम्हारा मेल नहीं है। ये प्रकट रूप में जड़ हैं और तुम चेतन हो। जैसे जल और तेल दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जैसे फिटकरी के संयोग से कीचड़ को जल से अलग करते हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव को पृथक् पृथक् कर आत्म-शक्ति की साधना करनी पड़ती है, ज्ञान के उदय की आराधना करनी पड़ती है, ऐसे जीव ही भवसागर से पार उतरते हैं।[२]

कविवर बनारसीदास ने भेदविज्ञानी की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

भेद विज्ञान जग्यौ जिनके घट सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करै सिव मारग में जगमाँहि जिनेसर के लघुनन्दन॥
सत्य स्वरूप सदा जिन्हकै प्रकट्यो अवदात मिथ्यात निकंदन।
सांत दसा तिन्ह की पहिचानि करै कर जोरि बनारसी वन्दन॥

—समयसार नाटक, मंगलाचरण, ६

बनारसीदास जी भेदविज्ञानी को जिनेश्वर के लघुनन्दन कहते हैं, ऐसा कहने से भेदविज्ञान की उच्चता सिद्ध होती है।

शुद्धनय निश्चय से अकेला चिदानन्द, पूर्ण विज्ञानघन, अपनी आत्मा को उसकी गुण और पर्यायों सहित ग्रहण करता है। व्यवहार नय की दृष्टि से वह पूर्णज्ञान का पिण्ड पाँच द्रव्य तथा नव तत्त्व में एक सा हो रहा है। पाँच द्रव्य और नवतत्त्वों में चेतन निराला है, ऐसा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भाँति श्रद्धान नहीं करना आत्मा का स्वरूप है। यह आत्मा का स्वरूप सम्यग्दर्शन है।[३] उपर्युक्त पाँच द्रव्यों से तात्पर्य पंचास्तिकाय से है। छह द्रव्यों में यहाँ काल को गौण किया है। जैसे कि घास, काठ, बाँस व जंगल के अनेक ईंधन आदि अग्नि में जलते हैं। उनकी आकृति पर ध्यान देने से अग्नि अनेक रूप दिखती है, परन्तु यदि दाहक-स्वभाव पर दृष्टि डाली जाय तो सब अग्नि एक रूप ही है, उसी प्रकार जीव नवतत्त्वों में शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेक रूप हो रहा है, परन्तु जब उसकी चैतन्यशक्ति पर विचार किया जाता है, तब वह अरूपी और अभेदरूप गृहीत होता है।[४]

जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि के ताप में अनेक रूप होता है, फिर भी उसका नाम सोना ही रहता है तथा सर्राफ कसौटी पर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमक के अनुसार दाम देता-लेता है, उसी प्रकार अरूपी महादीप्तवान् जीव अनादिकाल से पुद्गल के समागम में नवतत्त्वरूप दिखता है, परन्तु अनुमान-प्रमाण से सब दशाओं में ज्ञानस्वरूप एक आत्मा के सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है।[५] मैं तीनों काल शुद्धचैतन्यमयी मूर्ति हूं, किन्तु पर-परिणति के संयोग के कारण जड़ता प्रकट हो रही है। मोहनीय कर्म रूपी 'पर' का हेतु पाकर चेतन 'पर' के प्रति रच-पच रहा है, जिस प्रकार धतूरे के रस का पान कर मनुष्य अनेक प्रकार से नाचता-फिरता है।[६]

पुद्गल और चैतन्य का भिन्न स्वभाव है। चेतना से भिन्न शरीर का वर्णन करना वैसा ही है, जैसे किसी नगर के स्वरूप का राजा से रहित वर्णन किया जाय। यद्यपि शरीर और चेतन व्यवहार से एक लगते हैं, किन्तु नैश्चयिक दृष्टि से वे भिन्न हैं। तन की स्तुति करना व्यवहार से जीव की स्तुति करना है। निश्चय दृष्टि से इस प्रकार की स्तुति मिथ्या है।[७] जिस प्रकार चिरकाल से कोई निधि वसुधा में छिपी पड़ी हो, कोई उसे उखाड़कर पृथ्वी के ऊपर रख दे तो सबको दिखाई देती है, उसी प्रकार यह आत्मा की अनुभूति अनादिकाल से जड़ पदार्थों में उलझी पड़ी है। इसका वर्णन आचार्यों ने नय, युक्ति और आगम से किया है। उन्होंने इसके लक्षण के आधार पर इसे विचक्षण जाना है।[८]

जैसे हंस को नीर-क्षीर विवेक होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी की सुदृष्टि में जीव और कर्म न्यारे-न्यारे हैं। जब शुद्ध चेतना के अनुभव का अभ्यास होता है, तब स्वयं की अचलित स्थिति का बोध होता है, दूसरा कोई साथी नहीं होता है। पूर्वबद्ध कर्म उदय में आए हुए दिखते हैं, पर अहंबुद्धि के अभाव में वह उनका कर्त्ता नहीं होता है, मात्र दर्शक रहता है।[९] ज्ञानी और मूढ़ बाहर कर्म करते हुए एक से दिखाई देते हैं, किन्तु परिणाम में भेद होने के कारण दोनों को अलग-अलग फल मिलता है। ज्ञानवान् करनी करता है, किन्तु उदासीन होकर करता है, वह ममत्वभाव धारण नहीं करता है, अतः उसके कार्य निर्जरा के हेतु हैं। उसी कार्य को मूढ़ मगन होकर करता है। ममता से अन्ध होने के कारण उसके कार्य बन्ध के फल को देते हैं।[१०] सम्यक्त्वी सोचता है कि पूर्व अवस्था में जो कर्मबन्ध किया है, वही उदय में आकर नाना भाँति रस देता है। कोई शुभफल देता है, कोई अशुभफल देता है । शुभ कर्म के उदय से साता और अशुभ कर्म के उदय से असाता होती है। सम्यक्त्वी शुभ कर्म के प्रति तीव्र राग नहीं करता, अशुभ कर्म के प्रति तीव्र द्वेष नहीं करता है, अपितु समभाव धारण करता है। वह यथायोग्य क्रिया करता है, किन्तु फल की इच्छा नहीं करता है। इस प्रकार वह जीवन्मुक्त जैसा आचरण करता है। वह मिथ्यात्व से दूर होकर, शुद्धता से युक्त होता है। उसके प्रकाश में राग, द्वेष और मोह दिखाई नहीं देता है। आस्रव घटता है, बन्ध का कष्ट कम होता है।

सम्यक्त्वी के सदैव ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है। उसके प्रभाव से वह अपने स्वरूप का लक्षण देख लेता है और जीव तथा अजीव की दशा का भेद करता

है। ज्ञान रूप समुद्र में अनन्त द्रव्य अपने गुण और पर्यायों सहित सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं, पर वह उन द्रव्यों रूप नहीं होता और न अपने ज्ञायक-स्वभाव को छोड़ता है। वह अत्यन्त निर्मल प्रत्यक्ष है, अपने पूर्ण रस में मौज करता है तथा उसमें मति, श्रुत, अवधि मनः पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच प्रकार की लहरें उठती हैं, उसकी महिमा अपरम्पार है, वह निजाश्रित है, एक है, तो भी ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा अनेकता लिए हुए है।[११]

भेदविज्ञानी ज्ञाता राजा जैसा रूप बनाए हुए है। वह अपने आत्मरूप स्वदेश की रक्षा के लिये परिणामों की सम्हाल रखता है और आत्मसत्ता भूमिरूप स्थान को पहिचानता है। वह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि की सेना सम्हालने में प्रवीण होता है। साम, दाम, दण्ड, भेद आदि कलाओं में वह कुशल राजा के समान है। व्रत, समिति, गुप्ति, परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक रंग धारण करता है। कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने में वह बड़ा बहादुर होता है। माया रूपी जितना लोहा है, उस सबको चूर-चूर करने को रेती के समान है, कर्म के फंदे रूप कांस को उखाड़ने के लिए किसान के समान है, कर्मबन्ध के दुःखों से बचाने वाला है, सुमति राधिका से प्रीति जोड़ता है, कुमति रूप दासी से सम्बन्ध तोड़ता है, आत्मपदार्थ रूप चांदी को ग्रहण करने और पर पदार्थ रूप धूल को छोड़ने में रजतसोधा (सुनार) के समान है। पदार्थ को जैसा जानता है, वैसा ही मानता है, भाव यह है कि वह हेय को हेय जानता और मानता है, उपादेय को उपादेय जानता और मानता है।[१२]

ज्ञानी जीव भेदविज्ञान की करौंत से आत्मपरिणति और कर्म परिणति को पृथक् करके उन्हें जुदी-जुदी जानता है और अनुभव का अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणीय कर्म व राग-द्वेष आदि विभाव का खजाना खालीकर देता है। इस रीति से वह मोक्ष के सन्मुख दौड़ता है। जब उसके केवलज्ञान प्रकट होता है तब संसार में भटकन मिट जाती है तथा करने को कुछ बाकी नहीं रह जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है।[१३] इस प्रकार भेदज्ञान की बहुत बड़ी महिमा है। भेदविज्ञानी ही सम्यक्त्वी है, वही मोक्षमार्गी है, वही निर्वाण-प्राप्ति के सन्मुख होता है।

सन्दर्भ

१. समयसार नाटक, जीवद्वार, १५
२. वही, १२
३. समयसार नाटक, जीवद्वार-७
४. वही, ८, ५. वही, ९
६. वही, ४
७. समयसार नाटक-जीवद्वार, ३०
८. वही, ३१, ९. समयसार नाटक, कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार, १५
१०. वही, २३, ११. समयसार नाटक-निर्जरा द्वार-२०
१२. वही-मोक्षद्वार-६, १३. वही-मोक्षद्वार-२

-जैन मन्दिर के पास, बिजनौर (उ.प्र.)

जैनाचार्यों की गणितीय सम्यक् दृष्टि

☒ प्रोफेसर एल.सी. जैन*

जैन-ग्रंथों में गणित का विशिष्ट प्रतिपादन है। आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में भी गणित का प्रयोग हुआ है, यह तथ्य प्रस्तुत लेख से स्पष्ट एवं पुष्ट होता है।—सम्पादक

विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञ महावीराचार्य ने सर्वप्रथम अपने ग्रंथ गणितसारसंग्रह में कहा है—

'अलङ्घ्यं त्रिजगत्सारं यस्यानन्तचतुष्टयम्।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय महावीरतायिने ॥१॥
संख्याज्ञानप्रदीपेन जैनेन्द्रेण महात्विषा।
प्रकाशितं जगत्सर्वं येन तं प्रणमाम्यहम् ॥२॥'

अर्थात् जिन्होंने तीनों लोकों में सारभूत एवं मिथ्यादृष्टियों द्वारा अलंघ्य अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख नामक अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त किया है, ऐसे रक्षक जिनेन्द्र भगवान् महावीर को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ मैं महान् विभूति को प्राप्त जिनेन्द्र को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने संख्या ज्ञान के प्रदीप से समस्त विश्व को प्रकाशित किया है ॥२॥ पुनः गणितशास्त्र की प्रशंसा में आगे ६ श्लोकों में प्रगाढ़ चिन्तन देते हुए अंत में कहते हैं—

'बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना न हि ॥१६॥

अर्थ-'बहुत से व्यर्थ के प्रलापों से क्या लाभ है? जो कुछ भी इन तीनों लोकों में चराचर वस्तुएं हैं उनका अस्तित्व गणित से विलग नहीं।

स्पष्ट है कि सम्यक् दृष्टि का अस्तित्व भी गणित के बिना नहीं है। विगत दिनों हमने कुछ पत्रिकाओं में एतद्विषयक लेख दिये हैं जहाँ सम्यक् दर्शन को उत्पन्न करने वाली विधि या प्रणाली में, गणित के प्रयोग की चर्चा की है। पुनः, सम्यक् दृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् भी गणित साथ नहीं छोड़ता, क्योंकि मुक्ति होने तक जो वस्तु अस्तित्व में आ चुकी है उसका अस्तित्व भी गणित के बिना न रह सकेगा। अस्तु हम यह भी देखना चाहेंगे कि सम्यक् दृष्टिवान् जैनाचार्य आगे किस प्रकार गणित को साथ में लेकर भगवान महावीर के संख्याज्ञान के प्रदीप से अखिल सृष्टि को प्रकाशवान् करते चले गये—सूत्रों एवं हजारों पृष्ठों में रचित टीकाओं द्वारा जो मात्र दो पूर्वों के किंचित् अंशमात्र को लेकर ही लिखी गई थीं। यह भी बतलाने की पुनः पुनः आवश्यकता नहीं है कि ये जैनाचार्य ही थे, जिन्होंने ब्राह्मी एवं सुन्दरी लिपि की रचना, भाषा एवं गणित की वैसाखी के लिये की, जिनके सहारे आज हम कर्म-सिद्धान्त के गणितीय स्वरूप को लिये भी चल रहे हैं। गणितीय स्वरूप को केशववर्णी या पं. टोडरमल ने निखारने का भागीरथी प्रयास किया, किन्तु विश्व में १८६४ ई. में अनन्त राशियों सम्बन्धी गणितीय क्रांति हो जाने के पश्चात् भी हमने उस गणित से अपने गणित का तुलनात्मक अध्ययन करने हेतु न तो पहल की है, न ही ध्यान दिया है, न ही कोई शाश्वत केन्द्र स्थापित किया है। दो पैर ही हमें गंतव्य की ओर ले जा सकते

---

* गणितज्ञ एवं निदेशक, ए.वी.आर. आई., जबलपुर

हैं, एक पैर नहीं। उसी प्रकार युक्ति पथ की मंजिल का ज्ञान मात्र भाषा नहीं दे सकती है, वरन् उसे दूसरा पैर गणित का भी चाहिए। आज के समस्त विज्ञान, कलाएं तथा तंत्र भाषा एवं गणित के प्रतीकों के आधार पर वृद्धिगत हुए हैं। हमारी अगाध श्रद्धा मात्र यहाँ तक कोरी रह जाती है कि हमारे ग्रन्थों में कुछ है जो हम नहीं जानते हैं। जानने की प्रक्रिया भी हम नहीं जानते हैं और न ही उस गणित की गंभीरता को आधुनिक गणित के समक्ष जानने की प्रक्रिया में भाग ही लेना चाहते हैं। वह तत्त्व वस्तुतः सूक्ष्मतम है जो आज के टी.वी. या अणु शक्ति के गणित से भी अधिक गम्भीर एवं रुचिकर है। जैसे गणितीय प्रमाणों की घटक सामग्री के बिना हम यंत्र तंत्र, या मंत्र को सुधार नहीं सकते हैं, वैसे ही मुक्ति के गणितीय प्रमाणों की घटक सामग्री को समझे बिना हम श्रेणी नहीं चढ़ सकते हैं। गुणस्थान वस्तुतः वह नियंत्रण प्रणाली है जिसका द्रव्यश्रुत या भावश्रुत पूर्णतः गणितीय ही है। तराजू की यह तौल स्वर्ण और हीरे-जवाहरातों की नहीं, वरन् अनन्त शक्ति रखने वाले, अणु शक्ति से भी परे, ज्ञानशक्ति, केवलज्ञान-शक्ति के घटकों, घटक राशियों की तौल होती है।

जैसे नदियों की, नालों की, पनालों की, झरनों की, बूंदों की धाराएँ असंख्य प्रकार की होती हैं, वैसे ही भावों की धाराएँ अनन्त प्रकार की होते हुए भी जैनाचार्यों ने उन्हें पांच प्रकार के भावों में अंकित कर दिया है। चार प्रकार के कर्म से जनित भावों को हम पहिचान भी लें, किन्तु पांचवाँ पारिणामिक भाव पहिचानकर अपनी भलाई के लिए उसमें से भव्यत्व एवं जीवत्व को पकड़ना सिखाने के लिए ही जैनाचार्यों ने बारंबार गणितीय प्रयोग किये। पांचवीं लब्धि तक हम पहुँचे या नहीं, और पहुँच कर तीन अंतर्मुहूर्तों तक प्रतिपल अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण की गणितीय पहिचान रखने वाली भाव धाराओं में हम बहे या नहीं ; यही जैनाचार्यों ने बतलाने का बारंबार प्रयास किया। प्रतिपल वह विशुद्धि इन अलग-अलग करणों में कितनी किस प्रकार बढ़ती है, कितनी-कितनी शक्ति से बढ़ती है यही तौल गणित के प्रमाणों द्वारा बतलाया गया है। फिर सम्यक् दृष्टि होने के पश्चात् श्रेणियों के माँडने का भी गणित है जो सातवें गुणस्थान के आगे का होने के साथ एक बार छोड़ भी दें, किन्तु चतुर्थ गुणस्थान, क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति तक के लिए द्रव्य या भाव श्रुत का यह गणित एक ऐसा अनमोल रत्न है जो मनुष्यभव प्राप्त होने पर भी न समझ पाना, समझने की ओर श्रद्धा न होना, वस्तुतः हमारे जैनाचार्यों द्वारा प्रबोधित ज्ञान की उपेक्षा ही करना है।

यह तो हुई उनके द्वारा प्रदत्त मोक्षमार्ग उपलब्धि हेतु देशना रूप गणितीय सम्यक् दृष्टि। अब हम उनकी सामान्य लोकोपकारी गणितीय सम्यक्दृष्टि को भी देखने का प्रयास करें। यह सुनिश्चित है कि गणितीय सम्यक् दृष्टि से गणितीय सम्यक् ज्ञान और गणितीय सम्यक् चारित्र अविनाभावी रूप से अवश्यम्भावी होगा ही। आज विश्व की गहनतम समस्या है प्राणों को बचाने की, कारण कि पर्यावरण का इतनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन, हजारों लाखों जीवों का जीना दूभर कर देगा। आज गम्भीरतम समस्या है पर्यावरण और यांत्रिक-तांत्रिक फैक्टरियों के नियंत्रण के नेतृत्व की, जो विश्वव्यापी हो, मात्र स्थानीय ही होकर न रह जाए। ओजोन की सतह भी कई स्थानों में नष्ट हो जाने से लोग उन देशों में त्वचा केंसर से बचने हेतु घर के बाहर बड़ी

सुरक्षा पद्धति से निकलते हैं। जहाँ नाभिकीय कचरा डाला जाता है वह या तो समुद्र होता है जहाँ मछलियां तो मरती ही हैं, उनका सेवन करने वाले भी केंसर से पीड़ित हो जाते हैं। यदि कचरा जमीन में भी गड़ाया जाता है तो भी उससे निकलने वाली शक्तिशाली रेडियो सक्रिय किरणें कभी भी कैंसर उत्पन्न कर सकती हैं। अन्य बीमारियों का तो कहना ही क्या? इसी प्रकार फैक्टरियों में जो कोयला और तेल विगत १००-२०० वर्षों से जलाया जाता रहा है उसके कारण पर्यावरण दूषित हो चुका है । इस प्रकार सुरक्षा का भय तथा धन को कमाने ही होड़ हमें जीने नहीं देगी। इन दो समस्याओं से निपटने हेतु विकसित देशों ने अपनी प्रणालियों के आधुनिक ज्ञान बलादि से हल प्रारंभ कर दिया है, किन्तु अज्ञान व भ्रम में फंसे विकासशील देश इस दौड़ में शामिल होकर वस्तुतः प्रजा को मौत के मुंह में जाने को मजबूर कर देंगे। वह धन फिर क्यों न धार्मिक उत्सवों या भवनों में खर्च किया जाये, हजारों लाखों प्राणियों के वध के कारण कर्म-बंध उन्हें किस रूप में लगेगा यह सिद्धान्त का गणित ही बता सकता है। वस्तुतः गणितीय सम्यक् दृष्टि से ओत-प्रोत जैन साधुओं ने विश्व में अहिंसा की तराजू हमें सौंपी है जिससे हम तौल सकते हैं कि हम क्या करें, क्या नहीं करें। अहिंसा है तो सुरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता ही क्या? और शौंच-संतोष है तो धन की आवश्यकता ही क्या? फिर 'थोड़ी छोड़ और को धाय, ऐसा डूबे थाहं न पाय' जैसी कहावत न मानने पर हम यदि धन की होड़ में फंसे तो आज जैसे अच्छे वायुमंडल की प्राप्ति दुर्लभ हो जायेगी।

जैनाचार्य की गणितीय सम्यक् दृष्टि बतलाती है कि तुम जितना-जितना इस जगत् को, इसके जीवों या परमाणुओं को छोड़ते जाओगे, उतना-उतना शाश्वत, अमूल्य अनन्त ज्ञान और सुख पाते चले जाओगे। कितना? जितना गणितीय अनुपात होगा। परमाणु का स्वरूप भी गणितीय है तो मोह, राग-द्वेष का स्वरूप क्यों न गणितीय होगा। आज की बात कुछ और है। आज यदि कुछ पाना है तो सलाह मिलेगी, मंत्र, तंत्र, यंत्र की, प्रतियोगिता, प्रतिद्वंदिता की, धन को कमाने की, प्रतिशोध की, परपीड़ा पहुँचाकर धन एकत्रित करने की, और एकत्रित धन या अन्न-पान से दूसरे को वंचित करने की। देखिये, कर्म बंध का सिद्धान्त कहता है, 'लम्हे ने खता की, सदियों ने सजा पाई।' यदि समाज से एकत्रित किया धन, पल भर भी, जीवों की पीड़ाएं दूर करने में या उन्हें बोध देने के काम न आया तो वह शोषित धन कहलायेगा और उसका रखने वाला, संरक्षण करने वाला हो सकता है नरक की यातना का भागीदार बन जाये। यही सीख है उन गणितीय दृष्टि वाली महान् आत्माओं की।

यदि हम गणित न लगा सके तो सदियों की सजा के भागीदार होंगे, क्योंकि "Ignorance is no excuse in Law" कर्म फल के कानून में अज्ञान कोई वहाना बनकर नहीं रह सकता है। अतः कर्म के चक्र में पहले तो फंसना नहीं, भव्यत्व भाव और जीवत्व भाव में लीन होना म् + इच्छा, अर्थात् मिच्छा (generator of will) से सावधान रहना, उसे दूर ही रखना। कितना अच्छा शब्द चुना था हमारे गणितीय सम्यक्दृष्टियों ने, 'मिच्छा' जो लोक में ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रचलित था। म् अर्थात् जनक और इच्छा, वांछा ।

और जीवत्व भाव में लीन होना म् + इच्छा, अर्थात् मिच्छा (generator of will) से सावधान रहना, उसे दूर ही रखना। कितना अच्छा शब्द चुना था हमारे गणितीय सम्यक्दृष्टियों ने, 'मिच्छा' जो लोक में ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रचलित था। म् अर्थात् जनक और इच्छा, वांछा ।

यह इच्छा ही संसार चक्र को, जन्म-मरण को यथावत् रखती है। जहाँ मांसाहार की इच्छा मात्र की, भाव किया और वहां वध हो गया। बाजार में वह मांस गया होगा, सेवक उसे खरीदकर लाया होगा, रसोइये ने उसे बनाया होगा, आदि आदि सभी प्रक्रियाओं का भागीदार वह मांसाहार की इच्छा करने वाला ही तो है। यह इच्छा संसार में हमें-आपको रोके रखने में इतनी शक्तिशाली है, तो उसके इस गणित को उन गणितीय सम्यक्दृष्टियों से क्यों न समझा जाये और उसका सही-सही बोध या ज्ञान क्यों न किया जाये। बोध होते ही इच्छा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ज्ञान होते ही अनन्त इच्छाओं से उत्पन्न यह अनन्त संसार विलय को प्राप्त हो जाता है। अतः उन जैनाचार्यों ने न केवल भाषा के सहारे, न केवल एक ही पक्ष ग्रहण कर अपितु गणित के सुपक्ष का आधार लेकर महान् फल एवं निर्णय निर्धारित किये और बतलाया कि एक चक्र से चलकर हम इच्छाओं के कारण दूसरे चक्र में फंस जाते हैं और यह भ्रम टूटना असंभव हो जाता है कि हमें अभी सुमार्ग नहीं मिला है।

भाषा और गणित की बैसाखी से, प्रतिपल, प्रति समय की क्रांति ही सुमार्ग को ला सकती है किन्तु क्रांति केवल समय, एक ही समय, वर्तमान समय को चाहती है। उसी समय में जब शृंखलाबद्ध प्रक्रिया होती है, अनादि की ग्रंथियां क्षण-क्षण में टूटती चली जाती है। शृंखलाबद्ध प्रक्रिया क्या है? उसका भी गणित है, और इसे भरपूर गणित द्वारा उन गणितीय सम्यक्दृष्टियों ने किसी एक विशेष जाति-पांति या व्यक्ति या देश या काल के लिए निर्धारित किया है, सो बात नहीं है। वह सार्वभौमिक है, सार्वलौकिक एवं सार्वकालिक है।

दीक्षा ज्वैलर्स, ५५४, सराफा, जबलपुर-४८२ ००२ (म.प्र.)

अनुकम्पा और आस्तिक्य

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रह ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥

अनुकम्पा का अर्थ दया है। समस्त जीवों पर अनुग्रह करना भी अनुकम्पा है। मैत्रीभाव का नाम भी अनुकम्पा है। माध्यस्थ भाव रखना या शत्रुता के त्याग कर देने से शल्य रहित हो जाना भी अनुकम्पा है।

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावं स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः॥

स्वतः सिद्ध तत्वों के सद्भाव में निश्चयभाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है।

ज्ञान पहले या दर्शन

☐ साध्वी विश्रुतविभा

उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग कहा है। उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया है। उन्होंने तपस्या का स्वतंत्र निर्देश नहीं किया है, तप को चारित्र के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है।

बौद्ध साहित्य में आष्टांगिक-मार्ग को मोक्ष का कारण माना गया है, जिसमें पहला मार्ग है—सम्यग्दृष्टि। कुछ दार्शनिक केवल ज्ञानमार्ग को मुक्ति का साधन मानते हैं, कुछ दार्शनिक भक्तिमार्ग को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं, कुछ कर्म को मुक्ति का हेतु मानते हैं। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार मात्र दर्शन, मात्र ज्ञान अथवा मात्र चारित्र से मुक्ति संभव नहीं है। इन तीनों का समन्वय होने से ही व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

णाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले ज्ञान है या दर्शन। उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप, यह क्रम मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्र में पहले दर्शन और फिर ज्ञान, यह क्रम प्राप्त है। उत्तराध्ययन सूत्र के इसी अध्ययन में बताया गया है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र गुण नहीं होता, अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।

यह उल्लेख सापेक्ष है, सम्यग्दर्शन होते ही अज्ञान ज्ञान में परिणत हो जाता है। इस अपेक्षा से पहले दर्शन और फिर ज्ञान, यह क्रम संगत प्रतीत होता है। जहां केवल मोक्ष के साधनों का उल्लेख है, वहां ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप यह क्रम भी उचित है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण का विलय और दर्शन तथा चारित्र का कारण दर्शनमोह और चारित्र मोह का विलय है।

साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का स्थान पहला है, सम्यग्ज्ञान का दूसरा और सम्यक्चारित्र का तीसरा स्थान है। जब ये तीनों पूर्ण होते हैं तब साध्य सध जाता है, आत्मा कर्ममुक्त हो परमात्मा बन जाता है।

ज्ञान का कार्य है यथार्थता को जानना, किन्तु जब तक जीव मोह कर्म के साथ जुड़ा हुआ है तब तक सच्चाई को जान नहीं सकता। वह आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध में पढ़ या सुन भी लेता है, किन्तु जब तक दर्शनमोह के परमाणुओं का विलय नहीं होता तब तक उसका दृष्टिकोण सम्यक् नहीं बनता, वह यह सोचता है-

न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥
हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।

को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ? ॥

'परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह आनन्द तो आंखों के सामने है। ये काम-भोग हाथ में आए हुए हैं। भविष्य में होने वाले सुख संदिग्ध हैं। कौन जानता है परलोक है या नहीं? मैं सामायिक, पौषध, उपवास आदि कर रहा हूं, उसका फल मिलेगा या नहीं।' इस प्रकार उसका मानस संशयग्रस्त रहता है और वह केवल वर्तमान जीवन के प्रति ही विश्वस्त होता है। वह लक्ष्य बनाता है eat drink and be marry. ऐसी स्थिति में सम्यक् दर्शन का विकास नहीं हो सकता। दर्शन के अभाव में निर्माण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसा कि दर्शन पाहुड में कहा है—

दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥

दर्शनभ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट है, दर्शनभ्रष्ट को निर्वाण नहीं होता। चारित्र भ्रष्ट व्यक्ति का मोक्ष हो सकता है, किन्तु दर्शन भ्रष्ट के लिए वह असंभव है।

गौतम ने महावीर से पूछा—भंते ! दर्शन सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है।

भगवान् ने कहा—दर्शन सम्पन्नता से विपरीत दर्शन का अंत होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है। सम्यग्दर्शन का आध्यात्मिक फल है कि वह अनुत्तरज्ञान आदि में आत्मा को भावित किए रहता है। उसका व्यावहारिक फल है कि सम्यग्दर्शन वाला व्यक्ति देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयुष्य बंध नहीं करता।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी सम्यग्दर्शन के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

सम्यग्दर्शन की सम्पदा जिसे मिली है, वह चाण्डाल भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुंज ही रहता है।

—जैन विश्व भारती, लाडनूं

शम

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भाव क्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥

पाँच इन्द्रियों के विषयों में मन की शिथिलता और तीव्र क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है।

सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥

अभी-अभी अपराध करने वाले जीवों के प्रति कभी भी वधादि विकार की बुद्धि न होना प्रशम भाव है।

—आचार्य श्री घासीलालजी म.सा.

सम्यग्दर्शन और दर्शनसप्तक

☒ धर्मचन्द जैन*

इस संसार में जीव अनादि काल से जन्म-मरण करता आ रहा है, इसका मूल कारण स्वयं का, स्वयं के प्रति रहा हुआ अज्ञान एवं मिथ्यात्व है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने के लिये सम्यक्त्व अमोघ उपाय है, क्योंकि मिथ्यात्व संसार-चक्र में फंसाये रखता है जबकि सम्यक्त्व मोक्ष के परम सुखों को दिलाने वाला है। मिथ्यात्व मारक है, सम्यक्त्व रक्षक है, इसलिये सम्यक्त्व की प्राप्ति, संरक्षण एवं दृढ़ीकरण के लिये समुचित विचार एवं प्रयत्न करना अत्यावश्यक है। इस आत्मा ने अनादिकाल से कर्म की शिक्षा ली, किन्तु अब उसे अपने स्वभाव रूप धर्म की शिक्षा लेनी है, क्योंकि धर्म की शिक्षा संसार की जड़ें काटकर अजर-अमर पद दिलाने वाली है।

जिस ज्ञान से संसारवर्धक एवं पापवर्धक वृत्तियां हेय और मोक्षदायक वृत्तियां उपादेय मान्य हों, वह सम्यग्ज्ञान है। उस ज्ञान पर पूर्ण विश्वास होना सम्यग्दर्शन है। स्व-पर का ज्ञान, स्व-पर संयोग का कारण और उसका शुभाशुभ परिणाम जानना, मुक्तदशा और उसके उपायों को जानकर पूर्ण विश्वास होना भी सम्यग्दर्शन कहलाता है। जीवादि तत्त्वों का जो स्वरूप एवं भाव जिनेश्वर देव ने प्ररूपित किया है, उसे सत्य मानकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व का परिचायक है– "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।"

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपाय बतलाते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

तन्निसर्गादधिगमाद्वा - १/३ अर्थात् वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) से अथवा अधिगम (उपदेशादि) से प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टि का मूल कारण तो जीव की अपनी सम्यग् परिणति है। जिसमें भव्य होना, शुक्लपक्षी होना, महा-मोहनीय कर्म की ७० कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति में से ६९ कोटाकोटि सागरोपम से कुछ विशेष स्थिति को क्षय करके मिथ्यात्व की गांठ को तोड़ देना सम्मिलित है। निसर्ग और अधिगम दोनों प्रकार के सम्यग् दर्शन में आन्तरिक कारण अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र मोहनीय व सम्यक्त्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों का क्षय-उपशम और क्षयोपशम होना है।

यों तो अभव्य जीव भी अकाम निर्जरा द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण (सम्यग्दृष्टि जैसी प्रवृत्ति) तक आ जाता है, किन्तु वह मिथ्यात्व की गांठ को तोड़ नहीं पाता। सम्यक्त्व के बाधक कारणों में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय आन्तरिक कारण है और बाह्य कारण मिथ्यादृष्टियों और उनके साहित्य आदि का परिचय आदि हैं। ऐसे बाधक कारण वर्तमान में अधिक हो रहे हैं। अतः इनसे बचने में सदैव जागरूक रहना चाहिये ताकि सम्यक्त्व सुरक्षित रह सके।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थ सूत्र. १/२

---

* वरिष्ठ स्वाध्यायी एवं धर्माध्यापक

अर्थात् जीव अजीव आदि सभी तत्त्वों का यथार्थ-परिपूर्ण श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसमें न्यूनाधिकता को किञ्चित् भी स्थान नहीं है। यदि जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर और निर्जरा इन आठ तत्त्वों पर विश्वास कर लें, परन्तु एक मात्र मोक्ष तत्त्व पर विश्वास नहीं किया तो वह सम्यक्त्वी की कोटि में नहीं आ सकता।

देव, गुरु व धर्म पर अनुराग रखते हुए तथा श्रावक एवं साधु के व्रतों का निर्दोष रीति से पालन करते हुए भी यदि एक मोक्ष तत्त्व पर यथार्थ एवं परिपूर्ण श्रद्धा नहीं हुई तो उसे मिथ्यादृष्टि ही माना जावेगा, क्योंकि विना मोक्ष तत्त्व को माने न तो जीव तत्त्व का, न संवर-निर्जरा तत्त्व का और न ही साधना के सही लक्ष्य का ज्ञान हो सकेगा, अतः सभी तत्त्वों पर परिपूर्ण श्रद्धान सम्यक्त्व प्रगट करा सकता है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति में जिन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है उनके बारे में जानकारी होना आवश्यक है। इन सात प्रकृतियों को दर्शन-सप्तक कहा जाता है।

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध—अनन्त संसार का बन्ध कराने वाला क्रोध का परिणाम अनन्तानुबन्धी क्रोध है। जब तक संसार के भोग-पदार्थों में हमारी प्रीति रहती है तब तक आत्मस्वरूप के प्रति अप्रीति का भाव रहता है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी क्रोध का भाव आत्म-स्वरूप की प्रीति को समाप्त कर सांसारिक भोग-पदार्थों में प्रीति करा देता है, जिसके फलस्वरूप मिथ्यात्व की गांठ टूटती ही नहीं है। अनन्तानुबन्धी क्रोध से तात्पर्य तीव्र क्रोध करना, क्रोधादि कषायों में जलते रहना ही नहीं है, क्योंकि तीव्र कषाय के सद्भाव में भी सम्यग्दर्शन हो सकता है, ऐसा दशाश्रुतस्कन्ध में उल्लेख मिलता है। सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व को साथ लेकर छट्ठी नारकी तक जा सकते हैं और सातवी नरक में तीव्र एवं अशुभ कृष्ण लेश्या वाली नरक में भी सम्यक्त्व पायी जाती हैं।

दूसरी तरफ मन्द कषाय वालों में भी मिथ्यादृष्टि हो सकती है। पांचवें स्वर्ग के किल्विषी देव पतली कषायों वाले और शुक्ल लेश्या वाले होते हैं फिर भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। उनसे भी बढ़कर ऊपर की ग्रैवेयक के देव अधिक मन्द कषायी और विशुद्ध शुक्ल लेश्या वाले होते हुए भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं। निरयावलिका सूत्र में उल्लेख मिलता है कि महाराजा चेटक को संग्राम में अपने प्रतिपक्षी कालकुमार आदि पर तीव्र क्रोध आया, उन्होंने कालकुमार को बाण मारकर मौत के घाट उतार दिया। उन्होंने अपराधी पर यह क्रोध अन्याय का प्रतीकार करने के लिये किया। तथापि महाराजा चेटक को उस समय सम्यक्त्वी एवं श्रावक माना गया है। अतः मात्र क्रोधादि की तीव्रता के आधार पर उसे अनन्तानुबन्धी कहना उचित नहीं लगता है।

जो कषाय सम्यक्त्व गुण का घात करे अथवा सम्यग्दर्शन से वंचित रखे वह अनन्तानुबन्धी कषाय होती है, वह तीव्र भी हो सकती है और मन्द भी।

२. अनन्तानुबन्धी मान—ऐसा अहं-भाव जो सम्यक्त्व का घात करे एवं मिथ्यात्व

का पोषण करे, वह अनन्तानुबन्धी मान कहलाता है। पर द्रव्यों का, उनके गुण-स्वरूप एवं भावों का स्वयं अपने आपको कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता मानकर अहंकार करना भी अनन्तानुबन्धी मान कषाय है। संसार में अटकाने-भटकाने वाला, अपने स्वरूप के प्रति बेभान रखने वाला अहंभाव भी अनन्तानुबन्धी मान का प्रतीक है। आत्म-गुणों एवं रत्नत्रयधारक गुणीजनों के प्रति अत्यन्त विनय एवं प्रीति का भाव होने पर अनन्तानुबन्धी मान को समाप्त किया जा सकता है।

३. अनन्तानुबन्धी माया—छल-कपट एवं विश्वासघात करने का ऐसा भाव जो जीव के अनन्त संसार का बन्ध कराये तथा सम्यक्त्व गुण को पैदा ही न होने दे उसे अनन्तानुबन्धी माया कहते हैं। जहां मन, वाणी एवं आत्म भावों में सहजता-सरलता नहीं होती, वक्रता एवं अनेक रूपता होती है, वहां अनन्तानुबन्धी माया होती है। जब तक यह होती है तब तक प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का सच्चा भाव नहीं आ पाता और यहां तक कि जीव अपने आपका भी सच्चा मित्र नहीं बन पाता है। अपने स्वयं के दुःखों के कारणों को भी वह दूर नहीं कर पाता है।

४. अनन्तानुबन्धी लोभ—जिसके उदय से आत्म-स्वरूप को पाने का उत्साह न होकर पर-पुद्गलों में ही तीव्र आसक्ति एवं उत्साह रहे, उस भाव को अनन्तानुबन्धी लोभ कहा जाता है। सांसारिक भोग-पदार्थों का लाभ तृष्णा के बढ़ते रहने के कारण पदार्थों के लोभ को बढ़ाता रहता है। जीव की रुचि देव, गुरु, धर्म एवं निज स्वरूप में नहीं होकर पर पदार्थों में इसी अनन्तानुबन्धी लोभ के उदय के कारण होती है।

५. मिथ्यात्व मोहनीय—जिसके उदय रहते जीव को सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर दृढ श्रद्धा नहीं हो पाती, स्व-पर का भेद ज्ञान नहीं हो पाता, सांसारिक भोग-पदार्थों में आसक्ति बनी रहती है, उसे मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपम कही जाती है, वह स्थिति इसी मिथ्यात्व मोहनीय की ही होती है, अन्य प्रकृतियों की नहीं। इसका उदय प्रथम गुणस्थान में ही रहता है। इसकी स्थिति अभवी की अपेक्षा अनादि-अनन्त, भवी की अपेक्षा अनादि-सान्त और पडिवाई सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा सादि-सान्त होती है।

६. मिश्रमोहनीय—जिसके उदय से जीव को देव, गुरु, धर्म एवं आत्म-स्वरूप के बारे में मिश्रित श्रद्धान हो अर्थात् सही-गलत स्वरूप का जिसमें स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाता, ऐसी दोलायमान अवस्था मिश्र मोहनीय कही जाती है। इसकी स्थिति जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त है। मिश्रित एवं अस्थिर परिणामों के कारण इसके उदय में न तो जीव के अगले भव का आयुष्य बन्ध होता है और न ही मरण होता है। यह स्थिति तीसरे गुणस्थान में पायी जाती है।

७. सम्यक्त्व मोहनीय—सम्यक्त्व होते हुए भी चल-मल अगाढ दोष रह जाना अथवा अपने स्वयं के ज्ञानादि गुणों के प्रति, अथवा देव-गुरु-धर्म के प्रति अहंभाव-रागभाव युक्त श्रद्धान होना सम्यक्त्व मोहनीय है। सम्यक्त्व मोहनीय के उदय काल में सम्यग्दर्शन तो रह सकता है, परन्तु परम विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन

प्रकट नहीं हो पाता। तब क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है। इस प्रकृति का उदय चौथे से सातवें गुणस्थान तक रहता है।

ज्ञातव्य तथ्य

१. मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व प्राप्त करते समय उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षय-उपशम आदि होता है।

२. अनन्तानुबन्धी कषाय की उत्कृष्ट स्थिति जीवन पर्यन्त कही जाती है। उसे दो तरह से समझा जा सकता है- किसी-किसी जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय पूरे जीवन भर उदय में रहता है अर्थात् उसके मिथ्यात्व जीवन भर नहीं छूटता। जिस भवी जीव को जिस भव में सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस भव में उस जीव के सम्यक्त्व पाने के पूर्व की स्थिति अर्थात् जब तक मिथ्यात्व का उदय है उतने समय तक की स्थिति को जीवन पर्यन्त की समझना चाहिये। यदि ऐसा न समझें तब तो फिर कोई भी भवी जीव किसी भी भव में सम्यक्त्व प्राप्त कर ही नहीं सकेगा। वैसे भी मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है।

३. अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार प्रकृतियां ही ऐसी हैं जो क्षय होने के बाद भी पुनः उदय में आ सकती हैं, इसलिये इनके क्षय को दो प्रकार का माना गया है। १. विसमयोजना क्षय तथा २. आत्यन्तिक क्षय। विसमयोजना क्षय में इन चारों का पुनः उदय होता है, जबकि आत्यन्तिक क्षय में इनका पुनः उदय नहीं होता।

-अध्यापक, राजकीय माध्यमिक विद्यालय, जाजीवाल कलां (जोधपुर)

सम्यक्त्व-ग्रहण सूत्र

१५वीं शती में वर्धमानसूरि ने 'आचार दिनकर' नामक ग्रन्थ में सम्यक्त्व-ग्रहण करने का पाठ दिया है, जो 'अरिहंतो महदेवो' पाठ से भिन्न है, यथा-

"अह णं भंते ! तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ दव्वओ। मिच्छत्तकारणाइं पच्चक्खामि सम्मत्तकारणाइं उवसंपज्जामि। नो मे कप्पेइ अज्जप्पभिई अन्नओ तित्थिए वा अन्नउत्थिअदेवयाणि वा अन्नउत्थिअ-परिग्गाहियाणि अर्हतचेइआणि वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइयं वा साइयं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा खित्तओणं इहेव वा अन्नत्थ वा कालओ णं जावज्जीवाए भावओणं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जावच्छलेण न छलिज्जामि जाव सन्निवाएण नाभिवज्जामि जाव अन्नेण वा केणइ परिणामवसेण परिणामो मे न परिवड्ढइ ताव मे एअं सम्मद्दसणं अन्नत्थ रायाभिओगेणं बलाभिओगेणं गणाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तीकंतराएणं वोसिरामि।"

-आचार दिनकर, भाग १, पृ. ४६

मिथ्यात्व के प्रकार और उनके भेद

☆ डा. मंजुला बम्ब

अहितकर मिथ्यात्व

संसार-चक्र में फंसे रहने का कारण मिथ्यात्व है। पाप अठारह प्रकार के हैं। इनमें मिथ्यात्व का स्थान अंतिम है, परन्तु इस पाप की शक्ति महती है। मिथ्यात्व ही एक ऐसा पाप है जो समस्त पापों का पोषक और वर्द्धक है। इसी के फलस्वरूप जीव को अनादिकाल से जन्म-मरणादि समस्त दुःखों को सहन करना पड़ता है। इसके समान आत्मा का शत्रु और कोई नहीं है। सम्यक्त्व रूपी शूर के प्रकट होते ही अनन्त भव-भ्रमण में जोड़ने वाले मिथ्यात्व को या तो भूमिगत होना पड़ता है या नष्ट होना पड़ता है। मिथ्यात्व तिमिर के नष्ट होते ही आत्मा सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में आ जाता है। उसे अपने शाश्वत घर का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। फिर वह अपनी शक्ति के अनुसार संसार अटवी को लांघकर अपने शाश्वत स्थान पर पहुंचने का प्रयत्न करता है। यदि मिथ्यात्व के झपाटे से सम्यक्त्व रूपी दीपक बुझ गया तो फिर मिथ्यात्व के खड्डे में गिरना होता है।

मिथ्यात्व का शाब्दिक अर्थ है—मिथ्या = विपरीत, त्व = भाव, यानी की विपरीत भाव। प्रश्न होता है कि मिथ्यात्वी कैसा होता है?

दोससहियंपि देवं, जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥

अर्थात् जो जीव दोष सहित देव को देव, जीव-हिंसादि सहित को धर्म और परिग्रह में आसक्त को गुरु मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इसमें मोह की अत्यधिक प्रबलता होती है। विपरीत दृष्टि या श्रद्धा के कारण वह राग-द्रेष के वशीभूत होकर अनन्त आध्यात्मिक सुख से वंचित रहता है। मिथ्यात्वी-व्यक्ति आधिभौतिक उत्कर्ष चाहे कितना भी कर ले, किन्तु उसकी सारी प्रवृत्तियां संसाराभिमुखी होती हैं, मोक्षाभिमुखी नहीं। जैसे मदिरा पिये हुए व्यक्ति को हिताहित का ध्यान नहीं रहता वैसे ही मोह की मदिरा से उन्मत्त बने हुए मिथ्यात्वी को हिताहित का भान नहीं होता है।

कुदेव की देव मानकर पूजा करना उचित नहीं है, किन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी देते हैं? उपकार करते हैं? उनकी पूजा वन्दना करें या नहीं? इसका उत्तर है—

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मंपि सुहासुहं कुणदि॥

इस जीव को कोई व्यन्तरादि देव लक्ष्मी नहीं देते हैं। इस जीव का कोई अन्य उपकार भी नहीं करता है। जीव के पूर्व संचित शुभ-अशुभ कर्म ही उपकार तथा अपकार करते हैं।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि व्यन्तर आदि देव हमको लक्ष्मी देते हैं, हमारा उपकार करते हैं, इसलिए हम उनकी पूजा वन्दना करते हैं। यदि ऐसा होता तो पूजने वाले दरिद्री और दुःखी क्यों रहते? पूजा करने वाले सभी को सुखी होना चाहिए था,

किन्तु यह मिथ्याबुद्धि है। सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि यदि भक्ति से पूजा हुआ व्यन्तरदेव ही लक्ष्मी देता होता तो धर्म क्यों किया जाता?

सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी होता है । वह संसार की लक्ष्मी को हेय मानता है। उसकी इच्छा ही नहीं करता है। यदि पुण्य के उदय से मिले तो मिले और न मिले तो नहीं मिले, केवल मोक्ष-सिद्धि की ही भावना करता है । इसलिए सम्यग्दृष्टि व्यन्तरादि देवादिक की पूजा वन्दना कभी भी नहीं करता है।

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि सर्वज्ञ देव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अवस्था जानते हैं और जो सर्वज्ञ के ज्ञान में जाना गया है वह नियम से होता है। उसमें हीनादिक कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। जीव के जिस देश में जिस काल में, जिस विधान से जन्म तथा मरण, दुःख तथा सुख, रोग-दारिद्र्य आदि होते हैं वे वैसे ही कर्मादि के नियम से होते हैं। उनका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थंकर देव कोई भी निवारण नहीं कर सकते हैं।

हमें मिथ्यात्व रूपी डाकू से बचने के लिए इसके प्रकार और भेद जानना आवश्यक है। इनके त्याग में ही आत्मा का विकास संभव है, अन्यथा नहीं।

मिथ्यात्व के तीन प्रकार

शास्त्रों में वर्णित मिथ्यात्व तीन प्रकार का है–

१. **अणाइया अपज्जवसिया** (अनादि अपर्यवसित)–अर्थात् जिस मिथ्यात्व की आदि नहीं है और अन्त भी नहीं है वह अनादि अपर्यवसित या अनादि- अनन्त मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व अभव्य जीवों को होता हैं। अनन्त भव्यजीव भी ऐसे हैं जो अनन्तानन्त काल से निगोद में पड़े हुए हैं। वे एकेन्द्रिय पर्याय को छोड़कर अब तक द्वीन्द्रिय पर्याय भी प्राप्त नहीं कर सके हैं और भविष्य में भी नहीं प्राप्त कर सकेंगे। सिद्ध शिला पर अभव्य जीवों के लिए प्रवेश-निषिद्ध (No Entry) का बोर्ड सदैव लगा रहेगा।

सदाकाल, शाश्वत रूप से जमकर रहने वाले, एवं कभी पृथक् नहीं होने वाले मिथ्यात्व के धनी को अभव्य कहते हैं। अभव्य सदा अभव्य (मुक्ति पाने के अयोग्य) और मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है।

२. **अणाइया सपज्जवसिया** (अनादि-सपर्यवसित)–अनादिकाल से मिथ्यात्वी होने के कारण जिन जीवों के मिथ्यात्व की आदि तो नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य होने के कारण जो मिथ्यात्व का अन्त कर डालते हैं वे अनादि-सपर्यवसित मिथ्यात्वी कहलाते हैं। वर्तमान में भी ऐसे जीव हैं जो अनादि मिथ्यात्व को दबाकर, नष्ट कर सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं और अनन्त जीव ऐसे हैं जो अभी तो अनादि मिथ्यात्व में ही पड़े हैं, लेकिन भविष्य में कभी मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे।

३. **साइया सपज्जवसिया** (सादि-सपर्यवसित)–जो मिथ्यात्व एक बार नष्ट हो जाता है, किन्तु फिर उत्पन्न हो जाता हैं और यथाकाल फिर नष्ट हो सकता है उसे सादि सपर्यवसित मिथ्यात्त्व कहते हैं। मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की अवस्था में आने पर

यह नियम नहीं है कि वह फिर कभी मिथ्यात्व में जा ही नहीं सकता। एक क्षायिक सम्यक्त्व के सिवाय, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व में पतन की संभावना रहती है अर्थात् सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व में प्रवेश हो जाता है। दूसरी बार मिथ्यात्व की प्राप्ति ही उस मिथ्यात्व की आदि बतलाता है। यही भेद तीसरे प्रकार का है। इस भेद वाला प्राणी गफलत में आकर मिथ्यात्व में गिर पड़ता है, किन्तु उस मिथ्यात्व में वह अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल से अधिक नहीं रहता। सम्यक्त्व के पूर्व संस्कार उसे मिथ्यात्व से निकाल ही लेते हैं और वह पुनः सम्यक्त्व में आ जाता है। इस भेद वाले सभी प्राणी अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उत्थान और पतन एक, दो या तीन बार ही नहीं लेकिन हजारों बार हो सकता है।

जिन भव्यात्माओं में सम्यक्त्व गुण बसा हुआ है और जिन्हें सम्यक्त्व से अत्यधिक प्रीति है तथा जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं उनका प्रथम कर्तव्य है कि वे मिथ्यात्व से अपने को बचाए रखें, उससे दूर ही रहें। मिथ्यात्व से बचने के भेदों को समझना आवश्यक है। अतएव यहां मिथ्यात्व के अधिकतम २५ भेदों का वर्णन किया जाता है।

मिथ्यात्व के २५ भेद

१. आभिग्रहिक मिथ्यात्व

तत्त्व की परीक्षा किए बिना ही अपने पकड़े हुए रूढ पक्ष से दृढ़तापूर्वक चिपके रहना और सत्य का विरोध करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। अज्ञान के साथ आग्रह का योग हो, तब यह मिथ्यात्व होता है। इस मिथ्यात्व वाले व्यक्ति हठाग्रही बने रहकर अपने माने हुए और रूढि से चले आने वाले मार्ग पर ही चलते रहते हैं। अगर उन्हें कोई सत्य धर्म को समझाना चाहे तो वे कहते हैं 'हम अपने बाप-दादाओं का धर्म कैसे छोड़ सकते हैं?' वास्तव में देखा जाए तो वे बाप-दादाओं की धर्म-परम्परा से चिपके रहते हैं (ठाणंग, २.१), किन्तु संसार की दूसरी बातों से चिपके नहीं रहते।

कुछ लोगों में तो अंध-परम्पराओं का इतना आग्रह होता है कि वे इन विषयों में, त्यागी संतों के उपदेश को भी नहीं मानते हुए यही कहते हैं कि 'महाराज ! ये क्रियाएं हमारे बाप-दादा और पूर्वज परम्परा से करते आए हैं, इसलिए हम भी करते हैं। वे मूर्ख नहीं थे, हमसे समझदार थे आदि-आदि।

कुछ जैन लोगों में भी रूढ़िवश इस प्रकार का मिथ्यात्व चलता रहता है। कुल परम्परानुसार भैरू, भवानी, लक्ष्मीपूजन, होलिका पूजन-दहन आदि इसके उदाहरण हैं। चेचक, मोतीझरा आदि रोगों को देव रूप मानना, श्राद्ध पक्ष में पितरों का श्राद्ध करना, कन्यादान को धर्म मानना, इसी प्रकार विवाह के अवसर पर गणपति की स्थापना करना आदि क्रियाएं करना, ये सब अन्धपरम्परानुसार प्रचलित हैं। हम यह नहीं सोचते कि इस प्रकार की मिथ्या (विपरीत) क्रिया नहीं करने वालों के भी विवाहादि कार्य सुखपूर्वक सम्पन्न होते हैं। बिमारियों को देवरूप नहीं मानने वाले लोगों को भी ये रोग होते हैं और उनका निवारण हो जाता है तथा लक्ष्मी-पूजादि नहीं करने वालों के यहां भी भरपूर सम्पत्ति होती है, उदाहरणार्थ अमेरिका आदि देश बिना लक्ष्मी-पूजन के

भी समृद्ध एवं शक्तिशाली बने हुए हैं। फिर हम क्यों इन व्यर्थ के क्रिया-काण्डों में उलझकर अपनी मूढ़ता एवं अज्ञानता का प्रदर्शन करें।

इसी प्रकार मरणोत्तर क्रिया में मृतक को धूपादि देना जैसी अनेक अज्ञानपूर्ण क्रियाएं प्रचलित हैं, जिनसे न तो कोई भौतिक लाभ होता है और न आत्मिक लाभ ही होता है। उल्टा मिथ्यात्व का पोषण होता है और आत्मा कर्म-बन्धनों में जकड़ता है।

अज्ञान भी मिथ्यात्व रूप होता है, क्योंकि विपरीत ज्ञान जहां होता है वहां मिथ्यात्व का निवास होता है। कभी ऐसा भी हो जाता है कि ज्ञानावरणीय के उदय से सम्यग्दृष्टि को भी किसी एक विषय में गलत धारणा हो जाती है। किन्तु जिनेश्वरों के वचनों पर उसका विश्वास दृढ़ होता है, उसका गलत धारणा में हठाग्रह नहीं होता और सद्गुरु का योग मिलने पर उनके समझाने पर, वह अपनी भ्रम धारणा को छोड़कर सत्य को अपना लेता है। इस प्रकार की भूल भूलैया के कारण जिनेश्वरों पर श्रद्धा रखते हुए किसी एक विषय में गलत धारणा होने पर वह मिथ्यादृष्टि नहीं माना जाता है।

परन्तु यदि वह समझाने पर भी नहीं माने और आगम-प्रमाण उपस्थित होने पर भी अपना हठ नहीं छोड़े, खोटे पक्ष को ही पकड़े रहे तो उसकी गणना आभिग्रहिक मिथ्यात्व में आती है। यह मिथ्यात्व अभव्य को होता है।

२. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

सभी मतों और पंथों को सत्य मानना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। ठाणांग सूत्र २.१ में स्पष्ट वर्णित है कि 'अपने लिए तो सभी एक समान हैं' इस प्रकार सत्यासत्य, गुणावगुण और धर्म-अधर्म का विवेक नहीं रखकर 'सर्वधर्मों को समान मानने रूप मूढ़ता को अपनाना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

गुण-दोष की परीक्षा नहीं करते हुए सभी पक्षों को समान रूप से मानने वाले मन्दबुद्धि जीव होते हैं जो परीक्षा करने में असमर्थ होते हैं और साथ ही वे किसी भी मार्ग में स्थिर नहीं रह सकते हैं। ऐसे जीव अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व की श्रेणी में आते हैं।

परीक्षा करके स्वीकार करने की बुद्धि न तो आभिग्रहिक मिथ्यात्वी में होती है और न ही अनाभिग्रहिक मिथ्यावी में। इस दृष्टि से दोनों में समानता होते हुए भी दोनों में एक खास भेद रहा हुआ है। आभिग्रहिक मिथ्यात्वी किसी एक मिथ्यापक्ष का समर्थक बन कर अन्य का खण्डन करता है, पर दूसरा अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी किसी का विरोध नहीं करके सबको समान रूप से मानकर 'सभी धर्म समान हैं' का सिद्धान्त अपना लेता है।

जैसे कई लोग कहा करते हैं कि 'हमें किसी साधक के गुण-दोष देखने की क्या आवश्यकता है? हमें तो साधु वेश देखकर ही उनका आदर-सत्कार और वन्दन करना चाहिए। जिस प्रकार रुपये की छाप होने पर ही कागज का नोट चलता है उसी प्रकार वेश होने पर ही साधु की पूजा होती है। नोट के चलन में कागज की ओर नहीं देखा जाता, उसी प्रकार साधु के या धर्म के गुण-दोष देखने की जरूरत नहीं है, इस

प्रकार कहने वाले अधर्म का पोषण करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि करंसी से निकला हुआ राजमान्य नोट ही गुणयुक्त है। उसके पूरे रुपये प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु वैसी ही छापवाला नकली गुण-शून्य नोट 'जाली' कहलाता है और ऐसे जाली नोट चलाने वाला अपराधी होता है। वैसी ही छाप होते हुए भी गुण-शून्य नकली नोट नहीं चल सकता। उसी प्रकार गुण-शून्य साधु भी मात्र वेश के कारण नहीं पूजा जाता और वीतरागता तथा सर्वज्ञता से रहित रागी-द्वेषी छद्मस्थ को देव नहीं माना जाता। जिस प्रकार वेश होने मात्र से नाटक का नकली राजा और सिनेमा के नकली अवतार आदर के पात्र नहीं बन सकते, सोने का रंग चढ़ाया हुआ पीतल सोने का मूल्य नहीं पा सकता, उसी प्रकार दूषित तथा गुण-शून्य साधु या अन्य साधक भी पूजनीय नहीं होता और उसी प्रकार धर्म संज्ञा प्राप्त कर लेने पर भी अधर्म, धर्म नहीं बन सकता है।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वीजन भगवतीसूत्र, शतक ३ उद्देशक २ में लिखित उस तामली तापस जैसे हैं, जो 'प्रणामा' नाम की प्रव्रज्या का पालक था और कुत्ता, कौआ आदि सबको प्रणाम करता था।

यहाँ सरलता कोमलता एवं नम्रता तो है, लेकिन हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का विवेक नहीं है। महात्मा और कसाई सबको समान कोटि में मानने की बुद्धि यहाँ स्पष्ट रूप से पायी जाती है। जैन धर्म इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार नहीं करता है। गुण दोष की सम्यक् परीक्षा करने की दृष्टि और हेयोपादेय का विवेक जैन धर्म ने स्वीकार किया है।

इस भौतिक युग में लाखों लोग अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व के चक्कर में फंस गए हैं। यह एक मोहक मिथ्यात्व है। साधारण जनता सरलता से इसके चक्कर में पड़ जाती है। यह मिथ्यात्व भव्य जीवों में निहित होता है।

३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व

अपने सिद्धान्त को गलत जानकर भी अभिमानवश हठाग्रही होकर उसे पकड़े रहना (भगवतीसूत्र, ९.३३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसे एकान्त मिथ्यात्व भी कहा गया है।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व की उत्पत्ति प्रायः सम्यग्दृष्टियों में ही होती है। जिस सम्यग्दृष्टि विद्वान् से भूल अथवा संशय से, या फिर औरों के प्रभाव से सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा हो जाती है, वह फिर अभिमानवश छूटती नहीं। फिर वह किसी भी प्रकार से उसे सच्ची सिद्ध करने की ही चेष्टा करता है।

अहंकार इस मिथ्यात्व का मूल है। प्रतिष्ठित और बहुजनमान्य व्यक्तियों में भूल सुधारकर सत्य अपनाने वाले विरले ही होते हैं। अधिकांशतः अपनी और अपने पक्ष को असत्यता का अनुभव करते हुए भी केवल अहंकार के कारण वे उस असत्य को पकड़े रखते हैं। अपनी विद्वत्ता, योग्यता, प्रतिष्ठा तथा सम्बंध का उपयोग करके सत्य पक्ष को दबाने और नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे सोचते हैं कि यदि मैं अब अपनी भूल स्वीकार कर लूंगा, तो लोगों में मेरी प्रतिष्ठा घट जाएगी, और सामने वाले

की प्रतिष्ठा बढ़ जाएगी। इस प्रकार का दुर्विचार इस मिथ्यात्व का मूल कारण है।

सम्यग्दृष्टि चाहकर भूल नहीं करता, किन्तु अनुपयोग अथवा गलत धारणादि के योग से भूल हो जाती है। यदि उसे मालूम हो जावे कि मेरी कही हुई अथवा लिखी हुई बात गलत है, तब शीघ्र ही वह उस भूल को सुधार कर सत्य स्वीकार करने में तत्पर रहता है। यह तत्परता और भूल-सुधार उसे मिथ्यात्व से बचाते हैं। उसकी भावना में अपनी भूल प्रकट होने का भय नहीं, किन्तु भूल दूर करके सत्य प्रकट होने की प्रसन्नता रहती है। यह बात जितनी कहने में सरल है, उतनी करने में सरल नहीं है। कहते तो दोनों पक्ष वाले ऐसा ही हैं, परन्तु करते समय प्रतिष्ठा का विचार सामने आकर खड़ा हो जाता है और उस आत्मा को आभिनिवेशिक मिथ्यात्व में ले जाता है। कमलप्रभ आचार्य ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के कारण ही सत्य को छिपाकर अनन्त संसार बढ़ाया था। हम अपने जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग देख चुके हैं और देख रहे हैं, हमारे सामने ऐसे अनेक प्रमाण हैं कि जिनमें अनेक व्यक्ति प्रतिष्ठा के भूत के प्रभाव से, असत्य पक्ष को पकड़े हुए बैठे हैं।

कई लोग अक्सर कहते हैं कि हम वाद-विवाद पसन्द नहीं करते। आलोचनाओं में क्या धरा है, हम तो इनकी उपेक्षा ही करते हैं इत्यादि शब्दों से उपेक्षा करके शान्ति के उपासक से बने चुपचाप रहते हैं। यह ठीक है कि इससे वाद-विवाद नहीं बढ़ता है, परन्तु इस चुप्पी की ओर से असत्य को छुपाया जाता है और सत्य की बलि देकर शक्ति के उपासक का दंभ होता है। यह मिथ्यात्व भव्य जीवों को ही होता है।

४. सांशयिक मिथ्यात्व

देव, गुरु और धर्म के तत्त्व के स्वरूप में संशय रखना सांशयिक-मिथ्यात्व है। अतएव शास्त्र की कोई बात अगर समझ में न आवे तो विचारशील पुरुष को अपनी बुद्धि की मन्दता समझनी चाहिए, किन्तु तीर्थंकर भगवान् या आचार्यों का तनिक भी दोष नहीं समझना चाहिए। जब कभी ज्ञानी आचार्यों या विद्वानों का योग मिले तब शंकाओं का समाधान करना चाहिए। फिर भी शंका रह जाए तो ज्ञानावरण कर्म का उदय मानना चाहिए। किन्तु केवली भगवान् के वचनों को सत्य ही समझना चाहिए। समुद्र का सारा पानी लोटे में नहीं समा सकता। उसी प्रकार प्रभु के वचन अल्पज्ञ और छद्मस्थ की समझ में पूरी तरह कैसे आ सकते हैं? इस प्रकार विचार कर सांशयिक मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए।

सांशयिक मिथ्यात्व को बढ़ाने के विभिन्न कारणों में भौतिक विज्ञान भी निमित्त बना है। भौतिक-विज्ञान के प्रभाव में आए हुए कई 'जैन पंडित' कहलाने वालों ने साधारण जनता को शंकाशील बनाकर मिथ्यात्व में धकेल दिया है। कई प्रसिद्ध विद्वान् तो स्पष्ट लिख चुके हैं कि 'आजकल के वैज्ञानिक तथ्यों के आधार से आगमों में संशोधन करना चाहिए।' इस भौतिक चकाचौंध से ग्रसित मानव भी संशोधन कर अपने अहंकार की पुष्टि करता है। इस प्रकार लौकिक ज्ञान को आधारभूत मानकर लोकोत्तर धर्म में परिवर्तन करने की मिथ्या बातें प्रचलित करके सांशयिक मिथ्यात्व का खूब विस्तार किया गया है। यह सभी जानते हैं कि भौतिक विज्ञान भी अभी अपूर्ण ही है।

साधन के द्वारा एक मनुष्य में जो शक्ति विकसित हो सकती है और उससे बिना किसी खर्चे के वह जो भौतिक शक्ति प्राप्त कर सकता है उसका शतांश भी इन भौतिक वैज्ञानिकों में नहीं है। जिनागमों में बताया है कि साधना के बलपर प्राप्त की हुई वैक्रिय शक्ति से मनुष्य अपने लाखों-करोड़ों रूप बना सकता है। अपनी ही आत्मशक्ति से करोड़ों मनुष्यों की सशस्त्र सेना बना सकता है और अपनी क्रोधित दृष्टि (तेजोलेश्या) मात्र से हजारों लोगों का संहार भी कर सकता है। वैक्रियलब्धि वाला मनुष्य देव के समान शक्ति रखता है। इसी प्रकार साधना के बल पर प्राप्त की हुई आत्मशक्तियों के जैनागमों में अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। तब आज का भौतिक विज्ञान अरबों डालर खर्च करके भी उनके समकक्ष नहीं पहुंच सका और आगे भी नहीं पहुँच सकेगा।

'जिनेश्वर भगवंत वीतराग हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं' इतना ही विश्वास हो और यह भी श्रद्धा हो कि वीतराग भगवंत कभी भी आरम्भ-परिग्रहजन्य उपदेश नहीं देते, तो इस श्रद्धा के आधार पर सम्यग्श्रुत और मिथ्याश्रुत का विवेक कर सांशयिक मिथ्यात्व से बचा जा सकता है। इस मिथ्यात्व का निवास भव्य जीवों में होता है।

शंका या संशय जीवन की महान् दुर्बलता है, जिसके रहते सम्यक्त्व स्थिर नहीं रहता। जो व्यक्ति लड़खड़ाते कदम से चलता है वह कभी भी मंजिल पर नहीं पहुंच सकता। संशय से संकल्प में, विचारों में दृढ़ता नहीं आती और बिना दृढ़ता के लक्ष्यपर पहुंचने के लिए आन्तरिक बल प्राप्त नहीं होता और बिना आन्तरिक बल के साध्य की सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अतः आवश्यक है कि अपने साध्य और साधनों पर पूर्ण निष्ठा रखी जाए। उसमें किसी प्रकार की शंका न की जाए।

५. अनाभोगिक मिथ्यात्व

विचार-शून्यता अथवा मनन शक्ति के अभाव में ज्ञानावरणीय आदि कर्म के उग्रतम उदय से होने वाला मिथ्यात्व अनाभोगिक है। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रियादि से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में होता है। उपर्युक्त चार प्रकार के मिथ्यात्व युक्त जीवों की अपेक्षा अनाभोग मिथ्यात्व वाले जीव अधिक हैं। अनाभोग मिथ्यात्व अभव्य जीव को असंज्ञी अवस्था में होता है। जिस प्रकार विवेकहीन व्यक्ति अपना हिताहित नहीं सोच सकता, उसी प्रकार अनाभोग मिथ्यात्वी भी आत्महित के विषय में अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं सोच सकता है। किन्तु इसकी स्थिति उस बेहोश व्यक्ति जैसी है जिसे अपने हिताहित का कोई भान ही नहीं है। कोई लूट ले, काट डाले या जला डाले, तो भी वह कुछ भी नहीं कर सकता।

जिन जीवों के मन ही नहीं वे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के विषयमें सोच ही नहीं सकते। अपने जीवन सम्बन्धी वनी वनाई ओघदृष्टि के सिवाय उनमें मत-पक्ष की वात ही नहीं होती । वे धर्म, अधर्म का विचार ही नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टि वही हो सकता है, जो असत्य पक्ष को नहीं अपनाता है और सत्य को स्वीकार करता है।

वनस्पतिकाय की स्थिति अनन्त काल की होती है उतनी ही स्थिति अनाभोगिक मिथ्यात्व की मान्य है।

६. लौकिक मिथ्यात्व

अनुयोगद्वार में स्पष्ट वर्णित है कि जैनमत के सिवाय अन्य मत को मानना, लोकरूढ़ियों में धर्म मानना, वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के गुण रागी द्वेषी, छद्मस्थ और मिथ्या मार्ग प्रवर्तक एवं संसार-मार्ग के प्रणेता को देव मानना, सम्यक्चारित्र रूप पांच महाव्रत तथा समिति-गुप्ति से रहित, नामधारी साधु या गृहस्थ को गुरु मानना और जिसमें सम्यग्ज्ञानादि का अभाव है और जो लौकिक क्रियाकाण्डमय है उसे धर्म मानना, स्नान, यज्ञादि सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना लौकिक मिथ्यात्व है। इसके तीन भेद हैं–१. देवगत लौकिक मिथ्यात्व २. गुरुगत लौकिक मिथ्यात्व और ३. धर्मगत लौकिक मिथ्यात्व।

(अ) देवगत लौकिक मिथ्यात्व - सम्पूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण वीतरागता सच्चे देव के लक्षण हैं। यह लक्षण जिनमें न पाए जावें, उन देवों को देव मानना देवगत मिथ्यात्व है। कितने ही लोग चित्र, वस्त्र, कागज, मिट्टी, काष्ठ, पत्थर आदि से अपने हाथों द्वारा देव बनाकर उसे असली देव ही मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। ऐसे देव में जैन साधना का प्राण तत्त्व सम्यग्दर्शन आदि देवगत गुण नहीं होते हैं, अतः वह भाव देव नहीं हो सकता।

अनेक जैन भाई अर्हन्त भगवान के उपासक होते हुए भी, भ्रम के वशीभूत होकर धन की प्राप्ति के लिए दोषों से दूषित देवों के स्थानों में जाते हैं और उनके आगे अपना मस्तक रगड़ते हैं, उनकी पूजा करते हैं और रक्त-मांस से व्याप्त पवित्र स्थान में अनेक प्रकार के भोजन बनाकर उन देवों को भोग लगाते हैं और आप भी खाते हैं। इस प्रकार वे सम्यक्त्व और धर्म से भ्रष्ट होते हैं। विभिन्न प्रकार की मनौतियां मनाने वाले जिज्ञासु इस प्रकार का विचार करें कि यदि देव की मनौती मानने से ही पुत्र की प्राप्ति हो तो स्त्री को पति-सम्बन्ध की क्या आवश्यकता है? ऐसी स्थिति में विधवा, वन्ध्या और कुमारिकाएं सभी पुत्रवती क्यों नहीं बन जाती? अगर देव में इच्छा पूर्ण करने की शक्ति होती तो वे हमारी आशा क्यों करते हैं? वे हमसे भेंट पूजा क्यों चाहते हैं? पहले अपनी इच्छा स्वयं पूर्ण क्यों नहीं कर लेते? जो दमड़ी-दमड़ी की वस्तु के लिए मुंह ताकते बैठे हैं, हमसे वस्तु पाकर ही तृप्त होते हैं, जो स्वयं दूसरों पर निर्भर हैं वे हमें पुत्र या धन किस प्रकार दे सकते हैं? इस प्रकार कितने ही लोग अनजानपन से, अज्ञानता के कारण अथवा भोलेपन के कारण इस लौकिक देवगत मिथ्यात्व को पकड़े हुए हैं।

(ब) गुरुगत लौकिक मिथ्यात्व - गुरु (साधु) का नाम धराया पर गुरु के लक्षण-गुण जिन्होंने प्राप्त नहीं किए, जो हिंसा करते हैं, झूंठ बोलते हैं, रात्रि भोजन करते हैं, तिलक, माला, इत्र, आभूषणादि से शरीर को सुसज्जित करते हैं, वाहन पर बैठते हैं अनेक प्रकार का पाखण्ड करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को गुरु मानना - पूजना गुरुगत लौकिक मिथ्यात्व है। शास्त्र में ३६३ प्रकार के पाखण्ड मत बतलाए गए हैं उनका विस्तार से स्वरूप समझ लेने से कुगुरुओं का स्वरूप भली-भांति समझ में आ जाता है।

मनुस्मृति अध्याय ४ में पाखण्डी गुरु के विषय में कहा गया है–

धर्मध्वजो सदा लुब्धः छाद्मिको लोकदम्भकः।

वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्त्रः सर्वाभिसंधकः ॥
अधोदृष्टिरकृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठी मिथ्याविनीतश्च बकवृत्तिचरो द्विजः ॥

अर्थात् धर्म के नाम पर लोगों को ठगने वाला, सदा लोभी, कपटी, अपनी बड़ाई हांकने वाला, हिंसक, वैर रखने वाला, थोड़ा गुणों वाला होकर बहुत बतलाने वाला, स्वार्थी, अपने पक्ष को मिथ्या समझकर भी न छोड़ने वाला, झूंठी शपथ खाने वाला, ऊपर से उज्ज्वल और भीतर मैला, बगुला सरीखी वृत्ति वाला द्विज पाखण्डी है।

इस प्रकार के मिथ्यात्वियों की संगति नहीं करनी चाहिए। विपरीतसंसर्ग व्यक्ति को पथभ्रष्ट कर देता है। कहा भी है 'संसर्गजा दोष-गुणाः भवन्ति।' अच्छी संगति से सद्गुण पैदा होते हैं तो कुसंगति से दुर्गुण। शेखसादी ने गुलिस्तां में कहा है- 'फरिश्ता शैतान के साथ रहने लगे तो वह कुछ दिनों में शैतान बन जाएगा।' अतः साधक को, भक्तों को सावधानी रखनी चाहिए। सम्यक्त्व धर्मरूपी विराट् नगर का विशाल प्राकार है। प्राकार से नगर सुरक्षित रहता है। शत्रु उस पर हमला नहीं कर सकता है। यदि सम्यक्त्व रूपी प्राकार (परकोटा) सुरक्षित है तो किसी भी दुर्गुणरूपी शत्रु की शक्ति नहीं कि वह उसमें प्रविष्ट हो सके।

(स) लौकिक धर्मगतमिथ्यात्व - लौकिक मिथ्यात्व का यह तीसरा भेद है। धर्म का नाम तो लेना, किन्तु धर्म का कृत्य बिलकुल न करना, एकान्त अधर्म के काम करना और उन्हें धर्म समझ लेना लौकिक धर्मगत मिथ्यात्व है। जैसे देवता के आगे बकरा आदि का बलिदान करना और फिर स्वर्ग पाने की अभिलाषा करना, तीर्थस्थानों पर नहाने में धर्म मानना आदि धर्मगत मिथ्यात्व है। यदि स्नान से पाप का नाश होता हो तो कच्छ-मच्छ आदि जलचर जीवों को सबसे बड़ा धर्मात्मा और मोक्ष का अधिकारी मानना पड़ेगा, क्योंकि वे सदैव पानी में रहते हैं। फिर बड़े-बड़े तपस्वियों ने वृथा तप क्यों किया? जब तक मन का मैल दूर नहीं होगा तब तक पापी जीवों को गंगा भी शुद्ध नहीं कर सकती है।

मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र है—'अथातो धर्मजिज्ञासा'। धर्म वह है जो प्रेरणा प्रदान करे। धर्म उत्कृष्ट मंगल है । वस्तुतः धर्म शब्द 'धृ-धारणे' धातु से निष्पन्न है जो धारण करता है, जो दुर्गति से प्राणियों को बचाता है वह धर्म है। अर्थात् धर्म मानव के विचार और आचार को विशुद्ध बनाने वाला तत्त्व है। जीवन के जितने भी निर्मल, दिव्य और भव्य बनाने के विधि-विधान हैं या क्रिया-कलाप हैं, वे सभी धर्म हैं।

धर्मकार्य में अल्पदुःख और महान् सुख है। धर्म के कामों में व्रत, नियम, तप आदि करने में पहले दुःख प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह दुःख नहीं है, क्योंकि उस नाम मात्र के दुःख में परम सुख रहा हुआ है। ऐसा जानकर लौकिक मिथ्यात्वमय विचारों और आचारों का त्याग करके सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म को स्वीकार कर परमसुख प्राप्त करना चाहिए।

७. लोकोत्तर मिथ्यात्व

मूलसूत्र अनुयोगद्वार में कहा गया है कि तीर्थंकर भगवान् लोकोत्तर देव हैं, वे वीतरागी हैं, उनकी आराधना अपनी आत्मा में वीतरागता का गुण लाने के लिए ही

करनी चाहिए। अपने विषय-कषायों की पूर्ति के लिए उनकी आराधना करना, इसी प्रकार भौतिक स्वार्थ-भावना से, निर्ग्रन्थों की सेवा, मांगलिक-श्रवण, सामायिक, आयम्बिलादि तप करना लोकोत्तर मिथ्यात्व है। इसके भी देवगत, गुरुगत और धर्मगत ऐसे तीन भेद होते हैं।

जैन साधु का नाम और वेषधारण करने वाले, किन्तु साधुपन के गुणों से रहित साधु को धर्मगुरु मानना लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व है।

जैन धर्म भव-भव में कल्याणकारी है। इस धर्म का सेवन करने से निराबाध और अक्षय मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। फिर भी इस सुख की उपेक्षा करके इस लोक सम्बन्धी धन, पुत्र, स्त्री आदि को प्राप्त करने के लिए धर्म का आचरण करना लोकोत्तर धर्मगत मिथ्यात्व है। जैसे पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से कनकावली तप करना, करोड़पति बनने की अभिलाषा से सामायिक करना आदि। इस प्रकार की रूढ़ि जहां कहीं भी हो उसे दूर कर अनन्त जन्म-मरण के फेर को मिटा देने वाले धर्म को स्वीकार करना चाहिए।

८. कुप्रावचनिक मिथ्यात्व

कुप्रवचन या मिथ्या सिद्धान्त को अपनाना कुप्रावचनिक मिथ्यात्व है। निर्ग्रन्थ प्रवचन के अतिरिक्त अन्य सब कुप्रवचन है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २३ में लिखा है–

> 'कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
> सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे॥'

अर्थात् जिनेश्वर भगवंतों द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग ही उत्तम है। इसके सिवाय जितने भी वचन हैं, वे सब कुप्रवचन होकर उन्मार्ग पर ले जाने वाले हैं। हमें जिन-प्रवचन पर पूर्णरूप से श्रद्धा-भक्ति करके कुप्रवचन रूप मिथ्यात्व से बचना चाहिए।

९. जिनवाणी से न्यून प्ररूपणा मिथ्यात्व

तत्त्व के स्वरूप में से कम को ही सत्य मानना, एकाध तत्त्व या उसके किसी भी भेद में अविश्वासी होना न्यून प्ररूपणा मिथ्यात्त्व है। कोई व्यक्ति कई बार यों कहा करते हैं कि इतनी सी बात नहीं मानें तो क्या हो गया? किन्तु यह सब परमतवाद है। जो जैनी कहलाता है उसे तो जिनेश्वरों के वचनों को पूर्ण रूप से यथार्थ मानना ही पड़ेगा।

प्रज्ञापना सूत्र के मूल पाठ में लिखा है–"मिथ्यादर्शन विरमण समस्त द्रव्यों से होता है।" (पद २२)

अनन्त-ज्ञानियों के सिद्धान्त में कमी करना, आगम पाठों में से मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, शब्द, वाक्यगाथासूत्र आदि निकाल देना, कम कर देना, सिद्धान्त की प्ररूपणा में अपने प्रतिकूल पड़ने वाले अंश को छोड़ देना, शरीरव्यापी आत्मा को अंगुष्ठ-प्रमाण मानना आदि न्यून प्ररूपण मिथ्यात्व है। अपनी कमजोरी से कम पले तो इसे अपना दोष मानना, लेकिन वस्तु स्वरूप की मान्यता तथा प्ररूपणा में कमी नहीं करना यह सम्यक्त्व शुद्धि के लिए आवश्यक है।

१०. जिनवाणी से अधिक प्ररूपणा मिथ्यात्व

जिन-प्रवचन से अधिक मानना मिथ्यात्व है (ठाणांग सूत्र २.१)। जिस प्रकार न्यूनकरण मिथ्यात्व है, उसी प्रकार अधिककरण भी मिथ्यात्व है। आगम पाठों में मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, शब्द, वाक्य, गाथा, सूत्र आदि बढ़ा देना, सैद्धान्तिक मर्यादा का अतिक्रमण करना इत्यादि प्रकार से निर्ग्रन्थ प्रवचन की मर्यादा से अधिक प्ररूपणादि करना अधिककरण मिथ्यात्व है। जैसे भगवान् महावीर के ७०० केवली शिष्य, ग्यारह गणधर और नौगण शास्त्र में कहे गए हैं, उनमें ज्यादा कहना अर्थात् केवली के वचन से अधिक प्ररूपण करना भी मिथ्यात्व है।

११. जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा मिथ्यात्व

निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विपरीत प्रचार करना, सावद्य एवं संसारलक्षी-प्रवृत्ति करना या उसका प्रचार करना तथा सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना विपरीत मिथ्यात्व है। पुण्य, पाप और आश्रव शुभाशुभ बन्ध रूप है, इन्हें संवर-निर्जरा रूप मानना, तथा बंध के कारण को मोक्ष का कारण बताना, विपरीत मिथ्यात्व है। धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म इत्यादि सभी प्रकार के मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व हैं । इनमें सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है। जमाली ने भगवान महावीर के कथन, "कडमाणे कडे" अर्थात् 'जो किया जा रहा है उसे किया हुआ ही कहा जाता है' को मिथ्या बताया तथा स्वयं के कथन को 'काम पूरा होने पर ही उसे किया हुआ कहना चाहिए', को सत्य बतलाया। इस प्रकार अपेक्षावाद को भुलाकर, एकान्तवाद का आश्रय लेकर भगवान को झूँठा कहने से उन्होंने मिथ्यात्व का उपार्जन कर लिया था। प्राचीनकाल में जिनप्रणीत शास्त्रों से विपरीत प्ररूपणा करने वाले सात निह्नव में से जमाली पहले निह्नव हुए। किञ्चित् विपरीतता भी महामिथ्यात्व का कारण बनती है। इसलिए सम्यक्त्व को विशुद्ध रखने के लिए निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूर्ण रूप से समर्पण भाव रहना चाहिए। आनन्दघनजी ने भी दर्शन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा—

> **शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,**
> **छार पर लीपणुं तेह जाणो रे।**

अर्थात् बिना श्रद्धा के जो क्रियाएं की जाती हैं, वह राख (भस्म) पर लेपन करने के सदृश है।

१२. धर्म को अधर्म श्रद्धना मिथ्यात्व

सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है। जिनेश्वर प्रणीत आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कंध के पांचवें अध्याय में धर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा है - "साधक ! तू संकल्प-विकल्प छोड़ कर बस यही निश्चय कर ले कि जिनेश्वर भगवंत ने कहा, वही सत्य है। पूर्ण रूप से सत्य है, निस्संदेह सत्य है - तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।" हृदय में यह आस्था करके साधना में लग जाना चाहिए। दूसरों को देखकर मन में संकल्प-विकल्प मत कर। यह भी कहा है कि "आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए।" अर्थात् भगवान कहते हैं कि मेरे बताए हुए मार्ग पर मेरी आज्ञा के अनुसार चलने में ही मेरा धर्म है।

वास्तव में वीतराग सर्वज्ञ भगवंत की आज्ञा का पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ है। जिस प्रकार रोगी डाक्टर की, सैनिक सेनापति की, विद्यार्थी अध्यापक की और प्रजा

राज्याधिकारी की आज्ञा पालन करते हैं, उसी प्रकार उपासक को भी उपास्य की आज्ञा का पालन करना ही श्रेयस्कर है। वैद्य, डाक्टर, सेनापति और अध्यापक आदि तो भूल भी कर सकते हैं और राग-द्वेष के वशीभूत होकर चाहकर भी अहित कर सकते हैं, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी की आज्ञा तो एकान्त हितकारी होती है।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने वीतरागस्तोत्र में यहां तक कह दिया है—

"वीतराग ! सपर्यायास्तवाज्ञापालनं परम्।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥"

अर्थात् हे वीतराग प्रभु ! आपकी पूजा से भी श्रेष्ठ है आपकी आज्ञा का पालन करना। आपकी आज्ञा के पालन का फल है मोक्ष-प्राप्ति और इसकी विराधना का फल है भवभ्रमण, संसार-चक्र में भटकना।

अहिंसा धर्म परम हितकारी और सदा आचरणीय है। इसे मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से, कुगुरुओं के उपदेश से, भ्रम में पड़कर अधर्म कहना,जीवों की रक्षा करने में, दया पालने में, मरते हुए जीवों को बचाने में अठारह पाप बतलाना, खोटे हेतु-दृष्टान्त देना आदि सबको मिथ्यात्व समझना चाहिए।इस प्रकार धर्म के वास्तविक रूप को दबाकर अन्यथा प्ररूपणा करना धर्म को अधर्म बतलाना रूप मिथ्यात्व है।

१३. अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व

धर्म के लक्षण से जो विपरीत है, वह अधर्म है। उसे धर्म समझना मिथ्यात्व है। अर्थात् जिससे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा हो, ऐसे पूजा, यज्ञ, होम आदि में धर्म मानना मिथ्यात्व है। जिस प्रवृत्ति से आत्मा की पराधीनता बढ़ती है, आत्मा बन्धनों में विशेष बंधती है ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में धर्म समझना मिथ्यात्व है; अथवा संवर-निर्जरा-रहित लौकिक-क्रिया में धर्म मानना मिथ्यात्व है।

कई लोग गरीब पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाकर धर्म मानते हैं, तो कई यज्ञादि में ही धर्म की कल्पना करते हैं। कई कन्यादान एवं ऋतुदान करने में ही धर्म की आराधना मानते हैं। नदियों में स्नान करने से और स्थावर तीर्थों की यात्रा से धर्म की प्राप्ति होना मानने वाले भी संसार में करोड़ों हैं।

वृक्षपूजा, मूर्तिपूजा, व्यन्तरादि देवों की स्तुति आदि अनेक प्रकार के अधर्म संसार में धर्म के नाम पर चल रहे हैं। इस प्रकार संसार में अधर्म को धर्म मानने वालों की जिधर देखो उधर बहुलता दिखाई देती है। यह अधर्म संसार में भटकाने वाला है, अज्ञान को बढ़ाने वाला है। अधर्म को सुखदायक-धर्म मानना भयानक भूल है। उसे त्यागना सर्वप्रथम आवश्यक है।

अधर्म रूपी विष को धर्म रूपी अमृत मानकर जीव, अनन्त जन्ममरणादि की दुःख परम्परा में उलझता रहता है।

सुश्रावक कुण्डकौलिक के सम्मुख एक गोशालकमति देव उपस्थित हुआ और अपना मत प्रकट करता हुआ पुरुषार्थ का खण्डन और नियतिवाद का मण्डन करने लगा, किन्तु उस देव को मनुष्य से पराजित होना पड़ा। विद्वान् विचक्षण एवं निर्भीक दृढ़ श्रावक कुण्डकौलिक ने देव की बात नहीं मानी और अकाट्य युक्तियों से

भगवान् के पुरुषार्थवाद का मण्डन किया। देव स्वयं अपनी मान्यता को उस मानव के खण्डन से नहीं बचा सका और शंकित होकर लौट गया। पुरुषार्थ का खण्डन करना मिथ्यात्व है। (उपासकदशाङ्ग सूत्र)

१४. साधु को असाधु मानना मिथ्यात्व

जिसमें साधुता के गुण हों, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा शुद्ध है, जो महाव्रतादि श्रमणधर्म का पालक है ऐसे सुसाधु को कुसाधु समझना भी मिथ्यात्व है । जो नाम, स्थापना, द्रव्य और वेश मात्र से ही साधु नहीं, किन्तु द्रव्य और भाव से साधु हों वे ही वास्तविक साधु होने से वंदनीय-पूजनीय होते हैं। जिनके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय कषाय की तीन चौकड़ियां उदय में नहीं हों, जो सर्वविरति का सम्यग् रूप से पालन करते हों, पांच महाव्रत, रात्रि-भोजन-त्याग और पांच समिति, तीन गुप्ति युक्त हों, दसविध समाचारी के पालक हों और जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार चलने वाले हों वे ही खरे साधु हैं। ऐसे वास्तविक साधुओं को साधु नहीं मानना मिथ्यात्व है।

जो सच्चे साधु का डौल करते हुए भी अपने मुक्ति के ध्येय से विमुख हो जाते हैं और विविध प्रकार के सांसारिक उद्देश्यों की ओर झुक जाते हैं, जिनके सोचने के विषय सांसारिक हैं, जिनके लिखने-बोलने के विषय लौकिक हैं, जो संसार के सावद्य कार्यों में योग देते हैं, जिनके भाषण निर्ग्रन्थ प्रवचन की मर्यादा के बाहर जा रहे हैं वे निर्ग्रन्थ अणगार नहीं हैं, वे कोई ओर ही हैं। वास्तव में वे नाम और वेश से ही साधु हैं भाव से तो वे असाधु हो चुके हैं। भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ साधु न तो आरम्भजनक सावद्य वचन बोलते हैं, न वैसा लिखते हैं न वे संसारियों में चलते हुए विवादों, संघर्षों और आन्दोलनों में उलझते हैं। वे इन सब प्रपंचों से दूर रहकर जिनोपदिष्ट मोक्ष-मार्ग पर ही चलते रहते हैं।

उववाईसूत्र में स्पष्ट लिखा गया है कि जो साधु "णिग्गंथं पावयणं पुरओकाओ विहरई" निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे करके उसके अनुसार प्रवर्तन करते हुए विचरते हैं, वे खरे साधु हैं। ऐसे उत्तम साधुओं को असाधु मानना मिथ्यात्व है।

१५. असाधु को साधु मानना मिथ्यात्व

साधु के पूर्वोक्त गुणों से रहित, गृहस्थ के सदृश, मात्र वेशधारक, दस प्रकार के यतिधर्म से रहित, पापों का स्वयं सेवन करने वाले, सेवन कराने वाले और पापों का सेवन करने वालों का अनुमोदन करने वाले, परिमाण से अधिक तथा विभिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करने वाले, धातु के बने पदार्थ रखने वाले, षट्काय के जीवों के अरक्षक, महाक्रोधी, महामानी, दगाबाज, महालालची एवं निन्दक व्यक्ति को साधु मानना मिथ्यात्व है।

आजकल कितने ही लोग मानते हैं कि हम तो वेष को वन्दना करते हैं। ऐसे भोले लोगों को विचारना चाहिए कि बहुरूपिया या नाटककार पात्र यदि साधु का वेष बनाकर आ जाए तो क्या वह वन्दना करने योग्य हो जाएगा? क्या उसे साधु कहा जा सकता है? कदापि नहीं। इस प्रकार जिसमें न तो दर्शन और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति से रहित है,

जिसके आचरण सुसाधु जैसे नहीं हैं, उसे लौकिक विशेषता के कारण अथवा साधु वेश देखकर सुसाधु मानने पर यह मिथ्यात्व लगता है।

आगमों में पांच प्रकार के असाधुओं का वर्णन है जिनका संक्षेप में शास्त्र-परिचय इस प्रकार है—

(i) पासत्थ असाधु - इसके भी दो भेद हैं- (१) सर्व पासत्थ एवं (२) देशपासत्थ। सर्व पासत्थ साधु वे हैं जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के समीप रहकर भी उनका आचरण नहीं करते तथा मिथ्यात्व को अपनाए हुए केवल वेशधारी ही होते हैं। इनमें से देशपासत्थ वे हैं जो शय्यातर पिंड, नित्यपिंड, राजपिंड, अग्रपिंड और जीमनवार आदि का दूषित आहारादि लेते हैं। साथ ही शरीर की शोभा बढ़ाते हैं।

(ii) यथाछन्द असाधु - ये श्रमण-समाचारी और आगम-आज्ञा की उपेक्षा करके स्वच्छन्दाचारी होते हैं तथा उत्तम आचार का अपनी इच्छानुसार लोप करते हुए अपने कुतर्क से विशुद्ध आचार में दोष बतलाते हैं। ये वीतराग वाणी की मर्यादा से बाहर प्रवृत्ति करते हैं।

(iii) कुशील असाधु - ये ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार का पालन नहीं करके विराधना करते रहते हैं। मंत्र, तंत्र, ज्योतिष और वैद्यक तथा कौतुक आदि दूषित क्रिया करके आजीविका चलाते हैं।

(iv) अवसन्न असाधु - संयम से शिथिल रहते हुए अविधि से असमय में प्रतिक्रमण स्वाध्यायादि करते हैं या न्यूनाधिक करते हैं। आवश्यकी, नैषेधिकी आदि समाचारी के पालन में असजग रहते हैं और अनैषणीय आहारादि लेते हैं। इस प्रकार अनेक दोषों के पात्र अवसन्न साधु भी असाधु हैं।

(v) संसक्त - विषयों में आसक्त, पांचों प्रकार के आश्रव में प्रवृत्ति करने वाले, कुशीलियों की संगति करने वाले तथा जिनके मूलगुण और उत्तरगुण में सभी प्रकार के दोष लगते हों - ऐसे मिश्र परिणाम वाले साधु भी असाधु होते हैं।

जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का काम का नहीं होता उसी प्रकार चारित्रहीन वेशधारी साधु भी त्याज्य हैं, क्योंकि वे वीर के मार्ग से बहिष्कृत हैं - "न वीरजायं अणुजाइ मग्गं।"

मध्ययुग में भगवान महावीर के वंशज साधुओं की जीवनचर्या बहुत बिगड़ गई थी। वे भगवान के साधु कहलाते हुए भी असाधुता के कार्य करते थे। उनकी असाधुता का वर्णन हरिभद्रसूरि ने 'संबोध प्रकरण' में १७१ गाथाओं में विस्तार से किया है।

जैनधर्म-सम्मत साधु वही हो सकता है जो जिनेश्वर की आज्ञा माने और समाचारी का पालन करे। जो जिनाज्ञा को आदरणीय नहीं मानता, वह जैन साधु हो ही नहीं सकता। साधुता के आचार की पहली शर्त है सावद्य क्रिया का सर्वथा त्याग। अतः हीनाचारियों से बचते हुए सच्चे साधुओं को ही साधु मानना चाहिए।

१६. जीव को अजीव श्रद्धना मिथ्यात्व

गतिपरिणाम, इन्द्रिय परिणाम, योग परिणाम आदि दस लक्षणों से जीव परिणाम

जाना जाता है। उनसे युक्त एकेन्द्रिय आदि जीवों को जीव न मानना मिथ्यात्व है। स्थानांग सूत्र, १० तथा प्रज्ञापना सूत्र, १३ में दस प्रकार का जीव-परिणाम निम्न प्रकार से बताया गया है—

१. **गतिपरिणाम** - भिन्न-भिन्न गतियों में जन्म लेना। जन्म और मृत्यु जीव की ही होती है, अजीव की नहीं।

२. **इन्द्रिय परिणाम** - जीव का शरीर के साथ इन्द्रिय सम्पन्न होना। चाहे एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय हो। अजीव के इन्द्रियां नहीं होती।

३. **कषाय परिणाम** - क्रोध, मान, माया और लोभ जीव में ही होते हैं अजीव में नहीं होते।

४. **लेश्या परिणाम**—कषायों को बढ़ाने वाली कृष्णादि-६ लेश्याएं जीव के साथ चिपकी रहती हैं । ये अजीव के नहीं होती।

५. **योग परिणाम** - मन, वचन, काया (शरीर) का योग जीव के ही होता है, अजीव के नहीं।

६. **उपयोग परिणाम** - उपयोग जीव का लक्षण है । जगत् अनेक जड़-चेतन पदार्थों का मिश्रण है। उनमें से जड़ और चेतन का विवेकपूर्वक निश्चय करना ही तो उपयोग के द्वारा हो सकता है, क्योंकि उपयोग तरतम भाव से सभी आत्माओं में अवश्य पाया जाता है। जड़ वही है जिसमें उपयोग नहीं।

७. **ज्ञान परिणाम** - वस्तु के विशेष धर्म को जानने रूप ज्ञान जीव का आत्मिक गुण है।

८. **दर्शन परिणाम** - दर्शन का सामान्य अर्थ देखना है। विश्वास करना, श्रद्धा करना, यथार्थ रूप से पदार्थों का निश्चय करना दर्शन परिणाम है। यह जीव का आत्मिक परिणाम होता है। यह अजीव के नहीं होता है।

९. **चारित्र परिणाम** - आचार प्रवृत्ति को चारित्र परिणाम कहते हैं। यह प्रवृत्ति अजीव में नहीं होती है।

१०. **वेद परिणाम** - स्त्री, पुरुष और नपुंसक सम्बन्धी भोग-कामना भी जीव में होती है।

ये सब बातें जीव में होती हैं अजीव में नहीं होती हैं. इसलिए जीव का अस्तित्व मानना चाहिए। जीव तत्त्व को नहीं मानने वाले अथवा गलत रूप से मानने वाले सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि वही है जो जीव का अस्तित्व माने। उसे सदाकाल शाश्वत माने। सिद्ध भी जीव हैं तथा संसारी भी जीव हैं। ऊपर संसारी जीवों के परिणाम निरूपित हैं, उनमें से सिद्धों में उपयोग, ज्ञान एवं दर्शन परिणाम पाये जाते हैं।

१७. अजीव को जीव श्रद्धना मिथ्यात्व

जिस तत्त्व में जीव नहीं हो, जो जड़ स्वभाव वाला हो वह अजीव है। सूखे काष्ठ को, निर्जीव पाषाण को अथवा पीतल आदि धातुओं से बनी आकृति को साक्षात् जीव

मानना भी मिथ्यात्व है, क्योंकि मूर्ति जीव कैसे हो सकती है? मूर्ति में असली व्यक्ति के गुण नहीं हो सकते। जैसे रामचन्द्र जी और कृष्णजी की मूर्ति पर से चोर आभूषण उतार कर ले जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी मूर्ति को वही नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें जीव के गुण नहीं हैं। यदि उसमें जीव के गुण होते तो वह चोरों से अपना बचाव अवश्य ही करती। इसी तरह फोटो का उदाहरण—

> **घर में पड़ी पति की मूरत, फिर भी विधवा रहती,**
> **देख ससुर की सूरत को भी लज्जा वहू नहीं करती।**
> **ओ सजनो घूंघट बहू नहीं करती।**

अतएव मूर्ति को मूर्ति मानने में, चित्र और फोटो को चित्र और फोटो मानने में कोई हानि नहीं, किन्तु भगवान् मानना मिथ्यात्व है। वन्दन किसे करना चाहिये, इसके लिए कहा गया है—

> **वन्दन उसको पूजन उसको नमन उसी को होवे,**
> **जो सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दर्शी, संयम गुण से सोवे,**

संसार में मुख्यतः दो ही तत्त्व हैं - १. जीव और २. अजीव। इन दो तत्त्वों का विस्तार ही नवतत्त्व है। छः द्रव्यों में से जीवास्तिकाय के अतिरिक्त पांच द्रव्य अजीव ही हैं। इन पांचों में से चार तो अरूपी, अदृश्य हैं। इनमें दृश्यता के गुण—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नहीं होते। पुद्गलास्तिकाय रूपी है - दिखाई देने वाला है। उसमें शब्द वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श है अर्थात् सुनाई देने वाला शब्द, दिखाई देने वाला वर्ण (रूप) सूंघने में आने वाली गंध, जिह्वा द्वारा चखे जाने वाले रस और हाथ आदि शरीर से छुए जाने वाले स्पर्श, ये सब पुद्गल जड़ के लक्षण हैं। धूप, अन्धकार, प्रकाश, छाया आदि भी अजीव के ही लक्षण हैं।

१८. सन्मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना मिथ्यात्व

जिस प्रकार कुमार्ग को सुमार्ग मानना मिथ्यात्व है उसी प्रकार सन्मार्ग को कुमार्ग अथवा मोक्ष मार्ग को संसार-मार्ग मानना भी मिथ्यात्व है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, दान, दया, सन्तोष, सत्य आदि जो मुक्ति के मार्ग हैं, उन्हें कर्म बन्ध का या संसार में परिभ्रमण का मार्ग कहना मिथ्यात्व है।

अनेक लोग कहते हैं कि जीव को मारने से एक हिंसा का पाप लगता है मगर मरते हुए जीव को बचाने में अठारह पाप लगते हैं, क्योंकि मरता हुआ जीव यदि बचकर जीवित रह जाएगा तो वह जितने पाप अपने जीवन में करेगा उन समस्त पापों का भाजन बचाने वाला होगा। इसी तरह संथारा करके मोक्ष प्राप्त करने वाले को आत्महत्या कहना आदि अनेक इस प्रकार की कुयुक्तियां लगाकर वे लोग भोले जीवों के हृदय में विपरीत युक्तियां बिठा देते हैं उनके हृदय से दया निकाल कर उन्हें कसाई के समान बना देते हैं। शास्त्रों में जीवरक्षा, [illegible] आदि के अनेक प्रमाण मौजूद हैं जैसे - श्री ऋषभदेव [illegible] से जीवों को दुःखी देखकर उनकी रक्षा के लिए [illegible] कृषि का प्रचार किया। इसी तरह तेईसवें तीर्थंकर [illegible] नाग [illegible] बचाया जिसका उल्लेख कल्पसूत्र में [illegible] दुःख का कारण जानक[illegible]

मात्र मोक्ष का मार्ग है। मिथ्यात्व रूपी लुटेरे से अपनी आत्मा को बचाना चाहिए।

१९. उन्मार्ग को सन्मार्ग श्रद्धना मिथ्यात्व

जिस मार्ग में संसार का परिभ्रमण बढ़े, जन्म-मरण और दुःख की परम्परा चले वह उन्मार्ग है। ऐसे उन्मार्ग को सुमार्ग समझना भी मिथ्यात्व है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकायादि षट् निकाय की जिसमें हिंसा हो उस कार्य को धर्म मानना भी मिथ्यात्व है। जैसे देव को सचित्त पुष्प, फल आदि चढ़ाने में, धूप देने में, स्नान करने में, यज्ञ करने में धर्म मानना, उन्हें मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है। अंबड जैसा पक्का श्रावक जो पहले परपाखंडी था, भगवान् का उपदेश सुनकर दृढ़ सम्यक्त्वी हो गया था। उसके साथ उसके ७०० शिष्य भी पाखंडी से जिनधर्मी बन गए थे। ऐसा प्रकाण्ड विद्वान् और विशिष्ट शक्ति सम्पन्न अंबड संन्यासी भी परपाखंड से दूर रहने की प्रभु के सामने प्रतिज्ञा करता है।

२०. मुक्त को अमुक्त मानना मिथ्यात्व

मुक्त वे हैं, जिनके अज्ञान मोह, वेदना, शरीर और संसार के सभी सम्बंध छूट चुके हैं, जिनमें किसी भी प्रकार की इच्छा, आशा, तृष्णा या राग-द्वेष का अंश मात्र भी शेष नहीं रहा है। प्रज्ञापनासूत्र में सिद्धों को मुक्त एवं असंसारी माना है। चौदहवें गुणस्थान स्थित अयोगी केवली भगवान् को भी संसारी माना है, क्योंकि अभी उनका अचल एवं शाश्वत स्थान प्राप्त करना शेष है। जब वे लोकाग्र पर स्थिर हो जाते हैं तब उन्हें मुक्त कहा जाता है। आचारांगसूत्र २.१६ की निर्युक्ति गाथा ३४२ में लिखा है–

"देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा।"

केवली पर्यन्त देशमुक्त हैं और सिद्ध सर्वमुक्त हैं। साधु से लगाकर केवली तक को देश मुक्त माना है। जो मिथ्यात्व से मुक्त हैं, उन्हें मिथ्यात्वी मानना, जो अविरति से मुक्त हैं, उन्हें अविरत असाधु मानना, जो प्रमाद, कषाय और योगमुक्त हैं उन्हें अमुक्त मानना मिथ्यात्व है और सिद्ध परमात्मा को संसारी मानना भी मिथ्यात्व है। इस प्रकार सभी प्रकार से मुक्त, सिद्ध भगवान् को अमुक्त मानने वाले मिथ्यात्वी हैं।

जो लोग मुक्तात्माओं से अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति करने की प्रार्थना करते हैं उन्हें विचार करना चाहिए की वीतराग परमात्मा सराग प्रार्थना की पूर्ति कैसे करेंगे? यदि वे सराग कामनाओं की पूर्ति करेंगे तो वे स्वयं वीतरागी क्यों हुए? सशरीरी अरिहन्त भगवान् स्वयं राग-द्वेष और संसार को त्यागने का उपदेश देते हैं तो क्या वे हमें राग-द्वेष में फंसाने में सहायक होंगे ? नहीं।

२१. अमुक्त को मुक्त मानना मिथ्यात्व

जो मुक्त होने का मार्ग ही नहीं जानते हों, जिनके जीवन, चारित्र और सिद्धान्त में राग-द्वेष, अज्ञान, अविरति, प्रमाद और कषाय स्पष्ट रूप से झलकते हों ऐसे असम्यक् संसार-समापन्नक जीवों को मुक्त मानना मिथ्यात्व है।

मुक्त होने में सबसे पहले स्व और पर का ज्ञान होना अनिवार्य है। स्व-पर के भेद ज्ञान के बाद पर से छूटने का उपाय जानना भी अनिवार्य है। सामान्यतः इतना ज्ञान होने के बाद ही मुक्त होने का उचित प्रयत्न प्रारंभ होता है। जो इस प्रारम्भिक

ज्ञान से ही वंचित हों उन्हें मुक्त मानना तो अपनी मिथ्या परिणति ही प्रकट करना है।

जैन धर्म ने मुक्त-अमुक्त का स्वरूप वास्तविक रूप से प्रकट किया है। वीतराग वचन है कि मुक्त सिद्धात्मा किसी का हिताहित नहीं करते। उन्हें न तो अपने उपासकों, धर्मात्माओं और सुसाधुओं पर प्रेम है और न पापात्माओं, नास्तिकों और धर्म-घातकों पर द्वेष है, वे अपने निजानन्द में रमे हुए हैं। संसार के सुख-दुःख अथवा धर्म-अधर्म से उनका कोई सरोकार नहीं। वे राग-द्वेष, कर्म, जन्म और मरण से सर्वथा रहित हैं। इस प्रकार मानना सम्यक्त्व है और इसके विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व है।

२२. अविनय मिथ्यात्व

शास्त्रों में विनय दस प्रकार के वर्णित हैं - १. अरिहन्त का विनय, २. सिद्ध का विनय ३. आचार्य का विनय ४. उपाध्याय का विनय ५. स्थविर का अर्थात् ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध और वयोवृद्ध का विनय ६. तपस्वी का विनय ७. साधु का विनय ८. गणसम्प्रदाय का विनय ९. साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका रूप संघ का विनय १०. शुद्ध क्रियावान् का विनय।

धर्म का मूल विनय है। जहां विनय गुण का अस्तित्व होता है वहां अन्यान्य गुण स्वयं आकर्षित होकर चले आते हैं। सम्यक्त्वी में विनय-नम्रता का गुण स्वाभाविक ही होता है।

देव, गुरु, गुणाधिक एवं धर्म का आदर सत्कार नहीं करना अविनय मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व, गुण और गुणीजनों के प्रति अश्रद्धा होने पर ही उत्पन्न होता है। अश्रद्धा होने से ही अविनय होता है। इसलिए अविनय भी मिथ्यात्व है। श्री जिनेन्द्र भगवान और गुरु महाराज के वचनों की उत्थापना उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना, गुणवान्, ज्ञानवान्, तपस्वी, त्यागी, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि उत्तम पुरुषों की निन्दा करना, कृतघ्न होना अविनय मिथ्यात्व है।

जहां भावों में विपरीतता अर्थात् अविनय के भाव उत्पन्न होते हैं वहीं यह मिथ्यात्व अपना निवास रखता है।

२३. आशातना मिथ्यात्व

अविनय की तरह आशातना भी मिथ्यात्व है। आशातना का अर्थ है विपरीत होना, प्रतिकूल व्यवहार करना, विरोधी हो जाना, निन्दा करना। आशातना के तेंतीस भेद शास्त्रों में बताए गए हैं। उन्हें जान-बूझकर करें और करके भी बुरा न समझें बल्कि अच्छा समझें तो मिथ्यात्व लगता है। आशातना बुरे भावों से ही होती है। देवादि तथा तत्त्व का अपलाप करना यह सब आशातना मिथ्यात्व है।

जिस प्रकार अमृत और विष में महान् अन्तर है, एक तारक है और दूसरा मारक। उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में भी महान् अन्तर है । सम्यकत्वं उद्धारक है तो मिथ्यात्व डुबाने वाला है, संसार-सागर में परिभ्रमण कराने वाला है। साधारणतया विष त्याज्य है उसी प्रकार मिथ्यात्व भी त्याज्य है।

२४. अक्रिया मिथ्यात्व

क्रिया का निषेध करना, कर्म नष्ट करने के उपाय रूप संवर, निर्जरा को नहीं

मानना, संसारी आत्मा को अक्रिय मानना तथा आत्म-शुद्धि की क्रिया को नहीं मानना यह सब अक्रिया नामक मिथ्यात्व है। अक्रियावादियों का मत है कि आत्मा परमात्मा है। समस्त पदार्थ अस्थिर है, आत्मा भी अस्थिर है। अतएव उसमें पुण्य-पाप की क्रिया सम्भव नहीं है। अक्रियावादी की यह मान्यता है किआत्मा को पुण्य-पाप का फल भोगना नहीं पड़ता। उनसे पूछना चाहिए कि अगर पुण्य-पाप के फल न भोगने पड़ते होते तो संसार में कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों है?

अक्रियावादी मानता है कि आत्मा अक्रिय अर्थात् हलन-चलन स्पन्दनादि क्रिया से रहित और स्थिर है। वह अपने ज्ञानभाव उपयोग में ही रहता है। क्रिया करना आत्मा का धर्म नहीं है। क्रिया जड़ में होती है और जड़ कर्म को उत्पन्न करता है। इसलिए क्रिया की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। आत्मा ज्ञाता एवं द्रष्टा ही है, वह कर्ता नहीं है । यदि वह कर्ता है तो अपने ज्ञान-भाव का ही कर्ता है, शारीरिक जड़-क्रिया का नहीं। इस प्रकार आत्मा को एकान्त रूप से अक्रिय मानकर के वे आत्मा की विशुद्धि करने वाली उत्तर क्रिया व्रत, नियम, पुण्य, संवर, निर्जरा, तप आदि आत्मलक्षी क्रिया का निषेध करते हैं और कहते हैं कि आत्मा जड़ क्रिया का कर्ता नहीं है। क्रिया का खण्डन करने वाले इस मिथ्यात्व के अधिकारी हैं। आत्मवादी होते हुए भी इनका एकान्त अक्रियावाद इन्हें मिथ्यात्व में धकेल रहा है।

जिस प्रकार ज्ञानवादी मात्र ज्ञान का ही आग्रह करके क्रिया का निषेध करते हैं उसी प्रकार ये एकान्त अक्रियावादी भी हैं। ये स्वतः खाने, पीने, सोने, चलने, बोलने आदि की क्रिया करते हैं, किन्तु मुंह से वे यही कहते हैं कि 'ये क्रियाएं जड़ करता है, चैतन्य नहीं करता। जड़ से सम्बन्धित चैतन्य और उसके कारण आत्मा में भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख और अनुकूल-प्रतिकूल का संवेदन करते हुए भी जो क्रिया का निषेध करते हैं, वे मिथ्यात्वी हैं। क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष है कि आत्माशून्य निर्जीव शरीर ही इन क्रियाओं को नहीं कर सकता। शरीर से सम्बन्धित आत्मा वैभाविक दशा में रहा हुआ है। उस पर उदय भाव का असर रहता है।

जब तक शरीर सम्बन्ध है तब तक क्रिया होती है, इसलिए संसारी आत्मा को अक्रिय मानना मिथ्या है। निश्चय का सिद्धान्त, निश्चयदशा सम्पन्न सिद्धात्मा पर ही पूर्ण रूप से घटित होता है, संसार व्यवहार (शरीर इन्द्रिय आदि) युक्त जीव पर पूर्ण घटित नहीं होता। संसारी जीवों के लिए अक्रिया का सिद्धान्त अहितकर होता है। इससे वे आत्मशुद्धि-जन्य क्रिया से वंचित रह जाते हैं और कर्म-बन्धन ही बढ़ाते रहते हैं। व्यवहार स्थित आत्मा के लिए निश्चय के ध्येय सहित व्यवहार-धर्म ही उपकारी है। इसका निषेध करना मिथ्यात्व है।

२५. अज्ञान मिथ्यात्व

ठाणांग ३.३ में स्पष्ट उल्लेख है कि ज्ञान को बंध और पाप का कारण मानकर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व के साथ अज्ञान की नियमा है अर्थात् जिसकी आत्मा में मिथ्यात्व है उसकी आत्मा में अज्ञान होता ही है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से सब विपरीत ही प्रतिभासित होता है। जैसे अज्ञानवादी कहते हैं "ज्ञान ही सब अनर्थों की जड़ है।

ज्ञानवान लोग विवादी होते हैं और विवाद में विरोधी पक्ष वाले का बुरा सोचना पड़ता है। इससे पाप और झूठ लगता है। ज्ञानी पग-पग पर डरता है, इसलिए उसे हर समय कर्म का बंध होता रहता है। इससे तो अज्ञानी अच्छे हैं जो न जानते हैं न किसी के साथ विवाद करते हैं, न किसी को सच्चा-झूठा कहते हैं। अज्ञानी पुण्य और पाप को समझते नहीं है। इस कारण उन्हें दोष भी नहीं लगता। जो जान बूझकर पाप करता है, वही पापी कहलाता है। अतः अज्ञान ही उत्तम है। "

इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले अज्ञानवादी से पूछना चाहिए कि तुम जो कहते हो सो ज्ञानपूर्वक कहते हो या अज्ञानपूर्वक कहते हो? अगर तुम ज्ञानपूर्वक बोलते हो तो तुम्हारा मत झूठा है, क्योंकि तुम ज्ञानवादी होकर दूसरों को अज्ञानवादी बनाना चाहते हो। और यदि अज्ञानपूर्वक अपने मत का समर्थन करते हो तो कौन विवेकशील पुरुष तुम्हारा कहना मानेगा? फिर अज्ञानियों का यह भी कथन है कि हम अज्ञानवादी अज्ञानपूर्वक पाप करते हैं इसलिए हमें पाप नहीं लगता। मगर यह कहना ठीक नहीं है। अज्ञान से विष चढ़ता है या नहीं? अगर विष चढ़ता है तो अज्ञान से किए हुए पाप का फल भी भोगना पड़ेगा। सत्य तो यह है कि ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को अधिक पाप लगता है। ज्ञानी तो जानता है कि यह विष है, यदि खाऊंगा तो प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे। ऐसा सोचकर वह विष से बचता रहता है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष पाप को दुःखदाता जानकर पाप से बचा रहता है।

मिच्छे अणंतदोसा, पयडा दीसन्ति न वि गुणलेसो।
तहवि य तं चेव जीवा, मोहंधा निसेवंति॥

अर्थात् मिथ्यात्व में अनन्त दोष हैं, गुण का लेश मात्र भी नहीं है, किन्तु मोह के अंधे बने हुए जीव फिर भी उसी का सेवन करते हैं।

जैन धर्म किसी से झगडने की शिक्षा नहीं देता, वह तो सहन करने की शिक्षा देता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी मूल वस्तु को सुरक्षित नहीं रखें। जिस प्रकार हम अपनी मूल्यवान और अत्यन्त प्रिय वस्तु को दूसरों से बचाए रखने के लिए पूर्ण सावधान रहते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व रत्न को बचाने के लिए सावधान रहना चाहिए। सावधानी नहीं रखने के कारण नन्दमणिहार मिथ्यात्वी बना (ज्ञाताधर्मथांगसूत्र, १३) और आनन्दादि दस श्रमणोपासकों ने इस रत्न की रक्षा की और पूरी सावधानी बरती। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि "मैं अन्य तीर्थिक, देव, गुरु से परिचयादि नहीं रखूंगा तो उसका दर्शन गुण कायम रहा और वे एक भवतारी हो गए। (उपासकदशा)"

इस प्रकार जिसके हृदय में दर्शन व धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी है और वह इस गुण को छोड़ता नहीं है, तो ऐसा भव्यात्मा, पन्द्रह भव से अधिक तो कर ही नहीं सकता (भगवती ८-१०)। भगवतीसूत्र के टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी तो टीका में लिखते हैं कि "मोक्ष का सच्चा मार्ग 'दर्शन' ही है, इसलिए ज्ञान के बजाय दर्शन के विषय में विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए।" उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" कहा है। तात्पर्य यह है कि कुश्रद्धान-त्याग ही पर्याप्त नहीं, किन्तु तत्वार्थ श्रद्धान होने पर ही मिथ्यात्व छूटता है और सम्यग्दृष्टि बनती है। मिथ्यात्व-त्याग के लिए तत्त्वार्थ श्रद्धान आवश्यक है।

-३, रामसिंह रोड़, होटल मेरू पैलेस के पास, टोंक रोड, जयपुर-३०२ ००४

सम्यक्त्व और उसके आगार

¤ भंडारी सरदारचन्द जैन

संसार में जितने भी आस्तिक दर्शन, धर्म, पंथ और समुदाय हैं, सब विश्वास की बुनियाद पर स्थिर हैं। चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र हो या व्यावहारिक क्षेत्र हो, सर्वत्र विश्वास की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इहलौकिक और पारलौकिक सब कार्य विश्वास के आधार पर चलते हैं।

विश्वास के बिना न अन्तर्जगत् की गतिविधियाँ हो सकती हैं और न बाह्य जगत् की प्रवृत्तियां ही हो सकती हैं। विश्वास के बल पर ही प्रत्येक क्षेत्र में विकास हो सकता है।

आत्म-विश्वासी व्यक्ति ही जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। श्रद्धाहीन, विश्वासहीन व्यक्ति सदैव असफल होता है। विद्यार्थी में यदि आत्म-विश्वास नहीं है तो वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता। व्यापारी में यदि विश्वास की पर्याप्त मात्रा नहीं है तो वह सफल व्यवसायी नहीं हो सकता। जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, सर्वत्र श्रद्धा या विश्वास के आधार पर ही सफलता अर्जित हो सकती है।

जैन शास्त्रीय दृष्टि से यदि सम्यक्त्व की संक्षेप में व्याख्या की जाये तो कहा जा सकता है कि पदार्थों या तत्त्वों के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर उन पर वैसी ही सही श्रद्धा करना सम्यक्त्व कहलाता है। देव, गुरु धर्म तत्त्व के प्रति अटूट विश्वास ही सम्यक्त्व का मूल आधार है।

सम्यक्त्व जिसको सम्यग्दर्शन कहते हैं, का सामान्य रूप से अर्थ है-सच्ची श्रद्धा, सही दृष्टि, यथार्थ विश्वास, यथार्थ श्रद्धा, सही श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् दृष्टि।

दृष्टि या श्रद्धा तो प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। किसी न किसी प्रकार का ज्ञान भी प्रत्येक संसारी प्राणी में सामान्य तौर से किसी न किसी रूप में पाया ही जाता है। लेकिन ये सम्यक् नहीं हैं तो वास्तव में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। आत्मा पर आठ कर्म लगे हुए हैं । यदि ज्ञान एवं दर्शन उन आठ कर्मों को क्षय करने में सहायक नहीं है तो मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है।

भौतिक साधनों की उपलब्धि में सहायक ज्ञान या दर्शन को सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं कह सकते हैं। क्योंकि इसके विपरीत मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन भी इस संसार में दृष्टिगोचर होता है जो लोकोत्तर श्रेणी में कभी भी परिगणित नहीं होता।

सम्यक्त्व के आगार

सम्यक्त्व का निश्चय में तो कोई आगार होता नहीं, क्योंकि वह कोई मूर्त एवं थोपा हुआ गुण-धर्म नहीं है। सम्यक्त्व तो आत्मप्रतीति है। सम्यक्त्व को जब बाह्य व्यवहार के रूप में स्वीकार किया जाता है तो उसमें आगार होता है। तब सम्यक्त्व को एक व्रत के रूप में स्वीकार किया जाता है।

व्रत अंगीकार करते समय रखी हुई छूट को आगार कहते हैं। सम्यक्त्व का व्यावहारिक रूप स्वीकार करते हुए कुछ आगार रखे जाते हैं।

सम्यक्त्व के छह आगार हैं–

सम्यक्त्व के इन आगारों का उल्लेख आगम में नहीं है, किन्तु हरिभद्रसूरि विरचित सम्यक्त्व सप्तति में सम्यक्त्व के ६७ बोलों के साथ इन आगारों का उल्लेख है, यथा

आगारा अववाया छ च्चिय कीरंति भंगरक्खट्ठा।
रायगणबलसुरक्कमगुरुनिग्गहवित्तिकंतारं।–गाथा ५१

१. राजाभियोग, २. गणाभियोग, ३. बलाभियोग, ४. देवाभियोग, ५. गुरु-निग्रह,६. वृत्तिकान्तार।

(१) **राजाभियोग**– राजा की पराधीनता से यदि सम्यक्त्व धारी श्रावक-श्राविका को अनिच्छापूर्वक अन्य तीर्थिक देव तथा उनके माने हुए देव आदि को वन्दना-नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक-श्राविका का सम्यक्त्व-व्रत भंग नहीं होता।

(२) **गणाभियोग**–गण का अर्थ है समुदाय अर्थात् बहुजन समुदाय के आग्रह से यदि सम्यक्त्वधारी श्रावक-श्राविका को अनिच्छापूर्वक अन्य तीर्थिक देव तथा उनके माने हुए देव आदि को वन्दना-नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक-श्राविका का सम्यक्त्व व्रत भंग नहीं होता।

(३) **बलाभियोग**–बलवान् पुरुष द्वारा विवश किये जाने पर यदि सम्यक्त्वधारी श्रावक-श्राविका अनिच्छापूर्वक अन्यतीर्थिक देव तथा उनके माने हुए देव आदि को वन्दना-नमस्कार आदि करे तो श्रावक-श्राविका का सम्यक्त्व व्रत भंग नहीं होता।

(४) **देवाभियोग**–देवता द्वारा बाध्य किये जाने पर यदि सम्यक्त्वधारी श्रावक-श्राविका को अनिच्छापूर्वक अन्य तीर्थिक देव तथा उनके माने हुए देव आदि को वन्दना नमस्कार आदि यदि करना पड़े तो श्रावक-श्राविका का सम्यक्त्व व्रत भंग नहीं होता।

(५) **गुरु-निग्रह**–माता-पिता आदि गुरुजन के आग्रहवश यदि सम्यक्त्वधारी श्रावक-श्राविका अनिच्छापूर्वक अन्य तीर्थिक देव तथा उनके माने हुए देव आदि को वन्दना-नमस्कार आदि करे तो श्रावक-श्राविका का सम्यक्त्व व्रत भंग नहीं होता।

(६) **वृत्तिकान्तार**–'वृत्ति' का अर्थ है आजीविका और 'कान्तार' का अर्थ है अटवी यानी जंगल, जैसे अटवीमें आजीविका प्राप्त करना कठिन होता है, उसी प्रकार क्षेत्र और काल यदि आजीविका प्राप्ति के लिए प्रतिकूल हो जायें और जीवन-निर्वाह होना कठिन हो जाए तब ऐसी दशा में यदि सम्यक्त्वधारी श्रावक-श्राविका अनिच्छापूर्वक अन्य तीर्थिक देव तथा देवादि को वन्दना-नमस्कार आदि करे तो श्रावक-श्राविका के सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं होता।

–त्रिपोलिया बाजार, जोधपुर (राज.)

सम्यक्त्व से ही आत्मकल्याण

☒ श्रीमती शांता मोदी*

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय या उपशम से सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रज्ज्वलित होते ही आत्मा की अनादिकालीन जड़ता को ध्वस्त कर देती है जिससे वह परम आनन्द व सुख की ओर अग्रसर हो जाता है। जिस आत्मा ने एक बार सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया वह एक भव में या अधिक से अधिक १५ भवों में तो मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है, चाहे वह नरक में भी क्यों न रहा हो? मोक्ष प्राप्त होने पर अनंत सुख व आनंद की प्राप्ति हो जाती है तथा आत्मा जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

नन्दीसूत्र में सम्यग्दर्शन को जिन धर्म रूपी मेरु पर्वत की आधार शिला बतलाया है, जिस पर समस्त संघ एवं धर्म आधृत है। सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए 'सम्यक्त्व कौमुदी' में लिखा है-

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं, सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्वबंधोर्न परो हि बंधुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः॥

संसार में ऐसा कोई रत्न नहीं जो सम्यक्त्व रत्न से बढ़कर मूल्यवान हो। सम्यक्त्व रूप मित्र से बढ़कर कोई मित्र नहीं हो सकता, न बन्धु ही हो सकता है और सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ भी नहीं हो सकता।

सम्यक्त्व के प्रभाव, शक्ति और परिणाम से ज्ञात होता है कि यह एक महती निधि है। यह जीव की वह दशा है जिससे वह अनंत अंधकार से निकलकर प्रकाश में आ जाता है। यह केवलज्ञान की उत्पत्ति की भूमि है। यह केवलज्ञान की माता के समान है। जीव इसी के द्वारा यथार्थ दृष्टि प्राप्त कर लेता है। वैसे श्रद्धा की प्राप्ति परम दुर्लभ है, ऐसा भगवान ने फरमाया है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय २८ गाथा ३० में प्रभु ने बताया–

णा दंसणिस्स णाणं, णाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥

अर्थात्-दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं, उसमें चारित्र गुण नहीं होता। ऐसे गुणहीन पुरुष की मुक्ति नहीं होती। इसके पूर्व कहा कि 'णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं' - सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता।

सूर्य उदित होकर सृष्टि को नया रूप, नयी कान्ति देता है, रात्रि के सघन अन्धकार को नष्ट कर देता है; वैसे ही सम्यग्दर्शन का आलोक आत्मा में एक विशिष्ट जागृति प्रदान करता है। सम्यग्दर्शन की ज्योति विचारों पर तो परिवर्तन लाती है, किन्तु व्यवहार में भी परिवर्तन किये विना नहीं रहती। विचारों का परिवर्तन आचार पर असर करता ही है। उसे संसार के भोग, विषय-कषाय और इन्द्रिय-सुख नीरस एवं दुःखद प्रतीत होते हैं और भव-भ्रमण के कष्टों का भी अहसास होता है। उस जीव को स्व और पर का भेद परिलक्षित होने लगता है। जड़ और चेतन के स्वरूप को वह समझने लगता है। इस तरह वह मिथ्यात्व से निकलकर सम्यक्त्व की ओर अग्रसर होने लगता है। तब उसे सच्चे देव, सच्चे गुरु व सच्चे धर्म की पहचान हो

* वरिष्ठ स्वाध्यायी

जाती है। इन तीनों तत्त्वों का पारमार्थिक स्वरूप समझकर वह दृढ़ श्रद्धालु हो जाता है। सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए कर्तव्यकौमुदी में कहा गया है–

सद्देवः सुगुरुः सुधर्म इति सत्तत्त्वत्रयं कथ्यते।
ज्ञात्वा तत्परमार्थतः कुरु रुचिं तत्त्वत्रये निर्मले॥

दिगम्बर आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है–

सद्दर्शनमहारत्नं, विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याण-दानदक्षं प्रकीर्तितम्॥

सम्यग्दर्शन, सभी रत्नों में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है और आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मंगल देने वाला दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीजं, यमप्रशमजीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं, सद्भिः सद्दर्शनं मतम्॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का बीज है। व्रत, महाव्रत और शम के लिये जीवन स्वरूप है। तप और स्वाध्याय का आश्रयदाता है। साधुओं ने सम्यग्दर्शन को ही सद्दर्शन माना है।

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा, विशुद्धं यस्य दर्शनं।
यतस्तदेव मुक्त्यंगमग्रिमं परिकीर्तितम्॥

एक आचार्य कहते हैं कि जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन है वही पुण्यात्मा है, वह महाभाग्यशाली आत्मा मुक्त है, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मुख्य अंग कहा गया है।

अतुलसुखनिधानं, सर्वकल्याणबीजं,
जनन-जलाधिपोतं, भव्यसत्त्वैकपात्रम्॥
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,
पिबत जित विपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बु॥

हे भक्त जीवों! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो। यह सम्यग्दर्शन, अतुल सुख का निधान है। सभी प्रकार के कल्याणों का कारण है, संसार समुद्र से तिराने वाला जहाज है। इसे केवल भव्य जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। यह पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है। यह पवित्र तीर्थों में प्रधान है और अपने विपक्ष स्वरूप मिथ्यादर्शन रूपी शत्रु को जीतने वाला है। इसलिये सबसे पहले इस अमृत को ही ग्रहण करना चाहिये।

आराधनासार में कहा गया है–

येनेदं त्रिजगद्वरेरण्यविभुना, प्रोक्तं जिनेन स्वयं।
सम्यक्त्वाद्भुतरत्नमेतदमलं, चाभ्यस्तमप्यादरात्॥
भंक्त्वा सप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्या च सम्यक्पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदपदं विंदते।

जो मनुष्य तीन जगत् के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्वरूप अद्भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को बलपूर्वक समूल नष्ट करके विलक्षण आनंद प्रदान करने वाले पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड में लिखा है –

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो॥

जिनेश्वर भगवान् ने शिष्यों को उपदेश दिया कि धर्म दर्शन-मूलक ही है।

इसलिए जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे वंदना नहीं करनी चाहिये। अर्थात् चारित्र तभी वंदनीय है जब कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो। मोक्षपाहुड में कहा है—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहं हि जे भविया, तं जाण सम्मतं माहप्पं ॥

अधिक क्या कहें, जो उत्तमपुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं वे, और जो भविष्य में सिद्ध होंगे, वे सम्यक्त्व के बल से ही सिद्ध हुए हैं। सम्यक्त्व के इस माहात्म्य को समझना चाहिये।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

वे मनुष्य धन्य हैं जिनके पास मुक्ति प्रदान कराने वाला सम्यक्त्व है। उस महारत्न को वे स्वप्न में भी मलिन नहीं होने देते। वे ही मनुष्य कृतार्थ हैं, पंडित एवं शूरवीर हैं जिन्होंने मिथ्यात्वरूपी महाशत्रु का प्रबल आक्रमण होते हुए भी अपने सम्यक्त्व रत्न को नहीं खोया, सुरक्षित रखा।

रत्नकरंडक श्रावकाचार में कहा गया है—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

सम्यक्त्व के समान तीन लोक और तीन काल में इस जीव के लिए अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई भी अकल्याणकारी एवं दुःखदायी नहीं है।

जब तक प्राणी के साथ मिथ्यात्व लगा रहेगा, वह आश्रव व बंध नहीं छोड़ सकता। जैसे उसे सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाता है वह मिथ्यात्व के गाढ़ बंधन से मुक्त होने की ओर अग्रसर हो जाता है। सम्यक्त्व का उद्भव पहले व्यवहार नय से होता है। व्यवहार नय द्वारा मनुष्य सुदेव, सुगुरु व सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा रखता है। इसके द्वारा अपने जीवन को निर्मल बनाता है और प्रयास करते-करते वह निश्चय नय की ओर अग्रसर होता है। निश्चय नय में आत्म-स्वरूप का दिग्दर्शन होता है और आत्मा शुद्ध हो जाता है। आत्मा शुद्ध होने पर कैवल्य-प्राप्ति का साधन बन जाता है।

समयसार ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन विस्तार से किया है। आगमपद्धति के अनुसार दर्शमोहनीय और अनन्तानुबंधी चतुष्क के उपशम होने पर ही प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। पंचलब्धियों में करणलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। करणलब्धि में अनिवृत्तिकरणलब्धि से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव है।

श्रुतज्ञान से आत्मा को जानकर जो जीव मति व श्रुतज्ञान द्वारा पर से हटकर आत्मसन्मुख होता है, उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन की महिमा अपरम्पार है। यदि आत्मा का कल्याण होगा तो केवल सम्यक्त्व से ही सम्भव है।

सी-२६, देवनगर, टोंकरोड, जयपुर (राज.)

सम्यग्दर्शन का रक्षण

¤ रतनलाल डोसी

सम्यग्दर्शन का विषय है--आत्मोद्धारक विषय को समझने की यथार्थ दृष्टि। जिस दृष्टि में आत्मा-अनात्मा में भेद, आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति, तथा परमात्मपद प्राप्त करने की साधना को यथार्थरूप में समझ कर विश्वास करने की क्षमता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि वही आत्मा हो सकती है जिसमें यह विश्वास हो कि--

(१) आत्मा का अस्तित्व है, अवश्य है, आत्मा है ही। इस दृश्यमान शरीर में आत्मा कथंचित् भिन्न है। शरीर, 'पर' है। मैं स्वयं आत्मा हूँ और मेरे जैसी अन्य अनन्त आत्माएँ भी हैं और अशरीरी परमात्मा भी है।

(२) आत्मा सदाकाल शाश्वत है, अनादि-अपर्यवसित है। शरीर विनाशी है, आत्मा अविनाशी है। मृत्यु द्रव्य-प्राणों की होती है और पुनः नये प्राण और नया शरीर प्राप्त होता है, किन्तु आत्मा तो वही होती है।

(३) आत्मा कर्म का कर्त्ता है। अनादिकाल से आत्मा कर्मबद्ध रही। वह बद्धकर्म का निर्जरण और साथ ही नवीन कर्मों का बन्ध करती रही है। रहट की घटमाला की तरह बन्धन और अकाम-निर्जरण का दौर चलता ही रहा। भव्य जीवों के कर्मों की कभी समाप्ति हो सकती है, किन्तु अभव्य जीव तो सदैव कर्म-बद्ध ही रहता है।

(४) आत्मा कर्म का भोक्ता है। किये हुए कर्मों का फल, कर्त्ता को भोगना ही पड़ता है। हम सभी भोग रहे हैं। नारक, तिर्यञ्च और देव भी भोग रहे हैं। यद्यपि सभी कर्मों को रसोदय से भोगना ही पड़ता है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु जिनका, सुख या दुःख रूप में वेदन होता है, वह कर्मों का ही फल-भोग है।

(५) मोक्ष है। आत्मा केवल कर्म का कर्ता और भोक्ता ही नहीं, कर्मविजेता भी है। वह अकर्मी-निष्कर्मी-कर्म रहित भी होता है। आत्मा का कर्म से रहित होना बन्धन-मुक्ति है, मोक्ष है। मुक्तात्मा ही सिद्ध परमात्मा है। ऐसी आत्माएँ, कर्म से, क्रिया से, शरीर से, योग से और भव-भ्रमण से विमुक्त होकर ऊपर लोकाग्र पर स्थिर हो जाती हैं।

(६) मोक्ष का उपाय है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, मुक्ति पाने का उपाय है। संवर से नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है। त्याग, विरक्ति, प्रत्याख्यान, कर्मों पर रोक लगाने वाले हैं और तप है कर्म-कचरे का दहन करने वाला। जब संवर व तप का सुमेल होता है, तो कर्मरूपी कचरा जल कर भस्म होने लगता है। जब सभी कर्म-काण्ड जल जाते हैं, तो मुक्ति हो जाती है। आत्मा शुद्ध सोने की भांति परम पवित्र हो जाती है।

इन षट्-सूत्री सिद्धान्तों पर विश्वास करने वाली आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकट होती है।

सम्यग्दर्शन वह भूमिका है कि जिसके आधार पर मोक्ष का भव्य प्रासाद बन सकता है। भूमि के अभाव में लक्षाधिपति भी घर का मकान नहीं बना सकते। बम्बई जैसे विशाल नगरों में सैंकडों-हजारों लखपति, बिना घरबार के दूसरे के किराये के मकान में रहते हैं। क्योंकि उनके पास भूमि नहीं है। भूमि मिल जाय, तो मकान वे खड़ा कर सकते हैं। इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि जीव, सदाचार का पालन करते हुए भी सम्यग्दर्शन रूपी भूमि के अभाव में बिना घर के किरायेदार हो रहे हैं।

जिसके पास भूमि है, वह अर्थाभाव से वर्तमान में भवन-निर्माण नहीं कर सकता, तो भविष्य में कर लेगा। भूमि मिलने पर लोग रम्य पर्वतों पर भी भव्य कोठियां बना लेते हैं। इसी प्रकार जिसके पास सम्यग्दर्शन रूपी भूमिका है वह विरति रूपी धन के अभाव में आज भवन नहीं बना सकता, तो भविष्य में बना लेगा। भूमि रही, तो भवन बन जायेगा। इसलिए सबसे पहले सम्यग्दर्शन रूपी भूमि प्राप्त करनी चाहिए और प्राप्त भूमि का रक्षण करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के पोषक तत्त्व हैं-१. परमार्थ संस्तव और २. परमार्थ सेवन।

परमार्थसंस्तव—परम अर्थ है—मोक्ष। मोक्ष-प्राप्त परमात्मा—अरिहत, सिद्ध, मोक्ष-साधक आचार्यादि श्रमण और मोक्षमार्ग—श्रुतचारित्रधर्म-निर्ग्रन्थधर्म का परिचय करना, इन्हें समझना जीवादि तत्त्वों का अभ्यास करना, उन पर श्रद्धा करना और उन पर प्रीति रखते हुए-प्रशंसा करना परमार्थसंस्तव है।

परमार्थ सेवन—मोक्षप्राप्त देव, मोक्ष के सर्व-साधक गुरु की सेवा करना परमार्थ-सेवन है।

इन दो पोषक तत्त्वों से सम्यक्त्व बल को बढ़ाना-पुष्ट करना और बलवान बनाना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का रक्षण करने वाले तत्त्व हैं-१. व्यापन्न वर्जन और २. कुदर्शन वर्जन।

व्यापन्न वर्जन—सम्यग्दर्शन का वमन करके जो कुदर्शनी बने, उन दर्शन-भ्रष्टों की संगति से दूर रहना।

कुदर्शन वर्जन—जिन दर्शनों में मिथ्यात्व का अंश हो, जो सराग प्रवर्त्तकों द्वारा निर्मित, छद्मस्थों द्वारा प्रचारित तथा आरंभ-परिग्रह से युक्त हैं, संसार-साधक हैं, जिनमें सावद्यता का अंश भी है, उनकी संगति से दूर रहना।

परमार्थसंस्तव और परमार्थसेवन, ये दो नियम सम्यग्दर्शन के पोषक हैं और व्यापन्नवर्जन तथा कुदर्शन वर्जन-ये दो रक्षक नियम हैं। इनका पालन अत्यावश्यक है। जैसे-पोषण के अभाव में शरीर दुर्बल हो जाता है, शक्ति कम हो जाती है और अन्त में मृत्यु की मार पड़ जाती है, वैसे ही सम्यक्त्व-पोषक तत्त्वों से वंचित रहने पर दर्शन-भ्रष्ट होने का प्रसंग प्राप्त होता है-'नन्दमनिहार' वत्। व्यापन्न-कुदर्शन संस्तव तो चोर-डाकू के सहवास के समान है। कुदर्शनी से भी बढ़कर व्यापन्न-दर्शन-भ्रष्ट भयानक होते हैं। ये दर्शन-भ्रष्ट दूसरों को कम, किन्तु घर को अधिक भ्रष्ट करते हैं।

प्रथम निह्नव जमाली से लगा कर अब तक का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है।

कुछ कुतर्की लोग कहा करते हैं कि 'किसी की संगति से या किसी का मन्तव्य सुनने में हानि ही क्या है? क्या वह या उसका विचार जबरदस्ती हमारे चिपक जावेंगे? हमारा सम्यग्दर्शन इतना कमजोर है कि उनकी छाया से ही नष्ट हो जायगा?' वे इस प्रकार के कुतर्क उपस्थित करते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि उनका यह तर्क हमारे सामने नहीं, सर्वज्ञ भगवंतों के सिद्धान्त के सामने है। वे अपने तर्क से उस सिद्धान्त की अवगणना करते हैं। देवाधिदेव जिनेश्वर भगवंतों की अवगणना करते है। उनके सम्यक्त्व की दशा तो यह तर्क ही बतला रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि संसर्ग से गुण-दोष उत्पन्न होते हैं। जब चेचक, मीम्यादी बुखार, हैजा, प्लेग आदि रोगों का जोर होता है, तब स्वास्थ्य-विभाग से जनता को चेतावनी मिलती है कि वे रोग से बचने के लिए रोगियों के संसर्ग से अपने को बचावें। टीका लगवावें, रोगी के बर्तन, बिछौने और वस्त्रों से भी सावधान रहें। उनके संसर्ग से आरोग्य नष्ट होकर रोग उत्पन्न होने का भय रहता है। उसी प्रकार दर्शन-भ्रष्टों की संगति से सम्यक्त्व में क्षति की प्रबल संभावना है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी का स्त्री से सम्पर्क और चूहे का बिल्ली से संसर्ग घातक होता है, उसी प्रकार दर्शन-भ्रष्टों का संसर्ग सम्यग्दर्शनी के लिए घातक होता है।

क्षयोपशम-सम्यक्त्व, उन्नत होकर क्षायिक भी हो सकती है और विनष्ट भी हो सकती है। इसके साथ खतरा लगा रहता है। इसलिए इसकी रक्षा करना अति आवश्यक है।

आत्मा के लिए सम्यक्त्व महान् रत्न के समान है। इसे प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना और प्राप्त का रक्षण करना चाहिए। यह अनन्त संसार का अंत करने वाला है। एक बार अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाय, तो उस आत्मा की अवश्य मुक्ति होगी। यदि मिथ्यात्वमोह के उदय से यह रत्न छूट भी जाय और आत्मा फिर अनन्तानुबन्धी के चंगुल में फँस जाय, तो भी वह थोडी देर का प्रभाव, आत्मा को पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करा कर मोक्ष में पहुँचाएगा ही।

सम्यक्त्व के लुटेरे-मिथ्यात्व के कई रूप हैं। यदि मिथ्यात्व बीभत्स रूप में आवे, तो लोग सरलता से बच सकते हैं, जैसे-लोग परिचित एवं बदनाम चोर-डाकू से बचते हैं। किन्तु साहुकार के रूप में छुपे चोर और दयालु के वेश में छुपे घातक से बचना कठिन होता है। अच्छे समझदार कहाने वाले भी ठगा जाते हैं। कोई मित्र के रूप में आकर ठगता है, तो कोई सेवक, हितैषी, उपकारी, रक्षक तथा सहायक के रूप में। कोई धन का लोभ दिखाकर लूटता है तो कोई मोहिनी अप्सरा बन कर लूटती है। भोले जीव, भुलावे में आ कर लुट जाते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व की भाषा, लेखन, हाव-भाव और प्रतिपादन-शैली की मोहकता में सज्ज होकर आता है,तो श्रोता एवं पाठक के गले में सरलता से उतर जाता है। विष-मिश्रित मिठाई भी बडी मोहक बन कर पेट में पहुँचती है। किंपाकफल कितने मोहक थे, किन्तु परिणाम कितना घातक

रहा। (ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र)

युद्ध के समय सेनापतियों को मोहित कर उनसे भेद लेने या उन्हें मार देने के लिए शत्रु-पक्ष की ओर से सुन्दरी युवतियां भेजी जाती थी। वे अपने मोह जाल फैलाकर शूरवीर योद्धाओं को फाँस लेती थी। भूतकाल में विषकन्या के प्रयोग से शक्तिशाली राजा को मारने की घटनाएँ भी हुई हैं। डबल सोना बना देने का लोभ उत्पन्न कर लूटने की घटनाएँ भी घटी और विश्वास जमा कर असली के नाम पर नकली देने की घटनाएँ भी हुई और होती हैं।

क्षायिक-सम्यक्त्व और केवलज्ञान के लिए कोई खतरा नहीं। वे तो पूर्ण स्थायी और परम समर्थ हैं। किन्तु क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति भी महती दुर्लभ है। संसारी जीवों में क्षायिक-सम्यक्त्वी अत्यन्त कम एवं क्षायोपशमिकी ही अधिक होते हैं। क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व का भी यदि पोषण और रक्षण किया जाय, तो वह क्षायिक-सम्यक्त्व एवं केवलज्ञान प्राप्त करा सकती है।

आत्मा पर चारित्रमोहनीय एवं दर्शनमोहनीय के छाये घने अन्धकार में, केवलज्ञानरूपी सूर्य ढका, छुपा और दबा हुआ पड़ा है। सम्यग्दर्शन रूपी दीप-ज्योति से अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्वमोहनीय का अन्धकार दूर करके प्रकाश कर देती है। उस प्रकाश से आत्मा अपने पर जमे हुए कर्म के अनन्त आवरण (कूड़ा-कचरा) देखती है। उसमें साहस का उदय होता है। सम्यग्दर्शन की दीप ज्योति, अपने पर जमे और जमते हुए अनन्त कर्मावरण को देख कर आत्मा सावधान होती है और विरति के कपाट लगा कर आते हुए कर्म-कचरे को रोक देती है। उसके बाद आत्मा अपने में तप रूपी हुताशनी प्रकट करती है। वह हुताशनी केवलज्ञान पर छाये हुए कर्म-जाल को जलाने लगती है और अन्त में घांतीकर्म के समस्त कर्म-कचरे को भस्म करके केवलज्ञानरूपी सूर्य को उदय में ला देती है। इस प्रकार केवलज्ञान रूपी सूर्य को उदय में लाने वाली सम्यग्दर्शन रूपी दीपज्योति है। यह उपकार सम्यग्दर्शन का है। सम्यग्दर्शन ही केवलज्ञान को प्रकट करने वाला है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं हो, तो केवलज्ञान भी नहीं हो। वह मिथ्यात्वमोहनीय के गाढ़ अन्धकार में ही दबा रहता है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान की जननी है-माता है। इसका महत्त्व अत्यधिक है।

कुछ लोग सम्यक्त्व का अर्थ 'समभाव' करते हैं, यह अनुचित है। सोना और पीतल, खोटा और खरा, सच्चा और झूठा, सदाचार और दुराचार और हिंसा और अहिंसा में समभाव रखना-तटस्थ रहना, मात्र कहने की बात ही है, होने की नहीं। मनुष्य क्रियाशील है। वह सर्वथा निष्क्रिय एवं तटस्थ नहीं रह सकता, कुछ न कुछ क्रिया करेगा और किसी न किसी ओर झुकेगा ही। यदि वह समझदारी से उचित एवं शुभ क्रिया नहीं अपनाता, तो अशुभ क्रिया—पापाचार में लग जायेगा। फिर तटस्थता कहां रहेगी? वास्तव में सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का अर्थ सही दृष्टि, हेय और उपादेय में विवेक बुद्धि है। इस विवेकबुद्धि से ही, विरति के बल से ही, अधर्म का त्याग और धर्म का स्वीकार होता है। यही देश चारित्र और सर्वचारित्र है।

('शिविर व्याख्यान' से साभार)
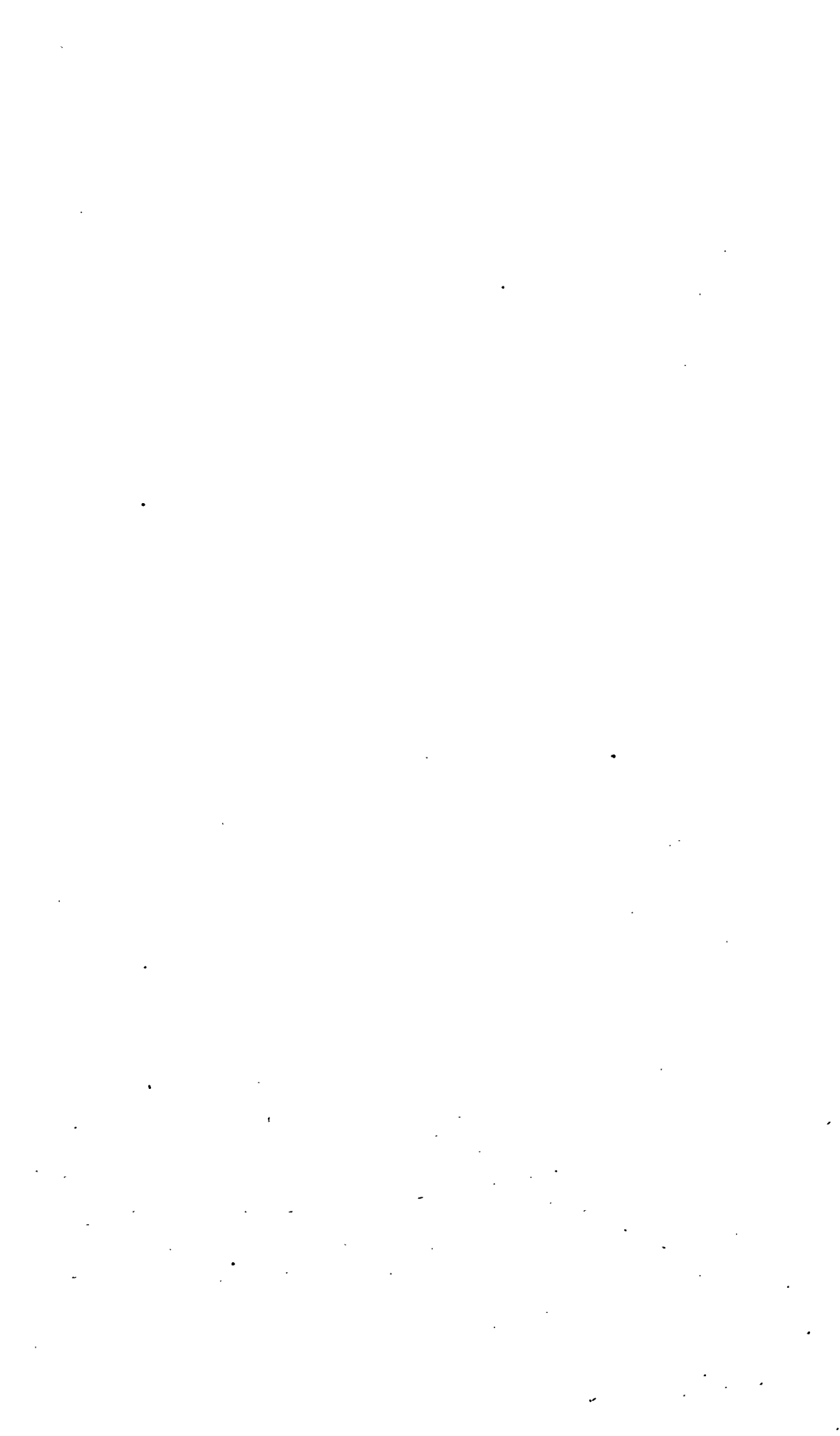
द्वितीय - खण्ड

सम्यग्दर्शन : जीवन-व्यवहार

द्वितीय - खण्ड

सम्यग्दर्शन : जीवन-व्यवहार

दृष्टि बदलिए

☆ उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म.सा.

स्व. उपाध्याय श्री अमरमुनि एक चिन्तनशील विचारक संत थे। उन्होंने प्रस्तुत लेख में व्यक्ति को मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि में आने का सहज, किन्तु आवश्यक संदेश दिया है।—सम्पादक

मानव-जीवन की दो मुख्य धाराएँ हैं - एक दृष्टि और दूसरी सृष्टि। दृष्टि का अर्थ है - मनुष्य का चिन्तन-मनन, विचार, विश्वास और भावना। मनुष्य का जैसा चिन्तन-मनन होगा, उसी रूप में उसका विकास होगा। और सृष्टि का अर्थ है - मनुष्य का रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि। सृष्टि सृजन है। दृष्टि का सृष्टि में उतारना ही सभ्यता और संस्कृति है।

मनुष्य के सामने दृष्टि और सृष्टि दोनों हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि दोनों में से किसे पहले बदलें? पहले दृष्टि को बदलना आवश्यक है, या सृष्टि को? यदि परिवर्तन करना ही है, तो पहले कहाँ से शुरु करें?

कुछ दर्शन हैं, जो पहले सृष्टि को बदलने की बात कहते हैं। उनका अभिप्राय है कि मनुष्य अपने रहन-सहन को बदले, अपने जीवन को मोड़े, और अपने परिवार तथा समाज के जीवन-प्रवाह को भी एक नया मोड़ दे। वह स्वयं अपने तथा दुनिया के जीवन पर नियंत्रण करे।

परन्तु जैन-दर्शन का सदा से यह सिद्धान्त रहा है कि मानव पहले अपनी दृष्टि बदले। मनुष्य जब तक अपने दृष्टिकोण को नहीं बदल लेता है, तब तक वह उचित विकास नहीं कर सकता और व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन में अभिनव क्रान्ति भी नहीं कर सकता। यदि वह अपनी अधोमुखी दृष्टि को ऊर्ध्वमुखी नही बनाता है, या संसारोन्मुख दृष्टि को मोक्षाभिमुख नहीं करता है, तो वह अपनी जिन्दगी को नया मोड़ नहीं दे सकता।

अस्तु, जैन-धर्म का दृष्टिकोण है - पहले दृष्टि बदलें, बाद में सृष्टि। अर्थात्-पहले विचार बदलें, पीछे आचार। आचार से पहले विचार को बदलने की आवश्यकता पर, शायद कुछ भाइयों को आश्चर्य होगा। वह भी इसलिए कि व्यक्ति का वास्तविक रूप आचरण के द्वारा प्रकट होता है। परन्तु आचरण किसी भी छोटी-से-छोटी क्रिया को स्वतः कर सकने में स्वतंत्र नहीं है, बल्कि वह तो वाहन रूप उस घोड़े के समान है, जो अपने सवार के संकेत पर गति-प्रगति करता है। अस्तु, इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार रूपी अश्व पर कोई अदृश्य (छिपा हुआ) सवार अवश्य है। वह अदृश्य सवार है - मन अथवा हृदय, जो अपने विचार रूपी चाबुक के द्वारा आचार रूपी अश्व को प्रतिपल हाँकता रहता है। अतः यदि हम आचार रूपी अश्व (घोड़े) को सत्-मार्ग पर देखना चाहते हैं, तो घोड़े की गति बदलने से पहले, हमें अपने हृदय रूपी सवार को संयमशील एवं विवेकपूर्ण बनाना चाहिये; क्योंकि विचार के साथ चलता हुआ आचार ही महत्त्व रखता है। बिना दृष्टि के बदले, सृष्टि बदलना कोई अर्थ नहीं रखता।

मनुष्य ने कई बार साधना की, और एकान्त शून्य जंगलों में, गिरि गुफाओं में जाकर भी की। परन्तु दृष्टि के न बदलने से वह कठोर साधना भी उसके जीवन को समुज्ज्वल नहीं बना सकी। अतः दृष्टि-परिवर्तन के बिना एक सम्राट के द्वारा किया हुआ साम्राज्य का त्याग भी उसके जीवन में अभिनव ज्योति नहीं जगा सकता, तो दृष्टि-बिन्दु में परिवर्तन आये बिना विराट् त्याग एवं कठोर तप भी कोई महत्त्व नहीं रखता।

यदि दृष्टि में परिवर्तन हो गया, तो एक नवकारसी का छोटा-सा तप भी जीवन को इतना ऊंचा उठा सकता है, जितना कि बिना दृष्टि बदले कोई व्यक्ति महीनों भूखा रह कर भी जीवन को उतना ऊँचा नहीं उठा सकता। दृष्टि-परिवर्तन के बाद थोड़ा-सा त्याग-तप भी जीवन में प्रगतिशील परिवर्तन ला सकता है।

यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में भी है। चाहे वे शास्त्र वैदिक-परम्परा के हों, चाहे बौद्ध या जैन परम्परा के हों, अथवा अन्य किसी भी परम्परा से सम्बन्धित क्यों न हों। वस्तुतः शास्त्र तो अपने आप में केवल शास्त्र ही हैं। वे अपने आप में न तो विष हैं, और न अमृत। विष और अमृत तो मनुष्य की दृष्टि में ही रहते हैं। यदि एक आदमी विषम-वासना एवं कषायों के प्रवाह में बहता हुआ आचारांग सूत्र पढ़ता है, तो वह शास्त्र उसके लिए शस्त्र बन जाता है। भगवतीसूत्र भी, जो कि जैन-परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है, यदि बिना दृष्टि परिवर्तन के कोई व्यक्ति उसे पढ़ता है, तो वह उसके लिए विष बन जाता है।

अब प्रश्न होता है कि - भगवती सूत्र कौन-से विकार से विष बना? उत्तर स्पष्ट है - आपकी दृष्टि में तद्रूप परिवर्तन नहीं हुआ, और आपके मन में सत्य को सत्य के रूप में देखने की भावना भी उद्बुद्ध नहीं हुई, तो उस रूप में वह अमृत भी विष बन जाएगा। तत्त्वतः दूध अमृत माना जाता है। वह शारीरिक शक्ति की क्षति-पूर्ति करने वाला सहज साधन है। क्या बालक, क्या वृद्ध; सभी के लिए वह सात्त्विक शक्ति-प्रदायक है। परन्तु यदि कोई सन्निपात का रोगी दूध-मिश्री का सेवन करे, तो उसका क्या परिणाम होगा? उत्तर - मृत्यु। दूध वस्तुतः अमृत था, परन्तु सन्निपात के रोगी के लिए वह विष बन गया। इसी तरह घी भी अमृत है। यदि स्वस्थ आदमी घी का सेवन करे, तो वह उसके शरीर के जर्रे-जर्रे में नई स्फूर्ति, नई शक्ति और नया तेज पैदा कर देता है। परन्तु यदि वही घी किसी यकृत के रोगी को पिला दिया जाए, तो वह विष का काम करेगा।

हाँ तो, जैन-धर्म का सदा-सर्वदा यह स्वर रहा है कि - मनुष्य पहले अपने दृष्टि-बिन्दु को बदले, और उस पर जमे हुए कीट को साफ करे। यदि दर्पण स्वच्छ होगा, तो उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी साफ आएगा। परन्तु धुंधले दर्पण में जब अपनी परछाई देखेंगे, तो वह विरूप ही परिलक्षित होगी।

अभिप्राय यही है कि जब तक आपके मन एवं दृष्टि का दर्पण साफ नहीं है, तब तक उस दर्पण में आपका जीवन सही रूप में परिलक्षित नहीं होगा। आप नहीं समझ सकेंगे कि - "मैं कौन हूँ"। यदि दृष्टि धुँधली है, तो भले ही आप संसार भर के

धर्म-शास्त्रों का स्वाध्याय कर लें, पर अपना स्वाध्याय नहीं कर सकेंगे, अपने को नहीं पहचान सकेंगे। यदि आप अपने को नहीं पहचान सके, तो फिर दूसरे को कैसे पहचान सकेंगे? हाँ, तो, धुँधले दर्पण में 'मैं' और 'वह' का सही रूप नहीं जाना जा सकता। और जब दृष्टि-बिन्दु साफ होता है, तो 'स्व' और 'पर' दोनों का ही सही-सही ज्ञान हो जाता है। 'स्व' और 'पर' की सीमाएँ अनन्त हैं, अतः विकसित दशा में एक का पूर्ण ज्ञान होने पर सारे संसार का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात्-"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ" ।

एक बार एक जैनाचार्य से पूछा गया - कौन-से शास्त्र सम्यक् हैं? तो उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही कि शास्त्र अपने आपमें न तो सम्यक् हैं, और न मिथ्या। 'सम्यक्' और 'मिथ्या' है - मनुष्य का अपना दृष्टिकोण, अपना विचार और अपना चिन्तन। यदि हमारा दृष्टिकोणं बदल गया है, तो सभी शास्त्र, भले ही किसी भी धर्म, पन्थ या सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले क्यों न हों, साधक के जीवन को सहज में बदल सकते हैं। यदि जैनाचार्य की स्पष्ट भाषा में कहूँ तो - सम्यक् दृष्टि के लिए काव्य तथा व्याकरण-शास्त्र भी सम्यक् हैं, और इतना ही क्यों, विश्व के सम्पूर्ण शास्त्र सम्यक् हैं और मिथ्या-दृष्टि के लिए तो भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन-शास्त्र भी मिथ्या हैं। अस्तु, भावार्थ यही है कि - यदि दृष्टि सम्यक् है, तो सारे शास्त्र सम्यक् हैं। और यदि दृष्टि मिथ्या है, तो सारे शास्त्र भी मिथ्या हैं। यदि दृष्टि निर्मल है और वह स्पष्टतः खुली है, तो चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। यदि दृष्टि धुँधली है, और उस पर विकारों का पर्दा पड़ा है, तो चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा है।

यही बात सुख-दुःख के वेदन में है। एक मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति परिवार में रहता है और उसने जीवन का सम तत्त्व नहीं पाया है, तो वह निरन्तर जलता रहेगा, प्रतिपल अनन्त-अनन्त कर्मों को बाँधता रहेगा और दुःख वेदता ही रहेगा। उसी परिवार में एक सम्यक्-दृष्टि रहता है, और उसकी दृष्टि सम है, तो वह निरन्तर अशुभ कर्मों की निर्जरा करता रहेगा। साथ ही आनन्द एवं शान्ति की अखण्ड धारा में प्रवहमान भी रहेगा।

एक आचार्य ने उपमा देकर समझाया है। एक पौधा है, जिसके नुकीले काँटों का रुख ऊपर की ओर होता है। उस पौधे को यदि कोई व्यक्ति ऊपर से नीचे की ओर सूँतता है, तो उसके हाथ में काँटे चुभते हैं, खून की धारा बहती है, और वेदना होती है। यदि कोई नीचे से ऊपर की ओर सूँतता है, तो उसके हाथ में न काँटा चुभता है, न खून बहता है, और न वेदना ही होती है।

दोनों अवस्थाओं में काँटे वे ही हैं। किन्तु एक के लिए दुःख रूप है, तो दूसरे के लिए सुख रूप। जो ऊपर से नीचे की ओर सूँतता चला जाता है, वह वेदना से कराहता है; और जो नीचे से ऊपर की ओर सूँतता है, वह पीड़ा से मुक्त रहता है। यही बात परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में भी है। आप परिवार, समाज एवं राष्ट्र में जहाँ कहीं भी रहते हैं, यदि सर्वत्र ऊर्ध्वमुखी विचार लेकर रहें, तो आपको कहीं भी काँटा नहीं चुभेगा। यदि आपका दृष्टिकोण अधोमुखी है, तो फिर चाहे परिवार में रहें या समाज में, श्रावक रूप में रहें या साधु के वेश में ; सर्वत्र वेदना

मनुष्य ने कई बार साधना की, और एकान्त शून्य जंगलों में, गिरि गुफाओं में जाकर भी की। परन्तु दृष्टि के न बदलने से वह कठोर साधना भी उसके जीवन को समुज्ज्वल नहीं बना सकी। अतः दृष्टि-परिवर्तन के बिना एक सम्राट के द्वारा किया हुआ साम्राज्य का त्याग भी उसके जीवन में अभिनव ज्योति नहीं जगा सकता, तो दृष्टि-बिन्दु में परिवर्तन आये बिना विराट् त्याग एवं कठोर तप भी कोई महत्त्व नहीं रखता।

यदि दृष्टि में परिवर्तन हो गया, तो एक नवकारसी का छोटा-सा तप भी जीवन को इतना ऊंचा उठा सकता है, जितना कि बिना दृष्टि बदले कोई व्यक्ति महीनों भूखा रह कर भी जीवन को उतना ऊँचा नहीं उठा सकता। दृष्टि-परिवर्तन के बाद थोड़ा-सा त्याग-तप भी जीवन में प्रगतिशील परिवर्तन ला सकता है।

यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में भी है। चाहे वे शास्त्र वैदिक-परम्परा के हों, चाहे बौद्ध या जैन परम्परा के हों, अथवा अन्य किसी भी परम्परा से सम्बन्धित क्यों न हों। वस्तुतः शास्त्र तो अपने आप में केवल शास्त्र ही हैं। वे अपने आप में न तो विष हैं, और न अमृत। विष और अमृत तो मनुष्य की दृष्टि में ही रहते हैं। यदि एक आदमी विषम-वासना एवं कषायों के प्रवाह में बहता हुआ आचारांग सूत्र पढ़ता है, तो वह शास्त्र उसके लिए शस्त्र बन जाता है। भगवतीसूत्र भी, जो कि जैन-परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है, यदि बिना दृष्टि परिवर्तन के कोई व्यक्ति उसे पढ़ता है, तो वह उसके लिए विष बन जाता है।

अब प्रश्न होता है कि - भगवती सूत्र कौन-से विकार से विष बना? उत्तर स्पष्ट है - आपकी दृष्टि में तद्रूप परिवर्तन नहीं हुआ, और आपके मन में सत्य को सत्य के रूप में देखने की भावना भी उद्बुद्ध नहीं हुई, तो उस रूप में वह अमृत भी विष बन जाएगा। तत्त्वतः दूध अमृत माना जाता है। वह शारीरिक शक्ति की क्षति-पूर्ति करने वाला सहज साधन है। क्या बालक, क्या वृद्ध; सभी के लिए वह सात्त्विक शक्ति-प्रदायक है। परन्तु यदि कोई सन्निपात का रोगी दूध-मिश्री का सेवन करे, तो उसका क्या परिणाम होगा? उत्तर - मृत्यु। दूध वस्तुतः अमृत था, परन्तु सन्निपात के रोगी के लिए वह विष बन गया। इसी तरह घी भी अमृत है। यदि स्वस्थ आदमी घी का सेवन करे, तो वह उसके शरीर के जर्रे-जर्रे में नई स्फूर्ति, नई शक्ति और नया तेज पैदा कर देता है। परन्तु यदि वही घी किसी यकृत के रोगी को पिला दिया जाए, तो वह विष का काम करेगा।

हाँ तो, जैन-धर्म का सदा-सर्वदा यह स्वर रहा है कि - मनुष्य पहले अपने दृष्टि-बिन्दु को बदले, और उस पर जमे हुए कीट को साफ करे। यदि दर्पण स्वच्छ होगा, तो उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी साफ आएगा। परन्तु धुंधले दर्पण में जब अपनी परछाई देखेंगे, तो वह विरूप ही परिलक्षित होगी।

अभिप्राय यही है कि जब तक आपके मन एवं दृष्टि का दर्पण साफ नहीं है, तब तक उस दर्पण में आपका जीवन सही रूप में परिलक्षित नहीं होगा। आप नहीं समझ सकेंगे कि - "मैं कौन हूँ"। यदि दृष्टि धुँधली है, तो भले ही आप संसार भर के

धर्म-शास्त्रों का स्वाध्याय कर लें, पर अपना स्वाध्याय नहीं कर सकेंगे, अपने को नहीं पहचान सकेंगे। यदि आप अपने को नहीं पहचान सके, तो फिर दूसरे को कैसे पहचान सकेंगे? हाँ, तो, धुँधले दर्पण में 'मैं' और 'वह' का सही रूप नहीं जाना जा सकता। और जब दृष्टि-बिन्दु साफ होता है, तो 'स्व' और 'पर' दोनों का ही सही-सही ज्ञान हो जाता है। 'स्व' और 'पर' की सीमाएँ अनन्त हैं, अतः विकसित दशा में एक का पूर्ण ज्ञान होने पर सारे संसार का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात्-"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ" ।

एक बार एक जैनाचार्य से पूछा गया - कौन-से शास्त्र सम्यक् हैं? तो उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही कि शास्त्र अपने आपमें न तो सम्यक् हैं, और न मिथ्या। 'सम्यक्' और 'मिथ्या' है - मनुष्य का अपना दृष्टिकोण, अपना विचार और अपना चिन्तन। यदि हमारा दृष्टिकोर्ण बदल गया है, तो सभी शास्त्र, भले ही किसी भी धर्म, पन्थ या सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले क्यों न हों, साधक के जीवन को सहज में बदल सकते हैं। यदि जैनाचार्य की स्पष्ट भाषा में कहूँ तो - सम्यक् दृष्टि के लिए काव्य तथा व्याकरण-शास्त्र भी सम्यक् हैं, और इतना ही क्यों, विश्व के सम्पूर्ण शास्त्र सम्यक् हैं और मिथ्या-दृष्टि के लिए तो भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन-शास्त्र भी मिथ्या हैं। अस्तु, भावार्थ यही है कि - यदि दृष्टि सम्यक् है, तो सारे शास्त्र सम्यक् हैं। और यदि दृष्टि मिथ्या है, तो सारे शास्त्र भी मिथ्या हैं। यदि दृष्टि निर्मल है और वह स्पष्टतः खुली है, तो चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। यदि दृष्टि धुँधली है, और उस पर विकारों का पर्दा पड़ा है, तो चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा है।

यही बात सुख-दुःख के वेदन में है। एक मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति परिवार में रहता है और उसने जीवन का सम तत्त्व नहीं पाया है, तो वह निरन्तर जलता रहेगा, प्रतिपल अनन्त-अनन्त कर्मों को बाँधता रहेगा और दुःख वेदता ही रहेगा। उसी परिवार में एक सम्यक्-दृष्टि रहता है, और उसकी दृष्टि सम है, तो वह निरन्तर अशुभ कर्मों की निर्जरा करता रहेगा। साथ ही आनन्द एवं शान्ति की अखण्ड धारा में प्रवहमान भी रहेगा।

एक आचार्य ने उपमा देकर समझाया है। एक पौधा है, जिसके नुकीले काँटों का रुख ऊपर की ओर होता है। उस पौधे को यदि कोई व्यक्ति ऊपर से नीचे की ओर सूँतता है, तो उसके हाथ में काँटे चुभते हैं, खून की धारा बहती है, और वेदना होती है। यदि कोई नीचे से ऊपर की ओर सूँतता है, तो उसके हाथ में न काँटा चुभता है, न खून बहता है, और न वेदना ही होती है।

दोनों अवस्थाओं में काँटे वे ही हैं। किन्तु एक के लिए दुःख रूप हैं, तो दूसरे के लिए सुख रूप। जो ऊपर से नीचे की ओर सूँतता चला जाता है, वह वेदना से कराहता है; और जो नीचे से ऊपर की ओर सूँतता है, वह पीड़ा से मुक्त रहता है। यही बात परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में भी है। आप परिवार, समाज एवं राष्ट्र में जहाँ कहीं भी रहते हैं, यदि सर्वत्र ऊर्ध्वमुखी विचार लेकर रहें, तो आपको कहीं भी काँटा नहीं चुभेगा। यदि आपका दृष्टिकोण अधोमुखी है, तो फिर चाहे परिवार में रहें या समाज में, श्रावक रूप में रहें या साधु के वेश में ; सर्वत्र वेदना

रहेगी, जलन रहेगी और सदैव कांटे चुभते ही रहेंगे।

अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि ऊर्ध्वमुखी भावना में आनन्द है और शान्ति है। इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विचार है। ऊर्ध्वमुखी दृष्टिकोण का सर्वप्रथम सोपान है - "मन में से पाप वृत्ति को छोड़ देना।" भले ही आप अभी तक पाप को छोड़ नहीं सके हों, परन्तु यदि आपका यह दृष्टिकोण बन गया है कि पाप-पाप है, तो एक दिन अवश्य ही आप पाप का परित्याग भी कर सकते हैं। आपके चारों तरफ पाप का जाल बिछा है, अज्ञान और अविद्या का सागर लहरा रहा है। फिर भी अपने अन्तर्मन में यदि आपने पाप को पाप, अज्ञान को अज्ञान, तथा अविद्या को अविद्या मान लिया है, तो एक दिन आप इनसे अवश्य ही मुक्त हो सकते हैं।

जैन-धर्म कहता है कि यदि आपको हिंसा छोड़नी है, तो पहले अन्दर में हिंसा की दृष्टि को बदलें; अर्थात्- मन की हिंसा को छोड़ें। मन की हिंसा छोड़ने का अर्थ है - हिंसा को हिंसा के रूप में समझना। इसी प्रकार असत्य आदि पापाचार को त्यागना है, तो पहले उन्हें मन में त्याज्य समझें।

जीवन में क्रान्ति लाने के लिए, अन्तर्भावों में पैदा होने वाली यह समझ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। शास्त्रीयभाषा में इसे 'सम्यक्त्व' कहते हैं। जैन-धर्म ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि - "जब आत्मा में अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ जागृत होता है, तब मनुष्य में असत्य को असत्य मानने की भावना उद्बुद्ध होती है।" और इतना समझने के बाद, उसे छोड़ना इतना सरल और सुसाध्य हो जाता है कि मानो उसने अन्तःस्तल की गहराई में अनन्त-अनन्त काल से बद्धमूल विष-वृष की जड़ों को खोद कर खोखला कर दिया है। अब उसे समाप्त करने में, मात्र चारित्र-रूप में एक त्याग के झटके की ही आवश्यकता है।

परन्तु दुर्भाग्य है, आज के साधक मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व को शास्त्रीय भाषा में तो कम तोलते हैं, किन्तु बाहरी भाषा में अधिक। इसीलिए बाहर में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के नारे अधिक लगाए जा रहे हैं। आज के धर्म-गुरु अपने मनोऽनुकूल हर किसी व्यक्ति पर सम्यक्त्व का लेबल लगाने के लिए इतने आतुर हैं कि कुछ पूछिए ही नहीं। जब कोई आदमी उनके पास आता है, तो अपनी जल्दबाजी में उससे यह नहीं पूछते कि तुमने हिंसा, असत्य, पापाचार तथा विश्वासघात को अन्तर्मन में बुरा समझा है या नहीं? तुम्हारे अन्दर की दृष्टि बदली है या नहीं? परन्तु हर किसी आगन्तुक से यही पूछा जाता है कि - सम्यक्त्व ली है या नहीं? यदि वह कहता है कि - अमुक गुरु से ली है; तो दूसरा प्रश्न पूछा जाता है कि - गुरु जी जीवित हैं या नहीं? यदि गुरु जीवित नहीं हैं, तो कहा जाता है कि - जब गुरु मर गए, तब फिर सम्यक्त्व कहाँ रही? अतः अब तुम मेरी सम्यक्त्व ले लो। इसका क्या अर्थ हुआ? क्या गुरु के मरते ही, सम्यक्त्व भी मर गई? नहीं, कभी नहीं। गुरु तो केवल निमित्त मात्र हैं, वे तो मनुष्य की भावना जगाने में ही सहायक हो सकते हैं। अतः सम्यक्त्व का सम्बन्ध गुरु के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, उसका सम्बन्ध तो आत्मा के साथ है।

यदि साधक की अन्तरात्मा नहीं जगी है, तो विश्व का कोई भी महापुरुष उसे नहीं जगा सकता। यद्यपि गोशालक छह वर्ष तक भगवान् महावीर के साथ रहा, और

शिष्य के रूप में छाया की तरह भगवान् के पीछे-पीछे भी चलता रहा। परन्तु इतने दीर्घकाल में भी वह अपनी दृष्टि नहीं बदल सका।

गोशालक पर बाल तपस्वी ने तेजोलेश्या छोड़ी, और भगवान् ने उसकी रक्षा के लिए शीतल लेश्या का प्रयोग किया। इस समय दोनों ही लेश्याओं की शक्ति उसके सामने थी, फिर भी उसके मन में यह भाव नहीं जगा कि मैं भगवान् से शीतल लेश्या का प्रयोग सीख लूं, ताकि यथावसर तेजोलेश्या से जलते जीवों को शीतलता प्रदान कर सकूं। इसके विपरीत वह तेजोलेश्या सीखने के संकल्प में ही उलझा रहा। और कोई बात नहीं, गोशालक की दृष्टि बदली नहीं थी। उसके मन में यही भावना, उद्बुद्ध होती रही कि यदि कोई मेरा अपमान करेगा, तो तुरन्त ही उसे तेजोलेश्या से जलाकर भस्म कर दूंगा। परन्तु वह कभी दुनिया को शीतलता प्रदान करने का शुभ संकल्प नहीं कर सका। वास्तव में यह है - मिथ्यात्व। यह है - दृष्टि न बदलने की स्थिति। यह वह दुःस्थिति है, जिसको अपनी अन्तरात्मा ही बदल सकती है। महापुरुष और गुरुदेव तो निमित्तमात्र हैं, परन्तु परिवर्तन की पूर्ण प्रभु सत्ता उनके पास नहीं है। वह पवित्र प्रेरणा है - अन्तर्मन में, और अन्तरात्मा के अन्तःस्थल में।

आज भी हजारों-लाखों मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जो भगवान् के नाम की माला जपते हैं और स्तोत्र-पाठ एवं पूजा-भक्ति करते हैं। यह सब किसलिए? इसलिए कि - उनसे धन-दौलत, पुत्र-पौत्र, भोग-विलास के साधन एवं शारीरिक सुख प्राप्त कर सकें तथा अपने शत्रु को पराजित कर सकें। जब तक जीवन में यह दृष्टि विद्यमान है, तब तक महापुरुष भी मिले, श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा भी की, और त्याग-तप की उत्कृष्ट भूमिका पर भी पहुँचे, फिर भी उससे क्या लाभ? वीतराग के पास पहुँच कर भी यदि कोई स्वार्थ एवं भोग के झूठे टुकड़े माँगता है, तो स्पष्ट है कि - "उसने वीतराग का वास्तविक स्वरूप समझा ही नहीं है।"

आप जानते हैं, तीर्थङ्कर का स्वरूप क्या है? देवों के द्वारा बनाए समवसरण में स्फटिक के सिंहासन पर बैठकर उपदेश दे रहे हैं, क्या यह तीर्थङ्कर का स्वरूप है? क्या देवेन्द्रों द्वारा छत्र-चामर होना, अथवा देव निर्मित स्वर्ण कमलों पर चलना, यह तीर्थङ्कर का स्वरूप है? क्योंकि देवता समवसरण में गन्धोदक की वृष्टि करते हैं, क्या इसलिए हम उन्हें तीर्थङ्कर मानकर पूजा करें? क्या समचतुरस्र संस्थान, और वज्रऋषभ नाराच संहनन, आदि को तीर्थङ्कर का स्वरूप मानें? नहीं। परम वीतराग तीर्थङ्कर का स्वरूप इतना ही नहीं है, यह तो केवल बाह्य विभूति है। इसमें ही तीर्थङ्करत्व बंद नहीं है। वास्तविक तीर्थङ्करत्व को रक्त और अस्थि के ढांचे से नहीं तोला जा सकता। तीर्थङ्करत्व न तो बाहरी वैभव में है, और न शरीर में ही है। वह तो आत्मा की विशुद्ध स्थिति में समाधिस्थ है। वह विशुद्ध आत्म-परिणति ही तीर्थङ्करत्व है, जो अनन्त ज्ञान की दिव्य ज्योति है, जिसने अज्ञान अन्धकार के कण-कण को नष्ट कर दिया है और राग-द्रेष के बीज को समूलतः नष्ट कर दिया है। अस्तु, भावार्थ यह है कि-तीर्थङ्करत्व जिन रूप में है, 'अर्हन्त' रूप में हैं, 'निष्काम एवं वीतराग' भाव में है। यह बात मैं ही नहीं कह रहा हूं, श्रावक बनारसीदास ने भी यही कहा है—

"तीर्थङ्कर के शरीर का वर्णन, जिनेश्वर देव का वर्णन नहीं है। उनकी आत्मा में,

जो अनन्त-अनन्त दया एवं करुणा का झरना बह रहा है और अनन्त-अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की अभिनव ज्योति जग रही है, उसी में तीर्थङ्करत्त्वभाव निहित है।"

हां तो, सच्चा साधक शरीर के रंग-रूप को नहीं देखता। वह देखता है-आत्मा के गुणों को। बाग में नाना प्रकार के फूल खिले हों, उनमें से मधुर पराग झर-झरकर चतुर्दिक में फैल रहा हो, और आस-पास के भ्रमर दल गुंजन भी कर रहे हों, यदि उस समय कोई उन भौंरों से पूछे कि-फलों का रंग-रूप कैसा है? तो भौंरे यही उत्तर दे सकते हैं कि-यह हम से मत पूछो कि-फूलों का रंग-रूप कैसा है, आकार-प्रकार कैसा है? हम से यह भी मत पूछो कि-फूलों के साथ कांटे हैं या नहीं? हमसे यह भी मत पूछो कि-फूल कहाँ खिले हैं? नगर के मोहक उपवन में, या निर्जन वन में शून्य डाल पर? क्योंकि हमारा इन व्यर्थ की बातों को जानने से कोई प्रयोजन नहीं। यदि हम से कोई बात पूछना है, तो यह पूछो कि-फूल में सुगंध है या नहीं? हमारा प्रयोजन रूप-रंग से नहीं, अपितु सुगन्ध से है, मकरन्द से है।

साधक को भ्रमर की उपमा दी गई है। संस्कृत-साहित्य में इसका विस्तृत वर्णन है। आज के चलते गायनों में भी गाया जाता है कि-'मैं भगवान के चरणों में मधुप बन जाऊँ।' परन्तु देखना तो यह है कि आप कैसे भ्रमर बनेंगे? क्या आप उनके आकार-प्रकार को निहारते रहेंगे, या उनके अनन्त-जीवन वीतराग भाव की महासुगन्ध को लेंगे।

आपको भली-भांति मालूम है कि उनके गुणों की महा सुगन्ध कहाँ है? क्या वह सुगन्ध किसी व्यक्ति-विशेष, पंथ-विशेष, शास्त्र-विशेष या स्थान-विशेष में बन्द है? नहीं। वह तो यत्र-तत्र-सर्वत्र फैली हुई है। उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, एवं जिनत्व की महा सुगन्ध महलों में भी फैली, झोपड़ियों में भी फैली और निर्जन वनों में भी फैली। उनके पवित्र जीवन की महा सुगन्ध वेदों के ज्ञाता महापंडित गौतम के जीवन में भी फैली और वही सुगन्ध ग्यारह-सौ-इकतालीस स्त्री-पुरुषों के संहारक महापातकी अर्जुन के जीवन में फैली और उसने उस जीवन को भी सुवासित बना दिया।

आज का साधक अपने लिए उपमा तो भ्रमर की लगा रहा है, किन्तु यदि वह वीतरागभाव को न पहचान कर, मात्र बाहर के रूप-रंग एवं वैभव में ही अटका रहता है, तो वास्तव में अभी तक उसके जीवन में भ्रमरत्व जगा नहीं, अथवा यों कहिए कि उसका दृष्टिकोण अभी बदला ही नहीं। उसके जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश अभी तक जग नहीं पाया है। उसने महल तो बनाया और उसे बहुत ऊँचा भी उठाया, परन्तु दुर्भाग्य है कि उसकी नींव में एक भी ईंट नहीं रखी। तो आप ही बताइए, वह महल कितनी देर तक ठहरेगा? जब तक हवा का झोंका या किसी का धक्का न लगे, तभी तक।

यही बात सम्यक्त्वविहीन जीवन के लिए भी है। जीवन की अन्तरंग भावना को बदले बिना साधना का महल टिक नहीं सकता। अस्तु, जब तक दृष्टि नहीं बदलती, तब तक सृष्टि भी नहीं बदल सकती और जीवन के कण-कण में साधना की, वीतराग भाव की एवं जिनत्व की महा सुगन्ध भी नहीं फैल सकती।

जीवन-दृष्टि की मलिनताएँ

☆ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म.सा.

प्रस्तुत लेख का संकलन स्व. उपाध्यायप्रवर की पुस्तक 'साधना का राजमार्ग' से किया गया है। इस पुस्तक का प्रकाशन सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर द्वारा १९६२ ई. में किया गया था। इसमें सम्यग्दर्शन के पांच अतिचारों को जीवनदृष्टि की मलिनताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। -सम्पादक

'अतिचार' शब्द का अर्थ है-मर्यादा का उल्लंघन करके बर्त्ताव करना। अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपने अनियंत्रित जीवन को नियंत्रित करने के लिए जो मर्यादा या व्रत-नियम अंगीकार किया है और उसी के अनुसार जीवन-व्यवहार करने का संकल्प किया है, उसका आंशिक रूप में भंग हो जाना अतिचार है।

आंशिक रूप में भंग हो जाने का भी एक विशेष अभिप्राय है। जैनाचार्यों ने स्वीकृत व्रत के भंग को चार कोटियों में बांटा है-अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। व्रतभंग की बुद्धि उत्पन्न करना अतिक्रम है और उसके लिए साधन-सामग्री जुटाने का प्रयास करना व्यतिक्रम है। व्रती यह समझता हो कि मैं अपना व्रत भंग नहीं कर रहा हूं, इस क्रिया से मेरा व्रत खण्डित नहीं हो रहा है, किन्तु उसकी वह क्रिया वास्तव में व्रत की मर्यादा से बाहर हो और उससे व्रत में किसी प्रकार की त्रुटि उत्पन्न होती हो, तो उसकी वह क्रिया अतिचार की कोटि में आती है। इससे भी आगे बढ़कर जब व्रती जान-बूझकर, व्रत की रक्षा की भावना से निरपेक्ष होकर कोई व्रतविरुद्ध आचरण करता है, तब वह आचरण 'अनाचार' की कोटि में परिगणित होता है।

यद्यपि यह चारों कोटियां सामान्य रूप से अतिचार कहलाती हैं, तथापि व्रतभंग की तरतमता को विशेष रूप से समझने के उद्देश्य से इनका विभागोपदर्शन किया जाता है।

साधक की नैतिकता सर्वतोभावेन व्रतसंरक्षण में ही है तथापि कदाचित् भ्रान्ति से, कदाचित् प्रलोभन से, कदाचित् क्रोध या द्वेष से, और कदाचित् परिस्थिति की विषमता से, ऐसा अवसर आ जाता है कि व्रत की पूरी तरह रक्षा नहीं हो पाती और ऐसा कार्य हो जाता है जो व्रत की सीमा का कुछ उल्लंघन करता है। वही अतिचार कहलाता है।

व्रत के उल्लंघन के तारतम्य एवं प्रकार किसी नियत संख्या में आवद्ध नहीं हैं। वे अनियत और अगणित हैं, तथापि स्थूल रूप में उनका ऐसा वर्गीकरण कर दिया गया है, जिनमें सभी अतिक्रमणों का समावेश हो जाय।

सम्यग्दर्शन के अतिचार पांच हैं। यहां उन्हीं पर संक्षेप में विचार करना है। श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द को लक्ष्य करके कहा—

'एवं खलु आणंदा, समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं.. सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तंजहा संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवे।

हे आनन्द ! जीव-अजीव के स्वरूप को जानने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच अतिचार जानने चाहिए, किन्तु उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे अतिचार हैं—(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) परपाषण्डप्रशंसा और (५) परपाषण्डसंस्तव।

यह पांच अतिचार सम्यक्त्व में मलिनता उत्पन्न करते हैं। यदि प्रारंभ में ही इन्हें न रोका जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है कि बढ़ते-बढ़ते ये दोष समूचे सम्यक्त्व को भी निगल जाएं। अतएव सम्यग्दृष्टि को यह सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन में इनका प्रादुर्भाव ही न होने पाए।

(१) शंका

शंका जीवन की दुर्बलता है। इसके रहते जीवन का सम्यक् रूप से विकास नहीं हो पाता है। लड़खड़ाते कदमों से कोई कितना चल सकता है? जब मंजिल दूर हो और बहुत ऊंचाई पर हो, तब दृढ़ कदम ही काम दे सकते हैं।

शंका संकल्प में दृढ़ता नहीं आने देती। संकल्प की दृढ़ता के बिना लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपेक्षित आवश्यक आन्तरिक बल प्राप्त नहीं होता और बल के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि हम अपने साध्य और साधनों पर पूरा विश्वास लेकर चलें और अन्तःकरण के किसी भी प्रदेश में शंका को अवकाश न दें।

जब तक जिनोक्त तत्त्वों पर शंका बनी रहेगी, जीव अध्यात्मसाधना के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। शंका विवेक शक्ति और विश्वास को नष्ट करने के लिए कुठार से कम नहीं है। वह सम्यक्त्व को नष्ट करती है।

श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को, कुरुक्षेत्र के मैदान में संशय से होने वाली हानि प्रकट करते हुए कहा था-'संशयात्मा विनश्यति' जो आत्मा संशय में पड़ा रहता है, उसका विनाश होता है।

द्विविध शंका

इस प्रसंग पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। जब हम जैनागमों के पन्ने पलटते हैं तो सूर्य के समान चमकती हुई दो महान् विभूतियां अनायास ही हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं एक प्रश्नकार के रूप में और दूसरी उत्तरदाता के रूप में। इन्हें हम गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के रूप में पहचानते हैं। गौतम स्वामी के ३६ हजार प्रश्न तो अकेले भगवतीसूत्र में ही अंकित हैं। इसके अतिरिक्त भी आगम-साहित्य का अधिकांश भाग इनके प्रश्नोतरों के रूप में है।

प्राचीन आचार्यों ने तीर्थंकर के प्रवचनों को दो भागों में विभक्त किया है—पुट्ठवागणा अर्थात प्रश्न उपस्थित होने पर उसके समाधान के रूप में की जाने वाली विवेचना और अपुट्ठवागणा अर्थात् बिना पूछे ही की जाने वाली प्ररूपणा। आपको ज्ञात होना चाहिए कि भगवान् महावीर स्वामी की अपृष्टव्याकरणा की अपेक्षा पृष्टव्याकरणा अधिक है।

गौतमस्वामी के चित्त में, जब कभी किसी तत्त्व के विषय में, सन्देह उत्पन्न होता

था, वे श्रमण भगवान् महावीर के श्री चरणों में पहुंचते और यथोचित प्रतिपत्ति के पश्चात् उस सन्देह को निवेदन करते थे। इस सम्बन्ध में शास्त्रों में गौतमस्वामी के लिए 'जायसंसए' 'संजायसंसए' और 'उपण्णसंसए' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का संशय क्या सम्यक्त्व के अतिचार की कोटि में है? क्या सम्यग्दर्शन का विघातक है?

इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में ही दिया जाएगा। शंका दो प्रकार की होती है—श्रद्धामूलक और अश्रद्धामूलक। जिस शंका के गर्भ में श्रद्धा छिपी होती है और जो केवल जिज्ञासा के रूप में ही व्यक्त की जाती है, वह सम्यक्त्व का अतिचार नहीं है। मगर अश्रद्धामूलक शंका की बात निराली है। उसमें जिज्ञासा नहीं, अविश्वास ही प्रधान होता है। अतएव वह समकित का अतिचार है।

श्रद्धा और तर्क का समन्वय

कुछ लोग समझते हैं कि श्रद्धा एक प्रकार की मानसिक सुषुप्ति है। उसमें बुद्धि एवं विचार का अवकाश नहीं है। जो जी में आया, मान लिया और उसी से चिपट गये। इस प्रकार की श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

किन्तु जैनधर्म ऐसी श्रद्धा का समर्थन नहीं करता। उसकी सुस्पष्ट उद्घोषणा है-'पन्ना समिक्खए धम्मं' अर्थात् प्रज्ञा से, तर्क बुद्धि से, धर्म की परीक्षा करनी चाहिए।

तथ्य यह है कि इस विराट् विश्व में असीम विविधता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल तत्त्वों के समूह का नाम जगत् है। इसमें बहुत से तथ्य ऐसे हैं जो हमारी बुद्धि की परिधि में आते हैं तो बहुत से ऐसे भी हैं जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं रहस्यमय होने के कारण हमारी मति द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। उन्हें समझने के लिए जिस अलौकिक दृष्टि की आवश्यकता है, वह हमें प्राप्त नहीं है। उसे प्राप्त करने के लिए जितनी साधना अपेक्षित है, वह हमारे जीवन में आई नहीं है। मनुष्य अपने बुद्धि-वैभव का कितना ही अभिमान करे, परन्तु वास्तव में उसका दायरा अत्यन्त संकीर्ण है। उसकी इन्द्रियाँ, जिनके बल पर वह इतराता है, कितना-सा जान पाती हैं। रहा मन सो वह बेचारा इन्द्रियों का ही अनुगामी है। ऐसी स्थिति में अगर कोई पुरुष यह मान बैठता है कि मैंने सभी कुछ जान लिया है और जो नहीं जाना, वह है ही नहीं, तो वह दया का पात्र है।

इस प्रकार का अहंकार उसकी और समग्र मानवजाति की प्रगति में बाधक बनता है। अपने अनन्त की विनम्र स्वीकृति से मनुष्य की प्रगति की संभावना की जा सकती है, मगर जो मनुष्य अपने अत्यल्प ज्ञान को ही पराकाष्ठा का ज्ञान मान लेता है, वह अपनी प्रगति की समग्र संभावनाओं में पलीता लगा देता है।

अभिप्राय यह है कि जगत् के जो तत्त्व बुद्धिगम्य हैं, उन पर तर्क से विचार करना उचित है। मगर जो रहस्यमय तत्त्व मानवमति से अगोचर हैं, उनके विषय में आप्त पुरुषों के कथन पर श्रद्धा रख कर ही चलना चाहिए। हाँ, युक्ति, प्रमाण और तर्क के द्वारा हमें आप्तता के विषय में अवश्य आश्वस्त हो लेना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धा

और तर्क के उचित एवं विवेकपूर्ण समन्वय से ही हम यथार्थ-बोध के अधिकारी बन सकते हैं।

जहां कुछ लोग एकान्त तर्कवाद की हिमायत करते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो एकान्त श्रद्धावादी होते हैं। मगर विवेकविकल श्रद्धा अन्धश्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा में चैतन्य नहीं होता। अन्धश्रद्धा के द्वारा हेय-उपादेय का, ग्राह्य-अग्राह्य का बुद्धिसंगत अन्तर नही समझा जा सकता। उसमें दंभ, आडंबर एवं पाखंड को देखकर फिसल जाने की संभावनाएं बनी रहती हैं, किन्तु जो कसौटी पर कस कर सत्य को स्वीकार करता है, वह प्रतारित नहीं किया जा सकता, वह सभी समस्याओं और जटिल से जटिल प्रश्नों का उचित समाधान करता हुआ अपने मार्ग पर स्थिर रहता है।

इस प्रकार जीवन में तर्क की भी आवश्यकता है, किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तर्क-प्रज्ञा और आज के एकान्त बुद्धिवादी मानव के तर्क में दिन-रात का अन्तर है। आधुनिक बुद्धिवादी श्रद्धा के क्षेत्र को और महत्त्व को स्वीकार नहीं करता। वह तर्कातीत तत्त्वों पर भी तर्क के तीर छोड़ता है और जब वे लक्ष्य पर नहीं पहुंचते तो उनके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर बैठता है। वह श्रद्धागम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य बनाने की निष्फल चेष्टा करता है और धोखा खाता है।

उचित यही है कि जीवन में श्रद्धा और तर्क का समुचित समन्वय हो। जो ज्ञेय तर्क की परिधि के अन्तर्गत हों, उन्हें तर्क की तुला पर तोला जाय और जो तर्क की पहुँच से बाहर हैं, जो साधनाजनित लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते हैं, उन पर अविचल श्रद्धा रखी जाय और आप्त पुरुषों के उपदेश को प्रमाणभूत मानकर चला जाय। इस प्रकार के समन्वय से जीवन में जागृति आती है और आन्तरिक बल की वृद्धि होती है। जिस तर्क के पीछे श्रद्धा का बल होता है, वह सम्यक्त्व का आभूषण बनता है और जिसके पीछे श्रद्धा का बल नहीं, वह सम्यक्त्व का दूषण है।

गौतमस्वामी के हृदय में शंका उत्पन्न होती थी, पर उस शंका के पीछे आस्था की अविचल भूमिका थी, श्रद्धा के दिव्य दीपक का प्रकाश जगमगाता रहता था। शंका का समाधान प्राप्त होने पर उनके अन्तरतल से अनायास ही यह ध्वनि निकल पड़ती थी-

> **'सद्दहामि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,**
> **पत्तियामि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,**
> **रोएमि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,**
> **तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते !**
> **इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते !**
> **इच्छियपडिच्छियमेलं भंते !**
> **से जहेयं तुब्भे वयह।'**-उपासक, अ.१, सू. १२

अर्थात्-भगवन्! मै निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूं। भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर प्रतीति करता हूं। भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर रुचि करता हूं। भगवन्! निर्ग्रन्थप्रवचन तथ्य है, अवितथ है, मुझे इष्ट है, अभीष्ट है, इष्टाभीष्ट है, जैसा आप कहते हैं वैसा ही है।

यह है सच्चे साधक के हृदय के उद्‌गार। जहाँ इतनी गाढ़ श्रद्धा है, वहां

सम्यक्त्व में न्यूनता या मलीनता के लिए कोई अवकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार की मनोभूमिका की विद्यमानता में प्रस्तुत की जाने वाली शंकाएँ सम्यग्दर्शन की बाधक नहीं, वर्द्धक ही होती हैं। श्रद्धालुओं की शंकाएं, विषय को विशद और स्पष्ट करने के लिए होती हैं। गौतम स्वामी के प्रश्नों का यह सुपरिणाम है कि विराट् आगम-साहित्य की अनमोल सम्पत्ति हमें विरासत में मिल सकी।

(२) कांक्षा

सम्यग्दर्शन को मलिन बनाने वाला दूसरा अतिचार 'कांक्षा' है। कांक्षा का सामान्य अर्थ है-इच्छा या अभिलाषा, किन्तु इस प्रसंग में कांक्षा शब्द का पारिभाषिक अर्थ ही ग्राह्य है। कांक्षा अतिचार का अभिप्राय है-पाखण्डियों के आडम्बर या दंभ से आकृष्ट होकर, अपने सच्चे आत्मशोधक पथ से विचलित होकर उनके पथ पर चलने की अभिलाषा जागृत होना, बहिर्मुख साधना से उत्पन्न हुई विभूतियों की चकाचौंध में अपने आध्यात्मिक पथ से डिग कर उनकी ओर झुकने की मनोवृत्ति उत्पन्न होना।

मानव-मन अतीव चपल है। साधना के पथ पर चल पड़ने पर और अनेक प्रकार की साधनाओं द्वारा संभालने पर भी वह जल्दी वशीभूत नहीं होता। अनादिकाल संस्कार उस पर अपना रंग जमाये रहते हैं और उसे पथभ्रष्ट करने का अवसर देखते रहते हैं। साधक जरा भी असावधान हुआ और उन संस्कारों ने हमला किया। तत्काल संभल गया तो ठीक, अन्यथा कुशल नहीं। वे कुसंस्कार बलवत्तर होकर उसे गलत दिशा में ले जाते हैं।

बड़े-बड़े तपस्वी और योगी भी इन कुसंस्कारों के वशवर्ती होकर अपने लक्ष्य को भूल कर लौकिक चमत्कारों और एषणाओं के प्रलोभन में पड़ जाते हैं। सांसारिक चमत्कार और स्वर्गीय सुख ही उनका ध्येय बन जाता है। ऐसी स्थिति में उनकी दशा उस कृषक के समान हो जाती है जो कठोर श्रम करके भी धान्य के बदले भूसा ही पाता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने साधकों को सावधान करते हुए कहा था-

> नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा
> नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।-दशवैकालिक, अ.९

साधक इहलोक संबंधी लाभ के लिए तप न करे, परलोक संबंधी लाभ के लिए तप न करें, कीर्ति, यश या प्रशंसा के लिए तप न करे, तप करे एक मात्र कर्मनिर्जरा के लिए।

कामना, अभिलाषा, मूर्च्छा, लोभ, आसक्ति, लोकैषणा आदि कांक्षा के अनेक रूप हैं। बड़ी कठिनाई यह है कि किसी कामना की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है तो उसकी पूर्ति होते न होते अन्य अनेक कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं अथवा वही एक कामना भस्मासुर की तरह अपना स्वरूप विस्तार करती जाती है, ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है, बल्कि लाभ ही लोभ-वृद्धि का कारण बन जाता है—

> जहा लाहो तहा लोहो,
> लाहा लोहो पवड्ढई।-उत्तरा. अ.८ गा. १७

इस प्रकार कामना की पूर्ति में तत्पर हुआ पुरुष न कामना की पूर्ति कर पाता है, न पूर्तिजन्य तृप्ति का रसास्वादन कर सकता है और न जीवन के ऊँचे ध्येय को सम्पन्न करने में समर्थ हो पाता है। प्रत्युत अतृप्तिजन्य आकुलता की आग में जलता हुआ अपने भविष्य को दुःखमय बनाता है।

इस तथ्य को जानकर जिसने लालसा का त्याग कर दिया, वही ज्ञानी है और उसे तत्काल ही सन्तोष-सुधा के पान करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है कि वह वीतरागोपदिष्ट मार्ग से विरुद्ध किसी मार्ग की अभिलाषा न करे और अपने सम्यक्त्व को निर्मल रखे।

(३) विचिकित्सा

सम्यग्दर्शन का तीसरा अतिचार विचिकित्सा है।

विचिकित्सा का अर्थ है-फलप्राप्ति में सन्देह करना। मैं व्रतों और नियमों का जो पालन कर रहा हूं, उसका फल मिलेगा अथवा नहीं? इस प्रकार की डगमगाती चित्तवृत्ति विचिकित्सा है।

मतविभिन्नता को देखकर, निर्णायक बुद्धि के अभाव के कारण, ऐसा समझना कि यह भी ठीक है और वह भी ठीक है, इस प्रकार की बुद्धि की अस्थिरता भी विचिकित्सा के अन्तर्गत है।

मुनिजनों की आन्तरिक पवित्रता एवं उज्ज्वलता की ओर न देखकर, शारीरिक मलिनता को ही देखना और मन में ग्लानि लाना भी विचिकित्सा है। सम्यग्दर्शनी के लिए यह भी अतिचार है।

(४-५) परपाखण्ड प्रशंसा और परपाखण्ड संस्तव

ये सम्यग्दर्शन के चौथे-पांचवें अतिचार हैं। इनका क्रमशः अर्थ है-मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना और परिचय करना।

मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने से मिथ्यात्व की प्रशंसा होती है और उसकी संगति करने वाले में मिथ्यात्व की उत्पत्ति की संभावना रहती है। सब साधक एक-से प्रौढ़ नहीं होते, तत्त्वनिष्णात नहीं होते, अतएव वे विरोधी संसर्ग से पथभ्रष्ट हो सकते हैं। उनका हित और बचाव इसी में है कि वे ऐसे प्रतिकूल परिचय और प्रभाव से दूर रहें। सूरदास कहते हैं-

जाके संग कुमति उपजत है,
परत भजन में भंग,
तजो रे मन! हरिविमुखन को संग।-सूरसागर

हे मन! जिनकी संगति से कुबुद्धि उत्पन्न होती है, और प्रभु के भजन में विघ्न उपस्थित होता है, उसकी संगति मत कर। क्योंकि-

संसर्गजा दोषगुणा : भवन्ति।

अच्छी एवं अनुकूल संगति गुणों को उत्पन्न करती है और कुसंगति दोषों को उत्पन्न करती है।

निष्णात, प्रौढ़ और तपे हुए साधक दुर्जनों, पथभ्रष्टों और मिथ्यादृष्टियों को भी सन्मार्ग पर ला सकते हैं। केशीस्वामी के सम्पर्क में आने से ही राजा प्रदेशी सन्मार्ग पर आया था। यदि केशीस्वामी प्रदेशी राजा से दूर ही रहे होते तो उसकी आत्मा का उद्धार होना कठिन ही था। अतएव ऐसे समर्थ साधक अपवाद हैं। सामान्य साधक के लिए तो मिथ्यादृष्टि के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर स्वयं ही भ्रष्ट हो जाने की संभावना रहती है। यही इन अतिचारों के विधान का हेतु है।

गुलिश्तां में शेख सादी साहब इसी तथ्य को इन शब्दों में पेश करते है-'फरिश्ता (देवदूत) शैतान के साथ रहने लगे तो वह भी कुछ दिनों में शैतान बन जाएगा।'

महाभारत में व्यासजी कहते हैं-

यादृशैः सन्निविशते, यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पुरुषः॥

मनुष्य जैसे मनुष्यों की संगति में रहता है, जैसों की सेवा करता है तथा जैसा बनना चाहता है, वैसा ही बन जाता है।

वस्तुतः संसर्ग से गुण उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं। अतएव मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसने अपना जो लक्ष्य निर्धारित किया है और उसकी प्राप्ति के लिए जो साधन चुने हैं, उनके प्रति एकनिष्ठ बने रहने के लिए वह ऐसे लोगों की प्रशंसा एवं परिचय से बचता रहे, जिनके सम्पर्क से उसके चित्त में दुविधा उत्पन्न हो, विक्षेप हो, अनास्था हो, चंचलता हो।

इस कथन का आशय यह नहीं है कि जो साधक परिपक्व हो चुके हैं, वे असन्मार्गगामी जनसमूह को सन्मार्ग पर लाने के लिए भी उनके सम्पर्क में न आवें। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। साधना की प्राथमिक स्थिति में चलने वाले साधकों को खासतौर पर इन अतिचारों से बचना चाहिए।

अतिचारों के विषय में उपासकदशांग में इस प्रकार पाठ मिलता है—'पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा' अर्थात् पांच अतिचार ज्ञातव्य तो हैं, परन्तु आचरणीय नहीं हैं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिसका आचरण ही नहीं करना है, उसे जानने से क्या लाभ है? परन्तु हेय पदार्थ भी ज्ञेय होता है। जिसे हम जानेंगे नहीं, उसके दुष्परिणाम से अपरिचित रहेंगे और उसके त्याग की आवश्यकता भी अनुभव नहीं कर सकेंगे। कदाचित् अनजाने, देखादेखी या किसी के कहने मात्र से, त्याग कर भी दिया तो उस त्याग में संकल्प का बल नहीं होगा। ऐसा त्याग निष्प्राण होगा। अतएव त्याज्य वस्तु के दोषों को भी उसी प्रकार समझना चाहिए, जिस प्रकार ग्राह्य वस्तु के गुणों को समझना आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से अतिचार भी 'जाणियव्वा' हैं। जो सम्यग्दृष्टि अतिचारों को भलीभांति समझता है, वह सरलता से उनसे बच सकता है।

दृष्टि-परिवर्तन

✍ गणाधिपति श्री तुलसीजी

जैन साधना-पद्धति में 'सम्यक्‌दृष्टि' का बहुत महत्त्व है। 'सम्यक् दृष्टि' का तात्पर्य है-वस्तु को यथास्थिति समझना अर्थात् अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा मानना, रात को रात और दिन को दिन समझना। यह बहुत संभव है कि व्यक्ति में बुरा को छोड़ने की शक्ति न हो पर यदि वह बुराई को बुराई के रूप में स्वीकार करता है तो उसकी दृष्टि सम्यक् है।

प्रश्न होता है कि जब व्यक्ति बुराई को छोड़ नहीं सकता तो उसे मात्र बुरा समझने से क्या लाभ? सबसे पहला लाभ तो यह है कि सम्यक्‌दृष्टि व्यक्ति दूसरे को उस बुराई के रास्ते नहीं ले जाएगा। कोई उससे परामर्श लेगा तो वह उसे उचित परामर्श देगा।

उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को अफीम खाने की लत है। यदि वह मानता है कि मेरा अफीम-सेवन बुरी चीज है तो वह अपने इष्ट मित्रों को कभी अफीम खाने की प्रेरणा नहीं देगा। वह कहेगा-यह बहुत बुरी लत है, मैं तो आदतन आदी हो गया हूँ अतः लाचार हूँ, पर तुम इसके चक्कर में मत पड़ना।

यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही है तो आज नहीं तो कल काम लेगा; आज बुराई नहीं छोड़ सका है, पर कल अवश्य वह बुराई को छोड़ सकेगा। जहां सही दृष्टि होती है वहां व्यक्ति के मन में बुराई के प्रति ग्लानि पैदा होने लगती है। जहां बुराई के प्रति मन में पर्याप्त ग्लानि पैदा हो जाती है, वहां बुराई से मुक्त होने में देर नहीं लगती।

मानसिक ग्लानि के अभाव में उपदेश भी असर नहीं करता। कानून और व्यवस्था भी तभी कारगर होती है जब व्यक्ति का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाए।

शराब, दहेज, मृत्युभोज आदि बुराइयों के लिए आज अनेक प्रकार के कानून और सामाजिक वर्जनाएं हैं, पर क्या ये सब कार्य सर्वथा बन्द हो गए हैं ? जब ये सब बुराइयां ज्यों की त्यों चल रही हैं तो फिर कानून और सामाजिक वर्जनाओं ने क्या किया ? सामाजिक दृष्टि से कानून का अपना उपयोग है पर अकेला कानून अकिंचित् कर है। अकेला कानून बुराई को मिटाने के बजाय अन्य प्रकार की दूसरी-दूसरी बुराइयों को जन्म देता है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसी स्थिति में कानून नहीं रहने चाहिए ? नहीं रहने की बात मैं नहीं कह सकता। समाज और राष्ट्र की सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए सरकार और समाज को सब कुछ करना पड़ता है। यदि सरकार कानून व्यवस्था न बनाए रखे तो समाज में अराजकता फैल सकती है । पर इतना अवश्य है कि अकेले कानून से स्थायी काम नहीं होता। कानून तभी सफल होता है जब उसके पीछे दृष्टि परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार हो। ज़मीन तैयार हो, फिर बीज और वर्षा हो तो खेती होती है अन्यथा बीज और वर्षा उपयोगी साबित नहीं हो पाती।

दृष्टि-परिवर्तन के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, परन्तु वह ज्ञान श्रद्धायुक्त होना चाहिए। श्रद्धा-विहीनज्ञान दृष्टि में जैसा परिवर्तन चाहिए वैसा नहीं कर सकेगा। अतः

उसे अज्ञान की संज्ञा दी गई है। वैदिक दर्शन में जिसे अविद्या के नाम से पुकारा गया है, जैन दर्शन में उसे 'अज्ञान' के नाम से कहा गया। ज्ञान और अज्ञान या विद्या और अविद्या का जो अंतर है वह केवल पात्र-भेद का अंतर है, दृष्टि का अंतर है।

सम्यक् दृष्टियुक्त ज्ञान को 'ज्ञान' और मिथ्यादृष्टियुक्त ज्ञान को 'अज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान वही है पर दृष्टि भेद से वही ज्ञान 'अज्ञान' बन जाता है। एक शराब की खाली बोतल में किसी ने मधु डाल दिया, पर चूंकि बोतल पर लेबल शराब का लगा है अतः दूसरे आदमी उसे शराब ही समझेंगे, मधु नहीं। ऊंचा से ऊंचा तत्त्व भी तुच्छ के पास आ जाने से तुच्छ कहलाता है वैसे ही ज्ञान भी मिथ्यादृष्टि की कुसंगत में आ जाने पर कुत्सित होकर 'अज्ञान' की संज्ञा से जाना जाता है। (प्रवचनाधारित)

–जैन विश्वभारती , लाडनूं

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में भेद

शंका–सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के जानने में क्या अंतर है?

समाधान–सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के जानने में जो अन्तर कहा गया है वह वस्तु स्वरूप के विश्लेषण में कहा गया है। बाह्यदृष्टि दोनों की एक होने पर भी विचारधारा में बड़ा अन्तर रहता है। यह थोड़े ही है कि उन्मत्त पुरुष की विचारधारा सदा विपरीत ही रहती है, उसकी विचारधारा सुनिश्चित न होने के कारण भी जैसे मिथ्या मानी जाती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की भी विचारधारा यथार्थता की ओर अस्थिर रहा करती है। अतः वह मिथ्या मानी जाती है, सम्यक् नहीं तथा एक की विचारधारा संसाराभिमुख होती है जबकि दूसरे की विचारधारा मोक्षाभिमुख। मोक्षाभिमुख विचारधारा में समभाव और आत्मविवेक होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान का उपयोग समभाव की पुष्टि और आत्म जागृति में ही करता है, सांसारिक विषयवासना की पुष्टि में नहीं। मिथ्यादृष्टि की विचारधारा इससे विपरीत होती है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान चाहे कितना भी अल्प हो वह सच्चा ज्ञान माना जाता है और संसाराभिमुख मिथ्यादृष्टि का ज्ञान लौकिक दृष्टि से चाहे कितना भी विपुल क्यों न हो, वह मिथ्याज्ञान ही माना जाता है। उन्मत्त पुरुष के ज्ञान में यही तो होता है कि वह जानता हुआ भी सत्य असत्य के अन्तर से उन्मत्तता के कारण (विचारशून्य होने से) बेभान रहा करता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक वस्तु अनेकात्मक है तथापि मिथ्यादृष्टि उसे अनेकात्मक होने में या तो संदेह करता है या उसे मानता ही नहीं है। मिथ्यादृष्टि की आत्मा में वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करने में स्वरूप-विपर्यास, भेदाभेद-विपर्यास और कारणविपर्यास होते हैं जिससे वह मिथ्याज्ञान के कारण पदार्थों के स्वरूप, कारण और भेदाभेद का ठीक तरह से कभी भी निर्णय नहीं कर पाता, जबकि सम्यग्दृष्टि की आत्मा में ये नहीं होते हैं। इसलिए वह वस्तु का स्वरूप, भेद, कारण आदि का यथार्थ ज्ञान कर लेता है।

–आचार्य श्री घासीलाल जी म.सा.

जीवन-दृष्टि के परिवर्तन में सम्यक्त्व की भूमिका

☆ दुलीचन्द जैन*

साधना की आधार भूमि

जीवन के उत्कर्ष में सम्यक्त्व, जिसे सम्यग्दर्शन भी कहते हैं, का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की मुक्ति के मार्ग का विवेचन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि सम्यग्दर्शन मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र को रत्नत्रयी कहा गया है। इसमें प्रथम है - सम्यग्दर्शन। पञ्चास्तिकाय में कहा है—

> धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
> चिट्ठा तवंसि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥ पंचास्तिकाय, १६०

अर्थात् धर्म आदि का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंगों और पूर्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

दर्शन या श्रद्धा साधना की आधार-भूमि है। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, निष्ठा। स्वामी विवेकानन्द ने कहा - "प्राची धर्म कहते थे कि वह व्यक्ति नास्तिक है जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है, लेकिन नया धर्म कहता है कि वह व्यक्ति नास्तिक है जिसे अपने आप पर विश्वास नहीं है।" लेकिन श्रद्धा अंध श्रद्धा नहीं होनी चाहिये। श्रद्धा या दर्शन सम्यक् हो, सही हो। जब तक मनुष्य की दृष्टि सही नहीं है, उसकी सृष्टि सही नहीं हो सकती।

श्रद्धा के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। श्रद्धा साधना में आनन्द जगाती है, कार्य को रसमय बनाती है। आप जो कुछ कर रहे हैं, उस कर्म में आपकी श्रद्धा है, तो उसमें आपको अवश्य रस मिलेगा, आनन्द का अनुभव होगा। उपाध्याय अमर मुनिजी के शब्दों में - "मेरे दृष्टिकोण से कर्म से पहले कर्म के प्रति श्रद्धा जगनी चाहिये। यदि मैं आपसे पूछूं - अहिंसा पहले होनी चाहिये या अहिंसा के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिये? सत्य पहले हो या सत्य के प्रति श्रद्धा पहले हो? तो आप क्या उत्तर देंगे? बात अचकचाने की नहीं है और हमारे यहां तो बिल्कुल नहीं, चूंकि यहां तो पहला पाठ श्रद्धा का ही पढ़ाया जाता है। स्पष्ट है कि अहिंसा तभी अहिंसा है जब उसमें श्रद्धा है। सत्य तभी सत्य है, जब उसमें श्रद्धा है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि अहिंसा में श्रद्धा-निष्ठा नहीं है, तो वह अहिंसा एक पॉलिसी या कूटनीति हो सकती है, परन्तु वह जीवन का सिद्धान्त एवं आदर्श कभी नहीं बन सकती।" (पन्ना समिक्खए धम्मं, प्रथम पुष्प, पृष्ठ १३)

सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा गया कि "तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" अर्थात् पदार्थों के (तत्त्वों के) स्वरूप को सही रूप से जानना और उन पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। स्पष्ट है कि धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। अगर व्यक्ति के मन में धर्म, आत्मा, परमात्मा, गुरु व धर्मग्रन्थों के प्रति अटूट श्रद्धा नहीं है तो उसे धर्म का सही स्वरूप कभी समझ में नहीं आयेगा। श्रीमती सिन्कलेयर

---

* जैन साहित्यरत्न, मन्त्री जैनविद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, मद्रास

स्टीवेंसन एक अंग्रेजी महिला थी। उन्होंने एक बहुत ही शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखा है - "The heart of Jainism" अर्थात् जैन धर्म का हृदय। यह ग्रन्थ जैन धर्म की बारीकियों का वर्णन करता है। लेकिन जैन धर्म में उनकी आंतरिक श्रद्धा नहीं होने के कारण उन्होंने इसी ग्रन्थ के अंत में एक अध्याय लिखा - "The empty heart of Jainism" अर्थात् जैन धर्म का शुष्क हृदय। इसमें उन्होंने लिखा कि जैन धर्म अव्यावहारिक व दमनपूर्ण है, अहिंसा एवं शाकाहार का पालन करना असम्भव है। वे पूज्य आचार्य आत्मारामजी महाराज से भी मिलीं तथा उनसे काफी वार्ताएं की। आचार्य श्री ने उनसे कहा कि तुम धर्म को आचरण में लाने का प्रयत्न करो। पर वे नहीं कर सकीं। आचार्य प्रवर से सम्पर्क के दिनों में भी उन्होंने सिगरेट व शराब नहीं छोड़ी। अत: श्रद्धा के अभाव में वे जैन धर्म का मर्म नहीं समझ सकीं।

यदि सम्यग्दर्शन की किरण भी जीवन-क्षितिज पर चमक उठती है, तो गहन गर्त में गिरी हुई आत्मा का भी उद्धार होने में समय नहीं लगता।

धर्म का मूल है - सम्यक्त्व या जीवन का सही दृष्टिकोण। कर्म, ज्ञान, तप आदि का तभी तक महत्त्व है जब तक कि हमारे हृदय में सम्यक्त्व ज्योतिर्मान है। नहीं तो उन क्रियाओं का कोई फल नहीं मिलता। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन की एक घटना है। एक योगी उनके पास आया। कठोर तपस्या एवं साधना द्वारा उसने अनेक सिद्धियां प्राप्त कर ली थी। उसने कहा - "मैं गंगा नदी को उसके ऊपर चल कर पार कर सकता हूं।" श्री रामकृष्ण ने कहा - "तुम्हारी सारी साधना निरर्थक है। जो कार्य एक व्यक्ति चार आने देकर कर सकता है, उसमें तुमने अपने जीवन की साधना को लगाया। तुम्हें साधना द्वारा आत्मा व परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिये था।"

सम्यग्दर्शन का एक अर्थ है - देव, गुरु और धर्म में सच्ची श्रद्धा। जिसने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है, उसे ही देव कहते हैं, वीतराग कहते हैं। जिसने धर्म को अपने जीवन में आचरित किया है उसे गुरु कहते हैं। एक महापुरुष ने गुरु के निम्न लक्षण बताये हैं—

(१) जो आत्मनिष्ठ है और आत्मा का ज्ञान करा सकता है।

(२) जिसकी जिह्वा उसके वश में है।

(३) जिसे क्रोध नहीं आता।

(४) जो अकिञ्चन है - जिसमें लोभ की वृत्ति नहीं है।

धर्म मात्र पूजा या उपासना की पद्धति नहीं है, प्रत्युत वह आत्मा का सहज स्वभाव है। दशवैकालिकसूत्र, १.१ में धर्म का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है— : "धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं।" देव, गुरु और धर्म पर सच्ची आस्था रखने से मनुष्य के हृदय में श्रद्धा जागृत होती है। श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर मनुष्य को जीवन का सही अर्थ ज्ञात होता है तथा उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकाशमय हो जाता है।

श्रद्धा का बल

श्रद्धा हमारे जीवन पथ को आलोकित करती है - प्रकाशमय बनाती है। जब तक हमारे मन में सच्ची श्रद्धा नहीं है, बाह्य क्रियाएं हमें कोई फल नहीं देती। गुरु गोरखनाथ एक महान् योगी थे। उन्होंने अनेक सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं। एक बार वे साधना द्वारा पारस पत्थर प्राप्त करने में सफल हो गये। इस पत्थर द्वारा वे लोहे को सोने में परिवर्तित कर सकते थे। अब तो सहस्रों व्यक्ति उनके भक्त हो गये। एक बार वे अपने शिष्य मच्छिन्द्रनाथ के साथ यात्रा कर रहे थे। मार्ग में उन्हें एक गृहस्थ के घर पर भोजन के लिए रुकना पड़ा। उन्होंने झोली मच्छिन्द्रनाथ को दे दी। भोजन के बाद वे आगे चल पड़े। रास्ते में निर्जन वन था। गोरखनाथ ने अपने शिष्य को कहा - 'बेटा हमें निर्जन वन से होकर जाना है। रास्ते में कुछ भय तो नहीं है?' मच्छिन्द्रनाथ ने कहा - 'गुरुजी, भय को तो मैं रास्ते में ही फेंक आया हूँ। आप निश्चिंत विचरण करें।' गुरु गोरखनाथ ने देखा, झोली में वह पारस पत्थर नहीं है। उन्होंने कहा, "मूर्ख, तूने यह क्या किया, वह पत्थर सामान्य नहीं, पारस पत्थर था।" मच्छिन्द्रनाथ ने कहा - "महाराज आपने तो कञ्चन व कामिनी को त्याग दिया था, फिर पारस पत्थर में मोह कैसे किया?" ऐसा कह कर उन्होंने कहा कि मैं पास के पहाड़ पर लघुशंका करने जाता हूं। बाद में उन्होंने गुरु को बताया कि जहां जहां उन्होंने लघुशंका की, वहाँ का पत्थर सोने का बन गया । गुरु यह देख कर आश्चर्य चकित हो गये। मच्छिन्द्रनाथ ने कहा - 'गुरुदेव! यह आपकी ही कृपा है। पर हम लोग योगी हैं, सन्यस्त हैं, हमें पारस पत्थर का मोह रखना उचित नहीं। साधु के लिये तो स्वर्ण एवं पत्थर एक समान होने चाहिये।' इस प्रकार एक शिष्य ने गुरु की श्रद्धा को स्थिर किया।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है "श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी" अर्थात् श्रद्धा देवी ही लोक की प्रतिष्ठा है, आधार शिला है। आज के जीवन की विडम्बना है कि व्यक्ति चलता तो है पर उसके चरणों में श्रद्धा या निष्ठा का बल नहीं है। उसके मन में संशय, भय और अंधविश्वास छाया हुआ है।

आत्म-बोध

सम्यक्त्व की शास्त्रीय व्याख्या करते हुए कहा गया कि नौ तत्त्व सद्भूत पदार्थ हैं - १. जीव, २. अजीव, ३. बन्ध, ४. पुण्य, ५. पाप, ६. आस्रव, ७. संवर, ८. निर्जरा और ९. मोक्ष (उत्तराध्ययन सूत्र, २८.१४)। तत्त्वों अर्थात् पदार्थों में सबसे पहला जीव या आत्मा है। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आत्मा का सही बोध प्राप्त करना ही अध्यात्म-साधना का चरम लक्ष्य है। सात तत्त्वों, नव पदार्थों और षड्द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है आत्मा। मनुष्य के जीवन में सुख और दुःख दोनों को उत्पन्न करने वाली आत्मा है। इसलिये कहा गया कि आत्मा को जीतना ही सबसे कठिन कार्य है -

> जो सहस्सं - सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
> एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥" (उत्तराध्ययनसूत्र, ९.३५)

अर्थात् दुर्जय संग्राम में सहस्र-सहस्र शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा एक अपनी आत्मा को जीतना परम जय है - महान् विजय है। जो अपनी आत्मा को जीत लेता है, वही सच्चा संग्राम-विजेता है।

सभी आत्मवादी दर्शनों ने आत्मा को महत्त्व दिया है। जैन सूत्रग्रंथों में, गीता और उपनिषदों में आत्मा की महत्ता गाई गई है। आत्मा अजर है, अमर है, कर्त्ता हैं और कर्म का भोक्ता है, शुभ या अशुभ कर्म करने में स्वतंत्र है। इस आत्मा के बारे में श्रद्धा सम्यक्त्व का प्रधान लक्षण है। श्रीमद् रायचन्द्र ने 'आत्म-सिद्धि' ग्रन्थ में कहा है—

आत्मा छै, ते नित्य छै, छै कर्ता निज कर्म।
छै भोक्ता वली मोक्ष छै, मोक्ष उपाय सुधर्म॥

अर्थात् आत्मा है, वह नित्य है, वह अपने कर्म की कर्ता है और भोक्ता भी है। मोक्ष है और उसका उपाय सुधर्म है।

जब तक मनुष्य में आत्मा का बोध नहीं आता, आत्मा में उसकी श्रद्धा स्थिर नहीं होती, वह भटकता ही रहता है। बुद्धि का कितना भी उत्कर्ष हो, वह उसको प्रगति की ओर बढ़ने में, सफल बनाने में असमर्थ रहती है। महाकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने आधुनिक मनुष्य को लक्ष्य करके कहा है—

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान।
चेतता अब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान?" –कुरुक्षेत्र

आत्मा अनन्त शक्ति, वीर्य और तेज का पुञ्ज है। पर आज का मनुष्य इसे भूल कर पर-पदार्थों में अधिक आसक्ति रखता है। यही उसके दुःख का मुख्य कारण है। जब आत्म-शक्ति जागरित होती है तो व्यक्ति में असीम शक्ति आ जाती है। बचपन में एक शेर के बच्चे की कहानी सुनी थी कि वह अपने माता-पिता से बिछुड़ कर भेड़ों के एक समूह के साथ रहने लगा। थोड़े ही दिनों में वह दब्बू, कमजोर और कायर बन गया। एक दिन एक शेरनी ने इस समूह पर हमला किया। सारी भेड़ें भय से भयभीत होकर भागने लगी। शेरनी के तेजस्वी रूप को देखने से उस शेरनी के बच्चे को अपने आत्म-स्वरूप का भान हुआ। वह एक छलांग लगाकर भागा तथा शेरनी के साथ सम्मिलित हो गया।

रामायण में वर्णन आता है कि जब हनुमान राम के दूत बनकर लंका पहुंचे तो राक्षसों के किसी भी अस्त्र-शस्त्र से वे पराजित नहीं हुए। किन्तु आखिर इन्द्रजीत के नागपाश में बंध गए। उस समय रावण ने व्यंग्य में कहा - 'इस बंदर का मुंह काला करके इसे नगर से बाहर निकाल दो। ताकि सब को मालुम हो कि रावण से मुकाबला करने वाले का क्या परिणाम होता है।' हनुमान ने यह सुना तो उनका आत्म-तेज हुंकार उठा । उन्होंने सोचा - यह तो हनुमान का नहीं, राम का अपमान होगा। मैं राम का दूत हूं, शरीर मेरा है, आत्मा राम की है। कहते हैं यह सोचते ही उनमें आत्मा की वह शक्ति जगी कि वे एक झटके में ही नागपाश को तोड़कर मुक्त हो गए। आत्म-शक्ति का ज्ञान आत्म-जागरण का प्रथम सोपान है।

अलिप्त जीवन

जब मनुष्य को आत्मा एवं अन्य तत्त्वों का भान होता है, उन पर श्रद्धा होती है तब उसके जीवन का दृष्टिकोण बदल जाता है। संसार में रहकर भी वह संसार से लिप्त नहीं होता। अध्यात्म-सार, ५.२५ में इस बात को बड़े सुंदर रूप से व्यक्त किया गया है - "कोई तो विषयों का सेवन करते हुए भी अनासक्त भाव के कारण

सेवन नहीं करता । कोई सेवन न करते हुए भी आसक्ति के कारण सेवन करता है। जैसे अतिथि रूप में आया कोई पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से - उसमें लिप्त नहीं होता। अनासक्त व्यक्ति के साथ भी यही स्थिति है।" इसी बात को राजस्थानी के एक कवि ने कहा है -

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अंतरगत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

अर्थात् जिस प्रकार धाय बच्चे को खिलाती-पिलाती है, उसका लालन-पालन करती है, फिर भी हर समय यह भाव संजोये रखती है कि यह मेरा पुत्र नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कुटुम्ब में रहता हुआ भी उससे अलग रहता है।

इस प्रकार का व्यक्ति कर्म से लिप्त नहीं होता। समयसार गाथा २१८-२१९ में कहा है - 'जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना, कीचड़ से लिप्त नहीं होता, उसे जंग नहीं लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी संसार के पदार्थ-समूह से विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार लोहा कीचड़ में पड़ कर विकृत हो जाता है, उसे जंग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव पदार्थों में राग-भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्दर्शन द्वारा मनुष्य के हृदय में आत्मा का प्रकाश झलकने लगता है, पर-पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति कम हो जाती है, जीवन जीने का सही उद्देश्य ज्ञात हो जाता है तथा मन, अपूर्व शान्ति व आनन्द का अनुभव करने लगता है।

देह से भिन्न अजर अमर आत्मा का बोध कराने वाली यह दृष्टि जीवन को सही मार्ग की ओर अग्रसर करती है और व्यक्ति बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने तथा आगे परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

C/o जैन इन्डस्ट्रीयल कॉरपोरेशन,
७०, शम्बुदास स्ट्रीट, मद्रास, ६०००१८

सम्यक्त्व-बैंक

मुस्कुराती सुबह शाम को ढली होती है, जीवन की पीठ पर मौत लिखी होती है।
बढ़ालो बढ़ा सकें धर्म मे कदम, क्यों कि साँसों की कोई गारंटी नही होती है ॥
प्रभु का दरबार ही अनन्त सुख का टैंक है, अनन्त सुख के टैंक में सम्यक्त्व रूपी बैंक है।
सम्यक्त्व रूपी बैंक में जो भी खाता खोलेगा। वो ही धर्म रूपी ब्याज कमा कर मोक्ष का द्वार खोलेगा ॥
जो वस्तु को जलादे उसे आग कहते हैं, जो जीवन को जलादे उसे राग कहते हैं।
जो जीवन को ऊँचा उठादे, उसे त्याग कहते हैं। जो मुक्ति तक पहुँचादे उसे वैराग कहते हैं।
समता के बिना साधना नहीं होती । निर्मलता के बिना उपासना नहीं होती ॥
श्रद्धान करलो आत्म-तत्त्व सम्यक्त्व है। बिना श्रद्धा के कोई आराधना नहीं होती ॥

डा. वी.डी. जैन, दारोगा हाऊस हल्दियों का रास्ता, जयपुर-३

सम्यग्दर्शन और कषाय विजय

☐ सम्पतराज डोसी*

सम्यग्दर्शन एवं मोह का सम्बन्ध

यह विशेषांक सम्यग्दर्शन के अर्थ, व्याख्या, भेद-प्रभेद आदि विविध प्रकार की सामग्री से तो युक्त है ही इसलिए यहां सम्यग्दर्शन के साथ मोह एवं उसके प्रमुख भेद राग व द्वेष अथवा क्रोध, मान, माया एवं लोभ का कितना और कैसा सम्बन्ध है तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा मोह एवं कषाय की कमी अथवा इनके पूर्ण क्षय से प्रत्येक प्राणी के व्यावहारिक जीवन में कैसी शांति प्राप्त होती है इस विषय में यत् किंचित् चिंतन प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्यग्दर्शन व्यवहार हो या निश्चय, द्रव्य हो या भाव, उपशम हो या क्षायिक आदि ये सब कार्य रूप हैं और मोह एवं कषाय की आंशिक कमी, उपशम या क्षय आदि इसके प्रमुख कारण हैं। जिस प्रकार घड़े रूप कार्य के लिए मिट्टी प्रमुख कारण है तथा कपड़े रूप कार्य में तंतु मुख्य कारण है, बिना मिट्टी के घड़ा और बिना तंतु के कपड़ा नहीं बन सकता, ठीक उसी प्रकार कषाय एवं मोह की कमी या क्षय आदि के बिना सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन का भावार्थ

आगमों में सम्यग्दर्शन के लिये स्थान-स्थान पर 'सम्मदिट्ठी' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'सम्मा' या 'सम्म' शब्द का मुख्य अर्थ होता है—सम्यक्। हालांकि 'सम्म' का सीधा अर्थ सत्य नहीं होता फिर भी सम्यग्दर्शन के विलोम शब्द को मिथ्या दर्शन कहते हैं और उसके लिये आगमों में 'मिच्छादिट्ठी' शब्द का प्रयोग हुआ है और मिथ्या एवं 'मिच्छा' शब्द का अर्थ असत्य होता है इसलिये 'सम्म' का अर्थ सत्य भी मानना उचित है। 'दर्शन' शब्द का अर्थ विचारधारा, मान्यता, देखना अथवा विश्वास आदि होता है। 'दर्शन' के लिये आगमों में 'दिट्ठी' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका प्रमुख अर्थ दृष्टि, देखना अर्थात् आत्मा से आत्मा को देखना या आत्मा की अनुभूति से सत्य का श्रद्धान करना है। उपर्युक्त अर्थों से सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची शब्दों के रूप में सही या सत्य 'मान्यता' या विचारधारा, 'आत्मदर्शन' 'स्वरूप दर्शन' 'सद्दर्शन' 'शाश्वत सत्य' आदि अनेक गुणसूचक नाम व अर्थ कहे जा सकते हैं।

दुःख एवं अशांति का मूल : मिथ्यादर्शन

संसार में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, रोग, शोक, वियोग अथवा जन्म, जरा, मृत्यु आदि जितने भी प्रकार के दुःख हैं उन सभी दुःखों का मूल एवं वास्तविक कारण प्राणी के स्वयं का दृष्टि -दोष अर्थात् गलत विचारधारा या मिथ्या दर्शन है। यह दोष प्राणी की समझ में न आने के कारण उसकी समझ विपरीत होती है और इसके फलस्वरूप उसका सारा आचरण, अथवा साधना भी विपरीत हो जाती है जिससे प्राणी सुख चाहते हुए और सुख के लिये अनन्त जन्मों तक प्रयत्न करते हुए भी इन दुःखों से मुक्त होकर सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

मिथ्यात्व का मूल : मम एवं अहम्

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शांति, अनन्त शक्ति आदि सभी गुण प्रत्येक प्राणी में रहे हुए हैं। स्वयं की अन्तर आत्मा में ये गुण अप्रगट रूप से

* उपाध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

रहे हुए होने पर भी जब तक आत्मा को अपने स्वरूप एवं गुणों का सच्चा ज्ञान एवं दृढ़ विश्वास नहीं होता तब तक वह धन, कुटुम्ब, शरीर एवं अहं जो 'पर' है 'पुद्गल' है, अजीव है, जड़ है उनमें दृढ़ विश्वास करता है और उन्हीं के माध्यम से मिलने वाले सुख को ही सच्चा सुख मानता है जिसके फलस्वरूप इनसे गहरा ममत्व एवं अहंत्व करता है। हालांकि यह नितान्त भ्रम है, मिथ्या है, फिर भी अनन्त काल से इसी भ्रम में जीने के कारण इस आत्मा में भ्रम के संस्कार इतने दृढ़ हो जाते हैं कि अपनी अन्तर आत्मा के अभिमुख होकर अपने स्वरूप एवं गुणों को देखने, समझने की रुचि ही जागृत नहीं होती। 'पर' के इस मिथ्या मम एवं अहम् को ही मिथ्यादर्शन कहा जाता है। अधर्म या दुःख का मूल एवं सभी पापों का मूल भी यह मिथ्यादर्शन शल्य एवं अठारहवां पाप ही माना गया। जब तक यह मिथ्या मोह नहीं छूटता तब तक सच्चे सुख के साधन रूप धर्म या सम्यग्दर्शन का प्रारंभ ही नहीं होता।

पुण्य व धर्म का भेद

दर्शन या दृष्टि-शुद्धि के अभाव में किये जाने वाले ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहा जाता है, फिर चाहे वह सूत्रों का या पूर्वों तक का ही ज्ञान क्यों नहीं हो । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में आचरण के रूप में किये गये पुरुषार्थ को धर्म न मानकर पुण्य माना गया । यद्यपि इस दृष्टि शुद्धि के अभाव में भी आत्मा देव-गुरु-धर्म पर अटूट श्रद्धा तथा ज्ञान के क्षेत्र में नौवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक का ज्ञान तथा चारित्र के क्षेत्र में शुक्ललेश्या युक्त विशुद्ध द्रव्य चारित्र का आराधक तक भी हो सकता है और ऐसी उत्कृष्ट साधना भी एक बार नहीं बल्कि अनन्त बार हमारी आत्मा ने कर ली, फिर भी मुक्ति तो दूर धर्म की शुरूआत रूप सम्यग्दर्शन भी अधिकांश को प्राप्त नहीं होता है। कैसा विचित्र एवं दुर्लभ है इस सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना। अनन्त बार हर आत्मा पुण्य को ही धर्म मान लेने रूप धोखा खाया करती है। व्यवहार या बोलचाल की भाषा में पुण्य को ही धर्म कहा या माना भी जाता है।

दुर्लभ श्रद्धा

आगमकारों ने भी आगमों के गहरे ज्ञान एवं कठिन त्याग रूप चारित्र की प्राप्ति से भी अनन्तगुणा कठिन व 'परम दुर्लभ' इस निश्चय सम्यग्दर्शन को माना है यथा—'सद्धा परम दुल्लहा' (उत्त. अ. ३ गाथा ९) इसकी प्राप्ति का फल भी इतना अलौकिक बताया कि जिस जीव को यह मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिये भी प्राप्त हो जाय तो उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है और जिस जीव को आयुष्य बन्ध के पूर्व यदि विशुद्ध अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाय तो वह निश्चित ही उसी भव में मुक्त हो ही जाता है।

मोह का क्षय ही मोक्ष

जैन दर्शन की चारों परम्पराओं में आत्म-विकास के क्रम में चौदह गुणस्थान माने गये हैं। प्रथम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मोह कर्म की प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षमोपशम आदि होता है तथा बारहवें गुणस्थान में मोह का सम्पूर्ण क्षय होता है जिसके होते ही अन्तर्मुहूर्त में जीव तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेता है। अर्थात् मोह कर्म रूप सेनापति के सम्पूर्ण नष्ट होते ही शेष तीन घाती कर्म नष्ट हो ही जाते हैं। इसीलिए आठ कर्मों में मोह कर्म को ही राजा की संज्ञा दी गयी। मोह एवं कषायों से मुक्त होने को ही सच्ची मुक्ति माना गया। कहा भी

है-'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'।

मोह के भेद -प्रभेद

मोहकर्म के मुख्य दो भेद होते हैं। प्रथम दर्शन मोहनीय, दूसरा चारित्र मोहनीय। इनमें दर्शनमोहनीय के ३ तथा चारित्र मोहनीय के २५ भेद हैं।

(१) **दर्शनमोहनीय के तीन भेद**–१. मिथ्यात्व मोहनीय, २. सम्यक्त्व मोहनीय ३. मिश्र मोहनीय

(२) **चारित्रमोहनीय के २५ भेद**–

(i) कषाय मोहनीय के सोलह भेद।

१-४	अनन्तानुबन्धी–	क्रोध	मान	माया	लोभ।
५-८	अप्रत्याख्यानी–	क्रोध	मान	माया	लोभ
९-१२	प्रत्याख्यानी–	क्रोध	मान	माया	लोभ
१३-१६	संज्वलन–	क्रोध	मान	माया	लोभ।

(ii) नोकषाय मोहनीय के नौ भेद–१. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. भय, ५. शोक, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्री वेद, ८. पुरुष वेद ९. नपुंसक वेद

दर्शन मोहनीय की तीन व चारित्र मोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) इन सात प्रकृतियों के क्षय से परम विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन, सातों के उपशम से विशुद्ध उपशम सम्यग्दर्शन तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय एवं मिथ्यात्व मोहनीय व मिश्र मोहनीय के क्षय या उपशम तथा सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से शुद्ध क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और मिश्र मोहनीय के उदय से अर्ध शुद्ध मिश्र दृष्टि मानी जाती है। ये सब निश्चय सम्यग्दर्शन हैं। द्रव्य व व्यवहार सम्यग्दर्शन में सातों प्रकृतियों का उदय ही माना जाता है। इस उदय में भी जितनी-जितनी मन्दता या कमी आती है उतना-उतना द्रव्य व व्यवहार सम्यग्दर्शन भी शुद्धि की ओर बढ़ता है।

गुणस्थानों का विभाजन

क्षायिक सम्यग्दर्शन में गुणस्थान चौथे से चौदहवें तक होता है। उपशम सम्यग्दर्शन में गुणस्थान चौथे से ग्यारहवें तक तथा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन में गुणस्थान चौथे से सातवें तक रहता है मिश्र दृष्टि में गुणस्थान मात्र तीसरा होता है।

अनादिकालीन मिथ्यात्व से छूटने पर जीव सर्वप्रथम चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है। यहीं से मोक्ष रूपी महल की नींव या धर्म रूप वृक्ष की जड़ लग जाती है। इससे पूर्व प्रथम गुणस्थान में जीव पाप रूप पेड़ के आंशिक रूप से डाली, पत्ते, तना आदि अनेक बार काटता है और अनन्तानुबन्धी कषाय को तथा मिथ्यात्व मोहनीय को हल्का करता है जिससे मन, वचन, काया की प्रवृत्ति शुभ हो जाती है। लेश्या शुक्ल हो जाती है पर आत्मा में बैठी हुई मिथ्यात्व मोहनीय रूप जड़ के पूरी तरह नहीं कटने से पुनः पुनः अनन्तानुबन्धी कषाय कम अधिक होते रहते हैं जिसके फलस्वरूप जीव चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है।

मिथ्या दर्शन क्या है ?

संसार में अधिकांश प्राणी पौद्गलिक धन, कुटुम्ब, शरीर आदि की संयोग रूप अनुकूलता में सुख और इनके वियोग या प्रतिकूलता में दुःख मानते हैं। संयोग एवं वियोग अथवा अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के होने का मूल कारण स्वयं के किये हुए शुभ या अशुभ कर्म हैं जिनका कर्ता एवं भोक्ता वह स्वयं ही है, इस रहस्य को नहीं जानने के कारण आत्मा अपने को सुख में सुखी व दुःख में दुःखी अनुभव करता है। हर प्राणी चाहता तो है कि अनुकूलता सदा बनी रहे और प्रतिकूलता कभी आवे ही नहीं जिससे कि उसको दुःखी न होना पड़े, परन्तु चाहने पर भी ऐसा होता नहीं और अनन्त काल तक अनन्त जन्मों में सुख के लिये अथक प्रयास व साधना करने पर भी वह सच्चे रूप में सुखी हो नहीं पाता। इस सारे चक्र का मूल कारण आत्मा का स्वयं का दृष्टिदोष है और इस दृष्टिदोष को ही मिथ्यादर्शन माना गया है।

पर में सुख मानना मिथ्यात्व

पर अर्थात् स्वरूप आत्मा से जो भिन्न है अर्थात् जो जड़ है, अजीव है जिसमें न चेतना है न संवेदना है और न सुख-दुःख का गुण है उस 'पर' रूप पौद्गलिक वस्तु या परिस्थिति में सुख-दुःख की कल्पना करना मूल भूल है और यही मिथ्यात्व है। इस मिथ्यादर्शन के प्रभाव से प्राणी की समझ भी मिथ्या हो जाती है। जब मानना और जानना मिथ्या हो जाता है तब सारा आचरण अर्थात् सुख के लिये किया गया प्रयास भी मिथ्या ही होता है। प्रश्न होता है कि पुद्गल में सुख नहीं है तो सुख लगता क्यों है ? मिश्री खाते ही मुंह मीठा होता है और सुख प्रत्यक्ष महसूस होता है। मिश्री, धन अहं आदि के मिलते ही सुख महसूस होता ही है, फिर कैसे माना जाय कि सुख पुद्गल रूप मिश्री, धन आदि में नहीं है ? हालांकि प्रश्न बहुत गहरा एवं यथार्थ है फिर भी गहराई से चिन्तन करने पर उत्तर समझ में आ सकता है। पहली बात तो अगर मिश्री में सुख देने की शक्ति हो तो सभी जीवों को सुख मिलना ही चाहिये, पर गधे को मिश्री अच्छी नहीं लगती। दूसरी बात भर पेट मिश्री खा लेने पर आखिर थोड़ी देर के लिये तो घृणा होने लग ही जाती है। तीसरी बात व्यक्ति प्रतिदिन भरपेट मिश्री ही खाये और कुछ दूसरा खाये ही नहीं तो शायद दो चार दिन भी पूरे नहीं निकाल सकेगा। चौथी बात मुंह को भले ही अच्छी लगे, पर पेट में जाकर वही दस्त आदि का कारण बनने पर दुःख रूप हो जाती है। इसी प्रकार धन के विषय में भी समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए लाख रूपये के हीरा या सौ रुपये के नोट को एक अबोध बालक चार चाकलेट के बदले खुशी-खुशी छोड़ सकता है। दूसरी बात सौ से दस हजार रूपये सौ गुने होते हैं पर क्या सौ रूपये वाले को दस हजार रूपये मिलने पर उसका सुख सौ गुना बढ़ता है अथवा क्या सौ रूपये वाले भिखारियों से दस हजार रूपये वाले सौ गुना सुखी होते ही हैं? उत्तर आखिर नकारात्मक ही मिलेगा। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने तम्बाकू, जर्दा आदि नशीले पदार्थ कभी चखे ही न हों उसे यदि धोखे से पान में रखकर खिला दिए जायें तो उसे चक्कर आने लगेंगे या उल्टी भी हो सकती है पर वही व्यक्ति थोड़ी थोड़ी करके हमेशा खाने लगे तो कुछ महीनों एवं वर्षों में वह उस नशे के आधीन हो जाएगा। जैसा कि प्रायः शराब, भांग, गांजा, हीरोइन, ब्राउन शुगर आदि के व्यसनी आजकल होते ही हैं। उन्हें उस वस्तु के न मिलने पर चक्कर आते हैं। आखिर बदला कौन ? वस्तु तो जो पहले थी

वही अब भी है, पर व्यक्ति पराधीन हो गया। इसी प्रकार अनेक उदाहरणों से समझा जा सकता है। जैसे पैदल चलने वालों को साइकिल में सुख दिखता है, पर स्कूटर या कार वाले को साइकिल में सुख नहीं बल्कि दुःख लगता है। अगर सुख साइकिल में हो तो वह सबको समान सुखदायक लगनी चाहिये। इसी प्रकार विष्ठा मनुष्य को घृणास्पद लगता है पर भंडसूरे को और विष्ठा में उत्पन्न होने वाले कीड़े को तो सुखप्रद ही लगता है। इस प्रकार कोई भी भौतिक वस्तु ऐसी नहीं जो सभी प्राणियों के लिए सुखप्रद या दुःखप्रद ही हो। इसका कारण यह है कि सुख या दुःख का गुण या सुख दुःख होने की शक्ति पुद्गल में होती ही नहीं। परन्तु जीव के अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण पर में जो सुख लगता है उसीके फलस्वरूप वह धन, कुटुम्ब, शरीर एवं अहं आदि में ही ममत्व कषाय रूप मोह करता है। परन्तु रति, अरति आदि नोकषाय और उससे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष एवं क्रोध, अहं (मान) आदि सभी कषाय रूप चारित्र मोहनीय के भेदों की जड़ 'दर्शन' मोहनीय मानी जाती है और दर्शन मोहनीय के भेदों में सबसे प्रमुख मिथ्यात्व मोहनीय को माना गया है। यहां तक कि मोह कर्म की २८ प्रकृतियों और आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों में भी सबसे प्रमुख प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय की मानी गई है।

मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व आत्मा के स्तर तक

जैन आगमों में योग तीन प्रकार के माने गये हैं यथा मन, वचन एवं काया। इनमें काया के योग को आठस्पर्शी पुद्गलों वाला और मन एवं वचन के योगों को चार स्पर्शी पुद्गलों वाला माना गया है, पर तीनों योग पौद्गलिक अर्थात् अजीव हैं। इनका संचालक आत्मा है जो अरूपी होने के साथ इनसे अनन्तगुणी शक्ति का धारक भी होता है। इसी प्रकार आठ कर्मों को एवं अठारह पापों को भी चार स्पर्शी पौद्गलिक माना गया है। (भगवतीसूत्र शतक १२, उद्दे. ५) परन्तु तीन दृष्टि मिथ्या, सम्यक् एवं मिश्र को तथा पांच ज्ञान, तीन अज्ञान एवं चार दर्शन इन सबको अरूपी माना गया है। जिससे यह फलित होता है कि मिथ्यात्व एवं अज्ञान आत्मा के स्तर तक होते हैं और ये आत्मा के वैभाविक गुण हैं। सम्यक्त्व तथा ज्ञान आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। ये भी जब तक शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के स्तर से बढ़कर आत्मा के स्तर तक नहीं होते तब तक निश्चय दृष्टि से सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसीलिये शरीर, इन्द्रिय, मन अथवा हृदय के स्तर तक के सम्यग्दर्शन को द्रव्य व व्यवहार सम्यग्दर्शन ही माना है। सभी जीवों को इस स्तर का सम्यग्दर्शन तो अनन्त बार प्राप्त हो जाता है। (पन्नवणा पद-१५)

द्रव्य व व्यवहार क्या है?

गुणशून्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं जैसे आत्मा रहित मनुष्य के शरीर को द्रव्य मनुष्य कहते हैं और आत्मा सहित मनुष्य के शरीर को भाव मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार की व्याख्या 'पराश्रितो व्यवहार' अर्थात् 'पर' यानी पुद्गल के आश्रित या जड़ क्रिया को व्यवहार माना गया है। 'स्वाश्रितो निश्चयः' अर्थात् स्व यानी आत्मा के भाव को निश्चय माना गया है।

धर्म का जीवन परक अर्थ

सम्यग्दर्शन एवं मोह अथवा रागद्वेष या कषाय आदि की उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चा शायद कुछ व्यक्तियों के समझ में आये या न भी आये इसलिए धर्म जो आत्मा का मुख्य गुण है जिसका सम्बन्ध प्राणी मात्र से हैं जिसको सामान्य व्यक्ति भी आसानी

से समझ सकता है अतः उसका विवेचन भी अत्यन्त आवश्यक है। धर्म वास्तव में शांति से जीवन जीने की कला है जिसे प्रत्येक व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या साधु, गरीब हो या धनवान, दुःखी हो या सुखी विद्वान् हो या सामान्य बुद्धि वाला, रोगी हो या नीरोग सभी समझ भी सकते हैं तथा पालन करके इसी जीवन में सच्चे सुख एवं शांति की अनुभूति कर सकते हैं।

धर्म आत्मा का गुण एवं स्वभाव है

धर्म की अनेक व्याख्याएं हो सकती हैं परन्तु पूर्वाचार्यों ने आगम सम्मत व्याख्या करते हुए कहा 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् जिस वस्तु का जो स्वभाव अर्थात गुण है वह उस वस्तु का धर्म कहलाता है। जैसे पानी में शीतलता, अग्नि में उष्णता, सूर्य में प्रकाश आदि। इसी प्रकार संसार में मुख्य दो ही तत्त्व तथा द्रव्य हैं—एक जीव दूसरा अजीव अथवा एक चेतन, दूसरा जड़। जीव तत्त्व के मुख्य दो भेद होते हैं शुद्ध जीव जिन्हें सिद्ध या परमात्मा कहते हैं और दूसरे संसारी जीव जिनके अनेक भेद होते हैं। इसी तरह अजीव या जड़ के भी मुख्य दो भेद होते हैं एक अरूपी जिसमें रंग, रूप, गंध, स्वाद आदि नहीं होते और अत्यन्त सूक्ष्म होने से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अथवा किसी भी यन्त्र आदि से न देखे जा सकते और न ग्रहण किये जा सकते हैं। दूसरा भेद जिसे पुद्गल कहते हैं जिसमें रंग, रूप, गंध, स्पर्श, स्वाद तथा प्रभा, छाया, मिलना, बिछुडना आदि अनेक गुण होते हैं। पुद्गल का शुद्ध रूप परमाणु पुद्गल कहलाता है जो चरम चक्षुओं से या यन्त्रों से न देखा जा सकता है न ग्रहण ही किया जा सकता है। जीव एवं पुद्गल दोनों जब शुद्ध अवस्था में होते हैं तब तक दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु दोनों जब तक अशुद्ध जिसे विकारी या विभाव अवस्था कहा जाता है, में रहते हैं तब तक दोनों का सम्बन्ध रहता है। विकारी जीव के पुद्गल के साथ के सम्बन्ध को बन्ध कहा जाता है। जीव जब अपने शुद्ध स्वरूप को अनुभूति के स्तर पर जानकर मान लेता है तो अपनी विकारी या विभाव दशा को त्याग कर हमेशा के लिये शुद्ध अवस्था जिसे मोक्ष तत्त्व माना गया है को प्राप्त कर लेता है।

सुख के दो भेद-प्रथम भौतिक दूसरा आध्यात्मिक

सुख मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। प्रथम भौतिक अथवा पौद्गलिक है जो सातावेदनीय अर्थात् जीव द्वारा पूर्व में किये गये शुभ कर्मों के फलस्वरूप मिलता है। सभी प्रकार के भौतिक सुखों का समावेश धन, कुटुम्ब, शरीर एवं अहं के सुख में हो जाता है। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक प्रत्येक संसारी जीव इसी सुख को ही सुख जानते, मानते हैं तथा जो आचरण चाहे वह पाप रूप हो अथवा पुण्य रूप हो, इसी सुख के लिये करते हैं। वास्तव में यह सुख, सुख न होकर सुखाभास होता है जैसा कि मिश्री, हीरा, नोट, साइकिल, शराब, हीरोइन, विष्ठा आदि के उदाहरणों से पहले सिद्ध किया जा चुका है। इस सुख में दुःख या अशांति छिपी हुई रहती है जो व्यक्ति को सच्चे ज्ञान के अभाव एवं दृष्टि दोष के कारण अनुभव में नहीं आ पाती। जैसे किसी को पीलिया रोग होने पर हर वस्तु पीली ही नजर आती है चाहे वह शुद्ध सफेद ही क्यों न हो, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि रूप जो आत्मा का पीलिया है उसके कारण उसे अशांति या दुःख भी सुख रूप ही लगता है। यह दृष्टिदोष मिथ्यात्व मोहनीय के उदय के कारण होता है। जिस प्रकार शराब आदि के नशे या क्लोरोफार्म

आदि से शारीरिक एवं मानसिक बेहोशी आती है, ठीक उसी प्रकार मोह का नशा भी आत्मा को बेभान कर देता है। जिसके फलस्वरूप आत्मा इस धोखे में सुख में छिपे हुए दुःख एवं अशांति के रहस्य को समझ नहीं पाता।

दूसरा सुख जो वास्तविक एवं सच्चा है तथा वेदनीय कर्म के क्षय से प्राप्त होता है। यह सुख प्रकट होने के बाद वापस नहीं जाता। यह सुख आध्यात्मिक होने से अव्याबाध एवं अनन्त होता है और आत्मा का ही गुण होने के कारण सत्ता रूप से रहा हुआ सभी प्राणियों में पाया जाता है। इस सुख की प्राप्ति के लिये भी पहले मोह कर्म और उसके फल राग, द्वेष एवं चारों कषायों का क्षय करना आवश्यक होता है।

सुख एवं शांति में अन्तर

मोह एवं अज्ञान के फलस्वरूप अधिकांश प्राणी सुख में शांति रहती है और दुःख में अशांति रहती है, यही जानते और मानते हैं। इसीलिये शांति की आशा से सुख के साधन बढ़ाते ही जाते हैं। जिस प्रकार भिखारी को दस हजार में, दस हजार वाले को पांच लाख में, पांच लाख वाले को पचास लाख में और पचास लाख वाले को करोड़ों में सुख दिखाई देता है पर करोड़ों मिल जाने पर भी जब सच्चे रूप में सुखी नहीं होता तब उसे लगता है कि वास्तविकता या सच्चाई इसमें भी नहीं है। जिस प्रकार धन के बढ़ने पर तृष्णा उससे आगे से आगे बढ़ती ही जाती है इसी प्रकार भौतिक सुखों के बढ़ने पर भी शांति के स्थान पर अशांति ही बढ़ती जाती है। उदाहरण के रूप में जैसे किसी के पास पांच लाख रूपये थे तब उसके एक दुकान थी और बढ़ते-बढ़ते बीस लाख होने पर चार दुकानें कर ली। वह दुकानें एक की चार होने का सुख तो महसूस करता है पर तनाव रूप अशांति भी साथ में बढ़ती ही है।

राग में दुःख भी सुख लगता है

अशांति तो बहुत सूक्ष्म और छुपी हुई होती है । इस कारण इसका पता चलना कठिन होता है, परन्तु राग में बड़ा दुःख भी महसूस नहीं होता। जिस प्रकार एक पांच वर्ष की बच्ची अपने एक वर्ष के भाई को गोद में लेकर चले और कोई व्यक्ति उससे कहे कि इतना भार मत उठा तो वह कहती है कि यह भार नहीं है, मेरा भाई है। परन्तु यदि उसके भाई के वजन से आधे वजन का पत्थर उसे उठाने को कहे तो वह कहेगी कि यह तो बहुत भारी है इतना वजन मेरे से नहीं उठ सकता। भाई के भार का दुःख प्रत्यक्ष होते हुए भी ममत्व के कारण महसूस नहीं होता। इसी प्रकार चांदी, सोना आदि की भी वजन के साथ कीमत बढ़ती है, पर अधिक कीमती होने के अभिमानजन्य सुख के कारण वजन का दुःख महसूस नहीं होता। विवाह शादियों में लाखों-करोड़ों का खर्च व्यक्ति अहं के लिये खुशी-खुशी कर देता है, पर किसी दुःखी भाई के लिए सौ-पचास का त्याग भी उसे कठिन लगता है।

अहं एवं राग मीठे जहर

क्रोध एवं द्वेष प्रतिकूलता से होते हैं इसलिये दुःख रूप लगते हैं। इनको ज्ञानियों ने अफीम के समान काले एवं खारे जहर के समान कहा, परन्तु राग एवं अहं अत्यन्त मीठे, लुभावने एवं सुहावने लगते हैं इसलिये इनको मीठा जहर कहा गया। जैसे किंपाक फल या बादाम का हलुआ जिसका रंग, रूप, स्वाद सुगंध आदि सब

अच्छे हों, परन्तु उसमें पोटेशियम साइनाइड जैसा जहर मिला हो तो देखने, खाने आदि में अच्छा लगने पर भी काम तो जहर का ही करता है। इसी प्रकार अनुकूलता के सुख में भी प्रतिकूलता का दुःख छिपा ही रहता है। कवि ने भी ठीक ही कहा है–

काम भोग प्यारा लगे, फल किंपाक समान।
मीठी खाज खुजावतां, पीछे दुःख की खान॥

इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों में भी रागादि छिपे होने से उनके कडुवे फलों का ज्ञान नहीं होता और मनुष्य इन पापों को खुशी-खुशी करता है। कहा भी है–

जीव हिंसा करता थका, लागे मिष्ट अज्ञान।
ज्ञानी इमे जाने सही, विष मिलियो पकवान॥

तनाव स्वयं ही हिंसा है

क्रोध से तनाव या अशांति होती ही है। कोई भी व्यक्ति तनावग्रस्त हुए बिना क्रोध नहीं कर सकता । जिस व्यक्ति पर क्रोध करते हैं उसे भी बुरा लगता है। क्रोध में 'पर' की हिंसा के पहले स्वयं की हिंसा होती है यह तो फिर भी समझ में आ सकता है, परन्तु राग या अहं भी बिना तनाव या अशांति के हो ही नहीं सकते, इस रहस्य को अनुभूति के स्तर पर बहुत ही कम व्यक्ति समझ सकते हैं।

राग आत्मा का रहस्यमय रोग

अधिकांश व्यक्ति प्रतिकूलता में होने वाले दुःख, अशांति एवं तनाव को तो समझ सकते हैं तथा अनुभूति होने से मान भी सकते हैं। प्रतिकूलताएं भी असंख्य प्रकार की होती हैं जैसे शारीरिक प्रतिकूलताओं में हजारों तरह के रोग होते हैं। एक भी रोग अनुकूल या अच्छा नहीं लगता। फिर वृद्धावस्था में शरीर के साथ मानसिक रोग भी हो जाते हैं। मरने का भय तो दुःख रूप लगता ही है। इसी प्रकार आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, मानसिक आदि दुःख भी अनेकानेक प्रकार के होते हैं। परन्तु एक बात अवश्य है कि जैसे दुःख प्रतिकूल लगता है तो उसके विपरीत सुख भी अवश्य होता है और वह अनुकूल लगता है। जैसे मरना प्रतिकूलता है तो जीना अनुकूल अवश्य लगेगा ही। इसी प्रकार वियोग के विपरीत संयोग, अपमान के विपरीत सम्मान, हानि के विपरीत लाभ आदि भी अनुकूल होते हैं। जिस वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति की प्रतिकूलता हमें दुःख एवं तनाव का कारण लगती है उसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति की अनुकूलता में हम सुख अवश्य मानते हैं। उदाहरण के रूप में हमारे इष्ट व्यक्ति या वस्तु के संयोग में हम सुख मानते हैं और वियोग में दुःख मानते हैं। गहराई से चिन्तन करने पर समझा जा सकता है कि वियोग के दुःख की जड़ संयोग का सुख है। इसी प्रकार अपमान में व्यक्ति दुःखी होता है तो उसका कारण सम्मान में सुख समझना है। मूल समस्या यह है कि व्यक्ति प्रतिकूलता के दुःख से तो बचना चाहता है पर अनुकूलता के सुख के भोग को छोड़ना नहीं चाहता। इस समस्या का कारण है प्राणी के अनादि कालीन ममत्व व अहंत्व के दृढ़ संस्कार, जिसे एक शब्द में राग कहते हैं। इस राग के रहस्यमय रोग को छोड़ना जितना कठिन नहीं उससे अधिक कठिन आत्मा के स्तर तक समझना एवं मानना है।

बौद्धिक, हृदय एवं आत्मा के स्तर का भेद

जानने और मानने के मुख्य चार स्तर होते हैं। पहला इन्द्रियपरक अर्थात् जैसा कान से सुनते हैं या आंख से पढ़ते हैं वैसा बोल भी देते हैं। हम देखते हैं कि छोटे बच्चे टी.वी. आदि पर गाने सुनते हैं वैसा वे गुनगुनाने भी लग जाते हैं जबकि उन शब्दों के अर्थ को वे चाहे बिल्कुल भी नहीं जानते हों। घर-परिवार में अच्छे-बुरे जैसे शब्दों का प्रयोग होता है बच्चों में भी उसी प्रकार की बोली के संस्कार बन जाते हैं। व्यक्ति जैसे जैसे उम्र में बड़ा होता है उसकी बुद्धि का विकास होता है। पहले इन्द्रियपरक ज्ञान से दूसरा बुद्धि परक ज्ञान विशेष महत्त्व का होता है। इस ज्ञान में हर शब्द को अर्थ, भेद, प्रभेद, व्याख्या आदि से जाना जाता है। नय-निक्षेप, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, संस्कृत व्याकरण आदि से वस्तु एवं विषय को अत्यन्त विस्तार एवं सूक्ष्मता से समझा जा सकता है। 'णाणस्स फलं विरई' ज्ञान के फल से विरति अर्थात् वैराग्य एवं त्याग होता है, परन्तु इस बौद्धिक ज्ञान के साथ अहं का खतरा भी रहता ही है। इस ज्ञान के साथ श्रद्धा एवं त्याग होना आवश्यक नहीं है। इन्द्रियों के ज्ञान के साथ जितनी-जितनी मस्तिष्क एवं बुद्धि जुड़ जाती है उतना उस बुद्धिपरक ज्ञान का विकास होता है। इस ज्ञान के साथ जितना मन एवं हृदय जुड़ जाता है तब इस जाने हुए ज्ञान के प्रति श्रद्धा बढ़ती है जिसके फलस्वरूप आचरण भी बढ़ता जाता है। उदाहरण के लिये बच्चा जब अधिक छोटा होता है तो उसे मल, मूत्र खराब है, अग्नि जलाती है, सांप काटता है, इतना इन्द्रिय या बुद्धि परक ज्ञान भी नहीं होता है। जैसे जैसे उम्र बढ़ती है और व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है उससे ये ज्ञान तो तीनों स्तर तक पांच सात वर्ष की उम्र तक में ही बढ़ जाते हैं। इसमें कुछ कारण पूर्व के संस्कार एवं कुछ कारण वर्तमान का वातावरण होता है। परन्तु क्रोध, मान, राग, द्वेष, मोह आदि बुरे है यह ज्ञान वर्षों तक पढ़ने, सुनने अथवा थोकड़े, शास्त्र, संस्कृत, प्राकृत-व्याकरण आदि के ज्ञाता या विद्वान् आदि हो जाने पर भी नहीं होता। अधिकांश तो बुद्धिपरक तक ही अटक जाते हैं। कुछ व्यक्तियों को यह ज्ञान जितना-जितना हृदयपरक होता है उतने-उतने वे त्याग मार्ग में बढ़ते भी हैं, जिसके फलस्वरूप श्रावक के अणुव्रत, साधु के महाव्रत एवं विविध प्रकार के तप एवं नियम धारण करते हैं। हालांकि ऐसा एकांत नियम नहीं है कि जितना बुद्धिपरक ज्ञान बढ़ता है, उतना ही त्याग बढ़ता है। कई व्यक्ति बिना बौद्धिक ज्ञान के भी पारिवारिक, आर्थिक, रोगादि कारणों से अथवा परलोक में नरक, तिर्यंच आदि के दुःखों के भय, मान, सम्मान आदि कषाय वश, अथवा किन्हीं सम्बन्धी के साधु-साध्वी बन जाने पर उनके रागवश आदि अनेक कारणों से जिनमें साधु साध्वियों की प्रेरणा सबसे मुख्य है से भी त्याग धारण कर लेते हैं। जिसका नतीजा ठीक नहीं होता। साधु समाज की हालत भी हमारे सामने ही है। विषयों के जोर से उनमें भी विविध प्रकार की शिथिलाचारी प्रवृत्तियां बढ़ती ही जा रही हैं। यहां तक कि बड़े-बड़े काण्ड या पलायनवाद भी बढ़ रहे हैं। फिर जो साधु वर्ग या सम्प्रदाय नाम शेष रह गयी उनमें भी अधिकांश साधु-साध्वियां कापायिक एवं राग-द्वेष की स्थिति से अन्तरंग में तो तनावग्रस्त हैं इस कारण आज का युवक-समाज दिशाविहीन सा बना हुआ है। उसमें अधिकांश को धर्म की सच्चाई क्या है, यह समझ में ही नहीं आ रहा है। सच्चे अध्यात्म के अभाव में संघवाद या सम्प्रदायवाद बढ़ता ही जा रहा है। धर्म के हृदय परक होने पर द्रव्य व व्यवहार शुद्धि

पूर्ण हो सकती है। देव, गुरु व धर्म पर अटूट श्रद्धा, मन, वचन, काया से होने ए शुक्ललेश्या युक्त होने से द्रव्य का अथवा क्रिया का आराधक तक तो जीव अनन्त बा हो जाता है, परन्तु फिर भी निश्चय सम्यग्दर्शन का आना आवश्यक नहीं है। ज्ञान, दर्शन चारित्र की चतुर्थ शुद्धि आत्मपरक कहलाती है। जिसमें जीव 'स्व' रूप आत्मा और 'पर रूप धन, कुटुम्ब, शरीर से भी आगे बढ़कर आत्मा के अन्दर छिपे हुए क्रोध एवं अह आदि कषायों, रागद्वेष एवं मोह- ममत्व के भावों को भी आत्मा की अनुभूति के स्तर तक 'पर' जान व मान भी लेता है। जिसके फलस्वरूप 'पर' में मोह अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय एवं पर के भोग के रस रूप अनन्त का अनुबन्ध कराने वाले अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय या उपशम हो जाता है। जन्मांध की आंखें खुल जाने से भी अनन्तगुणा आनन्द एवं शांति की अनुभूति सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मानी गयी है। इस आत्मपरक दृष्टि के होने से संसार के सभी प्राणियों को 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अथवा 'सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भुयाइ पासओ' (दश. अ.-४ गा.९) कथनानुसार अपने समान समझने लग जाता है और संसार के सभी अज्ञानी एवं मिथ्यात्वी जीवों के प्रति अनन्त भावकरुणा जागृत हो जाती है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् प्राणी मात्र से सच्ची मैत्री का व्यवहार करने लग जाता है। अपने अन्दर शेष रही हुई कषायों को शीघ्रातिशीघ्र नष्ट करने की भावना प्रबल हो जाती है। वस्तुतः आत्मा के स्तर तक होने वाले कषायों, राग-द्वेष एवं मोह का नष्ट होन ही सच्चा धर्म है।

धर्म का फल तत्काल शान्ति

आज अधिकांशतः धर्म के फल को परलोक से जोड़ दिया जाता है अथवा इस जीवन में भौतिक सुखों के मिलने को ही धर्म का फल मान लिया जाता है। वास्तव में धर्म का फल परलोक में नहीं, सदैव तत्काल मिलता है॥ दूसरी बात धर्म का फल शांति का मिलना है। अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष न करने रूप समभाव या समत का नाम ही सच्चा धर्म है। जिस प्रकार प्यासे व्यक्ति को पानी पीते ही तत्काल प्यास का होने रूप सुख मिलता ही है उसी प्रकार राग, द्वेष एवं क्रोध आदि कषायों से तनावग्रस्त एवं अशांत बने व्यक्ति को समता रूप धर्म का आचरण करते ही तत्काल शांति मिल ह जाती है। उदाहरण के तौर पर अपमान या हानि आदि होने के कारण व्यक्ति को क्रोध के आने की संभावना होते ही यदि वह विचार करले कि अपमान अथवा हानि से मेरी आत्म की क्या हानि हो सकती है? क्रोध करूंगा तो हानि अवश्य हो जायेगी और क्रोध मुझे एवं जिस व्यक्ति पर क्रोध करूंगा उसे भी दुःख होगा ऐसा दृढ़ निश्चय कर यदि समभाव अर्थात् क्षमा का भाव धारण कर लेता है तो वह क्रोध से होने वाले तनाव ए अशांति से तत्काल ही बच सकता है। कोई भी व्यक्ति तनावग्रस्त एवं अशान्त हुए बिन क्रोध कर ही नहीं सकता। क्रोध की तरह मान, माया, लोभ, राग, द्वेष अथवा हिंसा, झूठ चोरी आदि कोई भी पाप तनावग्रस्त एवं अशांत हुए बिना नहीं किया जा सकता अनुकूल संयोग जैसे धन, परिवार, अच्छा खान-पान इन्द्रिय के विषयों का भोग, सम्मा आदि के समय जो राग किया जाता है वह लगता तो सुख रूप है, पर वह भी मीठे जह के समान हैं और दुःखों की जड़ रूप अशांति उसमें भी छिपी हुई रहती है, पर अहं ए राग के नशे में व्यक्ति उस अशांति को न समझ सकता है न अनुभव कर सकता है अनुकूलता में राग न करना और प्रतिकूलता में द्वेष न करने का नाम ही समता या समभाव

है। समभाव से पुराने कर्मों का नाश एवं नवीन कर्मों का बन्ध रुक जाता है एवं तत्काल शांति भी मिल जाती है।

पाप, पुण्य एवं धर्म का भेद

संसार में आर्थिक, पारिवारिक, शारीरिक, मानसिक अथवा जन्म, जरा, मृत्यु तक में से कोई भी दुःख नहीं जो पाप का फल न हो, और कोई भी भौतिक या पौद्गलिक सुख ऐसा नहीं होता जो पुण्य का फल न हो। परन्तु दोनों के फल और बन्ध के कारण भिन्न-भिन्न हैं। पुण्य के फलरूप भौतिक सुख में तथा पाप के फल रूप दुःख में अर्थात् सुख एवं दुःख दोनों में पाप का बन्ध किया जा सकता है और दोनों अवस्थाओं में समभाव रूप शांति रखी या बढ़ाई भी जा सकती है। समभाव या समता धर्म कहलाता है और उसका फल तत्काल एवं भविष्य में भी शांति रूप ही होता है। आगमों में 'शुभस्य पुण्यं' तथा 'अशुभस्य पापं' (तत्त्वार्थसूत्र) अर्थात् मन, वचन, काया की शुभप्रवृत्ति से पुण्य एवं अशुभ प्रवृति से पाप का बन्ध माना गया है। अशुभ योग अर्थात् मोह एवं कषाय युक्त प्रवृत्ति से पाप का बन्ध होता है। मोह एवं कषायों की मन्दता अर्थात् कमी करने के पुरुषार्थ को शुभ योग कहते हैं, जिससे पुण्य का बन्ध होता है और कषायों एवं मोह के उपशम या क्षय करने रूप आत्मा के पुरुषार्थ को धर्म कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अधर्म एवं पाप का मूल मोह एवं कषाय है और कषाय एवं मोह की कमी या मन्दता के बिना पुण्य तथा मोह एवं कषायों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के बिना धर्म नहीं होता।

आज की स्थिति बड़ी विचित्र

यह ज्ञातव्य है कि धर्म न जैन होता है, न इस्लाम, न ईसाई, न पारसी, न वैदिक, न बौद्ध आदि। धर्म तो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, शांति आदि गुणों को कहते हैं, जिनकी सत्ता सभी आत्माओं में समान रूप से पाई जाती है। जैन, बौद्ध, ईसाई आदि तो सम्प्रदाय हैं। हम जैन कहलाने वाले भी मानते हैं कि हमारे पूर्वज जैन थे इसलिये हम भी जैन हैं। धर्म के नाम पर आज भी दौड़-धूप तो काफी होती है, पर धार्मिक ज्ञान के नाम पर न नवतत्त्व का, ज्ञान है न छः द्रव्यों का और धर्म के नाम पर जो क्रियाएं की जा रही हैं चाहे वह सामायिक हो, चाहे प्रतिक्रमण, न उनके पाठों का पता है, न अर्थ व भावार्थ का ही। श्रद्धा की स्थिति तो इन दोनों से भी अधिक खराव है। फिर अधिकांशतः धर्म करने का उद्देश्य होता है भौतिक सुखों की प्राप्ति जो स्पष्ट ही विषय और कषाय रूप पापों को ही बढ़ाने वाली होती है। तीर्थ यात्रा, संत-दर्शन आदि में भी नाम धर्म का होता है पर स्पष्ट ही घूमना, फिरना, अच्छा खाना एवं शहरों के दर्शनीय स्थानों को देखना मुख्य प्रयोजन सा हो गया है। फलस्वरूप इन प्रसंगों में इन्द्रियों एवं मन के पोषण रूप विषय और राग आदि कषायों को ही बढ़ावा मिलता है। विषय और कषायों का सेवन चाहे धर्म के नाम पर हो या पाप के नाम पर वह धर्म कदापि नहीं हो सकता, इसी प्रकार अहं एवं मम चाहे भोगों का हो या त्याग अथवा ज्ञान का हो तथा राग, द्वेष, ईर्ष्या, निन्दा, ममत्व आदि परिवार का हो या सम्प्रदाय का, इनमें धर्म या पुण्य नहीं हो सकता। और पाप का फल भौतिक सुख रूप भी नहीं हो सकता। तव सच्चा सुख एवं शांति तो हो ही कैसे सकते हैं? धर्म

के फल को इस जीवन में देखने का प्रचलन ही नहीं है । परलोक को सुधारने के लिए ही धर्म किया/कराया जाता है।

आत्मा के रोग की दवा : सच्चा धर्म

शरीर का रोगी दो तीन दिन दवाई लेकर देखता है कि मेरे रोग में कमी होकर नीरोगता बढ़ रही है या नहीं। धर्म भी तो आत्मा के मोह एवं राग के रहस्य मय रोग की दवा है । धर्म के फलस्वरूप जीवन में तनाव कम होकर शांति बढ़ती है।

जिस प्रकार देश में राजनैतिक पार्टियों की स्थिति बनी हुई है, नेताओं में व्यक्तिगत स्वार्थ या अपनी-अपनी पार्टी की ही चिन्ता है देश की चिन्ता किसी को नहीं है यही हालत आज धर्म में बड़े-बड़े आचार्यों, साधुओं एवं श्रावक संघों के पदाधिकारियों की बनी हुई है। अधिकांश में या तो व्यक्तिगत मम एवं अहं की तृप्ति के लिए या फिर अपने संघ एवं सम्प्रदायों के नाम के लिए दौड़-धूप हो रही है। समाज की अथवा आत्मा की चिन्ता किसे है? जिस प्रकार देश की स्थिति खराब हो रही है ठीक उसी प्रकार धर्म एवं समाज की स्थिति भी दिनों दिन खराब हो रही है तथा समाज भी पतन के गहरे गर्त में गिर रहा है। यह स्थिति किसी एक देश या एक समाज की नहीं, प्रायः सारे विश्व की और सभी धर्मों एवं समाजों की है। आज भौतिकवाद की आन्धी में सच्चा अध्यात्म रूप धर्म तो लुप्तवत् ही हो गया। भौतिकवाद से मिलने वाला सुख सच्चा न होकर सुखाभास होता है जिसमें अशांति बढ़ती ही जाती है। सच्चा सुख वह होता है जिसके साथ शांति बढ़े और वह अध्यात्मवाद के बिना संभव नहीं हो सकता। सुख एवं शांतिमय जीवन यात्रा रूपी रथ का एक पहिया अगर भौतिकवाद है तो दूसरा अध्यात्मवाद है। एक पहिये का रथ अधिक दूर ठीक तरह से चल नहीं सकता। आज के युग में इस शान्ति के रथ का अध्यात्म रूप दूसरा पहिया गल चुका है। इसी के फलस्वरूप विश्व में भौतिकवाद की एकांगी दौड़ से सुख के साथ अशांति भी बढ़ रही है। धर्म के फलस्वरूप शान्तियुक्त सच्चा सुख मिलता है, पर वह तभी संभव है जब धर्म के नाम पर भी मम एवं अहं किंचित् मात्र भी न हो अन्यथा विषय-कषाय एवं रागद्वेष की वृद्धि के साथ बढ़ता हुआ धर्म भी प्राणशून्य शरीरमात्र ही रह जाता है।

आज की आवश्यकता

जीवन रूपी रथ के अध्यात्म रूप दूसरे पहिये को सुधारने की आवश्यकता आज व्यक्ति से लेकर विश्व तक में है। सच्चे धर्म एवं अध्यात्म में भौतिकवाद की आंधी में सुख भले ही बढ़ जाये, पर शान्ति के अभाव में सुख भी गले का फन्दा ही बनता जा रहा है। युद्ध एवं तनाव चाहे धर्म, देश, सम्प्रदाय, वर्ग-भेद आदि किसी के नाम पर हो, वह सच्चा धर्म नहीं हो सकता। वह तो पाप एवं अधर्म ही है। व्यक्ति से लेकर विश्व तक में शांति से जीवन जीने की कला का नाम ही सच्चा धर्म है। सच्चे धर्म के फलस्वरूप जीवन में हिंसा के स्थान पर अहिंसा, मोह के स्थान पर प्रेम, वैमनस्यता के स्थान पर मैत्री, भ्रष्टाचार के स्थान पर सदाचार एवं तनाव के स्थान पर शान्ति मिलती है। ममत्व एवं अहंत्व रूप कषायों की कमी से प्राप्त होने वाले सच्चे सम्यग्दर्शन रूप धर्म की आज के युग में परम आवश्यकता है।

-संगीता साड़ीज, डागा बाजार, जोधपुर (राज.)

बढ़ते भोग-साधन और सम्यग्दृष्टि

☆ डा. धनराज चौधरी*

भौतिकी-वैज्ञानिक डा. धनराज चौधरी ने अपने लेख में विज्ञान के कारण बढ़ते भोग-साधनों के आकर्षण को मिथ्यात्व की श्रेणी में रखते हुए आध्यात्मिक दृष्टि किंवा सम्यग्दृष्टि को अपनाने पर बल दिया है।—सम्पादक

हमारे देश के लिए विज्ञान और आधुनिकता अब पराये नहीं हैं। कदाचित् पराये वे कभी भी नहीं थे, क्योंकि परिवर्तन आंधी तूफान की तरह छोटे स्थान में नहीं होते। परिवर्तन विश्वजनीन होता है। सारी धरती पर वही सौंध उठती है, वायु वैसा ही गीत गाती है और सूर्य की रश्मियां वैसी ही शक्ति संचारित करती है प्रत्येक महाद्वीप में। चोटी की हस्तियां विशेष अक्षांश और देशान्तर पर पैदा नहीं होती हैं, वे मशालें हर एक अंधेरे कोने में जलती हैं। यह नया प्रकाश ही होता है जो आधुनिक जर्जर के स्थान पर नई ऊर्जा को स्थापित करता है। जरा सोचें यह प्रकाश और यह ऊर्जा हमारे यहां क्या रूपाकार ग्रहण कर गये ?

परिवर्तन अवश्यंभावी है, वह तो होगा ही। परिवर्तन नियोजित होता है तो वांछित उपलब्धि होती है। नये की दिशा दृष्टिविहीन एवं दर्शन-परित्यक्त होती है, तो बहुत सारा प्राप्य होकर भी प्रयोजन रहित सा हो जाता है। दरअसल सारी दुनिया का हाल एकसा है। कितना सारा है सब कहीं, फिर भी हितकारी तो कुछ अंश ही है। जल, थल, पवन, अग्नि, आकाश सभी तो मनुष्य की पकड़ में हैं मगर मनुष्य स्वयं बेहाल। वह बेबस और प्रायः निरीह है। उपलब्धियां गिनायें तो अंगुलियों के खाने कम पड़ते हैं, मगर सुख की चादर बदन के लिए छोटी पड़ती है। लगता है कहीं कुछ अलग-अलग सा है बाहर का और भीतर का। शरीर का और शरीर से परे का। वस्तु और अवस्तु प्रकट और अप्रकट।

बदलाव की प्रक्रिया में लगता है कहीं इनका तालमेल बिगड़ गया। हो सकता है परिवर्तन के दबाव ही कुछ इस तरह के हों कि बाह्य जगत् अधिक संपुष्ट हो चला, भीतरी संसार क्षीणतर होता गया। नैसर्गिक तौर पर ऐसा नहीं होता है कि दक्षिणी ध्रुव कमजोर हो जाय और उत्तरी ध्रुव शक्तिशाली बना रहे। अथवा सिक्के के अंक का भाग अधिक उभार पाये और चित्र की साइड घिस जाय। मगर मनुष्य में तो ऐसा हुआ। इससे यह भी आभास होता है कि यह अनैसर्गिक है और कहीं व्यक्ति प्रकृति के तदनुरूप न होकर कुछ पृथक् हो गया है । आदिवासी प्रायः कहते हैं कि प्रकृति बड़ी है, आदमी छोटा है। आदिवासियों की यह और ऐसी बातें हाल ही में, बढ़ते असंतुलन के परिप्रेक्ष्य में, वजनदार हो चली। बर्नाड शॉ अपनी सारी बुद्धि का सौदा करने को तैयार हो उठे, केवल इसलिए कि वे आदिवासी की भांति उन्मुक्तता से नृत्य कर पायें। आस्ट्रेलिया के पर्यावरणविदों ने आदिवासियों की यह सीख गांठ बांध ली कि प्रकृति से उतना ही लो, जितना की उसे वापस लौटा सको। चारे की फसल भरपूर हो और उसमें रोग न लगे इसलिए रसायनों का बहुतायत में उपयोग हुआ तो बदले में वे ही रोगकारी रसायन दूध के जरिये व्यक्तियों की आंतों और जिगर में

---

* सह-आचार्य, भौतिकी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

जमा होने लगे। आदमी का पौरुषत्व बढ़े इसलिए युगांडा के विशेष गेण्डे के सींग के चूर्ण की मांग बढ़ी तो गेंडा प्रजाति लुप्त हो गई। जैविक विविधता के बिगड़ने से 'वन समस्या' एक नई भारी चिंता के रूप में मानव और जीव जाति के लिए आ खड़ी हुई। बर्बरों का आमोद-प्रमोद हिंसा हुआ करता था । वह आज किसी भी ऐरे-गेरे नत्थू-खेरे का रोमांच हो उठा। क्रूरता में कौन सबसे आगे आये, वह होड़ लगी है। बलात्कार, स्त्री की हत्या, परिवार की हत्या, लूटना और फिर घर जला देना, यह सब चलने पर भी लगने लगा मजे में कमी रह गई। सब कुछ करने पर भी कोई कसर रह जाना वह कमी है जिसने आज के मानस को ग्रस्त कर रखा है। वह रोगी भी हो चला, मगर रोग से उतना परेशान नहीं है। जो परेशान है, जो उसकी परवाह करते हैं वे ही छुटकारे के लिए भी अवकाश निकालते हैं।

वस्तुतः, स्थिति ऐसी लगती है कि बाह्य सुख-समृद्धि के मोटापे से बढ आये रक्तचाप और शर्करा की बीमारी से समाज का बहुल अभी त्रस्त नहीं है । जिन्हें इस वास्तविकता का पता लग गया वे बिस्तर पकड़े बैठे हैं। उन्हें नहीं भरने वाले घाव तथा सामान्य न होने वाली सांस न उठने देती है और न ही कुछ कहने । ऐसे में जो उनकी सेवा सुश्रूषा कर रहा है वह अन्य के अनुभव को निज का बनाकर कुछ करे, यही संभावित रास्ता नजर आता है।

मनुष्य ऊर्जावान् है इसलिए जोखिम उठायेगा। रहस्य उघाड़ने के लिए वह रोमांचकारी कार्य करेगा। हित अथवा अहित का सीमित नजरिया उसका उद्देश्य नहीं है। वह जल्दी बड़ा-बूढ़ा होना नहीं चाहता है। उपदेश और आदर्श को हेय समझता है। उसे न केवल कहने वाले की कथनी-करनी में अंतर लगता है, बल्कि उसे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष ही एक मात्र सत्य नजर आता है। समर्पण शब्द को वह हेय मानता है। उसके बोध, विश्वास और आचरण के प्रकार ही बदले-बदले हैं। उसका यथार्थ पदार्थ मात्र है और उसके लिए वस्तु ही सत्य है। चिकित्सा, कृषि, दिक् में उसकी गहरी पहुंच, पकड़ आदि उसका घमण्ड बढ़ाते हैं। बुद्धि लब्धि (आईक्यू) महत्त्वपूर्ण हो चली है तथा समझ और गहराई हेय। किसी ने कहीं नहीं पढ़ाया, मगर आज के युवा ने स्वयं आविष्कार किया है कि प्यार निरा पागलपन है। मानव-मूल्य को कूटनीति ने दूर धकेल दिया है और कवि की संवेदना अस्पष्टता में सिमट गई है। ऐसी और भी आवश्यक कुछ बातें हैं जो कि विद्यमान समय की लक्षण हैं। इनमें एक लक्षण है टूटन-भटकन थकन-खालीपन... मरण।

लगता है मनुष्य की आपाधापी और भागदौड़ का अंतिम सिरा है महज व्यर्थता का अनुभव, जिसे भांपा था हमारे मनीषियों ने। विश्राम को उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य माना था। श्रमहीन क्षणों में उसका कर्म और कर्मों से उपजे बंधन से सामना हुआ होगा। उससे प्राप्त मुक्ति को नाम दिया गया था पुरुषार्थ। उस पथ पर अग्रसर होने के लिए बतलाए गए विशेष बोध (सम्यग्ज्ञान), शुद्ध श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), निर्मल आचरण (सम्यक् चारित्र) और कर्म की निर्जरा के लिए तप समर्पण के रास्ते। गिरने के रास्ते भिन्न-भिन्न होते हैं, उन्नयन के सारे रास्ते एक ही हैं। इसलिए दृष्टि में बदलाव होना आवश्यक है। दृष्टि के बदलते ही संरचना का आकार और प्रयोजन

भिन्न हो जाता है। ऊर्जस्वी मनुष्य के पुरुषार्थ की दिशा बदल जाती है। जीवन सिक्के के दूसरे सिरे आत्मगुण-आत्मबल में उभार प्रकट होने लगते हैं। कमजोर पक्ष के स्व में निखार आने लगता है। अंतर का यह विकास और उसकी समृद्धि भटके संतुलन को पुनः स्थापित करते हैं।

पश्चिम की संस्कृति को ही आधुनिकता की परिभाषा मानना गलत है। युगानुरूपता आधुनिकता है। पश्चिम की नकल पर आये आकर्षक भोग-साधन वहाँ से आई तकनीकी की तरह ही घिसे-पिटे और पुरानी पड़ चली मशीनों की तरह के हैं। वे वहां काम के न रहे तो हम पर चतुराई से थोप दिये गये। अंशतः उनकी उपयोगिता और आवश्यकता भी है, मगर पूर्णतः नहीं। हमारी अपनी समृद्ध धरोहर है और परम्परा भी। वह गर्व की ही चीज नहीं बल्कि अनुकरणीय भी है। माना कि नया जरूरी है फिर भी हम भारतीयों के स्मरण में जो बात होना चाहिए वह यह कि हालांकि बीज, खाद और कीटनाशक आयातित हैं फिर भी हवा, पानी और जमीन देशी है जिस पर कि वर्तमान की फसल पनप रही है। उसे खड़ी रहने के लिए ठौर, बढ़ती रहने के लिए हवा-पानी यही के हैं, इसी सूक्ष्म मिट्टी के तत्त्व उसे ऊर्जा भी प्रदान करते हैं। बाहरी जितना आकर्षक हो उतना ही भीतरी समृद्ध हो तभी स्थायित्व आ सकता है। अन्यथा किसी भी एक की उपेक्षा करना अस्तित्व के साथ खिलवाड़ हो जाता है। ऐसा चिन्तन सम्यग्दृष्टि होने का संकेत है। सम्यग्दृष्टि होने पर भोग-साधनों के प्रति आकर्षण टूट जाएगा।

२छ५, जवाहरनगर, जयपुर

प्रज्ञा की आँख दो

आदमी को सूक्ष्मदर्शी होना चाहिये।
आदमी को दूरदर्शी होना चाहिये।
इन्हें सार्थक करने को सर्वप्रथम
आदमी को समदर्शी होना चाहिये ॥
सम्यग्दर्शी समदर्शी होता है।
सम्यग्दर्शी सत्यदर्शी होता है।
दिन-रात देखता रहता है वह,
सम्यग्दर्शी सर्वदर्शी होता है ॥
मैं नहीं कहता मुझे हजार दो, लाख दो,
स्वर्ण-रजत नहीं, दुर्लभ श्रद्धा की राख दो।
अनित्य-असत्य देख-देख उलझा हूँ।
सत्य को देख सकूं ऐसी प्रज्ञा की आँख दो ॥

—दिलीप धींग जैन, पो. बम्बोरा-३१३७०६, जिला-उदयपुर (राज.)

सम्यग्दर्शन और जीवन-व्यवहार

¤ रणजीत सिंह कूमट*

श्रीयुत कूमट सा. का यह लेख द्रष्टाभाव में रहने की प्रेरणा देता है। उनके अनुसार राग-द्वेष रूप प्रतिक्रिया किए बिना द्रष्टाभाव से रहना सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन व्यक्ति को दुःखमुक्त बनाने में सक्षम है तथा जीवन को भी सरल एवं सार्थक करता है।-सम्पादक

'सम्यग्दर्शन' मोक्षमार्ग का प्रथम चरण है। इसे रत्नत्रय में भी प्रथम स्थान प्राप्त है। सम्यग्दर्शन के महत्त्व पर पण्डित बनारसीदास ने कहा है—

बनारसी कहे भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
कै हूं भांति कैसे हूं कै ऐसी काजू कीजिए।
एकहू मुहरत मिथ्यात को विधुंस होई,
ग्यान को जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।
वाही को विचार वाको ध्यान यहे कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव वास कौ बिलास सविकार रूप,
अंत करि मोहकौ अनंतकाल जीजिए।।२४।। –समयसार नाटक, पृष्ठ ४३

यहां भव्य जीव को उपदेश दिया गया है कि कैसे ही कर ऐसा उपाय करो कि एक मुहूर्त के लिये ही मिथ्यात्व का नाश कर ज्ञान का अंश जागृत कर 'हंस' अर्थात् आत्म-तत्त्व को खोज लीजिए और उसी का विचार एवं ध्यान जीवनभर करके पुरमरस का पान कीजिए। मोह का नाश कर राग-द्रेषमय संसार में भटकना बंद करके सिद्धपद प्राप्त कीजिए।

एक अन्तर्मुहूर्त के मिथ्यात्व-नाश को भी मोक्ष मार्ग का अमोघ उपाय माना गया है तो जीवन में मिथ्यात्व का नाश हो, सम्यक् दर्शन आ जाये तो उस जीवन का तो कहना ही क्या? मोक्ष से पहले जीवन को और आज के वर्तमान को समझना आवश्यक है। क्या सम्यग्दर्शन हमें आज और वर्तमान में सुखी बनाता है या केवल भविष्य में मोक्ष की दिलासा ही देता है? क्या हम सम्यग्दर्शन से अपना जीवन व्यवहार सुधार सकते हैं? आज और अभी सुखी हो सकते हैं, या केवल सुख की आशा में ही जीने की कल्पना कर सकते हैं? यह जानने के लिये सम्यग्दर्शन तत्त्व को समझना होगा। सम्यग्दर्शन क्या है, और इसका जीवन-व्यवहार से क्या सम्बन्ध है?

सम्यक् का अर्थ दो तरह से किया जा सकता है। एक अर्थ में सम्पूर्ण रूप से देखने या जानने को सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान कहते हैं। दूसरे अर्थ में सही रूप से देखने और जानने को सम्यक् दर्शन व सम्यक ज्ञान कहते हैं। दोनों अर्थों में कोई विरोध नहीं है। सत्य के अनेक पहलू होते हैं अतः सब दृष्टिकोणों से जानना व देखना

---

* आई.ए.एस., सेवानिवृत्त अध्यक्ष, राजस्व विभाग, राजस्थान सरकार

सम्पूर्ण ज्ञान और दर्शन है और वही सम्यक् ज्ञान व दर्शन है। सही रूप से जानने का अर्थ भी यही है कि जो भी वस्तु है उसको सब पहलुओं से जानें। अतः सम्यक् दर्शन का अर्थ पूर्ण दर्शन व सही दर्शन दोनों अर्थों में उपयुक्त सिद्ध होता है।

'दर्शन' शब्द का अर्थ प्रायः केवल देखने से लिया जाता है। परन्तु चक्षुदर्शन से भिन्न अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवल दर्शन भी है जिनका न हमें अनुभव है न अभ्यास है। दर्शन प्राप्त करने में सर्वप्रथम बिना चक्षु के अन्तर्जगत् में क्या हो रहा है उसे देखना व अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर में अत्यन्त सूक्ष्म तरंगें चल रही हैं और शरीर पर कई तरह की संवेदनाएं उत्पन्न हो रही हैं, उनको सूक्ष्म रूप से बिना चक्षु के अनुभव करना अचक्षुदर्शन की प्रथम सीढ़ी है। संवेदना के खेल को जानने व देखने के साथ द्रष्टाभाव जागृत होने पर दर्शन सम्यक् दर्शन बनता है अन्यथा सुखद संवेदना के साथ राग और दुःखद संवेदना के साथ द्वेष उत्पन्न कर हम राग-द्वेष की कड़ी ही बढ़ाते हैं।

हमारा साधारण जीवन प्रतिक्रिया का जीवन है। जन्म से ही चाहने और न चाहने की प्रतिक्रिया सीखते हैं। जो संवेदना, वस्तु या व्यक्ति शरीर व मन को सुखद है, उसे हम अपने पास रखना चाहते हैं, संग्रह करना चाहते है अर्थात् राग करते हैं और जो दुःखद है उसे दूर हटाना चाहते हैं और उससे द्वेष करते हैं। इस राग-द्वेष के आधार पर हम मन में चिन्तन करते हैं, वाणी से कड़वे या मीठे वचन कहते हैं और प्रकट में शरीर से संग्रह या विग्रह की प्रवृत्ति करते हैं। इसीसे सामने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है और हम फिर पुरानी आदत के अनुसार पुनः प्रतिक्रिया करते हैं। सुखद वस्तु के आगमन से हम सुखी होते हैं और दुःखद वस्तु के आगमन से दुःखी। सुख और दुःख हमारे राग-द्वेष पर आधारित संस्कारजनित अनुभूतियां हैं। इन अनुभूतियों के आधार पर ही हम अपने को दुःखी या सुखी महसूस करते हैं। सुख की संवेदना को एकत्र करने को लालायित रहते हैं और दुःख की संवेदना को हटाने में तत्पर रहते हैं। परन्तु सम्यक् दर्शन की ओर बढ़ने वाला व्यक्ति इन दोनों अनुभूतियों को अनुभव के स्तर पर जानकर द्रष्टाभाव से निष्पक्ष रहेगा और केवल जानेगा व देखेगा। किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करेगा। तब ही उसका दर्शन सम्यग् बनेगा। इस तरह अनुभूति को जानकर केवल द्रष्टा की स्थिति में आने पर सत्य की अन्य गहराइयों में जाने की व सत्य के अन्य पहलुओं को जानने की स्थिति बनती है। अनुभूति ही हमारा जानने व देखने का आधार है और यही मार्गदर्शक बने, तब ही सत्य की गहरी परतें नजर आती हैं। पंडित बनारसीदास जी समयसार नाटक में अनुभव के महत्त्व को बताते हुए लिखते हैं-

> अनुभव चिंतामनि रतन,
> अनुभव है रसकूप।
> अनुभव मारग मोखकौ,
> अनुभव मोख सरूप॥

अनुभव चिंतामणि रूप है और वही शान्तिरस का कुआं है। अनुभव मुक्ति का मार्ग है और अनुभव ही मुक्ति-स्वरूप है।

अनुभव को प्रकट मुक्ति स्वरूप बताया इससे ज्यादा अनुभव के महत्त्व पर क्या कहा जा सकता है। परन्तु अनुभव क्या है इसकी भी व्याख्या पंडित श्री बनारसीदास जी ने की है, जो निम्न प्रकार है-

वस्तु विचारत ध्यावते,
मन पावे विश्राम।
रस स्वादन सुख उपजै,
अनुभव याको नाम।

आत्म-पदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शांति मिलती है तथा आत्मिक-रस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसको अनुभव कहते हैं।

आत्मानुभूति की हम सब बातें करते हैं, परन्तु क्या है और कैसे प्राप्त की जाये, यह एक मूल प्रश्न है। अपनी अनुभूति को हम स्वयं जानें व उसी के आधार पर सत्य की गहराई में उतरें और सत्य को जानें, यही आत्मानुभूति है। इस रस में डुबकी लगाते हुए अनुभूति को यथाभूत जानना, उसमें न तो कुछ थोपना है और न राग-द्वेष करना है तब ही हम सत्य का दर्शन कर पायेंगे और यही हमें केवल दर्शन की स्थिति में पहुंचायेगा । जहां हम केवल देख रहे हैं, और जो है वह जान रहे हैं और देख रहे हैं, न प्रतिक्रिया कर रहे हैं और न उसमें कुछ मिलावट कर देख रहे हैं। यथाभूत देखना ही सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन अर्थात् जैसा है वैसा देखना, उसमें अपना मत या विचार न थोपना, उसके प्रति राग-द्वेष न करना, जो है उसे स्वीकार करना यह प्रवृत्ति ही अंत में हमें केवल दर्शन पर पहुंचाती है। इसलिए कहा है कि घड़ी भर भी सम्यग्दर्शन की पकड़ हो जाये और आत्मतत्त्व के दर्शन हो जायें तो भव-नाश होकर मोक्ष मिल जाये। अतः सम्यक् दर्शन ही केवल दर्शन की प्रथम सीढ़ी है।

यदि जीवन में हमने यह सीख लिया कि जो है उसको यथाभूत जानें और स्वीकार करें व उसके प्रति राग या द्वेष की भावना न रखें तो हमारे प्रत्यक्ष जीवन में आज और अभी सुख का खजाना खुल जाएगा। जो हमारी स्थिति है उसको यथाभूत स्वीकार करलें व उससे राग या द्वेष न करें तो दुःख का मूल ही नष्ट हो जाता है। हमारे दुःख का मूल कारण राग या द्वेष ही है। जो चीज प्रिय है उसके प्रति राग कर उसे एकत्र करना, उसका संरक्षण करना और खो जाने पर दुःखी होना, यह दुःख है। जो चीज या स्थिति नहीं चाहिये उसे हटाना और हटाने में सफल न होने पर किसी अन्य को दोषी मानना और उससे वैर भाव रखना, यह भी दुःख है। यह बात मानसिक स्तर पर व तर्क के आधार पर तो हम सब स्वीकार करते हैं, परन्तु अनुभूति के स्तर पर न तो हम जानते है और न ही व्यवहार में उतारते हैं। अनुभूति के स्तर पर जब यह बात उतरेगी तब ही व्यवहार में प्रकट होगी।

अनुभूति के स्तर पर जब यह प्रतीत होगा कि जो भी वस्तु, पदार्थ या संवेदना जगत् में मिल रही हैं वे अनित्य हैं, जो आ रही हैं वे जा भी रही हैं, जो मिल रही हैं, वे बिछुड़ भी रही हैं, जो उत्पन्न हो रही हैं वे नष्ट भी हो रही हैं और यह क्रम प्रत्येक बाहरी वस्तु, पदार्थ या संवेदना में है तो महसूस होगा कि जो आ-जा रही है उसके

प्रति मोह कैसा? उसके संग्रहण का प्रयत्न क्यों? भगवान् महावीर ने कहा कि धन-अर्जन में भी दुःख, संग्रहण व संरक्षण में भी दुःख और इसके जाने पर भी दुःख होता है। जिस भी पदार्थ के प्रति हमारा राग या मोह है उसके अर्जन, संरक्षण व वियोग पर दुःख होगा ही। यदि राग-द्वेष भाव न रहे तो उनके आने पर या जाने पर दुःख नहीं होगा। अनित्य है, नश्वर है यह जानकर स्थिति को यथाभूत स्वीकार करना ही हमारी प्रवृत्ति बनेगी।

गुजरात के प्रसिद्ध कवि व सन्त श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में हमारी प्रवृत्ति इस प्रकार बने-

मेरा है सो जावे नहीं,
जावे सो मेरा नहीं।

यह भेदज्ञान, कि जो चीज जा रही है वह मेरी हो ही नहीं सकती है और ज़ो चीज मेरी नहीं है वह जा ही नहीं सकती, जीवन की पूरी दृष्टि बदल देता है। जो नश्वर है वह जायेगी और जो सत् है वह न नष्ट होगी और न जायेगी। जीव और परमाणु पुद्गल के आपसी संयोग-वियोग में जीव-तत्त्व सत् एवं अनश्वर है तथा परमाणु पुद्गल का संयोग पर्याय और गुण से बदलता रहता है। इस परिवर्तन को सही रूप से जानें तो दुःखी होने का कोई कारण नहीं। लेकिन जब सम्यक् रूप से नहीं जानते हैं तो परिवर्तन से अच्छी संवेदना मिलती है तो सुखी महसूस करते हैं और बुरी संवेदना मिलती है तो दुःखी महसूस करते हैं। परन्तु इन संवेदनाओं के प्रति यदि स्थितप्रज्ञ होकर केवल द्रष्टाभाव की स्थिति प्राप्त करें तो इन परिवर्तनों से 'न सुख, न दुःख' की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। यह स्थिति ही हमारे राग-द्वेष के प्रतिक्रियापूर्ण जीवन के चक्र को समाप्त कर सकती है। तब हम सक्रिय होकर अपने तरीके का जीवन जी सकते हैं। हमारा सुख बाहर की वस्तु पर आधारित न होकर हमारे अपने अन्तर पर आधारित होगा। बाह्य वस्तुओं यथा धन, जन, पद, यश, प्रशंसा आदि के आने से व्यक्ति न सुखी महसूस करेगा और न इनके जाने से दुःखी महसूस करेगा। यदि ये उपस्थित हैं तो हैं, और यदि नहीं हैं तो नहीं। इन्हें केवल खेल और नाटक मानकर स्वीकार करें तो जीवन सरल एवं सुखी बन जायेगा।

शेक्सपीयर ने कहा है 'यह जगत् एक मंच है और हम सब नाटक के पात्र हैं।' हर पात्र को एक या अनेक भूमिकाएं मिली हैं। उन भूमिकाओं को दक्षता से निभाना ही हमारा कर्त्तव्य है। हम अपनी भूमिका को सही रूप से न निभाकर अन्य पात्र की भूमिका की ओर ललचायी आंखों से देखें और कहें कि हमें वह भूमिका मिली होती तो ज्यादा अच्छा रहता, जो वर्तमान भूमिका मिली है वह अच्छी नहीं है तो हम जीवन भर दुःखी रहेंगे और नाटक के अनचाहे पात्र बन जायेंगे। हम जो हैं उसको सही रूप से जीयें और अपनी दक्षता दिखायें तो सफल व सुखी पात्र बन सकते हैं।

जीवन के प्रति यह द्रष्टा भाव उत्पन्न हो तो व्यवहार में पूर्णतः परिवर्तन आयेगा। तब हर परिस्थिति में हम सहज व सुखी प्रतीत होंगे और दुःख नाम की चीज ही नहीं रहेगी। हम हर स्थिति में खुश हैं। कोई प्रशंसा करे तो भी खुश हैं और कोई निन्दा

करे तो भी खुश हैं। निन्दा व निन्दाकर्ता के प्रति किसी भी राग-द्वेष की जरूरत नहीं। जो कर रहा है वह अनजाने में व अज्ञानवश कर रहा है, ऐसी भावना उसके प्रति रहे तो उसके प्रति द्वेष की बजाय करुणा के भाव जगेंगे और यही हमारे व उसके कल्याण का मार्ग होगा। एक-दूसरे के प्रति व्यवहार व बातचीत में पूर्वाग्रह की बजाय सम्यक् रूप से समझने की कोशिश करें कि सामने वाले ने जो बात कही है, वह किस अपेक्षा से कही है। हो सकता है उसने अपने दृष्टिकोण से कही हो और उसको वस्तु के अन्य पहलू का ज्ञान न हो। हो सकता है कि उसका मन स्वस्थ न हो। यदि अस्वस्थ मन अर्थात् क्रोध, लोभ आदि की भावना से ग्रसित हो, तो उस मन द्वारा कही बात अस्वस्थ व्यक्ति की बात मानकर उसका बुरा न मानें तो हमें भी दुःख न होगा और चूंकि हमने प्रतिक्रिया की ही नहीं, तो उस व्यक्ति को भी पुनः प्रतिक्रिया करने का मौका नहीं मिलेगा।

भगवान् महावीर के पास जब गोशालक आने वाला था और भगवान् को मालूम था कि उसके पास तेजोलेश्या है और उसका प्रयोग कर सकता है तो अपने सभी साधुओं को वर्जित किया कि गोशालक के आने पर व उसके बोलने पर कोई भी प्रतिक्रिया न करे और शांत भाव से बैठे रहें। गोशालक आया और काफी कटु शब्द कहे व तेजोलेश्या का प्रहार भी किया, परन्तु भगवान शान्त थे। तेजोलेश्या लौटकर गोशालक को ही प्रभावित करने लगी । जब तेजोलेश्या जैसे प्रहार भी हमारे शान्त भाव और क्षमा से निरस्त हो जाते हैं तो जीवन में मामूली क्रोध आदि के वशीभूत होने वाले गाली, निन्दा आदि के प्रहार हमें दुःखी नहीं कर सकते । ये भी अस्वस्थ मन के प्रहार हैं और अनित्य में शामिल हो जायेंगे।

जीवन का दर्शन सम्यक् हो गया तो जीवन सुखी हो जायेगा। सम्यक् दर्शन मोक्ष का आधार तो है ही, लेकिन आज और अभी जो जीवन है उसको कैसे अच्छी तरह व सुख से जीयें इसका मूलमंत्र है। जिसे यह दर्शन मिल गया, वह सफल जीवन जी जायेगा। जो इसके विपरीत जाकर वस्तु व प्रतिक्रिया के जीवन में रहेगा, निश्चित ही दुःखी जीवन जीयेगा।

भगवान बुद्ध ने कहा, चार आर्य सत्य हैं—

(१) दुःख है, (२) दुःख का कारण है, (३) दुःख का निवारण है और (४) दुःख निवारण का उपाय है।

ये चार आर्य सत्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ऊपर से देखने में बड़ा अजीब लगता है कि ऐसी छोटी छोटी बातों को आर्य सत्य कहा है, परन्तु गहराई से देखें तो बड़ी बात लगती है। हम दुःख मानते हैं और भोगते हैं, परन्तु दुःख को जानते नहीं। दुःख क्या है, इसे नहीं जानते, इसलिए दुःख का कारण नहीं जानते और दुःख का कारण नहीं जानते तो निवारण और उसका उपाय भी नहीं जानते हैं।

हम केवल दुःख मानते और भोगते हैं। दुःख हुआ तो उसका कारण बाहरी वस्तुओं या व्यक्तियों में ढूंढते हैं और उनको दूर करने में लगते हैं। परन्तु जिसने सही रूप से दुःख को जाना, वे जानते हैं कि दुःख हमारी अनुभूति में राग-द्वेष पर आधारित है। जिसने दुःख को सही रूप से जाना वह जान जायेगा कि इसका कारण क्या है, और निवारण क्या है। जिसने सही रूप से जाना नहीं वह कारण व निवारण ढूंढ नहीं सकता और न ही निवारण का उपाय ही कर सकता है। अतः दुःख को भोगने की बजाय जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो भोगता है व बंधता है और जो जानता है वह छूटता है।

दर्शन या दृष्टि का भेद ही हमारे जीवन की सारी गतिविधियों को बदल देता है। शिष्य गुरु से पूछता है—

> **ग्यानवंत को भोग निरजरा हेतु है।**
> **अज्ञानी को भोग बंधफल देतु है॥**
> **यह अचरज की बात हिये नहीं आवही।**
> **पूछे कोऊ सिष्य गुरू समझावही॥**

तब गुरु उत्तर देते है-

> **ग्यानी मूढ़ करम करत दीसै एकसे पै,**
> **परिनाम भेद न्यारो न्यारो फल देतु है।**
> **ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,**
> **ममता न धरै तातै निर्जरा का हेतु है।**
> **वहै करतूति मूढ करै पै मगनरूप,**
> **अंध भयौ ममतासौ बंध फल लेतु है।**

बाह्य कार्य को करने में सम्यग्ज्ञानी और मिथ्यात्वी एक से दिखते हैं, परन्तु उनके भावों में अन्तर होने से फल भी भिन्न-भिन्न होता है। ज्ञानी की क्रिया विरक्तभाव सहित और अहंबुद्धि रहित होती है इसलिए निर्जरा का कारण है, और वही क्रिया मिथ्यात्वी जीव विवेकरहित तल्लीन होकर अहंबुद्धिपूर्वक करता है इसलिए बन्ध और उसके फल को प्राप्त होता है।

एक ही काम दो व्यक्ति करें, परन्तु दोनों का फल अलग-अलग होगा। ज्ञानी या सम्यक्‌दर्शी के लिए वह कार्य निर्जरा का कारण बनेगा और वही गैर व्यक्ति को बंध का कारण बनेगा। सम्यग्दर्शी उस कार्य को यथाभूत भाव से करता व देखता है जबकि अज्ञानी उसको अहंभाव या कर्ताभाव से देखता है। अतः हमारी दृष्टि ही हमें बांधती या मुक्त कराती है। कार्य हम सब करते हैं, बिना कार्य के हम रह नहीं सकते। परन्तु जो कार्य अहंभाव या ममता या राग-द्वेष से किये जाते हैं वे हमें बांधते हैं और जो राग-द्वेष रहित ममतारहित होकर यथाभूत भाव से किये जाते हैं वे हमें मुक्त कराते हैं। अर्थात् नई प्रतिक्रिया को रोककर पूर्व संचित संस्कारों को समाप्त कराते हैं। यही हमारे जीवन को सुखकारी बनाता है और अनन्त आनन्द की प्राप्ति कराता है।

A-201, दशरथ मार्ग,
हनुमाननगर, जयपुर-६

सम्यग्दर्शन और जीवन-साधना

☆ श्रीमती रतन चोरडिया*

सम्यग्दर्शन को साधना का मूल माना गया है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का जीवन-व्यवहार कैसा होता है, इसका श्रीमती चोरडिया के प्रस्तुत लेख में भलीभांति चित्रण हुआ है।—सम्पादक

इस जीव को जीव का बोध कैसे हो? इस आत्मा को आत्मा का ज्ञान कैसे हो? बहिरात्मा अन्तरात्मा कैसे बने? कैसे हमारी आत्मा, आत्म-भावों में प्रतिपल जाग्रत रहे? इसी के लिये सारी साधना है। रत्नत्रय के मार्ग में हम निरन्तर आगे बढ़ते रहें, यही साधना है। भव-बंधनों को काटकर अजर, अमर, शाश्वत-सुख को प्राप्त करना ही साधना का मूल लक्ष्य है। मानव से महामानव, नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा, भक्त से भगवान व चेतन से चिदानंद बनना ही साधना का चरम लक्ष्य है। साधना में आस्था, निष्ठा और श्रद्धा भाव होने पर ही जीवन में मौलिक परिवर्तन आ सकता है। जो ज्ञान भव-बंधनों को तोड़ कर हमारे जीवन को पवित्र व सुखी बनाये, ऐसे ज्ञान को हम अर्जित करते जायें। चिंतन करें कि मेरे जीवन की दौड़-धूप किस मार्ग पर हो रही है। मैं अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिये कितना व कैसे प्रयत्न कर रहा हूं। जो-जो बुराइयां मेरे जीवन रूपी अमृत को विकृत कर रही हैं उनसे मैं कैसे बच सकता हूँ।

भूल हमारी समझ की है। हम समझते हैं कि संसार-व्यवहार में हम चाहे जो कर लें; हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, दंभ, व्यभिचार आदि कार्यों को करते रहें और फिर थोड़ा साधर्मिक कार्य करें तो हमारे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे, या हम तो संतों के यहां जाते हैं, धार्मिक हैं, मुक्ति तो हमारे हाथ में है।

वस्तुतः धर्म कभी जीवन से अलग हो नहीं सकता। यदि जीवन अलग है व धर्म अलग है तो तीन काल में भी हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। जीवन के कण-कण में धर्म की सुगन्ध फूटनी चाहिये।

संसार का प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण हो। पाप कार्य में हमारा आकर्षण व आसक्ति न हो, बल्कि खेद हो कि संसार में रहकर मुझे ये सब कार्य करने पडते हैं। मैं उन सब कार्यों को करते हुए भी अन्दर से जाग्रत रहूँ, आत्म भावों में रहूँ, पाप कार्यों से जितना-जितना बच सकता हूँ, बचूँ। जो-जो कार्य मेरी आत्मा के लिये विषम वातावरण पैदा कर उसे मलिन बनाते हैं ऐसे कार्यों से जितना हो सके बचूँ। इस तरह जिसके जीवन में विवेक की ज्योति जग जाती है उसके जीवन का नक्शा ही बदल जाता है। उसका रहन-सहन, खान-पान, चाल-ढाल उसकी गतिविधि, सब कुछ बदल जाता है। विवेक की ज्योति जिसके हृदय में प्रज्वलित हो जाती है वह भटक नहीं सकता। ठोकर खा नहीं सकता, कर्मबंध उसके तीव्र हो नहीं सकते। अतः जीवन के हर क्षेत्र में विवेक का प्रकाश आवश्यक है।

यह संसार बड़ा विचित्र है। हर व्यक्ति जानता है कि मुझे सब कुछ यहीं छोड़कर जाना है। मेरा सब कुछ संग्रह किया हुआ छूटने वाला है। धन यहीं रहेगा, तिजोरी यहीं

---

* प्रमुख स्वाध्यायी एवं समाजसेविका

रहेगी। सत्ता, संपत्ति-अधिकार, पद-परिवार सब यहीं छूट जायेंगे। इनमें से कोई भी मेरे साथ जाने वाला नहीं। यह जीव अकेला आया है और अकेला जायेगा, पर फिर भी इतनी आसक्ति, इतनी लालसा, इतनी कामना, इतनी तृष्णा से ग्रस्त है कि वह सोचता है कि संसार में जितना भी है सब मेरा हो जाये। इन सबका उपयोग मैं ही करूं। जितना भी सुख है वह मुझे ही मिले, किसी दूसरे को न मिले। कितने संकुचित स्वार्थ में व्यक्ति आज जकड़ रहा है। संक्लेश भाव इस कलियुग में बहुत ज्यादा है। एक माँ की गोद में खेले भाई-बहिन को दूसरा भाई सहयोग कर दे तो यह भाभी को पसन्द नहीं। यहाँ तक कि जन्म देने वाली माँ की सेवा बेटा करे या पास बैठकर बात भी करे, यह बहू को पसन्द नहीं। घर वालों से बढ़कर पीहर वाले अच्छे लगते हैं। कहीं-कहीं तो नौकर की रोटी सस्ती व माँ की रोटी महँगी लगती है। मित्रों को बुलाना, उनसे मिलना, उनके साथ घूमना-फिरना अच्छा लगता है, पर घर वालों के साथ उठना-बैठना बुरा लगता है। ऐसे मलिन भावों के रहने पर हमारी जप-तप साधना कैसे सफल हो सकती है। साधना तभी सफल होगी जब हम ऐसे विषम वातावरण व कलुषित भावों से बचेंगे। जिन गंदे विचारों से व मलिन भावों से हमारी आत्मा दुर्गति का मेहमान बने ऐसे भावों को दफना कर हमें साधना करनी है। हर क्षण जाग्रत रहकर चिंतन करें कि विषय-कषाय की यह कालिमा आत्मा को काली न बना दे। जहां-जहां से चिपकाव है, मोह है, आसक्ति है, लगाव है, मैं जितनी जल्दी हो सके उसे छोड़ूं व आत्म-भावों में रमण करूं।यही साधना है, तपस्या है।

यह अज्ञानी जीव अपने ही अज्ञान से झूठी मान्यता व मोह में फंसकर भटक रहा है। ये सारे ही संयोगी भाव हमें रुलाने व भटकाने वाले हैं। यह कैसा आश्चर्य कि यह चेतन अपने आपको ही नहीं जानता, नहीं मानता। जो जलने वाला है, जो गलने वाला है, जो छूटने वाला है, जो नष्ट होने वाला है, जो बनने व बिगड़ने वाला है उन्हें खूब मानता है, ममत्व करता है, उन्हीं में रचा-पचा रहता है। इस शरीर व शरीर से संबंधित सभी संयोगों के पीछे पागल बनकर वह रात-दिन चिंता-फिक्र करता रहता है। इस जीव ने सबको संभाला, सबकी चिंता की, पर अपने आपको भूल गया, यही सबसे बड़ा मिथ्यात्व है, यही अज्ञान है, इसी से हम दुःखी बनते हैं।

इस जीव ने जप-तप साधनाएं खूब की, पर धर्म का मर्म समझे विना सारी साधनाएं की, इसीलिए कल्याण का मार्ग आज तक नहीं मिला। तप करके शरीर को सुखा दिया, कई प्रकार की तपश्चर्या की, आसन जमाया, ध्यान किया, शास्त्र कंठस्थ किये, सव कुछ किया, पर आत्मा का लक्ष्य नहीं किया। आत्मलक्ष्य के बिना सारी साधनाएं अधूरी हैं। मन को ज्ञान से बांधकर साधना करनी चाहिए। ज्ञान का बल ऐसा मिले कि संसार के कार्य करते हुए उनमें रस न आये। पर को अपना माना नहीं कि राग खड़ा हो जायेगा, द्वेष खड़ा हो जायेगा। इन्द्रियों का निग्रह कर मन को ज्ञान के खूंटे से बांधना है। ज्ञान व ज्ञानी से बंधने पर धीरे-धीरे पर की आसक्ति अन्तर में से छूट जाती है।

कोई भी साधना तभी फलवती बन सकती है जव उसका अधिकारी योग्य हो। अनधिकारी के पास अच्छी से अच्छी साधना भी निस्तेज हो जाती है। जब तक मानवीय गुण हमारे जीवन में नहीं खिलते तव तक आध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन योग्य भूमिका

(१) इन्द्रिय-विषय हमें फीके लगें (२) कषाय उपशान्त हों (३) महापुरुषों के बताये हुए मार्ग पर हम चलें (देव, गुरु व जिनवाणी पर श्रद्धा रखकर चलें) (४) कथनी व करनी एक हो (५) जीवन सादा, सरल व विचार उच्च हों (६) मैत्री-प्रमोद-करुणा व माध्यस्थ भाव हमारे अन्दर जगें (७) विनय, सरलता, कोमलता, विशालता के भाव जीवन में आयें। (८) सत्संग में अत्यन्त प्रीति हो (९) संसार खारा जहर लगे (१०) सद्गुरु के प्रति अत्यन्त अर्पणता के भाव जगें (११) तत्त्वों के यथार्थ निर्णय की क्षमता हो (१२) प्रामाणिक जीवन हो (१३) हमारी आजीविका न्याय-नीतिमय हो (१४) सप्त कुव्यसन के त्यागी बनें। (१५) हमारा बाह्य आचरण व बाह्य व्यवहार, खान-पान आदि सब शुद्ध हों। जब ये सारे गुण जीवन में खिलेंगे तभी सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है।

सम्यग्दर्शन होने से बाह्य परिस्थिति या वातावरण नहीं बदलता, हमारी दृष्टि बदल जाती है। दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। जिस संसार व जिन भोगों को जीवन का आनन्द मानकर उनमें रचे-पचे रहते थे, उन्हें अब क्षण-भंगुर व नाक के मल के समान त्याज्य समझने लग जाते हैं। काजल की कोठरी या कीचड़ में पांव रखते समय व्यक्ति कितना सजग व सावधान रहता है कि कहीं उसके कालिख न लग जाये; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव संसार में स्नेहियों के बीच रहते हुए भी मन में उस कीचड़ से यानी मोहासक्ति से बचकर रहता है। रहने-रहने में बड़ा अन्तर है। ज्ञानी भी इसी संसार में रहता है व अज्ञानी भी इसी संसार में रहता है, परन्तु एक संसार में आसक्त बनकर रहता है व दूसरा मात्र कर्त्तव्य समझ कर जीता है। ऐसी आत्मा के समस्त मापदंड बदल जाते हैं। कहा है—

चक्रवर्ती की संपदा, इन्द्र सरीखा भोग।
काग-बीट सम गिनत हैं सम्यग् दृष्टि लोग।

व्यक्ति जिस भोग सामग्री को सर्वस्व समझता था, जिन स्त्री-पुत्रों व धन-सम्पत्ति को सर्वेसर्वा मानकर पाप, अत्याचार, अनीति व शोषण करता था, सम्यग्दर्शन के पश्चात् उसे ये सब तुच्छ नजर आते हैं।

बाह्य-पदार्थ के रहने पर भी सम्यग्दृष्टि के मन में उसकी आसक्ति नहीं रहती। हम संसार में रहें, कोई आपत्ति नहीं है पर संसार हमारे भीतर न हो। नाव जल में चलती रहे, कोई भय नहीं, पर नाव में जल नहीं आना चाहिये। शरीर हमें मिला है कोई आपत्ति नहीं, पर शरीर में ममता नहीं रहनी चाहिये। संसार के पदार्थों का ज्ञान होना बुरा नहीं है, पर वह ज्ञान राग-द्वेष के साथ न हो। राग व द्वेष के मिश्रण से ही ज्ञान मलिन व अपवित्र बनता है। सम्यग्दर्शन में एक ऐसी विलक्षण शक्ति है जिसके प्रभाव से अनन्त-अनन्त जन्मों के मिथ्यात्व के बंधन क्षण भर में विध्वस्त हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन में वह शक्ति है जिसके प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेता है। स्व-पर का विवेक ही सम्यग्दर्शन है। जब आत्मा अपने स्व-स्वरूप का बोध कर अपने स्वरूप में स्थिर बन जाता है तो समस्त विभाव-भावों एवं विकल्पों के जाल से मुक्त बन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त एवं शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है। यही साधना का चरम लक्ष्य है। यही मुक्ति है। सम्यग्दर्शन के बिना यह संभव नहीं है।

चोरड़िया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर (राज.)

सम्यक् दृष्टि का संसार

✡ डॉ. राजीव प्रचण्डिया

संसार दुःखों का साम्राज्य है। यहां नाना प्रकार के दुःख हैं। जिनमें जन्म-मरण का दुःख सबसे बड़ा है। यथा 'दुक्खं च जाईमरणं वयंति।' (उत्तराध्ययन सूत्र ३२/७) दुःखों के मूल में राग और द्वेष हैं। राग-द्वेष का प्रमुख कारण मोह है। मोहासक्त प्राणी रागी भी बनता है और द्वेषी भी। इस प्रकार सारा संसार मोह पर टिका है। मोही प्राणी ही बार-बार जन्म-मरण के आवर्तन में फंसता है। यथा 'मोहेण गब्भं मरणाइ एइ।' (आचारांग सूत्र ५/३) मोह मिथ्यात्व का पोषक है। यथार्थ स्वरूप के अवबोध में मिथ्यात्व सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है जिसके कारण संसारी जीव सदा दुःखी रहता है। संसार के प्रत्येक पदार्थ उसे सालते हैं। इस प्रकार विपरीत या उल्टी मान्यताओं अर्थात् मिथ्यापरक मान्यताओं से घिरे जीवन में आनन्द की अपेक्षा दुःख-द्वन्द्व का चक्रव्यूह चलता है। इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए सम्यक्त्व-शक्ति सर्वथा उपादेयी मानी गयी है। सम्यक्त्व में यथार्थता की प्रधानता रहती है। आत्म-प्रतीति का आधार सम्यक्त्व ही है। इस प्रकार हमारे सामने दो रूप बनते हैं एक सम्यकत्व तथा दूसरा मिथ्यात्व। इन्हीं पर आधृत संसार में दो प्रकार के प्राणी होते हैं—एक सम्यक्त्वधारी तथा दूसरे मिथ्यात्वधारी। मिथ्यात्वधारी वे होते हैं जिनकी दृष्टि, सोच तथा आचरण सब कुछ मोह-आसक्ति के शिकंजे में कसा या जकड़ा रहता है, जबकि सम्यक्त्वधारियों का संसार मोह से पूर्णतः निरावृत रहता है। कहीं, किसी भी प्रकार की चिपकन वहां नहीं पायी जाती है।

सम्यक्दृष्टि जीव परकीय शक्ति या सत्ता को कर्तव्य रूप में स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार प्राणी जहां स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता है वहीं वह अपने कृत कर्मों का भोक्ता भी है। आज अनेक व्यक्तियों के दिलों में नाना अंधविश्वास तथा रूढ़ियां छायी हुई हैं, जादू-टोने, जन्तर-मन्तर, झाड-फूंका तथा मन्नतें जैसी क्रियाओं के पल्लवन के मूल में भी आत्मशक्ति की अपेक्षा, परकीय शक्ति में आस्था या विश्वास का होना ही कारण है। यह प्रवृत्ति, मनुष्य में अकर्मण्यता की स्थिति को उत्पन्न करती है। यह शाश्वत सत्य है कि कोई भी किसी का न बिगाड़ सकता है और नहीं बना सकता है। जो कुछ बनता-बिगड़ता है वह सब व्यक्ति के स्वकर्मों से होता है। किसी भी कार्य के सम्पादन में दो ही शक्तियां प्रमुख होती हैं एक उपादान तथा दूसरी निमित्त। समस्त कर्म-कौशल इन्हीं दो पर अवलम्बित है। उपादान, व्यक्ति का स्वयं का होता है, निमित्त भी उसे तदनुरूप मिलता है। इससे व्यक्ति में निश्चिन्तता, आश्वस्तता तथा अभयता प्रकट होती है। दीनता-हीनता की अपेक्षा सम्यक् श्रम तथा स्वावलम्वन की भावना प्रदीप्त रहती है। ऐसा व्यक्ति आत्मनिर्भर, आत्मनिष्ठ तथा आत्मवल से आपूरित रहता है। वह पलायनवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं देता है। संसार का सामना, समता से करता है।

सम्यक्दृष्टि जीव में फल की आकांक्षा कदापि नहीं होती है। वह तो निष्काम साधक की भांति कर्म करता है। निष्काम-साधना सर्वोत्तम मानी गयी है। यथा 'सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था।' (स्थानाङ्गसूत्र, ६/१) उसे यह ज्ञात है कि जैसा वह कर्म करेगा, उसे उसका फल वैसा ही मिलेगा। उसका सारा ध्यान फल पर नहीं कर्म पर टिका रहता है। कर्म से ही वह संसार से मुक्त हो सकता है और कर्म से ही वह संसार में आवद्ध भी। यह उसके विवेक और भेद-विज्ञान पर निर्भर करता है।

सम्यक् दृष्टि जीव की धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण तथा स्वतंत्र होता है। वह किसी अखण्ड सत्ता का अंश-अंशी नहीं होता है। वह अपने उपादान के माध्यम से ही अपनी आत्मा का पूर्ण विकास कर संसार चक्र से सर्वथा मुक्त-विमुक्त होता हुआ सिद्धत्व को प्राप्त हो सकता है।

सम्यक्दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह व्यक्ति-शक्ति की अपेक्षा उसमें व्याप्त गुणों को महत्त्व देता है। प्रत्येक व्यक्ति में अनन्तगुण होते हैं और वह भी शाश्वत रूप में। शाश्वतता की पूजा ही सार्थ है। वास्तव में गुणों की वंदना-उपासना जीवन की सार्थकता को सिद्ध करती है। गुणों के स्तवन से ही जीवन में जहाँ विनय और श्रद्धा के संस्कार जगते हैं, वहीं अहंकार-मद का विसर्जन भी होता है। दूसरों को तुच्छ और अपने को महान् समझने में अहंकार की भूमिका सर्वोपरि होती है। उपगूहन का वहाँ अभाव होता है। आज धर्म, जाति, कुल, आदि के नाम पर जो झगड़ा हो रहा है उसका श्रेय भी अहंकार को जाता है। अहंकार से द्वन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व, कलह तथा तनाव का माहौल बनता है। वास्तव में सारे झगड़ों की जड़ अंधकार है। विनय और श्रद्धा के बीज परस्पर प्रेम व सौहार्द का वातावरण उत्पन्न करने की शक्ति और सामर्थ्य रखते हैं। ऐसी स्थिति में विषाद-विद्वेष और वैर को अवकाश ही नहीं मिल पाता है। ऐसा जीवन हितकारी और मानवता-वर्द्धक होता है। वत्सलता वहां पायी जाती है। वास्तव में ऐसे जीवन से सम्पृक्त व्यक्ति की दृष्टि अपने तक ही सीमित नहीं अपितु उसमें विस्तार होता है। यह विस्तार ही तो समस्त मतभेदों को मेटता है। वास्तव में सम्यक्दृष्टि जीव आत्मिक गुणों से सदा मंडित रहता है, जिससे वह स्वयं तो सुखी होता ही है, दूसरों को सुखी होने की प्रेरणा भी देता है।

सम्यक्दृष्टि जीव पुरुषार्थचतुष्टय के प्रति सतत जागरूक रहता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में पहला पुरुषार्थ है धर्म और अंतिम है मोक्ष। धर्म और मोक्ष के बीच में अर्थ और काम को रखा गया है। इसका अभिप्राय है कि संसार की जितनी भी क्रियाएं हैं वे यदि धर्म से अनुप्राणित हैं तो जीवन आनन्द से आप्लावित रहता है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव सदा शाश्वत व चिरन्तन रहता है। उसमें कभी बदलाव नहीं आता है। आत्मिक स्वभाव अनन्तचतुष्टय से सर्वथा युक्त होता है। सम्यक् दृष्टि जीव आत्मस्वभाव में सदा रमण करता है। आत्मस्वभावी का अभीष्ट लक्ष्य मोक्ष है जो धर्म का मार्ग है। इस प्रकार मोक्ष जीवन का एक अनिवार्य अंग है जिसे सम्यग्दृष्टि सार्थक करने का प्रयत्न करता है। उसकी दृष्टि में आत्मा अमर-अजर है, अविनश्वर है। यथा 'अहं अव्वए वि अह अवट्ठिए वि।' (ज्ञाताधर्म १/९) नश्वरता तो शरीर में है। यह शरीर अनित्य है, अशुचि है। अशुचि से ही इसकी उत्पत्ति भी हुई है। आत्मा का यह अशाश्वत-आवास-गृह है तथा दुःख और क्लेशों का भाजन है। यथा-'इमं सरीरं अणिच्चं, असुई असुइसंभवं। असासयावासमिणं, दुक्ख-केसाणं भायणं॥' (उत्तराध्यन सूत्र, १९/१२), वास्तव में आत्मा और है, शरीर और है—'अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं।' (सूत्रकृतांग, २/१/९) इसलिये शरीर के व्यामोह में वह नहीं पड़ा करता है। उसका ध्येय तो आत्मा के पूर्ण विकास पर है। आत्मा का यह पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब आत्मा पर लगे कर्म कषायों के अनन्त आवरणों को, जो इसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण को प्रभावित किए हुए हैं, अनावृत कर दिया जाता है। आत्मा की इस विकसित अवस्था में सम्यग्दर्शन पूर्णतः मुखर रहता है।

सम्यक्दृष्टि जीव सदा अध्यात्मवादी होता है, भोगवादी नहीं। वह भोग में भी अभोग जैसी स्थिति में होता है। वह कर्म तो करता है, किन्तु उसका कर्म भोग के लिए नहीं, योग के लिए होता है। अतः संसार को वह भोगभूमि नहीं, कर्मभूमि मानता है। उसकी दृष्टि में कर्म से निष्कर्म होने के लिए संसार एक साधना-स्थली है। यहाँ उसकी सम्यक्त्व की साधना सम्पन्न होती है। सम्यक्त्व-साधना में साधक अपनी इन्द्रियों तथा मन की वृत्तियों को सम्यक् संयम-तप-ध्यानादि की ओर मोड़ देता है जिससे उसके आस्रव द्वार बंद होते हैं और संवर-निर्जरा के द्वार खुलते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व सार्थक होने पर संसारी जीव संसार से सदा-सदा के लिए तिर जाता है। सम्यक्दृष्टि जीव के अध्यात्मवादी होने का अभिप्राय है कि वह बहिर्मुखी की अपेक्षा अन्तर्मुखी होता है। संसार के बाह्य पदार्थों में वह रमता नहीं है। उसकी रुचि आत्मा का विकास कैसे हो, इसके चिन्तन-अनुचिन्तन में होती है। सांसारिक पदार्थ तो उसे नश्वर प्रतीत होते हैं। उसकी दृष्टि में आकर्षण-विकर्षण पदार्थों में नहीं, व्यक्ति के भावों में समाया रहता है। भावों की मलिनता ही उसे गर्त में ले जाती है। आत्मिक उत्कर्ष तो सम्यक्त्व-साधना से ही सम्भव है, जहां भाव बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तदनन्तर परमात्मजगत् की यात्रा-पथ पर सतत आरूढ़ रहते हैं।

सम्यक्दृष्टि जीव सदा आस्थावादी होता है। उसकी यह आस्था अन्तरंग से होती है, बाहर से थोपी हुई नहीं। इसलिए वह कभी शंकित-कांक्षित नहीं हुआ करता है। निःशंकित, तथा निःकांक्षित उसके अतिरिक्त गुण होते हैं। आत्मविश्वास या आत्मबल जब प्रबलतम रूप में होता है तो उसके लिए शंका, जिज्ञासा का रूप धारण करती है। जिज्ञासा की प्रवृत्ति ही व्यक्ति के अन्तरंग में सुप्त-प्रसुप्त ज्ञान और दर्शन गुण को जाग्रत कर उपयोग को जगाती है। प्रश्न है आस्था या श्रद्धा किस पर हो? तो उसके लिए तीन बातों को जानना-समझना अत्यन्त अपेक्षित है—एक है हेय, दूसरा है ज्ञेय, तथा तीसरा है उपादेय। क्या हेय है और क्या ज्ञेय है यदि इसका ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाए तो उपादेय को अंगीकार किया जा सकता है। सम्यक्दृष्टि जीव हेय-ज्ञेय के स्वरूप को भली-भाँति जानता हुआ उपादेय को ही आत्मसात् करता है। उसका श्रद्धान-विश्वास मूढ़ताओं पर नहीं देव, गुरु तथा धर्म के सच्चे स्वरूप पर होता है। उसकी दृढ़ आस्था जीवादि तत्त्वों-पदार्थों पर होती है जो उसे शिवत्व की ओर ले जाती है।

सम्यक्दृष्टि का सोच कभी भी हठाग्रह या कदाग्रह से संश्लिष्ट नहीं होता है। जो कुछ भी वह विचारता है उसमें 'अनन्तधर्मात्मकं' का सिद्धान्त समाया रहता है अर्थात् अनैकान्तिक सोच से संयुक्त उसका व्यवहार स्याद्वादपरक होता है। अस्तु वैचारिक दूषण-प्रदूषण और द्वन्द्व से वह सदा दूर रहता हुआ संसार को तटस्थ भाव से देखता है। तटस्थता अर्थात् निर्लिप्तता की स्थिति पूर्णता और यथार्थता को समझने में सहायक बनती है। यथार्थता में सारे भेद, अभेद में परिवर्तित हो जाते हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के पवित्र भाव वहां जन्मते हैं। वास्तव में सम्यक्दृष्टि का जीवन अनेकान्तमय होने से आनन्द से सदा आप्लावित रहता है। उसका जीवन निश्चयेन अनन्त आनन्द का एक अक्षय कोष है जहां कोई भी शत्रु-मित्र सहज रूपेण अवगाहन कर सकता है।

सम्यक्दृष्टि की जीवन-पद्धति मुख्यतः तीन बातों पर अवलम्बित है—(१)

वर्तमानता, (२) सहजता एवं (३) अनासक्ति।

सम्यक् दृष्टि का संसार वर्तमान से जुड़ा हुआ होता है। वह दूसरे लोगों की भांति न तो भूत में जीता है और न भविष्य में रमता है। उसका प्रत्येक वर्तमान क्षण, विवेक तथा अप्रमत्तता के साथ बीतता है। उसका उपयोग पक्ष सदा जाग्रत रहता है। 'इणमेव खणं वियाणिया' (सूत्रकृतांग, १/२/३/१९) अर्थात् जो क्षण सदा जाग्रत रहता है उसकी दृष्टि में वही महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है। वास्तव में 'खणं जाणाहि पंडिए' (आचारांग सूत्र, १/२/१) की सूक्ति को वह अपने जीवन में चरितार्थ करता है।

सम्यक्दृष्टि का जीवन कृत्रिमता की अपेक्षा सहजता से अनुप्राणित रहता है। वह बाहर कुछ, भीतर कुछ की अपेक्षा, बाहर-भीतर की अन्तररेखा को समाप्त कर सहज और सरल अर्थात् आर्जवी जीवन जीता है। मनसा-वाचा-कर्मणा की एकरूपता ही उसके जीवन का सार है। ऐसा जीवन प्रामाणिकता से ओत-प्रोत रहता है। प्रामाणिक जीवन सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य–इन पंच सूत्रों से समन्वित होता है। सम्यग्दृष्टि जीव पेट भरता है, पेटी नहीं। वह संग्रह की सड़ांध से सदा दूर रहता हुआ सहज-गत्यात्मक प्रवाह वाला होता है ।उसकी जीवनचर्या परिमाणमय होती है। जहां इच्छाओं-आकांक्षाओं की नहीं, मात्र आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। क्योंकि इच्छा तो आकाश के समान असीम है,अपरिमित है।यथा'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।' (उत्तरा- ध्ययनसूत्र, ९/४८) इच्छाओं के वशीभूत व्यक्ति का जीवन एक अजीब प्रकार की घुटन तथा तनावों से घिरा रहता है।इसलिए इच्छाओं के व्यामोह से हटना ही जीवन का सार है।

सम्यक्दृष्टि जीव अनासक्त भाव से जीता है। विषय-कषायों से वह निर्लिप्त रहता है। उसकी स्थिति कीचड़ में खिले कमलवत् होती है, यथा–

जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥–भावपाहुड, १५४

अर्थात् जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्यक्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों में लिप्त नहीं होता है। मोहादि के आवर्तन उसके लिए अप्रभावी रहते हैं। मोहासक्त प्राणियों में भेद-विज्ञान की शक्ति सुप्त रहती है। अनेक प्रकार की काषायिक चिपकनों, लालसाओं में डूबे रहने के कारण ऐसे व्यक्ति में यथार्थ-अयथार्थ, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म तथा स्व-पर आदि को पहिचानने की सामर्थ्य नहीं होती है। आत्म-विकास में यह आसक्ति सबसे बड़ी बाधा है। इसको मेटने के लिए सम्यक्त्व की शरण में जाना ही श्रेयस्कर रहता है। सम्यक्त्व की साधना में जो स्थिति बनती है, वह समत्व की होती है। समत्व के जगने पर सारा संसार निस्सार प्रतीत हो उठता है। कषाय-कौतुक निस्तेज हो जाते हैं।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन से अनुप्राणित जीवन संसार और उसके रंग-बिरंगे आकर्षणों में न तो रमता है और नहीं फंसता है, अपितु वह वस्तुस्थिति का आकलन करता हुआ सतत अध्यात्म-साधना में लीन रहकर जन्म-मरण के बंधनों को काटने का सदा उपक्रम करता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का जीवन एक आदर्श-अनुकरणीय जीवन होता है जिसे अपनाकर कोई भी व्यक्ति सुखी और समृद्ध बन सकता है।

–मंगलकलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ़ (उ.प्र.) २०२००१

अर्थव्यवस्था में सम्यग्दर्शन : मूलाधार हो सर्वकल्याण

☐ डा. मानचन्द जैन 'खण्डेला'*

अर्थ-व्यवस्था हमारे जीवन-व्यवहार का अंग है, किन्तु यह जब जीवन-मूल्यों से दूर एवं मात्र आर्थिक-विकास से सम्बद्ध हो जाती है तो जीवन का असली लक्ष्य छूट जाता है। सामाजिक, राजनैतिक एवं व्यक्तिगत समस्याएं बढ़ जाती हैं। इसलिए अर्थव्यवस्था पर भी सम्यक् दृष्टिपरक चिन्तन आवश्यक है।-सम्पादक

संसार के विभिन्न राष्ट्रों में राजतंत्र, लोकतंत्र, फौजतंत्र या कुलीनतंत्र जैसी शासन-व्यवस्था और पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, मिश्रित या इस्लामिक विचारधाराओं पर आधारित अर्थव्यवस्था है। इनमें से प्रत्येक में दावा अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम कल्याण का ही किया जाता है। पूंजीवादी विचारधारा के अन्तर्गत 'श्रेष्ठ को ही अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार है' के सिद्धान्त पर चलकर अधिकतम व्यक्तियों को कल्याणकारी परिस्थितियों तक पहुंचने की प्रेरणा दी जाती है या कहा जाना चाहिए कि ऐसा करने के लिए मजबूर किया जाता है। इस विचारधारा का मूल तत्त्व प्रतियोगिता है, जो कि अधिकतम समय तक अधिक व अच्छा करने की प्रेरणा देती है। इस मान्यता के अनुसार इसी कारण से दीर्घकाल में अधिकांश व्यक्ति अपने लिये मंगलकारी परिस्थितियां पैदा करने में सफल हो जाते हैं, जबकि दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा के अन्तर्गत समाज में पिछड़े, पीड़ित, उपेक्षित व गरीब व्यक्तियों को प्रतियोगिता कर सकने की स्थिति में लाने का दायित्व राज्य का माना जाता है अर्थात् मानव को जीने योग्य परिस्थितियां पाने का अधिकार होता है। इसीलिए ऐसी व्यवस्थाओं में प्रतियोगिता के स्थान पर सहायता व सहयोग पर अधिक जोर दिया जाता है। जहां तक राजनीति व अर्थनीति में सम्बन्धों का सवाल है सामान्यतया लोकतांत्रिक राष्ट्रों में स्वतंत्रता पर आधारित अर्थनीति को व गैर लोकतांत्रिक राष्ट्रों में नियंत्रण पर आधारित अर्थनीति को अपनाया जाता है। यहां धनी से अधिकतम धन लेकर गरीब को अधिकतम देने की कोशिश की जाती है तथा अर्थव्यवस्था में सरकारी भूमिका अत्यधिक होती है। यहां महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इनमें से कौनसी व्यवस्था को श्रेष्ठतम माना जाय? या सर्वाधिक लोक-कल्याणकारी अर्थ-व्यवस्था कौनसी हो सकती है। इसी प्रश्न पर हम नैतिक व धार्मिक दृष्टि से अर्थव्यवस्था में सम्यग्दर्शन के संदर्भ में विचार कर सकते हैं।

तुलनीय दृष्टि से विचार किया जाये तो निरपेक्ष रूप में किसी भी प्रकार की विचारधारा पर आधारित अर्थव्यवस्था को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि स्वतंत्रता पर आधारित अर्थव्यवस्था जिसे सामान्य भाषा में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कहा जाता है, में जहां कार्यक्षमता, इच्छाशक्ति व साहस जैसी प्रवृत्तियों का विकास होता है तथा व्यापक चिन्तन, कार्य के प्रति रुचि, वैज्ञानिकता व तर्क पर आधारित व्यावहारिकता के विस्तार के अधिक अवसर मिलते हैं, वहीं शोषण, स्वार्थ व संकीर्णता की दुष्प्रवृत्तियां भी स्वतः बढ़ने लगती हैं तब सरकार सार्वजनिक कल्याण व

---

* अध्यक्ष, आर्थिक प्रशासन एवं वित्तीय प्रबन्ध विभाग, एस.एस.जैन सुबोध महाविद्यालय, जयपुर (राज.)

सुरक्षा के अपने प्रमुख लक्ष्य से भटक जाती है व समाज में एक प्रकार से 'शक्ति ही कानून है' का जंगल राज स्थापित हो जाता है। दूसरी ओर सहायता व नियंत्रण पर आधारित अर्थव्यवस्था यानी साम्यवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था में जहां पीड़ित का परोपकार पहले, विकास के सभी को समान अवसर, क्षमतानुसार सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में सहयोग, हर एक का सामाजिक दायित्व जैसे विचारों को व्यावहारिक रूप दिये जाने की कोशिश की जाती है, वहीं अकर्मण्यता, आलस्य व अक्षमता की प्रवृत्तियां बढ़ती हैं। सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावनाएं व्यापक हो जाती हैं तथा सरकार के माध्यम से अर्थशक्ति कुछ ही हाथों में सिमट कर रह जाती है। ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि क्या इन दोनों के बीच का रास्ता अपनाया जाय, जिसे तकनीकी रूप से मिश्रित अर्थव्यवस्था का नाम भी दिया जाता है। सम्पूर्ण संसार में गरीबी, भूखमरी, उत्पीड़न, शोषण, असमानता, बेरोजगारी जैसी आर्थिक हिंसा, चोरी, बलात्कार, नशा, फरेब, वेश्यावृत्ति, बाल श्रमिक जैसी सामाजिक व अस्थिरता, एकाधिकार, सत्तालोलुपता जैसी राजनैतिक समस्याओं के बढ़ते जाने का महत्त्वपूर्ण कारण विचारधारा को व्यावहारिकता पर वरीयता न दिया जाना है। क्योंकि किसी भी अर्थव्यवस्था का मूलाधार आम जनता के आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों के हितों का अधिकतम संरक्षण व संवर्द्धन करना होना चाहिये।

एक विचारधारा विशेष पर आधारित अर्थव्यवस्था का ढांचा तो माध्यम मात्र है, अंतिम लक्ष्य तो जन-कल्याण ही है। जिसका सीधा मतलब गरीबी-उन्मूलन, साक्षरता-विस्तार, आर्थिक व सामाजिक असमानता में कमी, रोजगार व व्यवसाय के अवसरों की समानता, नशीले पदार्थों से परहेज, विकास दर में वृद्धि, सुविधाओं व सेवाओं का विस्तार, रोजगार के अवसरों का फैलाव और अधिकतम उपभोग है। यहां पुनः प्रश्न उठता है कि क्या अर्थव्यवस्था के संदर्भ में यह ही वास्तविक दृष्टिकोण है? यानी यह सब कुछ प्राप्त कर लेने को ही लक्ष्य की प्राप्ति मान लिया जाए? ऊपरी तौर पर सामान्यतया ऐसा ही मान लिया जाता है, लेकिन विश्वव्यापी स्तर पर परिस्थितियों का गहराई से अध्ययन किया जाए तो यह निष्कर्ष भ्रम सिद्ध होता है।

उदाहरणार्थ, पूंजीवादी सिद्धान्तों को अपनाकर अमरीका विश्व का सर्वाधिक विकसित व धनी राष्ट्र का स्थान तो बना चुका है, लेकिन वहां का आम नागरिक सर्वाधिक संतुष्ट व सुखी है, ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है। वास्तव में वह एक ऐसा बदनसीब देश है जहां हत्या, आत्महत्या, बलात्कार, डकैती और अपहरण आम बात है। वहां लाखों की संख्या में कुंवारी माताएं, बालिका वेश्याएं, पति पीड़िताएं, अविवाहित जोड़े, माता-पिता विहीन मासूम बच्चे विकास को कोस रहे हैं। आय का अधिकांश भाग सिगरेट, शराब व अन्य नशीले पदार्थों पर खर्च किया जा रहा है। पैसे की चकाचौंध ने परिवार, समाज व मानवीय सम्बन्धों के अर्थ को पूरी तरह से विकृत कर दिया है। फिजूलखर्ची का आलम यह है कि संसार के एक चौथाई पैट्रोलियम पदार्थ अकेले अमेरिका में खर्च हो जाते हैं, एक तिहाई क्रय उधार पर आधारित होता है, राष्ट्रीय बजट घाटा खरबों डालर प्रति वर्ष का है। अनुत्पादक सामरिक, प्रशासनिक व दिखावे के व्यय बजट ५,, बहुत बड़ा हिस्सा निगल जाते हैं,

विज्ञापन-व्यय उत्पादन लागत से कई-कई गुना अधिक होता है, मरम्मत करवाना नये क्रम की तुलना में महंगा है। आर्थिक विकास के दबाव के कारण वहां वृद्ध, महिला व बालकों के लिये चल रही अति-आवश्यक सामाजिक सेवाओं को भी बंद किया जा रहा है। फिर भी रक्षा-व्यय पागलपन की सीमा तक पहुंच गया है। गरीबों की संख्या ही नहीं, बल्कि कुल जनसंख्या में प्रतिशत भी बढ़ रहा है। कमोबेश ऐसी ही दयनीय स्थिति रूस, युगोस्लाविया (पुराना नाम) पोलेण्ड, उत्तरी कोरिया, क्यूबा जैसे नियंत्रित अर्थव्यवस्थाओं की हो रही है। इनमें से अधिकांश राष्ट्रों में भूखमरी, बेरोजगारी, महंगाई, गरीबी व नैतिक पतन अपने शिखर पर पहुंच गये हैं। वहां भी मानवीय संवेदनाओं का तेजी से ह्रास हो रहा है।

अर्थव्यवस्था में उत्पन्न विकृतियों के कारण ही राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था भी चरमरा गयी है। कुल मिलाकर दोनों ही प्रकार की मॉडल अर्थव्यवस्थाओं वाले नागरिकों की स्थिति हर प्रकार से दयनीय है। जिनमें चाहे भौतिक विकास (जिसे समृद्धि कहा जाना अधिक आकर्षित करता है) हुआ हो, लेकिन साथ ही यह वृद्धि लालच, अनैतिकता, शोषण, उत्पीड़न, स्वार्थ, स्वकेन्द्रित सोच, नकारात्मक प्रतियोगिता, स्व के लिए समूह का अहित, सत्ता के दुरुपयोग के क्षेत्र में भी बहुत अधिक हो गयी है। आज चारों ओर छल, कपट, बेईमानी, व्यभिचार, नशाखोरी, धोखा, घूंसखोरी, हिंसा आदि के माध्यम से सब पर बस पैसा कमाने का भूत सवार हो रहा है। भारत जैसे धार्मिक व आध्यात्मिक-प्रवृत्ति तथा 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श वाले देश में नित नये करोड़ों रुपयों के घोटालों के खुल रहे राज से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थव्यवस्था में अर्थ व भौतिक विकास को ही सब कुछ मान लेना भारी भूल है।

ऐसे में अर्थव्यवस्था में सम्यग्दर्शन का अपनाया जाना ही अकेला विकल्प है। तब ही व्यक्तियों को सुखी बनाया जा सकता है। यह तब ही हो सकता है जब आर्थिक विकास को ही अंतिम लक्ष्य नहीं, बल्कि उसे सामाजिक, धार्मिक व नैतिक विकास का माध्यम माना व बनाया जाय। भौतिक विकास वह ही श्रेष्ठ व सुखदायी हो सकता है जिसमें सामाजिक लागत न्यूनतम हो, यानी उत्पादन या लाभ वृद्धि के लिए दूसरों के अधिकारों पर आघात, अपने लिये दूसरों के हितों की उपेक्षा, मानवीय श्रम का अति न्यून भुगतान, पूंजी पर अत्यधिक निर्भरता व उसे जरूरत से ज़्यादा वरीयता, धन के केन्द्रीकरण की सम्भावनाएं व ऊपर समझे जाने वालों की अकर्मण्यता जैसे तत्वों का अस्तित्व न्यूनतम हो। पूंजी-प्रधान अर्थव्यवस्थाओं में मानवता दया, करुणा, सहयोग, परोपकार, परिश्रम, समझौता, समन्वय, सहनशीलता जैसे मानवीय गुणों का महत्त्व स्वतः कम हो जाता है। अर्थव्यवस्था में श्रम की प्रधानता देकर ही बेरोजगारी की समाप्ति, आर्थिक विषमता में कमी, अवसर की समानता, गरीबी उन्मूलन, हर स्तर पर स्वावलम्बन जैसे उद्देश्यों के करीब पहुंचा जा सकता है। साथ ही अकर्मण्यता, सहनशीलता जैसे मानवीय गुणों का महत्त्व स्वतः कम हो जाता है। अर्थव्यवस्था में श्रम को प्रधानता देकर ही बेरोजगारी की समाप्ति, आर्थिक विषमता में कमी, अवसर की समानता, गरीबी उन्मूलन, हर स्तर पर स्वावलम्बन जैसे उद्देश्यों के करीब पहुंचा जा सकता है। साथ ही अकर्मण्यता, सामाजिक विद्वेष, वर्ग संघर्ष,

एकाधिकार, शक्ति का केन्द्रीकरण जैसी बुराइयों पर भी नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था में अपनायी जाने वाली नीतियों का प्रकृति, समाज-व्यवस्था व संस्कृति से समन्वय होना भी जरूरी है, जिनका मानव को सुखी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान होता है। जंगलों को उखाड़कर पर्यावरण को बिगाड़ कर व प्रकृति को नाराज कर भौतिक वस्तुओं का उत्पादन तो अधिक किया जा सकता है व अर्थशास्त्र की सामान्य भाषा में कुल उपयोगिता में भी वृद्धि हो सकती है, लेकिन उससे लाभदायकता नहीं बढ़ सकती है। ऐसा करके जीवन-स्तर तो ऊंचा उठाया जा सकता है, किन्तु जीवन को नहीं। क्योंकि सम्यग्दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य 'खाओ, पीओ और मौज करो' नहीं है। इसलिये यहां झूंठे प्रचार, उपभोग के लिए अत्यधिक विकल्प, उत्पादन के बाद आवश्यकता का सृजन, गलाकाट प्रतियोगिता, पूंजी ही विकास का आधार जैसी मान्यताओं का महत्त्व नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्व कल्याण के लक्ष्य में ये बड़ी बाधाएं हैं। सम्यग्दर्शन प्रत्येक अर्थव्यवस्था का आधार होना चाहिये।

-खण्डेला हाउस, २ ठ १४, जवाहर नगर, जयपुर ३०२००४

बिन समकित के ज्ञान न होवे

करने जीवों का कल्याण, पधारे पद्म प्रभु भगवान

कोसंवी उद्यान के मांही, रचा है समोशरण सुखदाई,

बानी सुने सभी नर आम ॥१॥ पधारे.

जब से होती समकित आन, तब से होता जन्म प्रमाण।

बिन श्रद्धा के शून्य समान ॥२॥ पधारे.

बिन समकित के ज्ञान न होवे, ज्ञान बिना पचखाण न सोहे।

त्याग बिना मिले नहीं निर्वाण ॥३॥ पधारे.

देव अरिहंत गुरु निर्ग्रन्थ, धर्म है जीव दया सद् ग्रन्थ।

होना दृढ प्रतिज्ञावान ॥४॥ पधारे.

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक होय करे नही शंका।

लक्ष है लाक्षिक की पहिचान ॥५॥ पधारे

कमलवत रहे निर्लेप सदा ही, रचता मोह माया में नाहीं।

धाय ज्यों पाले है सन्तान ॥६॥ पधारे.

मिथ्या मल लगने नहीं पावे, निश्चय चौथ मुनि तिरजावे।

सच्चा है प्रभु का फरमान ॥७॥ पधारे.

-श्री चौथमल जी म.सा.

सम्यग्दर्शन : मानव-मूल्यों के संदर्भ में

✍ डॉ. विजय कुमार*
श्रीमती सुधा जैन

संसार का चाहे कोई भी मूल्य हो, तत्त्वतः वह मानवमूल्य ही है। लेकिन प्रश्न उपस्थित होता है कि मानव-मूल्य से हमारा अभिप्राय क्या है? क्या हमारा अभिप्राय 'मानव का मूल्य' से है, अथवा 'मानव के लिए मूल्य' से है, अथवा 'मानवद्वारा निर्मित मूल्य' से है? यदि हम 'मानव-मूल्य का अर्थ मानव का मूल्य से लेते हैं तो पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि मानव का मूल्यांकन कौन करता है? इतना तो सत्य है कि मूल्यों का सम्बन्ध मानव से होता है साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि मानव स्वयं अपना मूल्यांकन करता है। क्योंकि मूल्यबोध का सम्बन्ध मानव-बुद्धि से होता है। मानव-बुद्धि एवं मानव-चिन्तन हर देश और हर काल में समान हो यह आवश्यक नहीं है। कारण कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक मूल्य-बोध के कई पड़ाव दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व। एक ही व्यक्ति का स्वयं के प्रति मूल्य कुछ और होगा, परिवार के प्रति उसका मूल्य कुछ और होगा तथा समाज, राष्ट्र तथा विश्व के प्रति उसका मूल्य कुछ और होगा। किन्तु सबकी जड़ में व्यक्ति का स्वयं के प्रति मूल्य ही निहित है। व्यक्ति अपने अंदर जिन गुणों को विकसित करता है उसकी जीवनचर्या भी उसके अनुरूप रूपायित होती है तथा जब ये ही गुण सर्वमान्य होकर समाज के सभी सदस्यों के द्वारा आचरणीय हो जाते हैं तब वही मूल्य बन जाते हैं।

हमारे भारतीय समाज, सभ्यता तथा संस्कृति ने विश्व में श्रेष्ठ मूल्य संहिता को जन्म दिया है। आदिमकाल से लेकर आज तक मनुष्य ने जो भी भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति की है, वही उसकी संस्कृति है। चाहे कोई भी संस्कृति हो, वह मानव-संस्कृति का ही अंग होती है, किन्तु उसके कुछ निजी गुण होते हैं। संभवतः यही कारण है कि भारतीय संस्कृति के अनेक मूल्य शाश्वत होने का दावा करते हैं। उन्हीं अनेक शाश्वत मूल्यों में से एक मूल्य है-'सम्यग्दर्शन'।

'सम्यग्दर्शन' को भारतीय विचारधारा की तीनों परम्पराओं (वैदिक, जैन एवं बौद्ध) में स्वीकार किया गया है। सम्यग्दर्शन दो शब्दों के योग से बना है - सम्यक् + दर्शन। सम्यक् का सामान्य अर्थ होता है - उचितता, यथार्थता, शुद्धता, सत्यता आदि। लेकिन जैन ग्रंथ 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में तत्त्व के प्रति रुचि को सम्यक् कहा गया है।[१] 'दर्शन' शब्द जो 'दृश' धातु से निष्पन्न है, का सामान्य अर्थ होता है - 'देखना'। लेकिन स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम किसके द्वारा देखते हैं और क्या देखते हैं। हम आंखों के द्वारा किसी वस्तु या पदार्थ को देखते हैं। यह दर्शन का सामान्य अर्थ है। जैनदर्शन में जीवादि पदार्थों को देखना, जानना, श्रद्धा करना आदि को दर्शन कहा गया है।[२] तत्त्वार्थसूत्र[३] तथा उत्तराध्ययनसूत्र[४] में भी 'दर्शन' शब्द का अर्थ तत्त्व श्रद्धा ही किया गया है। इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन तत्त्व साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि सम्यक् दर्शन को परिभाषित करते हुए कहा गया है - यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना ही सम्यक् दर्शन है।[५] जैन परम्परा में सात तत्त्व[६] स्वीकार किये गये हैं, उन्हीं सात

* [illegible] शोध आवेदक

तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है। कुछ लोगों में तो यह स्वभावतः प्रकट होता है और कुछ इसे विद्योपार्जन एवं अभ्यास के द्वारा प्रकट करते हैं।[७] यथा -कोई व्यक्ति स्वतः विभिन्न प्रयोगों के आधारपर सत्य का उद्घाटन कर वस्तु तत्त्व के स्वरूप को जानता है तो कोई पूर्व में किये गये प्रयोगों के आधार पर कहे गये कथनों पर विश्वास करके वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। इस तरह दोनों ही दशाओं में व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ ही कहलाता है। हाँ! यदि अंतर है तो दोनों की प्रक्रिया में। एक ने उसे स्वतः की अनुभूति से प्राप्त किया है तो दूसरे ने श्रद्धा के द्वारा।

सम्यक् दर्शन जिसे मोक्ष का साधन माना जाता है और जो हमारी भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है, को क्या मूल्य की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है? इस सन्दर्भ में हम डॉ. सागरमल जैन द्वारा लिखित कुछ सन्दर्भों को प्रस्तुत करना चाहेंगे। उनका कहना है कि श्रमण-परम्परा में लम्बे समय तक सम्यग्दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ ही ग्राह्य रहा था जो बाद में तत्त्वार्थ श्रद्धान के रूप में विकसित हुआ। यहां तक श्रद्धा में बौद्धिक पक्ष निहित था, श्रद्धा ज्ञानात्मक थी। लेकिन जैसे-जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसका प्रभाव जैन और बौद्ध श्रमण-परम्पराओं पर भी पड़ा। तत्वार्थ की श्रद्धा बुद्ध और जिन पर केन्द्रित होने लगी और वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गयी।[८] वस्तुतः सम्यक् दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ ही प्रथम एवं मूल अर्थ है।[९]

यदि सही मायने में देखा जाये तो श्रद्धा भी अपने आप में मूल्य ही है। जैसा कि गीता में लिखा गया है - 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।" अर्थात् श्रद्धाशील ज्ञान को प्राप्त करता है। गीता के ही नवें अध्याय में कहा गया है कि यदि कोई अतिशय दुराचारी व्यक्ति भी अनन्यभाव (श्रद्धा) से मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परमशान्ति को प्राप्त करता है।[१०] इसी प्रकार बाइबिल में भी मनुष्य के संवेदनशील पक्षों पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि एक मात्र श्रद्धा से ही ईश्वर के राज्य की प्राप्ति संभव है।[११]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्यक् दर्शन को हम यथार्थ दृष्टि कहें या तत्वार्थश्रद्धान दोनों एक ही हैं, वास्तविकता की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पं. सुखलाल संघवी ने अपनी पुस्तक में लिखा है - तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तो तत्त्व साक्षात्कार है। तत्त्व श्रद्धा तो तत्त्व साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है, वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[१२] वस्तुतः सम्यक्दर्शन मोक्षमार्ग का एक साधन है और मोक्षमार्ग में इसका सर्वोच्च स्थान है। इसके बिना आगम ज्ञान, चारित्र, तप आदि सब बेकार हैं। दर्शनपाहुड में इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जिनप्रणीत सम्यक् दर्शन को अंतरंग भावों से धारण करना चाहिये क्योंकि यह सर्वगुणों में और रत्नत्रय में सार है तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।[१३] इसी प्रकार रयणसार में कहा गया है - जिस प्रकार भाग्यशाली पुरुष कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवांछित उत्तम सुख को प्राप्त करता है उसी प्रकार सम्यक् दर्शन से भव्य जीवों को सर्व प्रकार से सर्वोत्कृष्ट सुख व समस्त

प्रकार के भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त होते हैं।[१४] जीव जब सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता है तब तक दुःखी रहता है।[१५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्यक् दर्शन एक आध्यात्मिक मूल्य है, एक आध्यात्मिक जीवन दृष्टि है। जीवन दृष्टि, जिसके बिना व्यक्ति के जीवन का कोई अर्थ नहीं होता। इस आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के कारण ही हमारी भारतीय संस्कृति विश्वजनीन एवं सर्वसमावेशी है।

आज विश्व में चारों ओर यह चर्चा है कि मूल्यों का ह्रास हो रहा है जिसके कारण सर्वत्र हिंसा, घृणा, अविश्वास व स्वार्थ का दावानल धधक रहा है। फलतः हमारे धर्मगुरु, राजनेता, समाजसेवी आदि लोग प्रत्येक मानव को सुसंस्कृत होने के लिए संयम, सेवा, प्रेम, करुणा, सहिष्णुता, त्याग, समता, अपरिग्रह आदि मानवीय मूल्यों को अपनाने पर बल दे रहे हैं। किन्तु इन मानवीय मूल्यों को व्यक्ति तभी अपनाने की ओर उन्मुख होगा जब उसकी दृष्टि सम्यक् होगी। क्योंकि जैसी दृष्टि होगी उसी के अनुरूप उसका जीवन-निर्माण होगा।

सन्दर्भ

१. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड-५, पृ. २४२५

२. वही - पृ. २४२५

३. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। -तत्त्वार्थसूत्र, १/२

४. नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई॥ - उत्तराध्ययन, २८.३५

५. तत्त्वार्थसूत्र, १/२

६. जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। पुण्य एवं पाप सहित नौ तत्त्व मान्य हैं।

७. तत्त्वार्थाधिगम, १/३

८. डॉ. सागरमल जैन, 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,' भाग-२ पृ. ४९

९. वही, पृ. ४९

१०. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्,
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ गीता, ९/३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ वही, ९/३१

११. डॉ. गिरिजा व्यास, गीता और बाइबिल, पृ. १३

१२. पं. सुखलाल संघवी, जैनधर्म का प्राण, पृ. २४

१३. एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तयसोवाणं पढमं मोक्खस्स॥ दर्शनपाहुड-२१

१४. कामदुहि कप्पतरुं चिंतारयणरसायणं य समं।
भंजइ सोक्खं जहच्छियं जाण तह सम्मं॥ रयणसार-५४

१५. सम्मदंसणसुद्धं जाव लभदे हि ताव सुही।
सम्मदंसणसुद्धं जाव ण लभते हि ताव दुही॥ वही-५८

—जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं - ३४१३०६

सम्यग्दर्शन और समाज-व्यवस्था

प्र डॉ. रज्जनकुमार

सम्यग्दर्शन यद्यपि आध्यात्मिक उत्थान से सम्बद्ध है तथापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रभाव व्यक्ति के माध्यम से परिवार एवं समाज पर भी पड़ता है। इसलिए सम्यक्त्व के पांच लक्षणों एवं आठ आचारों के परिप्रेक्ष्य में समाज-व्यवस्था पर प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।—सम्पादक

सम्यक्त्व के लक्षण और समाज व्यवस्था

जैन परम्परा में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण माने गए हैं - १. सम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य।

१. सम - सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण 'सम' है, जिसका 'शम', 'सम' और 'श्रम' इन तीन अर्थों में प्रयोग मिलता है। कभी यह चित्तवृत्ति की समभाव स्थिति को व्यक्त करता है तो कभी शमन अथवा शांत करने के रूप में प्रयुक्त होता है । कहीं कहीं यह समत्वानुभूति अर्थ का भी द्योतक माना जाता है। योगशास्त्र में 'शम' शब्द कषायों को शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१] सुख-दुःख लाभ-हानि आदि परिस्थितियों में समान भाव रखने वाला व्यक्ति समत्वभाव से युक्त माना जाता है। ऐसा व्यक्ति 'सम' गुण को धारण करने वाला होता है। यह अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में अपने विवेक को नहीं खोता है। जैन परम्परा में ऐसे व्यक्ति को मोह एवं क्षोभ के परिणामों से रहित माना गया है।[२]

सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल सभी तरह की परिस्थितियों में समत्व भाव को बनाए रखना समाज-व्यवस्था के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति ऐसे आचरण की दूसरों से अपेक्षा रखता है।

२. संवेग - संवेग एक प्रकार की अनुभूति है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि संसार के दुःख से जो सतत भय होता है वह संवेग है[३] जबकि दशवैकालिक निर्युक्ति में मोक्ष की अभिलाषा को संवेग कहा गया है।[४] संसार की दुःखमयता का नाश मोक्षावस्था में ही संभव है। जो साधक मोक्षाभिलाषी होगा वह संसार के दुःख से भयभीत अवश्य होगा। क्योंकि मोक्ष सर्व दुःखों से मुक्त अवस्था है जबकि संसार दुःख-भोग का सागर। मोक्षाभिलाषी व्यक्ति आत्मा के आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। इस आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति के लिए उसे ज्ञानरूपी रथ पर सवार होकर अज्ञानरूपी शत्रु को परास्त करना होता है। जबकि अज्ञान मिथ्यात्व या अयथार्थ दृष्टि है।

यथार्थ दृष्टि समाज-व्यवस्था के लिए अनुपम साधन है, क्योंकि इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति मिथ्यात्व के दोष और परिणामों से समाज को मुक्त रखना चाहता है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसमें यह करने की इच्छा भी है और दृष्टि भी है।

३. निर्वेद - सभी प्रकार की अभिलाषाओं से मुक्त हो जाना अथवा त्याग कर देना निर्वेद है।[५] सभी तरह की अभिलाषाओं से मुक्त होना क्या किसी व्यक्ति के

लिए संभव है? क्या आकांक्षारहित होकर कोई व्यक्ति जीवन चला सकता है? क्योंकि जिजीविषा ही व्यक्ति में जीवन के प्रति ललक उत्पन्न करती है और यही ललक अभिलाषा का दूसरा रूप है। अब हमारे समक्ष यह समस्या है कि अभिलाषाओं से मुक्त भी होना है और अभिलाषा को जगा कर भी रखना है। ये दो विपरीत कार्य एक समय में ही कैसे संभव हो सकते हैं। किन्तु यह संभव है। सांसारिक प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाली आकांक्षाओं से मुक्त रहना और इनसे किस प्रकार मुक्त हुआ जाए इस प्रेरणा की अभिलाषा करना ये दोनों ही घटनाएं उसी व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती हैं जो अपने शरीर, इन्द्रियभोग, संसार-विषय-वासनाओं की क्षणिकता को समझता है और इनसे अनासक्त रहता है। तत्त्वार्थभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संसार, शरीर, इन्द्रिय विषय-भोगों से होने वाली विरक्ति ही निर्वेद है।[६]

सम्यक्त्व का यह लक्षण समाज-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक उपयोगी माना जा सकता है। यह व्यक्ति में अनासक्ति का भाव जागृत करता है। अनासक्ति सभी तरह संघर्षों को मिटाने में सक्षम है। संघर्षहीनता वाली स्थिति समाज-व्यवस्था के लिए कितनी अधिक उपयोगी हो सकती है इसे विवेक-संपन्न प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है।

४. अनुकम्पा - अनुकंपा मानव हृदय में उत्पन्न सबसे उज्ज्वल पक्ष है। इसी गुण के कारण मनुष्य 'मनुष्य' कहलाता है। अनुकंपा या दया के वशीभूत होकर एक व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने लगता है और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार का प्रदर्शन करता है। अगर कोई दुःखी होता है तो उसके दुःख से स्वयं को पीड़ित समझता है और उस पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करता है, उसका यही प्रयत्न अनुकंपा के नाम से जाना जाता है। पंचास्तिकाय में अनुकम्पा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है - तृषित, बुभुक्षित एवं दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना व मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना ही अनुकंपा है।[७]

अनुकम्पा समाज व्यवस्था की नींव है। समाज की स्थापना ही अनुकंपा रूपी मानवीय गुणों पर आधारित है। अनुकंपा की भावना ही व्यक्ति में परस्पर सहयोग का वातावरण उत्पन्न करती है जो कि समाज-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। अनुकंपा और परस्पर सहयोग की भावना समाज-व्यवस्था के लिए कितना अधिक महत्त्व रखती है इसे आचार्य उमास्वाति ने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के रूप में व्यक्त किया है।

५. आस्तिक्य - 'आस्तिक्य' शब्द सत्ता का वाचक माना जाता है। क्योंकि इसके मूल में 'अस्ति' शब्द है जो सत्ता का परिचायक है। सम्यक्त्व का यह लक्षण सत्ता का वाचक होने के साथ-साथ व्यक्ति की श्रद्धा का भी परिचायक है। व्यक्ति किसी धर्म-परंपरा से अवश्य जुड़ा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का एक आदर्श उपास्य होता है जिसके प्रति वह आस्था रखता है। उसकी यह आस्था उस आदर्श-उपास्य द्वारा दिखाए गए मार्ग, वचन आदि के प्रति भी हो सकती है। जैन-परम्परा में तीर्थंकर,

सम्यग्दर्शन और समाज-व्यवस्था

☐ डॉ. रज्जनकुमार

सम्यग्दर्शन यद्यपि आध्यात्मिक उत्थान से सम्बद्ध है तथापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रभाव व्यक्ति के माध्यम से परिवार एवं समाज पर भी पड़ता है। इसलिए सम्यक्त्व के पांच लक्षणों एवं आठ आचारों के परिप्रेक्ष्य में समाज-व्यवस्था पर प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।—सम्पादक

सम्यक्त्व के लक्षण और समाज व्यवस्था

जैन परम्परा में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण माने गए हैं - १. सम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य।

१. सम - सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण 'सम' है, जिसका 'शम', 'सम' और 'श्रम' इन तीन अर्थों में प्रयोग मिलता है। कभी यह चित्तवृत्ति की समभाव स्थिति को व्यक्त करता है तो कभी शमन अथवा शांत करने के रूप में प्रयुक्त होता है। कहीं कहीं यह समत्वानुभूति अर्थ का भी द्योतक माना जाता है। योगशास्त्र में 'शम' शब्द कषायों को शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१] सुख-दुःख लाभ-हानि आदि परिस्थितियों में समान भाव रखने वाला व्यक्ति समत्वभाव से युक्त माना जाता है। ऐसा व्यक्ति 'सम' गुण को धारण करने वाला होता है। यह अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में अपने विवेक को नहीं खोता है। जैन परम्परा में ऐसे व्यक्ति को मोह एवं क्षोभ के परिणामों से रहित माना गया है।[२]

सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल सभी तरह की परिस्थितियों में समत्व भाव को बनाए रखना समाज-व्यवस्था के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति ऐसे आचरण की दूसरों से अपेक्षा रखता है।

२. संवेग - संवेग एक प्रकार की अनुभूति है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि संसार के दुःख से जो सतत भय होता है वह संवेग है[३] जबकि दशवैकालिक निर्युक्ति में मोक्ष की अभिलाषा को संवेग कहा गया है।[४] संसार की दुःखमयता का नाश मोक्षावस्था में ही संभव है। जो साधक मोक्षाभिलाषी होगा वह संसार के दुःख से भयभीत अवश्य होगा। क्योंकि मोक्ष सर्व दुःखों से मुक्त अवस्था है जबकि संसार दुःख-भोग का सागर। मोक्षाभिलाषी व्यक्ति आत्मा के आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। इस आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति के लिए उसे ज्ञानरूपी रथ पर सवार होकर अज्ञानरूपी शत्रु को परास्त करना होता है। जबकि अज्ञान मिथ्यात्व या अयथार्थ दृष्टि है।

यथार्थ दृष्टि समाज-व्यवस्था के लिए अनुपम साधन है, क्योंकि इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति मिथ्यात्व के दोष और परिणामों से समाज को मुक्त रखना चाहता है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसमें यह करने की इच्छा भी है और दृष्टि भी है।

३. निर्वेद - सभी प्रकार की अभिलाषाओं से मुक्त हो जाना अथवा त्याग कर देना निर्वेद है।[५] सभी तरह की अभिलाषाओं से मुक्त होना क्या किसी व्यक्ति के

लिए संभव है? क्या आकांक्षारहित होकर कोई व्यक्ति जीवन चला सकता है? क्योंकि जिजीविषा ही व्यक्ति में जीवन के प्रति ललक उत्पन्न करती है और यही ललक अभिलाषा का दूसरा रूप है। अब हमारे समक्ष यह समस्या है कि अभिलाषाओं से मुक्त भी होना है और अभिलाषा को जगा कर भी रखना है। ये दो विपरीत कार्य एक समय में ही कैसे संभव हो सकते हैं। किन्तु यह संभव है। सांसारिक प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाली आकांक्षाओं से मुक्त रहना और इनसे किस प्रकार मुक्त हुआ जाए इस प्रेरणा की अभिलाषा करना ये दोनों ही घटनाएं उसी व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती हैं जो अपने शरीर, इन्द्रियभोग, संसार-विषय-वासनाओं की क्षणिकता को समझता है और इनसे अनासक्त रहता है। तत्त्वार्थभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संसार, शरीर, इन्द्रिय विषय-भोगों से होने वाली विरक्ति ही निर्वेद है।[६]

सम्यक्त्व का यह लक्षण समाज-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक उपयोगी माना जा सकता है। यह व्यक्ति में अनासक्ति का भाव जागृत करता है। अनासक्ति सभी तरह संघर्षों को मिटाने में सक्षम है। संघर्षहीनता वाली स्थिति समाज-व्यवस्था के लिए कितनी अधिक उपयोगी हो सकती है इसे विवेक-संपन्न प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है।

४. अनुकम्पा - अनुकंपा मानव हृदय में उत्पन्न सबसे उज्ज्वल पक्ष है। इसी गुण के कारण मनुष्य 'मनुष्य' कहलाता है। अनुकंपा या दया के वशीभूत होकर एक व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने लगता है और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार का प्रदर्शन करता है। अगर कोई दुःखी होता है तो उसके दुःख से स्वयं को पीड़ित समझता है और उस पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करता है, उसका यही प्रयत्न अनुकंपा के नाम से जाना जाता है। पंचास्तिकाय में अनुकम्पा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है - तृषित, बुभुक्षित एवं दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना व मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना ही अनुकंपा है।[७]

अनुकम्पा समाज व्यवस्था की नींव है। समाज की स्थापना ही अनुकंपा रूपी मानवीय गुणों पर आधारित है। अनुकंपा की भावना ही व्यक्ति में परस्पर सहयोग का वातावरण उत्पन्न करती है जो कि समाज-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। अनुकंपा और परस्पर सहयोग की भावना समाज-व्यवस्था के लिए कितना अधिक महत्त्व रखती है इसे आचार्य उमास्वाति ने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के रूप में व्यक्त किया हैं।

५. आस्तिक्य - 'आस्तिक्य' शब्द सत्ता का वाचक माना जाता है। क्योंकि इसके मूल में 'अस्ति' शब्द है जो सत्ता का परिचायक है। सम्यक्त्व का यह लक्षण सत्ता का वाचक होने के साथ-साथ व्यक्ति की श्रद्धा का भी परिचायक है। व्यक्ति किसी धर्म-परंपरा से अवश्य जुड़ा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का एक आदर्श उपास्य होता है जिसके प्रति वह आस्था रखता है। उसकी यह आस्था उस आदर्श-उपास्य द्वारा दिखाए गए मार्ग, वचन आदि के प्रति भी हो सकती है। जैन-परम्परा में तीर्थंकर,

सम्यग्दर्शन और समाज-व्यवस्था

☆ डॉ. रज्जनकुमार

सम्यग्दर्शन यद्यपि आध्यात्मिक उत्थान से सम्बद्ध है तथापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रभाव व्यक्ति के माध्यम से परिवार एवं समाज पर भी पड़ता है। इसलिए सम्यक्त्व के पांच लक्षणों एवं आठ आचारों के परिप्रेक्ष्य में समाज-व्यवस्था पर प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।--सम्पादक

सम्यक्त्व के लक्षण और समाज व्यवस्था

जैन परम्परा में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण माने गए हैं - १. सम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य।

१. सम - सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण 'सम' है, जिसका 'शम', 'सम' और 'श्रम' इन तीन अर्थों में प्रयोग मिलता है। कभी यह चित्तवृत्ति की समभाव स्थिति को व्यक्त करता है तो कभी शमन अथवा शांत करने के रूप में प्रयुक्त होता है । कहीं कहीं यह समत्वानुभूति अर्थ का भी द्योतक माना जाता है। योगशास्त्र में 'शम' शब्द कषायों को शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१] सुख-दुःख लाभ-हानि आदि परिस्थितियों में समान भाव रखने वाला व्यक्ति समत्वभाव से युक्त माना जाता है। ऐसा व्यक्ति 'सम' गुण को धारण करने वाला होता है। यह अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में अपने विवेक को नहीं खोता है। जैन परम्परा में ऐसे व्यक्ति को मोह एवं क्षोभ के परिणामों से रहित माना गया है।[२]

सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल सभी तरह की परिस्थितियों में समत्व भाव को बनाए रखना समाज-व्यवस्था के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति ऐसे आचरण की दूसरों से अपेक्षा रखता है।

२. संवेग - संवेग एक प्रकार की अनुभूति है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि संसार के दुःख से जो सतत भय होता है वह संवेग है[३] जबकि दशवैकालिक निर्युक्ति में मोक्ष की अभिलाषा को संवेग कहा गया है।[४] संसार की दुःखमयता का नाश मोक्षावस्था में ही संभव है। जो साधक मोक्षाभिलाषी होगा वह संसार के दुःख से भयभीत अवश्य होगा। क्योंकि मोक्ष सर्व दुःखों से मुक्त अवस्था है जबकि संसार दुःख-भोग का सागर। मोक्षाभिलाषी व्यक्ति आत्मा के आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। इस आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति के लिए उसे ज्ञानरूपी रथ पर सवार होकर अज्ञानरूपी शत्रु को परास्त करना होता है। जबकि अज्ञान मिथ्यात्व या अयथार्थ दृष्टि है।

यथार्थ दृष्टि समाज-व्यवस्था के लिए अनुपम साधन है, क्योंकि इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति मिथ्यात्व के दोष और परिणामों से समाज को मुक्त रखना चाहता है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसमें यह करने की इच्छा भी है और दृष्टि भी है।

३. निर्वेद - सभी प्रकार की अभिलाषाओं से मुक्त हो जाना अथवा त्याग कर देना निर्वेद है।[५] सभी तरह की अभिलाषाओं से मुक्त होना क्या किसी व्यक्ति के

लिए संभव है? क्या आकांक्षारहित होकर कोई व्यक्ति जीवन चला सकता है? क्योंकि जिजीविषा ही व्यक्ति में जीवन के प्रति ललक उत्पन्न करती है और यही ललक अभिलाषा का दूसरा रूप है। अब हमारे समक्ष यह समस्या है कि अभिलाषाओं से मुक्त भी होना है और अभिलाषा को जगा कर भी रखना है। ये दो विपरीत कार्य एक समय में ही कैसे संभव हो सकते हैं। किन्तु यह संभव है। सांसारिक प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाली आकांक्षाओं से मुक्त रहना और इनसे किस प्रकार मुक्त हुआ जाए इस प्रेरणा की अभिलाषा करना ये दोनों ही घटनाएं उसी व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती हैं जो अपने शरीर, इन्द्रियभोग, संसार-विषय-वासनाओं की क्षणिकता को समझता है और इनसे अनासक्त रहता है। तत्त्वार्थभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संसार, शरीर, इन्द्रिय विषय-भोगों से होने वाली विरक्ति ही निर्वेद है।[६]

सम्यक्त्व का यह लक्षण समाज-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक उपयोगी माना जा सकता है। यह व्यक्ति में अनासक्ति का भाव जागृत करता है। अनासक्ति सभी तरह संघर्षों को मिटाने में सक्षम है। संघर्षहीनता वाली स्थिति समाज-व्यवस्था के लिए कितनी अधिक उपयोगी हो सकती है इसे विवेक-संपन्न प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है।

४. अनुकम्पा - अनुकंपा मानव हृदय में उत्पन्न सबसे उज्ज्वल पक्ष है। इसी गुण के कारण मनुष्य 'मनुष्य' कहलाता है। अनुकंपा या दया के वशीभूत होकर एक व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने लगता है और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार का प्रदर्शन करता है। अगर कोई दुःखी होता है तो उसके दुःख से स्वयं को पीड़ित समझता है और उस पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करता है, उसका यही प्रयत्न अनुकंपा के नाम से जाना जाता है। पंचास्तिकाय में अनुकम्पा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है - तृषित, बुभुक्षित एवं दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना व मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना ही अनुकंपा है।[७]

अनुकम्पा समाज व्यवस्था की नींव है। समाज की स्थापना ही अनुकंपा रूपी मानवीय गुणों पर आधारित है। अनुकंपा की भावना ही व्यक्ति में परस्पर सहयोग का वातावरण उत्पन्न करती है जो कि समाज-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। अनुकंपा और परस्पर सहयोग की भावना समाज-व्यवस्था के लिए कितना अधिक महत्त्व रखती है इसे आचार्य उमास्वाति ने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के रूप में व्यक्त किया हैं।

५. आस्तिक्य - 'आस्तिक्य' शब्द सत्ता का वाचक माना जाता है। क्योंकि इसके मूल में 'अस्ति' शब्द है जो सत्ता का परिचायक है। सम्यक्त्व का यह लक्षण सत्ता का वाचक होने के साथ-साथ व्यक्ति की श्रद्धा का भी परिचायक है। व्यक्ति [illegible] धर्म-परंपरा से अवश्य जुड़ा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का एक आदर्श [illegible] जिसके प्रति वह आस्था रखता है। उसकी यह आस्था उस आदर्श [illegible] दिखाए गए मार्ग, वचन आदि के प्रति भी हो सकती है। [illegible]

अरिहंत और सिद्ध मुख्य आराध्य देव माने गए हैं। उन्हें जिन भी कहा गया है। जिन-वचन के रूप में सिद्धांत और ग्रंथ दोनों मिलते हैं। इन सिद्धान्तों और ग्रंथों पर श्रद्धा करना तथा इनमें प्रतिपादित धर्ममार्ग का अनुसरण करना भी आस्तिक्य भाव का बोधक माना जा सकता है। इस कारण व्यक्ति के मन में नैतिकता का संचार होता है।

समाज-व्यवस्था के लिए नैतिकता आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में व्यवस्था दुर्व्यवस्था में बदल जाती है। व्यवस्था नियम से परिचालित होती है और आस्तिक्यवृत्ति वाला व्यक्ति नियमों की अवहेलना नहीं करता है, क्योंकि वह जिनप्रणीत वचन में आस्था रखने के साथ-साथ भौतिक जगत् की व्यवस्था को भी मानता है। आस्तिक्यवृत्ति की विशेषता बताते हुए कहा गया है "जीवादि पदार्थ यथायोग्य अपने स्वभाव से संयुक्त हैं, इस प्रकार की बुद्धि ही आस्तिक्य बुद्धि कहलाती है।"[८]

सम्यग्दर्शन के आचार और समाज-व्यवस्था

सम्यग् दर्शन दर्शन-विशुद्धि की साधना है। इसकी साधना से व्यक्ति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकता है। वह मिथ्या अवधारणाओं से अपने आपको मुक्त कर सकता है। जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन की साधना के लिए ८ आचारों या अंगों पर प्रकाश डाला गया है[९]—१. निःशंकित, २. निष्कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढदृष्टि, ५. उपबृंहण ६. स्थिरीकरण, ७. वात्सल्य और ८. प्रभावना। दिगम्बर आम्नाय (अथवा यापनीय संप्रदाय) के प्रसिद्ध ग्रंथ मूलाराधना में उपबृंहण (उववूह) की जगह उपगूहन (उवगूहण) शब्द का प्रयोग किया गया है।[१०] सम्यग्दर्शन के इन अंगों की साधना दर्शन-विशुद्धि एवं उसके संरक्षण और संवर्द्धन के लिए आवश्यक मानी गयी है।

१. निश्शंकता - संशय की वृत्ति का अभाव निश्शंकता है। संशय से ग्रस्त व्यक्ति अपने लक्ष्य को सफलतापूर्वक कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है, कारण कि अपनी शंका के वशीभूत होकर वह किसी भी विषय पर दृढ़ नहीं रह पाता है। निश्शंकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिनागम में वर्णित तत्त्व-दर्शन में शंका नहीं करना तथा जिनदेव ने जो कहा है वही सत्य है ऐसी दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति निश्शंक कहलाता है।[११] व्यक्ति के मन में रहने वाली दृढ़ता उसे उसके मन में उठने वाले द्वैतभाव के निराकरण में सहयोग करती है। वह निर्भीकता पूर्वक जीवन में आने वाली समस्याओं का सामना भी करता है और उसे हल भी कर लेता है। अतः निर्भीकता को निश्शंकता का गुण भी माना जा सकता है। आचार्य वट्टकेर ने निश्शंकता और निर्भयता को समान माना है।[१२]

मनुष्य के सामाजिक जीवन में विभिन्न तरह की समस्याएं आती हैं। उसे इन समस्याओं का सामना निर्भीक होकर करना पड़ता है, अन्यथा वह अपने जीवन की रक्षा नहीं कर पाएगा। सामाजिक-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए मनुष्य में विश्वास का भाव होना अनिवार्य है, क्योंकि सामाजिक-व्यवहार विश्वास और आस्था के सहारे चलता है। शंका की वृत्ति व्यवहार को नहीं चलने देती है। परिणामस्वरूप

सामाजिक-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है।

२. निष्कांक्षता - जो सभी प्रकार के सुखों और सुख प्रदान करने वाली वस्तुओं की अभिलाषा नहीं करता है, वह निष्कांक्षित सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[१३] निष्कांक्षित व्यक्ति आत्म-केन्द्रित साधना को अपना लक्ष्य बनाता है। वह लौकिक अथवा परलौकिक कामना के वशीभूत होकर सम्यक्त्व की आराधना अथवा साधना नहीं करता है। वह अनासक्त भाव से अपनी साधनावृत्ति में रत रहता है। कामना या अभिलाषा, राग-द्वेष के मूल कारण माने गए हैं तथा इनसे मिथ्यात्व का उदय होता है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार की इच्छाओं से मुक्त रहकर सम्यक्त्व की साधना करने का निर्देश दिया है।[१४] जैनग्रंथों में निष्कांक्षता का एक अर्थ ऐकान्तिक मान्यताओं से दूर रहने के लिए भी हुआ है।[१५] निष्कांक्षता का यह अर्थ व्यक्ति में अनाग्रह दृष्टि उत्पन्न करता है। व्यक्ति अपनी मान्यताओं के साथ-साथ अन्य मान्यताओं के प्रति आदरपूर्ण दृष्टि रखता है। उसकी यह वृत्ति समाज-व्यवस्था में होने वाले वैचारिक संघर्षों को काफी कम कर देती है। जिस समाज में जितना ही कम संघर्ष होगा वह उतना ज्यादा विकास कर सकता है। अतः अनासक्त और अनाग्रहवृति जो कि निष्कांक्ष व्यक्ति का गुण है समाज-व्यवस्था के लिए परम उपादेय हो सकता है।

३. निर्विचिकित्सा - जैन परम्परा में विचिकित्सा संमोह (अस्थिर वृत्ति) अवस्था का परिचायक है। उसकी यह अस्थिर वृत्ति धारण किए गए व्रत तथा आगम में पूर्ण आस्था नहीं रखने के कारण उत्पन्न होती है। व्यक्ति हमेशा नैतिक क्रिया के फल के प्रति शंकाकुल बना रहता है। यह शंका उसे आत्म-विकास के पथ पर आगे नहीं बढने देती है। इसका परित्याग निर्विचिकित्सा है।

बाह्यावरण की चमक से प्रभावित न होना तथा आंतरिक गुणों को श्रेष्ठ मानकर उनके प्रति आस्थावृत्ति रखना भी निर्विचिकित्सा है। आचार्य कुंदकुंद का उस संबंध में कहना है "मनुष्य शरीर यद्यपि स्वभाव से अपवित्र है, फिर भी चूंकि रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण वह मनुष्य शरीर ही है, अतएव रत्नत्रय से पवित्र मुनि आदि के शरीर में घृणा को छोड़कर गुण के कारण प्रीति करना निर्विचिकित्सा है"।[१६] प्रायः व्यक्ति बाह्य चमक से प्रभावित होकर आभ्यन्तर गुणों को भूलने लगता है। यह व्यक्ति की बहुत बड़ी भूल मानी जाती है। सामाजिक-व्यवस्था के लिए मानव के आंतरिक गुण दया, अनुकंपा आदि के साथ घृणा के त्याग रूप निर्विचिकित्सा भी आवश्यक निर्विचिकित्सा अंग मनुष्य में मानवीय प्रेम एवं आपसी सहयोग की प्रेरणा देता है।

४. अमूढ़दृष्टि - मनुष्य में ज्ञान-अज्ञान, मूढ़-अमूढ़ दोनों ही प्रकार के भाव पाए जाते हैं। अज्ञानता या मूढ़ता के कारण व्यक्ति हेय और उपादेय, योग्य अथवा अयोग्य के मध्य निर्णायक स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता है। व्यक्ति की अज्ञानता उसे सन्मार्ग अथवा कुमार्ग के अन्तर को समझने नहीं देती है। पं. आशाधर ने अपने ग्रंथ अनागार धर्मामृत में मूढ़ता पर प्रकाश डालते हुए उसके तीन प्रकार बताए हैं- (क) देवमूढ़ता, (ख) लोकमूढ़ता और (ग) समयमूढ़ता।

साधना के लिए किसे आदर्श माना जाए? उपास्य बनने की क्षमता किसमें है? ऐसे निर्णायक ज्ञान का अभाव ही देवमूढ़ता है। इस मूढ़वृत्ति के कारण साधक गलत आदर्श और उपास्य का चयन कर लेता है। लोकप्रवाह और रूढ़ियों का अंधानुकरण लोकमूढता है। 'समय' सिद्धांत और शास्त्र का वाचक माना जाता है और इनके ज्ञान का अभाव समय-मूढता है। ये तीनों मूढताएँ समाज-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर सकती हैं।

सम्यक् समाज-व्यवस्था के लिए व्यक्ति को सही आदर्श या उपास्य का चयन करना चाहिए, शास्त्र और सिद्धांत का समुचित ज्ञान रखना चाहिए तथा रुढ़ियों को अपनाने के पूर्व उन पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार कर लेना चाहिये।

५. उपबृंहण - सम्यक् आचरण को अपनाए हुए व्यक्तियों की प्रशंसा करना और उन्हें इस दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयत्न उपबृंहण कहलाता है। दशवैकालिकवृत्ति में उपबृंहण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि साधर्मी बन्धुओं के समीचीन गुणों की प्रशंसा के द्वारा उन्हें बढ़ाने को उपबृंहण कहा जाता है।[१७] यह अवधारणा व्यक्ति में आध्यात्मिक गुणों के विकास में सहायक मानी गई है साथ ही यह व्यक्ति के आध्यात्मिक पक्ष की ओर रुचि की भी परिचायक है। आध्यात्मिक प्रवृत्ति का विकास और उसमें रुचि रखना बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। आध्यात्मिक वृत्ति वाला व्यक्ति नैतिक आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। किसी भी समाज के लिए नैतिक आदर्श एक मापदंड का कार्य करता है। इसे समाज-व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु भी कहा जा सकता है।

६. स्थिरीकरण - धर्ममार्ग से पतित होने पर पुनः धर्ममार्ग पर आरूढ़ होना स्थिरीकरण है।[१८] व्यक्ति के समक्ष कभी ऐसे प्रसंग आ जाते हैं कि उसे अपने पथ से पथभ्रष्ट होना पड़ता है। यह स्थिति प्राकृतिक रूप में भी उपस्थित हो सकती है अथवा इसके कृत्रिम कारण भी हो सकते हैं। ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाने पर स्वयं को पथभ्रष्ट होने से बचाने एवं जो पथच्युत हो गए हैं उन्हें पुनः सन्मार्ग पर लाना और धर्ममार्ग में स्थिर करना ही स्थिरीकरण है। अपने आपको पथच्युत नहीं होने देना एक कठिन कार्य है और किसी कारण से व्यक्ति दिग्भ्रमित हो गया है तो पुनः सम्यक् मार्ग पर लाना और भी कठिन होता है। क्योंकि व्यक्ति सन्मार्ग से कुमार्ग पर ज़ब चला जाता है तब उसके विवेक एवं बुद्धि पर आवरण पड़ जाता है। लेकिन स्थिरीकरण गुण से युक्त सम्यगदृष्टि ऐसा कर पाता है। सम्यग्दृष्टि का यह गुण समाज-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक उपयोगी हो सकता है। समाज में ऐसे कई कारण मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते रहते हैं जो उसे पथभ्रष्ट करने में सक्षम माने गए हैं। सम्यग्दृष्टि साधक इन परिस्थितियों में धर्ममार्ग में पतित होने से अपने आपको बचाने का शक्तिभर प्रयत्न करता है, तथा दूसरों को भी सन्मार्ग में स्थिर करता है।

७. वात्सल्य - धर्म का आचरण करने वाले समान गुणशील साथियों के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करना एवं प्रेमभाव रखना वात्सल्य है। आचार्य कार्तिकेय वात्सल्यभाव पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि स्वधर्मियों एवं गुणियों के प्रति परम श्रद्धा पूर्वक प्रीति रखना और उनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषा करना, उनसे प्रिय वचन

बोलना ही वात्सल्य है।[१९] वात्सल्य भाव से युक्त व्यक्ति के प्रेम एवं सौहार्द में दिखावा नहीं होता है। उनके हृदय में उपजा यह प्रीतिभाव स्फूर्त रूप में निरंतर प्रवाहित होता रहता है। क्योंकि यह समर्पण और प्रपत्तिभाव से युक्त होता है। वात्सल्य का प्रतीक गाय और बछड़े का प्रेम है। जिस प्रकार गाय बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के बछड़े को संकट में देखकर अपने प्राणों की परवाह किए बिना उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि साधक भी धार्मिकजनों के सहयोग और सहकार के लिए सभी तरह के प्रयत्न करने को तत्पर रहते हैं। वात्सल्य का यह भाव सामाजिक भावना का केन्द्रीय तत्त्व है।

८. प्रभावना - धर्मकथादि के द्वारा धर्म-तीर्थ को ख्यापित करना, उसे प्रसिद्धि में लाना या प्रचारित करना ही प्रभावना है।[२०] प्रभावना की यह प्रवृत्ति प्रवचन, धर्मकथा, वाद, नैमित्तिक, तप, विद्या, प्रसिद्ध व्रत ग्रहण, कवित्व शक्ति इन आठ अंगों द्वारा प्रवर्तित होती है।[२१] प्रभावना की यह अवधारणा किसी धार्मिक तीर्थ को महिमामंडित करने के लिए ही उपयोगी नहीं है वरन् यह व्यक्ति के मन में सदाचरण की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा देती है। तप, विशेष व्रत आदि का जीवन में क्या महत्त्व है इस पर भी तर्कपूर्ण ढंग से विचार प्रस्तुत किया जाता है।

ये सारे तथ्य एक साथ मिलकर व्यक्ति के मन में सदाचरण की ऐसी वृत्ति का विकास कर देते हैं कि वह सम्पूर्ण जगत् के कल्याण की कामना ठीक उसी तरह करने लगता है जिस तरह पुष्प सारे जगत् को सुवासित करते हैं। परम कल्याण की यह वृत्ति समाज-व्यवस्था के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

सन्दर्भ

१. शमः कषायेन्द्रियजयः।–योगशास्त्र स्व. विवरण, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६

२. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥– प्रवचनसार, १.७

३. संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। –सर्वार्थसिद्धि, ६/२४

४. संवेगो मोक्षाभिलाषा। –दशवैकालिकनिर्युक्ति, हरिभद्रवृत्ति, ५७, जैनपुस्तकोद्धारफंड, बम्बई,

५. त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो ।–पंचाध्यायी, २/४४३, गणेशवर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी

६. निर्वेदो निर्विण्णता शरीर-भोग-संसारविषयवैमुख्यमुद्वेगः॥ –तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ७/७, देवचंद लालचंद जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, वि. १९८६

७. तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसो होदि अणुकंपा॥ –पंचास्तिकाय, १३५

८. जीवादयोऽर्थाः यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्।–तत्त्वार्थवार्त्तिक १/२/३०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३

९. निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे वच्छलपभावणे अट्ठ ॥–उत्तराध्ययनसूत्र २८/३१

१०. उवगूहण—— मूलाराधना, ४५ पृ. १४९

११. आर्हते प्रवचने निर्गता शङ्का देश-सर्वरूपा यस्य स निःशङ्कः। तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितम् इत्येवं कृताध्यवसायः।- सूत्रकृतांग, शीलांकवृत्ति २.७.६९, पृ. १६१, पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, बम्बई, १९५३

१३. मूलाचार, २/५२-५३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८४

१४. इह परलोकभोगोपभोगकांक्षारहितं निःकांक्षित्वम्॥ तत्त्वार्थवृत्ति, ६/२४ भारतीय ज्ञानपीठ,

१५. 'एकान्तवाददूषित...। पुरुषार्थसिद्ध्युपायः, २४

१६. शरीरादौ शुचीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निर्विचिकित्सता। मुनीनां रत्नत्रयमण्डितशरीरमलदर्शनादौ निःशूकत्वं तत्र समाढौक्य वैयावृत्यविधानं वा निर्विचिकित्सता। - भावप्राभृत टीका ७७, मा.दि. जैनग्रंथमाला, बम्बई, वि.सं. १९७७

१७. उपबृहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्‌गुणप्रशंसनेन तद् वृद्धिकारणम्।- दशवैकालिक, हरिभद्र वृति ३.१८२

१८. ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठि मुणेदव्वो।- समयप्राभृत, २५२

१९. जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणए परमसद्धाए। पियवयणं जंपंतो वच्छलतां तस्स भव्वस्स॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४२१,राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, वि.सं. २०१६

२०. प्रभावना धर्मकथादिभिस्तीर्थख्यापना...।- दशवैकालिकनिर्युक्ति, हरिभद्रवृति, १८२ पृ. १०३, जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१८

२१. प्रभाव्यते मार्गेऽनयेति प्रभावना वाद-पूजा-दान-व्याख्यान-मंत्र-तंत्रादिक्षमः...।- मूलाचारवृत्ति, ५-४, मा.दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई, वि.सं. १९७७

प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी (उ.प्र.)

अमृत-कुण्ड

सम्यक्‌दृष्टि बुरे में से अच्छाई चुनता है और मिथ्यादृष्टि अच्छाई में से भी बुराई ग्रहण करता है। यह बात निम्नाङ्कित कथा से सुस्पष्ट होती है—

एक बार अकबर ने बीरबल से कहा - 'मैंने एक स्वप्न देखा है।'

'वह स्वप्न कौनसा है?' बीरबल की विनम्र जिज्ञासा थी।

"मैं और तूम कहीं घूमने निकले। रास्ते में एक अमृत कुंड और दूसरा गन्दगी से व्याप्त कुण्ड उपलब्ध हुए। तुम तो गन्दगी के कुण्ड में जा गिरे और मैं अमृत कुण्ड में।"

स्वप्न सुनकर सभा-भवन अट्टहास से गूंज उठा। मौलवी और बीरबल से ईर्ष्या रखने वाले कुछ लोग इस प्रसंग से मन ही मन अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पर बीरबल विचलित नहीं हुआ।उसकी उत्पात बुद्धि निखरी।उसने नहले पर दहला रखते हुए कहा—'हूजुर मुझे भी एक स्वप्न आया है उसका पूर्वार्ध आपके स्वप्न के सदृश ही है, किन्तु उससे आगे भी मैंने ओर कुछ देखा है।'

सारी सभा में सुनने की उत्सुकता फैल गई और जानना चाहा कि आगे क्या हुआ। बीरबल ने आगे हाल सुनाते हुए कहा—

"जहाँपनाह! मैं आपको चाट रहा था और आप मुझे चाट रहे थे।"

इस कथा का सारांश यही है कि सम्यग्दर्शनी का जीवन अमृत को चाटने की तरह गुणग्राही होता है। जो संसार के गन्दगी युक्त वातावरण में रहकर भी सम्यक्त्व रूप अमृतरस का पान करता है और मिथ्यात्वी का जीवन इससे पूर्णतया विपरीत होता है।

—पर्युषण पर्वाराधन, साध्वी श्री मैनासुन्दरी जी म.सा.

स्वास्थ्य और सम्यग्दर्शन

¤ चंचल मल चोरड़िया*

सम्यक् प्रकार से जीवन जीने में स्वास्थ्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किन्तु मनुष्य का दृष्टिकोण स्वास्थ्य के प्रति भी विकृत है। आवश्यकता है वह अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाए। प्रस्तुत लेख स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सम्यक् दृष्टि पर विचार करता है।—सम्पादक

स्वस्थ कौन?

'स्वस्थ' का मतलब है स्व में स्थित हो जाना अर्थात् अपने निज स्वरूप में आ जाना या विभाव अवस्था से स्वभाव में आ जाना। जैसे अग्नि के सम्पर्क से पानी गरम हो जाता है, उबलने लगता है। परन्तु जैसे ही अग्नि से उसको अलग करते हैं धीरे-धीरे वह ठण्डा हो जाता है। शीतलता पानी का स्वभाव है गरमी नहीं। उसी प्रकार शरीर में जैसे हड्डियों का स्वभाव कठोरता है, परन्तु किसी कारणवश कोई हड्डी नरम हो जावे तो रोग का कारण बन जाती है। मांसपेशियों का स्वभाव लचीलापन है, परन्तु उसमें कहीं कठोरता आ जाती है, गांठ बन जाती है तो शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। हृदय एवं रक्त को शरीर में अपेक्षित गरम रहना चाहिये परन्तु ठण्डा हो जावे, मस्तिष्क तनावमुक्त शान्त रहना चाहिये, परन्तु वह उत्तेजित हो जावे, शरीर का तापक्रम ९८.४ डि.ग्री. फारेहनाईट रहना चाहिये, परन्तु वह बढ़ जावे अथवा कम हो जावे, शरीर में सभी अंगों एवं उपांगो का आकार निश्चित होता है, परन्तु वैसा न हो, विकास जिस अनुपात में होना चाहिये उस अनुपात में न हो, जैसे शरीर बेढंगा हो, शरीर में विकलांगता हो, आंखों की दृष्टि कमजोर हो, कान से कम सुनायी देता हो, मुंह से बराबर बोल न सके, आदि बातें शरीर की विभाव दशा को दर्शाते हैं। अतः रोग के प्रतीक हैं। शरीर का गुण है जो अंग और उपांग शरीर में जिस स्थान पर स्थित हैं उनको वहीं स्थित रखना। हलन चलन के बावजूद आगे-पीछे न होने देना। शरीर में विकार उत्पन्न हो जाने पर उसको दूर कर पुनः अच्छा करना। यदि कोई हड्डी टूट जावे तो उसे पुनः जोड़ना। चोट लग जाने से घाव हो गया हो तो उसको भरना तथा पुनः त्वचा का आवरण लगाना तथा रक्त बढ़ने अथवा रक्त-दान आदि से शरीर में रक्त की कमी हो गई हो तो उसकी पुनः पूर्ति करना। ये सब कार्य, गुण यानी शरीर के स्वभाव हैं। परन्तु यदि किसी कारणवश शरीर इन कार्यों को बराबर न करे तो यह उसकी विभावदशा है अर्थात् शारीरिक रोगों का प्रतीक है।

शरीर विभिन्न तन्त्रों का समूह है। जैसे ज्ञानतन्त्र, नाडीतन्त्र, श्वसन, पाचन, विसर्जन, मज्जा, अस्थि, लासिका, शुद्धिकरण, प्रजनन-तन्त्र आदि। सभी आपसी सहयोग से अपना-अपना कार्य स्वयं ही करते हैं, क्योंकि ये चेतनाशील प्राणी के लक्षण अथवा स्वभाव हैं। परन्तु यदि किसी कारणवश कोई भी तन्त्र शिथिल हो जाता है एवम् उसके कार्य को संचालित अथवा नियन्त्रित करने के लिये वाह्य सहयोग लेना पड़े तो यह शरीर की विभावदशा है अर्थात् शारीरिक रोग का सूचक है।

---

* अहिंसक-चिकित्सा विशेषज्ञ, विद्युत् अभियन्ता एवं समाजसेवी

मन का कार्य मनन करना, चिन्तन करना, संकल्प-विकल्प करना, इच्छायें करना आदि है। इस पर जब ज्ञान एवम् विवेक का अंकुश रहता है तो वह शुभ में प्रवृति करता है। व्यक्ति को नर से नारायण बनाता है। परन्तु जब स्वच्छन्द होता है तो अपने लक्ष्य से भटका देता है। जब चाहा, जैसा चाहा चिन्तन-मनन, इच्छा-एषणा या आवेग करने लग जाता है जिसका परिणाम होता है क्रोध, मान, माया, लोभ, असंयम, द्वन्द्व, प्रमाद, जैसी अशुभ प्रवृत्तियां। ये सब मानसिक रोगों का कारण है। इसके विपरीत क्षमा, करुणा, दया, मैत्री, सेवा, विनम्रता, सरलता, संतोष, संयम एवं शुभ प्रवृत्तियां मन के उचित कार्य हैं । अतः मानसिक स्वस्थता के प्रतीक हैं। अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह आत्माकी विभावदशाएं हैं जो कर्मों के आवरण से उसको अपना भान नहीं होने देती अतः ये आत्मा के रोग हैं, तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, वीतरागता शुद्धात्मा के लक्षण हैं जो आत्मा की स्वस्थता के द्योतक हैं। जैसे कोई व्यक्ति केवल झूठ बोलकर ही जीना चाहे, सत्य बोले ही नहीं तो क्या वह दीर्घकाल तक अपना जीवन सुचारू रूप से चला सकता है? नहीं, क्योंकि झूठ बोलना आत्मा का स्वभाव नहीं। व्यक्ति छोटा हो या बडा अपने स्वभाव में बिना किसी परेशानी के सदैव रह सकता है। बाह्य आलम्बनों एवम् परिस्थितियों में जितना-जितना वह विभाव अवस्था में जावेगा उतना-उतना शारीरिक, मानसिक अथवा आत्मिक रोगी बनता जावेगा। जितना-जितना अपने स्वभाव को विकसित करेगा, स्वस्थ बनता जावेगा। अपने आपको पूर्ण स्वस्थ रखने की कामना रखने वालों को इस तथ्य, सत्य का चिन्तन कर अपने लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ना चाहिये।

आरोग्य एवं नीरोगता में अन्तर

'नीरोग' होने का मतलब है रोग उत्पन्न ही न हो। 'आरोग्य' का मतलब है शरीर में रोगों की उपस्थिति होते हुए भी हमें उनकी पीड़ा एवं दुष्प्रभावों का अनुभव न हो। आज हमारा सारा प्रयास आरोग्य रहने तक ही सीमित हो गया है उसमें भी हम मात्र शारीरिक रोगों को ही रोग मान रहे हैं। मानसिक एवं आत्मिक-रोग जो ज्यादा खतरनाक हैं, हमें जन्म, मरण एवं विभिन्न योनियों में भटकाने वाले हैं, की तरफ ध्यान जाता ही नहीं। शारीरिक रूप से भी नीरोग बनना असम्भव सा लगता है। रोग चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक अथवा आत्मिक उसका प्रभाव तो शरीर पर ही पड़ेगा। अभिव्यक्ति तो शरीर के माध्यम से ही होगी, क्योंकि मन और आत्मा अरूपी है। उसको इन भौतिक आंखों से नहीं देखा जा सकता। मुख्य रूप से रोग आधि (मानसिक) व्याधि (शारीरिक), उपाधि (कर्मजन्य) के रूप में ही प्रकट होते है। अतः आधि, व्याधि, उपाधि को शमन करने से ही समाधि, परम शान्ति अथवा पूर्ण स्वास्थ्य अर्थात् नीरोग अवस्था की प्राप्ति हो सकती है।

सम्यग्दर्शी का चिन्तन

सम्यग्दर्शन का सीधा साधा सरल अर्थ होता है सही दृष्टि, सत्य दृष्टि, सही विश्वास। अर्थात् जो वस्तु जैसी है जितनी महत्त्वपूर्ण है, जितनी उपयोगी है उसको उसके स्वरूप, गुण एवं धर्म के आधार पर जानना। सम्यक् दर्शन से स्वविवेक जागृत होता है। स्वदोषदर्शन की प्रवृत्ति विकसित होती है। वस्तुस्थिति ऐसी हो गई है कि हमारा शरीर रूप नौकर एवम् मन रूपी मंत्री आत्मा रूपी मालिक पर शासन कर रहे

हैं। हमारी स्थिति उस शेर के समान हो गई है जो भेडियों के बीच पल कर बड़ा होने से अपनी शक्तियों का भान भूल जाता है। सम्यग्दर्शन से आत्मा और शरीर का भेदज्ञान होता है।

आत्मा का साक्षात्कार होने से उसकी अनन्त शक्ति का भान होने लगता है। उसके ऊपर आये कर्मों की तरफ दृष्टि जाने लगती है तथा उसके शुद्धिकरण का प्रयास प्रारम्भ होने लगता है। सभी चेतनाशील प्राणियों में एक जैसी आत्मा के दर्शन होने लगते हैं। सत्य प्रकट होते ही पूर्वाग्रह एवम् एकान्तवादी दृष्टिकोण समाप्त होने लगता है और अनेकान्तवादी दृष्टि विकसित होने लगती है। जैसे खुद को पीड़ा, दुःख होता है वैसे ही दूसरों के दुःख का अनुभव होने लगता है।

अतः स्वयं के लाभ के लिये दूसरों को कष्ट पहुंचाने की प्रवृत्ति कम होने लगती है। सत्य को पाने के लिये उसका सारा प्रयास होने लगता है एवम् अनुपयोगी कार्यों के प्रति उसमें उदासीनता आने लगती है और जीवन में समभाव बढ़ने लगता है अर्थात् उसके जीवन में सम (समता), संवेग (सत्य को पाने की तीव्र अभिलाषा) निर्वेद (अनुपयोगी कार्यों के प्रति उपेक्षावृत्ति) अनुकम्पा (प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा, परोपकार, मैत्री का भाव) तथा सत्य के प्रति आस्था हो जाती है। यही सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं। सम्यक्त्वी का उद्देश्य मेरा जो सच्चा के स्थान पर सच्चा जो मेरा हो जाता है। उसका जीवन स्व-पर कल्याण के लिये ही कार्यरत रहता है।

सम्यग्दर्शी का चिकित्सा के प्रति दृष्टिकोण

सम्यक्दर्शन होने पर व्यक्ति रोग के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, वर्तमान एवम् भूत सम्बन्धी शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक कारणों को देखेगा, समझेगा और उन कारणों से बचने का प्रयास करने लगेगा। फलतः रोग उत्पन्न होने की सम्भावनायें बहुत कम हो जावेंगी, जो स्वस्थ रहने के लिये अति आवश्यक है। रोग उत्पन्न हो भी गया हो तो उसके लिये दूसरों को दोष देने की बजाय स्वयं की गलतियों को ही उसका प्रमुख कारण मानेगा तथा धैर्य एवं सहनशीलता पूर्वक उसका उपचार करेगा। उपचार कराते समय क्षणिक राहत से प्रभावित नहीं होगा, दुष्प्रभावों की उपेक्षा नहीं करेगा तथा साधन, साध्य एवम् सामग्री की पवित्रता पर विशेष ध्यान रखेगा। ऐसी दवाओं से बचेगा जिनके निर्माण एवम् परीक्षण में किसी भी जीव को कष्ट पहुंचता हो। उपचार के लिये अनावश्यक हिंसा को प्रोत्साहन नहीं देगा। आशय यह है कि सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् व्यक्ति पाप के कार्यों अर्थात् अशुभ प्रवृत्तियों से यथासम्भव बचने का प्रयास करता है। उसका जीवन पानी में कमल की भांति निर्लिप्त होने लगता है। प्रत्येक कार्य को करने में उसका विवेक एवं सजगता जागृत होने लगते हैं। अनुकूल एवम् प्रतिकूल परिस्थितियों का उस पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उसका प्रयास नवीन कर्मों से बचना तथा पुराने कर्मों को क्षय कर आत्मा को नर से नारायण बनाने का होता है।

पूर्वकृत कर्मों का वर्तमान जीवन से सम्बन्ध

जन्म के साथ मृत्यु निश्चित है। पूर्वकृत पुण्यों के आधार पर हम प्राण ऊर्जा अर्थात् श्वासों के रूप में आयुष्य का जो खजाना लेकर आते हैं प्रतिक्षण कम होता

जाता है। जीवन के अंतिम समय तक उस संचित-संगृहीत प्राण ऊर्जा को संतुलित एवं नियन्त्रित कैसे रखा जावे, यह स्वास्थ्य की मूलभूत आवश्यकता है। पूर्वकृत कर्मो के आधार पर ही हमें अपना स्वास्थ्य, सत्ता, साधन, संयोग अथवा वियोग मिलते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियां बनती हैं। परन्तु कभी कभी पूर्वकृत पुण्यों के उदय से व्यक्ति को मनचाहा रूप, सत्ता, बल, साधन एवम् सफलतायें लगातार मिलने लगती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियां, वियोग, रोग यदि उत्पन्न न हो तो व्यक्ति अज्ञानवश अभिमानपूर्वक कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। कर्मसिद्धान्त को समझने के लिये हमें चिन्तन करना होगा कि वे कौनसे कारण हैं जिनसे बहुत से बालक जन्म से ही विकलांग अथवा रोग ग्रस्त होते हैं? कोई गरीब के घर में तो कोई अमीर के घर में जन्म क्यों लेते हैं? कोई बुद्धिमान् तो कोई मूर्ख क्यों बनते हैं? भारतीय संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र का सर्वोच्च पद प्राप्त करने का अधिकार है, परन्तु चाहते हुये अथवा प्रयास करने के बावजूद भी सभी राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री क्यों नहीं बन पाते? संसार की सारी विसंगतियां एवम् हमारे चारों तरफ का वातावरण हमें पुनर्जन्म एवम् कर्मों की सत्ता के बारे में निरन्तर सजग और सतर्क कर रहे हैं। अज्ञानवश उसके महत्त्व को न स्वीकारने से उसके प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। पारस को पत्थर कहने से वह पत्थर नहीं हो जाता और पत्थर को पारस मान लेने से वह पारस नहीं बन जाता। 'सम्यक् दर्शन' रोग के इस मूल कारण पर दृष्टि डालता है एवम् अशुभ कर्मो को दूर करने की प्रेरणा देता है, जो स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है।

अपनी सफलताओं का अहम् करने वालों के जैसे ही पूर्वकृत पुण्यों का क्षय हो जाता है और अशुभ कर्मों का उदय प्रारम्भ होने लगता है उसका अहम् चूर-चूर हो जाता है। अपराध के प्रथम प्रयास में न पकड़ा जाने वाला यदि अपनी सफलता पर गर्व करे तो यह उसका अज्ञान ही होगा।

जैसे पूर्वकृत कर्मो का हमारे वर्तमान जीवन पर प्रभाव पड़ता है, ठीक उसी प्रकार वर्तमान में किये जाने वाले कर्मों का भी भविष्य में फल भोगना पड़ेगा। राग एवम् द्वेष कर्म-बन्धन के कारण हैं। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, मन, वचन और काया के अशुभयोग तथा प्रमाद अशुभ कर्मों को आकर्षित करते हैं अतः दुःख, पीड़ा, चिन्ता अथवा रोग पैदा होते हैं। जितना-जितना इनसे बचा जावेगा हम रोगमुक्त होते जावेंगे। अतः स्वस्थ रहने के लिये मन, वचन और काया की शुद्धि आवश्यक है। हम प्रत्येक प्रवृत्ति करने से पूर्व उसके उद्देश्य, हानि-लाभ एवं प्राथमिकताओं की विवेकपूर्वक जांच पड़ताल करें और ऐसा कोई कार्य न करें जिससे अनावश्यक मन, वचन एवम् काया में विकार पैदा हो।

रोगों के अन्य कारण एवं उपचार की सीमायें

रोग होने के मुख्य कारण हैं—हमारे पूर्वकृत संचित अशुभ कर्मो का उदय, हमारी अप्राकृतिक जीवन पद्धति, अर्थात् असंयमित, अनियमित, अनियन्त्रित, अविवेकपूर्ण अपनी क्षमताओं के प्रतिकूल शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक अशुभ प्रवृत्तियां। पांच बातों के संयोग से किसी परिस्थिति का निर्माण तथा कार्य की सफलता अथवा असफलता निर्भर करती है। ये पांच तथ्य हैं—काल की परिपक्वता, वस्तु का स्वभाव,

नियति, कर्म और पुरुषार्थ। जैसे गलत समय अथवा मौसम में बोया हुआ बीज नहीं उगता। जैसा बीज होगा वैसाही फल मिलेगा। नीम से आम पैदा नहीं होते। पुरुषार्थ करने के पश्चात् भी नियति के अभाव में बोने की सही प्रक्रिया एवं देखभाल के बावजूद सभी बीजों का विकास एक जैसा नहीं होता। ठीक उसी प्रकार अनुकूल एवम् प्रतिकूल परिस्थितियां बनती हैं। नियति कर्मोदय कौनसे काल में किस क्षेत्र में किसके सम्पर्क से उपस्थित होगी हम जैसे अधूरे ज्ञानियों की समझ से परे है। केवल पुरुषार्थ ही हमारे नियंत्रण में है। परिस्थितियां शुभ अथवा अशुभ कर्मों के कारण बनती हैं, परन्तु प्रयास एवम् पुरुषार्थ द्वारा उनको आगे-पीछे किया जा सकता है। प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में बदला जा सकता है। परन्तु किसी भी हालत में अशुभ कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं। जिस प्रकार यदि कोई हमसे अपनी उधारी का भुगतान मांगे और हम उससे थोड़ा समय मांगे तो मांगने वाला थोड़ा समय दे देता है। परन्तु बार-बार मांगने के पश्चात् भी हम कर्जा न चुकायें तो कर्जा मांगने वाला हमारे न चाहते हुए भी कानून की मदद द्वारा अपना भुगतान ले लेगा। अच्छा व्यापारी तो कर्जा चुकाने पर खुश ही होता है दुःखी नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक् दर्शन होने के पश्चात् रोग होने पर व्यक्ति रोग का कारण अपनी गलतियों को मानेगा और धैर्य एवं सहनशीलता से समभावपूर्वक उसको सहन कर कर्मों से हलका होना चाहेगा। रोग की स्थिति में हाय-हाय कर चिल्लाकर सबको परेशान कर नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करेगा। जिससे कर्मों का रोग सदैव के लिये चला जावेगा। परन्तु अपरिहार्य कारणों से धैर्य एवम् सहनशीलता के अभाव में अगर उपचार भी करायेगा तो इस बात का अवश्य विवेक रखेगा कि उपचार के लिये जो साधन, साध्य एवम् सामग्री कार्य में ली जा रही है वह यथा संभव पवित्र हो। यदि उपचार कर्म बन्धन का कारण बने तो उसका मतलब कर्जा चुकाने के लिए ऊंचे ब्याज की दर पर नया कर्ज लेने के समान होगा।

मिथ्यात्व सब पापों की जड

परन्तु आज अज्ञानवश अहिंसा-प्रेमी उपचार के नाम पर हिंसक दवाइयों की गवेषणा तक नहीं करते। उनके गले में ऐसी दवाइयां कैसे उतर जाती हैं? भूल का प्रायश्चित्त होता है। जानते हुये भूलें करना एवम् बाद में प्रायश्चित्त लेकर दोषों से अपने आपका शुद्धिकरण करना कहां तक तर्क संगत है? वे प्रभावशाली, स्वावलम्बी, अहिंसक चिकित्सा पद्धतियों को सीखने, समझने एवम् अपनाने हेतु क्यों नहीं प्रेरित होते? ऐसी पद्धतियों के प्रशिक्षण, प्रचार-प्रसार एवम् शोध हेतु जनसाधारण को प्रेरणा क्यों नहीं देते? हिंसा पर आधारित अस्पतालों के निर्माण एवम् संचालन तथा प्रेरणा के पीछे उनकी क्या दृष्टि है, चिन्तन का विषय है।

इसी कारण जैन धर्म में मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप माना है। भारत भर में बच्चों के पोलियो पल्स के टीके चन्द माह पहले लगाने का अभियान चला, परन्तु शायद ही किसी ने यह जानने का प्रयास किया कि इनके कोई दुष्प्रभाव तो नहीं होते? ये दवाइयां कैसे बनती हैं? इनके निर्माण में बछडों के ताजे खून एवम् बन्दरों के गुर्दो के अवयवों की आवश्यकता होती है। अमेरिका में १००० परिवारों को ७० लाख डालर का भुगतान इनके दुष्प्रभावों के कारण करना पड़ा। ६० से ७० प्रतिशत इन दवाओं का निर्माण करने वाली कम्पनियां दुष्प्रभावों की क्षतिपूर्ति का भुगतान

मांगने वालों के कारण बन्द हो रही हैं। ऐसी अन्धानुकरण सेवाभावना वालों के पीछे कैसी सम्यक् दृष्टि है ? ऐसे कार्यों हेतु दिया गया दान कहीं अप्रत्यक्ष हिंसाको प्रोत्साहन देने के कारण अशुभ कर्मों का बन्ध तो नहीं करायेगा? सम्यक् दृष्टि रखन वालों के लिये चिन्तन का विषय है। ऐसी दवाइयों का सेवन कर अथवा अस्पतालों के निर्माण और संचालन की प्रेरणा देकर कहीं हम बूचडखानों को तो अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन नहीं दे रहे हैं। जब तक पाप से नहीं डरेंगे, धर्म की तरफ तीव्र गति से कैसे बढ पावेंगे? ठीक उसी प्रकार जब तक हिंसा से निर्मित दवा लेने का हमारा मोह भंग नहीं होगा, न तो हम पूर्ण स्वस्थ बनेंगें और न प्रभावशाली स्वावलम्बी चिकित्सा-पद्धतियों को सीखने, समझने एवम् अपनाने का मानस ही बना पायेंगे। मात्र भेदविज्ञान की बातें एवं उपदेश आत्मा का साक्षात्कार नहीं करा सकेंगे। आज चिकित्सा के लिये जितने जानवरों पर अत्याचार हो रहा है उतने शायद और किसी कारण से नहीं। क्योंकि जानवरों के अवयवों की जितनी ज्यादा कीमत दवाई व्यवसाय वाले दे रहे हैं, उतने अन्य कोई व्यवसाय नहीं देते। जब दवाइयों के लिए जानवर कटेंगे तो मांसाहार को कोई रोक नहीं सकता। सम्यग्दर्शन में आस्था रखने वाले प्रत्येक साधक एवम् अहिंसा प्रेमियों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा को प्रोत्साहन देने वाली प्रवृत्तियों से अपने को अलग रखना चाहिये। अन्यथा जब कर्मों का भुगतान होगा, स्थिति बड़ी दयनीय होगी जिसका अनुभव मौत की प्रतीक्षा में खड़े मूक पशुओं को बूचडखानों में देखने मात्र से हो जावेगा।

शरीर में स्वयम् स्वस्थ होने की क्षमता है

आज हमारे सारे सोच का आधार जो प्रत्यक्ष है, अभी सामने है उसके आगे पीछे जाता ही नहीं। सही आस्था लक्ष्य-प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। रोग कहीं बाजार में नहीं मिलता। रोग का कारण हम स्वयम् हैं। हमारी अनेक विषयों में गलत धारणायें हैं। वास्तव में दर्द हमारा सबसे बडा दोस्त है। वह हमें जगाता है। कर्तव्यबोध हेतु चिन्तन करने की प्रेरणा देता है, चेतावनी देता है। परन्तु सही दृष्टि न होने से हम उसको शत्रु मानते हैं। हम स्वप्न में हैं, बेहोशी में जी रहे हैं। दर्द उस बेहोशी को भंग कर हमें सावधान करता है। रोगी सुनना नहीं चाहता। उसको दबाना चाहता है। उपचार स्वयम् के पास है और ढूंढता है बाजार में, डाक्टर एवम् दवाइयों में। जितना डाक्टर एवम् दवा पर विश्वास है उतना अपने आप पर, अपनी छिपी क्षमताओं पर नहीं। यहीं तो मिथ्यात्व है। वह कभी चिन्तन करता है कि मनुष्य के अलावा अन्य चेतनाशील प्राणी अपने आपको कैसे ठीक करते हैं? क्या स्वस्थ रहने का ठेका दवा एवम् डाक्टरों के सम्पर्क में रहने वालों ने ही ले रखा है? वस्तुतः हमें इस बात पर विश्वास करना होगा कि शरीर ही अपने आपको स्वस्थ करता है, अच्छी से अच्छी दवा और चिकित्सक तो शरीर को अपना कार्य करने में सहयोग मात्र देते हैं। जिसका शरीर सहयोग करेगा वही स्वस्थ होगा। स्वास्थ्य के सम्बन्ध में यही दृष्टि सम्यक् दर्शन है तथा सम्पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करने का मूलभूत आधार भी।

-जालोरी गेट के बाहर, गोल बिल्डिंग रोड, जोधपुर ३४२००३
फोन ३५०९६, ३५४७१, ६२१४५४ फैक्स-०२९१-३७६८९

शिक्षा और सम्यग्दर्शन

¤ पुखराज मोहनोत*

शिक्षा को समर्पित रहे श्री मोहनोत ने अपनी लेखनी से यह अभिव्यक्त किया है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी सम्यक् दृष्टिकोण की आवश्यकता है । बिना सम्यक् दृष्टिकोण के उच्च शिक्षा भी पागलों का प्रलाप मात्र है ।—सम्पादक

जीवन की सार्थकता

जन्म और मरण, इन दो चिरन्तन सत्य बिन्दुओं के मध्य जो जीवन है-वही जन्म-मरण का कारणभूत है और वही जन्म-मरण को मिटाने, सदा-सदा के लिए अमरत्व पाने, चरम और परम लक्ष्य मुक्ति को मिलाने का भी कारणभूत है। जीवन-सरिता के दो किनारे हैं—जन्म व मरण। जिसने भी जीवन-सरिता की धारा के प्रवाह को सही दिशा में मोड़ा और मर्यादा में बंधा रहा, उसका यह किनारा अर्थात् जन्म भी सार्थक है और वह किनारा अर्थात् मरण भी सार्थक बन सकता है।

ज्ञान : जीवन जीने की कला

जीवन की धारा सही दिशा में बहे, इसके लिए ज्ञान चाहिए और वह मर्यादित रहे इसके लिए संयम (क्रिया) चाहिए। ज्ञान का कार्य है जानकारी देना और जागृत करना। ज्ञान ही वह शक्ति है जो व्यक्ति को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र को और विश्व को सत्य-पथ पर अग्रसर कर सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को उज्ज्वल बनाती है। ज्ञान जीवन जीने की कला है।

ज्ञान और दर्शन दो भिन्न तत्त्व हैं। ज्ञान का परिवर्तन मिथ्याज्ञान और अज्ञान में संभाव्य है। जो जानकारी हमें प्राप्त है उस पर यदि विश्वास नहीं, आस्था नहीं, श्रद्धा नहीं तो वह ज्ञान निरर्थक है, मिथ्या है। सत्य-तथ्य की जानकारी होते हुए भी शंका, आशंका, संदेह, भ्रम के झूलों में झूलने वाला व्यक्ति अन्धकार में भटकता हुआ मिथ्यातम के गहनगर्त में उतर सकता है।

आज की शिक्षा में जीवन-निर्माण-कला का ह्रास

ज्ञान के लिए आज शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है। नगरों में तो गली-गली में कुकुरमुत्तों की तरह ज्ञानशालाएं, शिक्षण शालाएं या पाठशालाएं खुली ही हैं किन्तु ग्राम भी उनसे अछूते नहीं रहे हैं। शिक्षा के प्रचार और प्रसार का आज सर्वत्र बोलबाला है। इतना सब होते हुए भी शिक्षा में जीवन-निर्माण की शक्ति का ह्रास हो रहा है। शिक्षा भौतिकता के क्षेत्र में तो कुलांचे भर रही है पर नैतिकता और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में उसका योगदान निरन्तर घटता जा रहा है। ऐसा क्यों है?

आज की शिक्षा ने क्यों पेट, शरीर और परिवार को प्रधानता दी? क्यों यह शिक्षा मात्र अर्थप्रधान ही नहीं बनी, अपितु स्वयं अर्थ के लिए ही, अर्थ के उद्देश्य से ही मानव-जीवन में उतरने लगी? क्यों इस शिक्षा से सद्विचार और सदाचार का नाता टूटता चला गया? कारण है श्रद्धा की कमी, विश्वास और आस्था का हिलना, दृष्टि में अंतर आना। जैन दर्शन में श्रद्धा-विहीन ज्ञान को अज्ञान की संज्ञा दी गई है।

---

* सेवानिवृत्त व्याख्याता, हिन्दी, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, तखतगढ़ (पाली) एवं 'जिनवाणी' के सम्पादक-मण्डल के सदस्य।

सम्यक् दृष्टि है तो ज्ञान, मिथ्या दृष्टि है तो अज्ञान

उपयोग बारह होते हैं। इन बारह उपयोगों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के साथ ही मति अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अवधि-अज्ञान (विभंग ज्ञान) भी हैं। क्या अंतर है यहां ज्ञान और अज्ञान में। अंतर है दृष्टि का, जहां सम्यक् दृष्टि है वहां ज्ञान है, जहां मिथ्यादृष्टि है वहां ज्ञान भी अज्ञान ही है। अच्छी से अच्छी वस्तु है पर वह बुरे हाथों में है तो परिणाम बुरा ही होना है। शराब के लेबल लगी बोतल में दूध, घी, मधु कुछ भी डाल दीजिए, एकबारगी लेबल देखकर तो उसे शराब ही माना जाएगा।

केवल नहीं जानना ही अज्ञान नहीं है अपितु कुत्सित जानना भी अज्ञान ही है। आज की शिक्षा और शिक्षा-प्रणाली दोनों में ही कुत्सित-रूप का स्पष्ट भास होता है। ज़ीवन-निर्मात्री शिक्षा आज अर्थ-निर्मात्री मात्र बनकर रह गयी है। नींव से लेकर सर्वोपरि मंजिल के कंगूरों तक शिक्षा-मंदिरों में केवल पैसा, नौकरी, एवं अर्थ ही उद्देश्यों का निचोड़ बन गया है। यथार्थ और सम्यक् दृष्टि का शिक्षा-जगत् से जैसे नाता ही टूट गया है। इन हालातों में हम जिस विषय अर्थात् सम्यग्दर्शन की चिन्तना कर रहे हैं, उसे तो शिक्षा के सागर में पाना असंभव बन गया है।

घर-परिवार और शिक्षा

कहते हैं बालक की प्रथम शिक्षिका उसकी मां है और प्रथम शिक्षाशाला उसका घर है। पूर्व भव के संस्कार जो साथ में हैं जन्म से, उनकी बात छोड़ दें तो वर्तमान में माता-पिता की दृष्टि संस्कारों पर कम, जगत्-व्यवहार पर अधिक टिकी है। अव्वल में तो अधिकांश माता-पिता अपने व्यस्त समय में से बच्चों के लिए समय निकाल ही नहीं पाते। खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाजों में सामाजिक-स्तर को एक-दूसरे से आगे ले जाने की दौड़ में होड़ लगाते हुए वे भूल जाते हैं कि आज हम बालक के समक्ष जिस तरह अपने आप को पेश कर रहे हैं, बालक का चैतन्य उसे देख, परख रहा है और वही उसकी रगों में उतर रहा है। शिक्षा के इस सर्वप्रथम सोपान में ही न तो सही दृष्टि बन पाती है और न श्रद्धा का वह अक्ष बन पाता है, जो बनना चाहिए।

शिक्षा से जीवन-निर्माण

स्व. आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने आज से लगभग १०-११ वर्ष पूर्व जोधपुर संभाग के शिक्षकों की संगोष्ठी में दिनांक २५ सित. १९८५ को *शिक्षा* संबंधी अपने उद्बोधन में कहा था–

'आज शिक्षा में जीवन-निर्माण की बात गौण हो गई है, शिक्षा अर्थ-प्रधान रह गयी है। हम इस बात को आज की शिक्षा-प्रणाली में स्पष्टतया देख रहे हैं। वकालात की शिक्षा है तो बात चाहे सच्ची हो या झूठी पर उसे कैसे सच्ची साबित करना, अपने पक्ष की पुष्टता के लिए किस पाइन्ट पर क्या बोलना, क्या लिखना, कैसे सवाल-जवाब करना; यह सब सिखाया जाता है । इसमें सत्य का कितना हनन हो रहा है इस पर गौर करने का सबक नहीं सिखाया जाता। वकील होकर वह शिक्षार्थी अपने पक्षकार की पैरवी इस ढंग से करेगा कि उसका पक्ष मजबूत बने, भले ही इससे सत्य का हनन होता हो। क्या यही शिक्षा है ?

शिक्षा जगत् में प्रवेश का आधार

पढ़ने का यथोचित समय आने पर बालक को शाला में पढ़ने हेतु भेजा जाता है। शिक्षा-जगत् में उसका यह प्रवेश भी अर्थ और सामाजिक-स्तर की तुला पर तौला जाता है तथा सत्यदृष्टि को दूर रखा जाता है। अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में ऊंचा दान देकर, ऊंची फीसें भर कर छोटे से बालक को विद्योपार्जन के लिए बिठाया जाता है तब उसके जीवन-निर्माण का प्रश्न बहुत पीछे छूट जाता है। प्रश्नों की पंक्ति में आगे ही आगे प्रश्न होता है—मेरे अन्य साथियों के बच्चे कहां पढ़ रहे हैं? मेरे बच्चे वहीं, उनसे नामवर स्कूल में पढें। मूल में ही जब भूल होती है तो भावी जीवन में दृष्टि सम्यक् बन पाएगी, यह कैसे कहा जा सकता है?

साध्य-साधक-साधन : तीनों यथार्थ से दूर

साध्य, साधक और साधना, आइए अब हम इन तीन पहलुओं पर विचार करें। शिक्षा जगत् में साध्य है—शिक्षा। साधक हैं—विद्यार्थी और साधन हैं-अध्यापक, ग्रंथ या पुस्तकें आदि। प्रथम तत्त्व 'साध्य' तो प्रमाण-पत्रों, डिग्रियों आदि को प्राप्त करने तक सीमित हो गया है। जब साध्य ज्ञान नहीं तो फिर यथार्थ ज्ञान की तो बात ही क्या की जाय और जहां यथार्थ ज्ञान ही नहीं वहां सम्यक् दृष्टि भला कैसे आ पाएगी? आज के शिक्षा जगत् की व्यवस्था को एक नजर से देखें तो हम जान जाएंगे कि विद्यार्थी का लक्ष्य शिक्षा नहीं है, श्रेणी में उत्तीर्ण होना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है। वह पढ़े या बिना पढ़े, समझे या बिना समझे, येन-केन-प्रकारेण बस उत्तीर्णता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना चाहता है।

इस उत्तीर्णता के प्रमाण-पत्र को हासिल करने में नकल करना, उत्तर-पुस्तिकाएं जांचने वालों तक पहुंच बना कर अंक बढ़वाना, निम्नतम हथकंडे अपना कर प्रश्न-पत्र परीक्षा से पूर्व हासिल करना, और ऐसी ही अनेक अमर्यादित, अशोभनीय, अनैतिक बातें आज सम्मिलित हो गई हैं। क्या उच्च स्तरीय शिक्षा तक इस तरह पहुंच कर कोई व्यक्ति ज्ञानी माना जाए? शिक्षा का मूल अर्थ है सीखना। जब आज की शिक्षा में जानकारी ही नहीं तो सीखना कहां से होगा? ज्ञान के जिस प्रमाण-पत्र का भार व्यक्ति आज वहन कर रहा है उस प्रमाण-पत्र के वजन जितना ज्ञान भी उसके अन्तर में नहीं उतर पाता फिर भला दृष्टि में यथार्थता, औचित्य, विवेक, सम्यक्पना किस तरह से आ पाएगा।

विद्यार्थी विद्या से दूर : अज्ञान में चूर

साध्य के पश्चात् हम आते हैं साधक पर। साधक है शिक्षार्थी, विद्यार्थी, ज्ञानार्थी।

विद्यार्थी का लक्ष्य भी अंक प्राप्त करना है। जिसका लक्ष्य अंकों की प्राप्ति हो वह भला कुछ सीखे या न सीखे, क्या फर्क पड़ता है। उसे युधिष्ठिर तो बनना नहीं है कि पढ़ाए हुए पाठ को जीवन में उतारने के बाद ही कहे कि मुझे अब पाठ याद हुआ है। अब जहां न यथार्थ ज्ञान हो, न वातावरण का परिवेश उसके लायक हो तो भला वहां सम्यक् दृष्टि बन पाना किस तरह मुमकिन बन सकेगा। अध्यापक नम्बर देखता है, माता-पिता नम्बर देखते हैं, बाकी सब भी नम्बर ही देखते हैं। जिसने जितने ज्यादा

अंक प्राप्त किए वह ज्यादा बड़ा ज्ञानी। अंतर में ज्ञान का अनंतवां भाग भी उतरा या नहीं, यह कोई नहीं जानना चाहता।

आज कहां है ज्ञान-गुरु ?

तीसरा तत्त्व 'साधन' है। साधन में हम मुख्य रूप से अध्यापक (गुरु) और पुस्तक पर चर्चा कर लेते हैं। आज समाज में, दैनिक-पत्रों में तथा वार्ताओं के मध्य स्थान-स्थान पर चर्चा सुनाई देती है कि अध्यापक-वर्ग बच्चों को ढंग से नहीं पढ़ाते, घर पर ट्यूशन बुलाते हैं-कक्षा में कम ध्यान देते हैं। ये सारी बातें जिस तथ्य को उजागर करती हैं वह यह कि आज का अध्यापक भी वह नहीं जो उसे होना चाहिए। सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् दर्शन का सर्वाधिक संबंध गुरु से है। गुरु ही है जो यथार्थ तत्त्वों का परिचय शिक्षार्थी को देता है, गुरु ही है जो शिक्षार्थी के हृदय में यथार्थ के प्रति श्रद्धान को उजागर करने में सहायता करता है। गुरु ही है जो शिष्य को देव और धर्म का रहस्य समझाता है पर वैसा गुरु है कहां? आध्यात्मिक ज्ञान की बात को छोड़िए, शिक्षा जगत् में घुस कर यदि तमाशा देखा जाए तो गुरु नाम की चीज ही दुर्लभ हो गई है। अधिकतर शिक्षक वेतन भोगी, अर्थ की दौड़ में हांपते हुए, किताबें-नोट्स लिखते हुए, ट्यूशन करते हुए अपने आप को पैसों के पर्दे में छुपाते हुए जाने कहां खो गए हैं?

साधन का दूसरा रूप है-पुस्तक। पूर्व प्राथमिक-स्तर से स्नातकोत्तर एवं शोध-शिक्षा तक की पुस्तकों को टटोल लीजिए, आत्म-निर्माण, आध्यात्मिक सृजन या पेट की जगह ठेठ की शिक्षा वाली बात कम ही मिलेगी। फिर उसका भावनात्मक जुड़ाव शिक्षार्थी से नहीं हो पाता, क्योंकि न तो उस तरह का वातावरण विद्यालय में मिलता, न घर में, न समाज में। अध्यापक भी यदि उस पुस्तक से उस बात को उठाएगा तो इतनी सतही तौर पर कि उस बात का कोई अनुभव भी नहीं कर पाएगा।

स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा जीवन में न तो यथार्थ ज्ञान देने वाली है, न यथार्थ दृष्टि। उसीका प्रतिफल है—विश्व की बढ़ती हुई समस्याएं, झगड़े, आपसी-विवाद, तनाव और अशांति।

शिक्षा सही दृष्टि कब दे सकेगी ?

शिक्षा-जगत् में कुछ परिवर्तन निकट समय में हो पाएगा, ऐसा नहीं लगता जबकि परस्थितियां एवं परिवेश दिन प्रति दिन विकट-दर-विकट बनते जा रहे हैं। ऐसे में हम क्या करें? मेरी दृष्टि में इसका एक मात्र हल आज के माता-पिता एवं धर्मगुरुओं के पास है। बचपन में दिए गए संस्कारों ने यदि बालक की दृष्टि को यथार्थ के अनुकूल बना दिया तो आगे जाकर वह चाहे जो पढ़े, चाहे जहां पढ़े, चाहे जैसे पढ़े पर अपने स्वभाव व संस्कारों के अनुरूप उन्हें ग्रहण कर सकेगा, समझ सकेगा।

शिक्षा और सम्यक् दर्शन की बात करते हुए यही कहा जा सकता है कि शिक्षा से यदि सही दृष्टि मिल जाए तो विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का पुस्तकीय ज्ञान भी जीवन-निर्माण में सहयोगी एवं उपयोगी बन जाएगा।

१०/५६७ चौपासनी हाऊसिंग बोर्ड, जोधपुर (राज.)

सम्यक्त्व-सूक्तियां

☆ महावीर जैन

- जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन की दिव्य ज्योति से ज्योतिर्मय हो उठता है वह निश्चित रूप से संसाररूपी कारागृह से मुक्त हो जाता है।
- सम्यग्दृष्टि जीव विवेक के प्रकाश में अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ करता है, और अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर गतिशील रहता है।
- सम्यग्दृष्टि जीव हंस के समान होता है । वह सार वस्तु को ग्रहण करता है एवं असार वस्तु का परित्याग कर देता है।
- सम्यग्दृष्टि जीव 'जो मेरा सो जाता नहीं, जाता सो मेरा नहीं' इस सूत्र को अपने जीवन में चरितार्थ करता है।
- जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है वह मोह-माया में पंक-कमल की भाँति निर्लिप्त रहता है।
- सम्यग्दृष्टि जीव परदोष का नहीं, अपितु निज दोष का परिष्कार करता है।
- सम्यग्दृष्टि जीव मन, वचन व काया पर संयम रखता है और आत्मानुशासित होता है।
- सम्यग्दृष्टि सुख-दुःख, लाभ-हानि, सम्मान-अपमान में समभाव रखता है।
- सम्यग्दृष्टि व्यक्ति भौतिक सुखों से विमुख हो जाता है और आध्यात्मिक सुख के सम्मुख बन जाता है।
- सम्यग्दर्शन आत्म जागृति का मूल मंत्र है और अध्यात्म-साधना की अति दृढ़ आधार शिला है।
- सम्यग्दर्शन मुक्ति-प्राप्ति का मंगलमय द्वार है, और वह आत्मज्ञान का मूल बीज है।
- आत्मा जब सम्यग्दर्शी होता है, तब वह संसाराभिमुखी नहीं रहता है, मोक्षाभिमुखी बन जाता है।
- जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है, वह अन्तर्मुखी होता है। वह निज दोषों का निरीक्षण करता है।
- सम्यग्दर्शन वह नौका है, जिसमें आरूढ़ व्यक्ति संसार सागर को पार कर लेता है।
- सम्यग्दर्शन एक ऐसी पारसमणि है, जिसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने जीवन रूपी लोहखण्ड को स्वर्णमय बना देता है।
- सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति की दृष्टि में एक ऐसा अनुपम चमत्कार आ जाता है जिससे वह अन्य व्यक्ति में दुर्गुण नहीं, अपितु सद्गुणों को देखता है।
- सम्यग्दर्शन एक ऐसा कवच है जिससे आत्मा मिथ्यात्वरूपी शत्रुओं से सुरक्षित हो जाता है।
- सम्यग्दर्शन आत्मा का मौलिक गुण है, किन्तु मिथ्यात्व के उदय में वह गुण प्रकट नहीं हो पाता है।
- सम्यक्त्व जीव के भव-भ्रमण का अन्त करता है और मिथ्यात्व भव-भ्रमण की परम्परा को वृद्धिंगत करता है।
- सम्यक्त्व एक जगमगाता प्रकाश है, अमृत रस की धार है, जबकि मिथ्यात्व अतीव सघन अंधकार है, और हला-हल विष है।
- सम्यक्त्व आत्मा की स्वतन्त्रता का राजमार्ग है, जबकि मिथ्यात्व आत्मा की परतन्त्रता का कण्टकाकीर्ण मार्ग है।

–आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा. की सन्निधि में अध्ययनरत

पर्यावरण-संरक्षण में सम्यक्त्व की भूमिका

☆ सूरजमल जैन*

पर्यावरण-प्रदूषण विश्व की एक प्रमुख समस्या है। लेखक ने जैन धर्म-दर्शन के आधार पर इस समस्या के निवारण पर गम्भीरता से विचार किया है तथा सम्यग्दर्शन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है।—सम्पादक

पर्यावरण व्याख्या

पर्यावरण में चराचर जगत् के सभी घटक, अवयव, वायु, भूमि, जल, वनस्पति, छोटे-बड़े जीव एवं अजीव समाविष्ट किये जाते हैं। इन सभी का संकुल ही पर्यावरण है। इस संकुल के सभी घटक परस्पर उपयोगी एवं अन्योन्याश्रित हैं। इसकी तुलना किसी मशीन से की जाती है, जिसका प्रत्येक पुर्जा महत्त्वपूर्ण है और सम्पूर्ण मशीन के कार्य-संपादन के लिए आवश्यक है पूरी मशीन के कार्य से ही उसका अस्तित्व जुड़ा है। पर्यावरण की व्याख्या में मानव-शरीर का भी उदाहरण ले सकते हैं, जिसमें कुछ खरब कोशिकाएं हैं और प्रत्येक कोशिका समस्त कोशिकाओं के लिए कार्य करती है और समस्त कोशिकाएँ प्रत्येक के लिये। एक सबके लिये और सब एक के लिये, यही पर्यावरण-संरक्षण का मूलभूत सिद्धांत है। पर्यावरण के किसी भी एक घटक की विकृति सम्पूर्ण पर्यावरण की विकृति एवं विनाश का कारण बन सकती है।

पर्यावरण-प्रदूषण

मनुष्य भी पर्यावरण का एक घटक है और बुद्धि-बल के कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके विकृत क्रिया-कलापों के कारण ही पर्यावरण प्रदूषण निरन्तर बढ़ रहा है। वायु, जल एवं भूमि जो जीवन के प्रमुख आधार हैं इतने अधिक प्रदूषित हो गये हैं कि प्रकृति में अन्तर्निहित स्व-शुद्धिकरण एवं नवीनीकरण (Self purification and rejuvenation) व्यवस्था पर्याप्त नहीं है और इनके शुद्धिकरण के लिये अपार धनराशि आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तरंग मनोभाव उसके निजी एवं सामाजिक क्रिया-कलापों को प्रभावित करते हैं और अन्ततोगत्वा भौतिक पर्यावरण की विकृति के उत्तरदायी हैं। एक शीर्ष शासनाध्यक्ष के अन्तरंग मनोभावों की विकृति अणुयुद्ध का कारण हो सकती है और सर्वनाश कर सकती है।

सम्यक्त्व

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको वृहत् समाज का घटक समझकर, लोक में अवस्थित विभिन्न पदार्थों, तत्त्वों की यथास्थिति और परस्पर कार्य-कारण व्यवस्था को यथार्थ रूप से हृदयंगम करके विवेकपूर्ण आचरण करे तो सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयां एवं पर्यावरण-प्रदूषण समाप्त हो सकता है। इसी यथार्थ रूप को जानकर विवेकपूर्ण आचरण करना 'सम्यक्त्व' का कार्य है और यही मोक्ष का मार्ग है, जैसा कि उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

> सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
> तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्॥—तत्त्वार्थसूत्र १.१-२

---

* वानिकी सलाहकार एवं पूर्व अधिकारी, वन-विभाग, राजस्थान

यहां प्रथम सूत्र में 'मार्ग' में एक वचन का प्रयोग महत्वपूर्ण है। इसका अभिप्राय है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तीनों का मिलकर एक ही मोक्ष मार्ग है, पृथक्-पृथक् नहीं। इससे स्पष्ट है कि केवल सम्यक् अवधारणा या मात्र सम्यक् ज्ञान अकेले कार्यकारी नहीं हैं, तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग है। अतः अवधारणा, ज्ञान एवं आचरण तीनों एक साथ आवश्यक हैं।

विगत चार-पांच दशक से जैन धर्मावलम्बियों के एक वर्ग द्वारा यह विचारधारा प्रतिपादित एवं प्रचारित की जा रही है कि मात्र सम्यक् दर्शन ही महत्त्वपूर्ण है, ज्ञान एवं आचरण स्वतः आ जावेंगे। वस्तुतः दर्शन सम्यक् होने पर ज्ञान तो स्वतः सम्यक् हो जाएगा , किन्तु चारित्र के लिए पुरुषार्थ आवश्यक है। बिना पुरुषार्थ वे देशविरत एवं सर्वविरत होना संभव नहीं। किन्तु, यह वर्ग आचरण को गौण करके शिथिलाचरण का ही पोषण कर रहा है। ये पदार्थों की परस्पर सहयोगी कार्य-कारण व्यवस्था को भी नहीं मानते और कहते हैं कि कोई अन्य पदार्थ किसी अन्य का किसी प्रकार से सहभागी नहीं है। ये कहते हैं कि कुम्हार घड़ा नहीं बनाता, मिट्टी स्वतः घड़ा बनती है आदि आदि। किन्तु ये विष ग्रहण नहीं करते, क्योंकि इसका प्रभाव तत्काल पता लग जावेगा और ये परस्पर प्रभाव को जानकर, मानकर ही औषध ग्रहण करते हैं। ये कहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं।

सहयोगी सहजीवन

पर्यावरण के प्रत्येक घटक की, जगत् के सभी पदार्थों की परस्पर हितैषी, सहयोगी व्यवस्था पर्यावरण-संरक्षण का मूलभूत सिद्धान्त है, जिसकी पुष्टि जैनागम के सर्वमान्य ग्रन्थ उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र के पांचवे अध्याय में निम्नलिखित सूत्रों से की गई है-

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः।-तत्त्वार्थसूत्र, ५.१७

धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में तथा अधर्म द्रव्य उनके ठहरने में सहायक होते हैं और यह इनका उपकार है।

आकाशस्यावगाहः ।-तत्त्वार्थसूत्र, ५.१८

आकाश द्रव्य सभी को अवकाश (स्थान) देता है और यह इसका उपकार है।

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्। -तत्त्वार्थसूत्र, ५.१९

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च।-तत्त्वार्थसूत्र, ५.२०

जीव के शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छवास ये पुद्गल द्रव्य के उपकार या कार्य हैं, अर्थात् इनकी रचना पुद्गल से होती है। सुख, दुःख, जीवन और मरण ये भी पुद्गल के उपकार हैं।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।' -तत्त्वार्थसूत्र, ५.२१

सभी छोटे बड़े जीवों का आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीव द्रव्य का उपकार है ।

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य। -तत्त्वार्थसूत्र, ५.७२

सभी द्रव्यों के प्रवर्तन, परिणमन, क्रिया, सापेक्षता परत्व-अपरत्व ये सब काल द्रव्य की सहायता से होते हैं ।

यहां तक कि जीव की सर्वोत्कृष्ट, शुद्ध, परमात्म सिद्ध-अवस्था में भी सभी सिद्ध अपने-अपने आत्म-प्रदेशों में अनन्त सिद्ध आत्माओं को अवगाहना शक्ति से स्थान देते हैं अर्थात् वहां भी पारस्परिक सहयोग है। सिद्धालय में सूक्ष्म निगोदिया जीव भी प्रचुर मात्रा में रहते हैं और अवगाहना पाते हैं।

यदि प्रत्येक व्यक्ति इस परस्पर हितैषी, सहयोगी सहजीवी सिद्धान्त (Symbiosis) को समझ ले और इसके अनुरूप आचरण करे तो व्यक्ति के निजी एवं सामाजिक जीवन तथा भौतिक पर्यावरण में किसी प्रकार की विकृति नहीं आएगी। प्रत्येक अपराधी नितान्त व्यक्तिवादी होता है, वह अन्य के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं मानता। एक नशेड़ी रेल लाइनों की फिश प्लेंटें, बड़े नालों के मुंह के ढक्कन तक चुराकर सस्ते में नशे के लिये बेच देता है, उसकी एकमात्र प्रतिबद्धता निजी स्वार्थ, निजी आवश्यकता की पूर्ति है, अन्य को इससे कितनी भी अधिक हानि हो, इससे उसका कोई सरोकार नहीं रहता। यही स्थिति अन्य अपराधियों, रिश्वतखोरों की है। जब व्यक्ति एकाकी, व्यक्तिवादी (Individualist) हो जाता है तभी अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। यदि दूसरों (चेतन-अचेतन दोनों) के प्रति संवेदनशील रहे तो वह कोई अपराध नहीं कर सकता। एक उद्योगपति निजी स्वार्थ-लाभ के कारण, कारखाने के अपशिष्ट को उपचारित नहीं करता, नदी-नालों एवं वायु में छोड़ देता है जिसके प्रदूषण से अत्यधिक हानि होती है। सहयोगी सहजीवन का उदाहरण मधुमक्खी एवं पौधों का है। मधुमक्खी फूलों से रस लेती है, और पौधों के परागण में सहायक होती है। जैनागम में षट् लेश्याओं (शुद्ध एवं कलुषित प्रवृत्तियों) को वृक्ष से फल ग्रहण करने की प्रक्रिया से समझाया गया है। यदि कोई व्यक्ति केवल नीचे स्वतः गिरे फल लेता है तो उसके शुक्ल लेश्या होती है अर्थात् वह शुद्ध प्रवृत्ति का द्योतक है। फल के लिये पूरे वृक्ष को काटने वाले के कृष्ण अर्थात् सर्वाधिक कलुषित प्रवृत्ति है। पद्म व पीत लेश्या की अपेक्षा कापोत व नील लेश्या क्रमशः अधिकाधिक कलुषित प्रवृत्तियां है। वृक्षों के फल-मात्र ग्रहण करके मनुष्य या जानवर अपनी आवश्यकता पूर्ति के साथ-साथ वृक्ष के बीज बिखेरकर उसके प्रजनन में सहायक होते हैं। यह भी सहयोगी सहजीवी (Symbiotic) व्यवस्था है।

अन्धविश्वास

सम्यक्त्व के विपरोत मिथ्यात्व ही अन्ध विश्वास का कारण है। सम्यक्त्व का सर्वाधिक उपयुक्त अंग्रेजी रूपान्तर 'रेशनल' हो सकता है। जिसका अर्थ विवेकी, सर्वश्रेष्ठ, यथार्थ अवधारणा एवं तदनुसार आचरण है। आदिवासी क्षेत्रों में रोग-निवारण या कार्य-सिद्धि के लिये व्रत लिया जाता है कि ५०-१०० एकड़ या इससे अधिक वनक्षेत्र जला दिया जाय। इस अन्धविश्वास के कारण अब तक बृहत् वन क्षेत्र जलाकर नष्ट कर दिये गये हैं। अनेकत्र रोगों या आपत्तियों का कारण किसी महिला को मानकर उसे डायन कहा जाता है और इसी अन्धविश्वास में इन निरीह महिलाओं को मारने की घटनाएं हो रही हैं। वास्तव में इसके पीछे किसी समर्थ व्यक्ति की कुटिल वांछाएं पाई गई हैं। निरीह पशुओं की बलि भी निरा अन्ध विश्वास है। कई अन्ध विश्वासी व्यक्ति तांत्रिकों के जाल में फंसकर दूसरों के ही नहीं अपने स्वयं के बच्चों को भी बलि चढ़ाकर हत्या कर देते हैं।

ईश्वरवाद एवं नियतिवाद भी अंध विश्वास है। यदि सभी कुछ ईश्वर करता है या जैसा होना है वही होना है, नियत है तो फिर कोई भी किसी प्रकार से दोषी नहीं है, सारे नियम, कानून आचार संहिता व्यर्थ है। पर्यावरण-प्रदूषण भी ईश्वर ने किया या होना ही था तो वही ठीक करेगा। यह निरा अन्ध विश्वास है। पर्यावरण प्रदूषण मनुष्य की विकृत प्रवृत्तियों के कारण है और उसे सम्यक् प्रवृत्तियों से ठीक किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति में महापुरुषों की पूजा-अर्चना का विधान है। इसका उद्देश्य यही है कि जिस सम्यक् आचार संहिता का, सम्यक् मार्ग का महापुरुषों ने स्वयं पालन किया है और स्वयं के अनुभूत आधार पर हमारे लिये निर्दिष्ट किया है, उसका हम यथाशक्ति अनुसरण करें। उनकी मूर्तियों पर ध्यान लगाकर या अमूर्त आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर उनके गुणों का स्मरण करें और निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का प्रयास करें। पूजा-आराधना की यह सम्यक् अवधारणा लगभग विलुप्त हो गई है। जैन धर्मावलम्बी भी अधिकांशतया भौतिक सुख-सुविधाएं मांगने ही मंदिरों में जाते हैं, जबकि जैन आगमों में वीतराग तीर्थंकर प्रतिमा से भौतिक वस्तुएं मांगना सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। साधुओं से भी इसी प्रकार की कामनाएं की जाती है। महापुरुष निस्सन्देह पूजनीय है, किन्तु वे सिद्धालय मोक्ष-स्थल से या स्वर्ग से आकर हमारे लिये कुछ करेंगे, यह अवधारणा उचित नहीं है। हमें हमारे कर्मों का ही फल मिलेगा। महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट आचरण (कर्म) से शुभ कर्मों (पुण्य) का बंध होता है और सुखद फल मिलता है। स्थानकवासी जैन समाज के अनेक लोग यद्यपि मूर्तिपूजा के अनुयायी नहीं हैं, और अपने तीर्थंकरों की मूर्ति की पूजा भी नहीं करते हैं, किन्तु माताजी, भैरोजी आदि की पूजा-अर्चना निःसंकोच करते हैं। किसी भी महापुरुष की या देव की मूर्ति हमें कुछ दे देगी, यह नितान्त अन्ध विश्वास है, किन्तु दुर्भाग्य से यह इस वैज्ञानिक युग में भी बढ़ रहा है।

अणुव्रत/महाव्रत

स्व-पर हित जिसमें पर्यावरण संरक्षण स्वतः अन्तर्निहित है, के लिये जैन आचार-संहिता में श्रावकों (गृहस्थों) के लिये अणुव्रतों और साधुओं के लिये महाव्रतों के पालन की अनिवार्यता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, इन पांच अणुव्रतों/महाव्रतों के सम्यक् अनुपालन से ही व्यक्ति स्व-पर कल्याण-मार्ग का अनुगामी होता है।

अहिंसा

जैन दर्शन में अहिंसा का इतना अधिक महत्त्व है कि ये दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये हैं। जैनागम में जीव पाँच प्रकार के बताये गये हैं। एकेन्द्रिय (स्थावर) जिनमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, द्वीन्द्रिय में स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं, त्रीन्द्रिय में स्पर्शन, रसना और घ्राण, चतुरिन्द्रिय में स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु तथा पंचेन्द्रिय में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण पांचों इन्द्रियां होती हैं।

मुनियों (साधुओ) के लिए सभी प्रकार की हिंसा वर्जित है। इसीलिए वे महाव्रती होते हैं। गृहस्थ व्यक्ति उद्यमी (व्यापार, उद्योगजनित) आरम्भी (गृहकार्य में) एवं

विरोधी (आक्रमण के समय बचाव में) हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते, किन्तु इनमें भी संकल्पी यानी जानबूझकर, असावधानी से हिंसा में प्रवृत्ति का त्याग कर सकते हैं। गृहस्थ के लिए भी करुणाभाव आवश्यक है। पशुओं का अंग-विच्छेद, क्षमता से अधिक भार डालना, भूखा-प्यासा रखना अहिंसाव्रत के अतिचार हैं। जीव में जितनी अधिक इन्द्रियां होती हैं, उनकी हिंसा में उतनी ही उत्तरोत्तर अधिक वेदना, क्रूरता एवं कठोरता रहती है। जैनदर्शन में भूमि (जिसमें खनिज भी सम्मिलित है), पानी, वायु, अग्नि और वनस्पति को भी एकेन्द्रिय जीव माना है। अतः इनके प्रति भी करुणाभाव रखते हुए इनका अत्यल्प आवश्यकतानुसार ही उपभोग करना चाहिए। इन प्रमुख पाँच प्राकृतिक भौतिक तत्त्वों का संरक्षण जैन दर्शन का पर्यावरण-संरक्षण के लिए एक अनूठा विधान है।

अचौर्य व्रत

किसी भी वस्तु को बिना पूछे लेना या उसके स्वामी की सहज स्वेच्छा के बिना लेना चोरी है। अचौर्य व्रत में भूली-बिसरी, गिरी-पड़ी वस्तु को लेना भी निषिद्ध है। भोले एवं निरक्षर व्यक्तियों को फुसलाकर, दबाव डालकर, जबरन, उनकी कोई वस्तु लेना भी चोरी है। किसी वस्तु को वास्तविक मूल्य से कम पर क्रय करना, चोरी में सहयोगी होना, भूमिगत धन आदि निकालना, वस्तुओं में मिलावट करना, हीनाधिक माप-तौल करना, राज्य के करों की चोरी करना ये सब अचौर्य व्रत के अतिचार हैं। अचौर्य व्रत से सभी प्रकार के पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व, हिंसा, शोषण आदि समाप्त हो सकते हैं और इससे पर्यावरण शान्त व सुखप्रद बन सकता है।

अपरिग्रह

'अपरिग्रह' का अर्थ है कि आवश्यकताएं न्यूनतम हों और उनकी पूर्ति के लिए भौतिक एवं अन्य पदार्थों का कम से कम संग्रहण किया जावे। इस समय पर्यावरण प्रदूषण का प्रमुख कारण बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद (Consumerism) है। इसका सहज सशक्त समाधान जैन दर्शन के अपरिग्रह व्रत से ही सम्भव है। मनुष्य की आवश्यकताएं जनसंख्या की अनियंत्रित असीम अभिवृद्धि के साथ अनवरत बढ़ रही हैं। यही नहीं प्रति व्यक्ति भी आवश्यकताएं अब पहिले से कई गुनी हैं और निरन्तर बढ़ रही हैं। समृद्ध देशों अमरीका आदि में तो प्रति व्यक्ति आवश्यकताएं भारत में विद्यमान प्रति व्यक्ति से लगभग ४० गुना है। आवश्यकताओं की निरर्गल अभिवृद्धि एवं बढ़ते हुए उपभोक्तावाद के कारण प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव (भार) उनकी नवीनीकरण (Rejuvenation) क्षमता से कई गुना हो गया है और फलस्वरूप वे द्रुतगति से नष्ट हो रहे हैं। उदाहरणार्थ सभी खनिज, तेल, धातु, पत्थर, वन पैदावार आदि। यदि यही हाल रहा तो शीघ्र ही प्राकृतिक संसाधन पूर्णरूपेण नष्ट हो जावेंगें और मानव जीवन दुष्कर हो जावेगा। पर्यावरण एवं अपनी स्वयं की सुरक्षा के लिए मनुष्य को अपरिग्रह व्रत का पालन करना ही चाहिए।

ब्रह्मचर्य

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, पर्यावरण-प्रदूषण का प्रमुख कारण जनसंख्या की अभिवृद्धि है। ब्रह्मचर्य व्रत इस भीषण समस्या का सहज समाधान है। इस व्रत का पालन स्वेच्छा से किया जाता है। अतः किसी प्रकार के दवाव, प्रलोभन

आदि की आवश्यकता नहीं होती। इस व्रत के पालन से पर्यावरण संरक्षण के साथ-साथ समाज में कामुकता के कारण कई जघन्य अपराध हिंसा, चोरी आदि भी समाप्त हो जाते हैं और सामाजिक पर्यावरण सुखद और शान्तिमय होता है।

शाकाहार

शाकाहार ही सम्यक् आहार है। शाकाहार जैनों का प्रमुख लक्षण, उनकी पहचान और जैन आचार-संहिता का महत्त्वपूर्ण अंग है। जैन-साहित्य में भक्ष्य-अभक्ष्य का जो विशद विवेचन है वह अद्वितीय है। बाईस प्रकार के जो अभक्ष्य बताये गये हैं उनमें त्रस जीवों की रक्षा के भाव के साथ-साथ अच्छे स्वास्थ्य का भी लक्ष्य है, उदाहरणार्थ सड़े-गले अचार, अनाज का पिसा आटा आदि निर्धारित अवधि के पश्चात् नहीं लेना, मांसाहार का, पांच उदंबर फलों का निषेध आदि का विधान दोनों लक्ष्यों की पूर्ति करता है। अंडा भी मांसाहार है, क्योंकि वह कोशिका (Cell) है। आजकल अनिषेचित अंडे को शाकाहार कहा जा रहा है जो जीव-विज्ञान के अनुसार भी गलत है। माता का अंडा (Ovum) और नर के शुक्राणु (Sperm) दोनों जीव ही हैं, इसीलिए दोनों के मिलन से जीव विशेष की सन्तति चलती है। दूध को पशु जनित (Animal-product) होने के कारण अंडे के समकक्ष रख दिया जाता है, जो ठीक नहीं है क्योंकि दूध में जीव की आधारभूत कोशिकाएं (Cells) नहीं होती। पशुपालन यदि समुचित ढंग से हो, पशुओं को स्नेह से भरपूर खाना दिया जावे तो यह सहज सहजीवन ही है। वस्तुतः पालतू पशुओं को जो अच्छा खान-पान दिया जाता है उससे उनके दूध की मात्रा में इतनी वृद्धि होती है कि वह पशुओं के अपने बच्चों की आवश्यकता से कहीं अधिक होती है।

अब तो आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी मांसाहार को अनेक गंभीर रोगों का कारण मानता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से शाकाहार को उपयुक्त प्रतिपादित करता है। इसी कारण समृद्ध पश्चिमी देशों में शाकाहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है। पहले मांसाहार के पक्ष में उसकी शाकाहार से अधिक पौष्टिकता की दलील दी जाती थी, वह वैज्ञानिक आधार पर भी अब खंडित हो गई है। शाकाहार की इतनी अधिक विविधता है कि उसके संतुलित चयन से उसकी पौष्टिकता मांसाहार से भी अधिक हो जाती है। मांसाहार में रेशा (Fibre) नहीं होने से वह सुपाच्य नहीं होता। प्रकृति में हाथी सर्वाधिक बलिष्ठ होता है और वह पूर्ण शाकाहारी होता है।

पर्यावरण-संरक्षण की दृष्टि से शाकाहार ही उत्तम है। एक मांसाहारी शाकाहारी की तुलना में १० गुना अधिक खाता है और उसके लिए १० गुना अधिक भूमि की आवश्यकता होती है। मांसाहारी जिन पशुओं पर निर्भर होता है वे वनस्पति पर ही निर्भर होते हैं। पशु वनस्पति (शाकाहार) खाकर जितनी ऊर्जा (Calories) ग्रहण करता है उसका ९०% वह अपने हलन-चलन, पाचन, प्रक्रिया में व्यय कर देता है और १०% ही मांस के रूप में संचित कर पाता है और इस प्रकार मांसाहारी अप्रत्यक्ष रूप से (Indirectly) १० गुना वनस्पति (शाकाहार) ग्रहण करता है। अमरीका में मांसाहार के लिए प्रयुक्त पशुओं को जितनी मात्रा में मक्का आदि अनाज खिलाया जाता है वह समूचे विश्व की भूख मिटाने के लिए पर्याप्त है।

जैन दर्शन में अहिंसा के सिद्धान्त के कारण शाकाहार का विशेष महत्त्व है और अहिंसा पर्यावरण-संरक्षण के लिए प्रमुख आवश्यकता है। किन्तु कृषि एक ऐसा उद्यम है कि उसमें कितनी भी सावधानी रखी जावे हिंसा अनिवार्य रूप से होती है। आधुनिक कृषि में रासायनिक खाद एवं विषाक्त कीटनाशकों के प्रयोग से तो हिंसा में कई गुना वृद्धि हुई है। कृषि और उसके लिए आवश्यक सिंचाई, रासायनिक खाद, कीटनाशकों से संबंधित छोटे-बडे उद्योग पर्यावरण-प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं।

अनेकान्त

जैन दर्शन में अनेकान्त सिद्धान्त उसकी अपनी एक विशेषता है। यह कट्टरवाद (Fundamentalism) व एकान्त के विरोध तथा दूसरों के विचारों के प्रति आदर एवं साम्यभाव का द्योतक है। इसे एक उदाहरण से सहज समझा जा सकता है। एक ही व्यक्ति माता के लिए पुत्र, पत्नी के लिए पति, बहिन के लिए भाई और पुत्री के लिए पिता है और सभी के दृष्टिकोण अपने-अपने सम्बन्धों से ठीक है, किन्तु यदि माता कहे कि वह केवल उसका पुत्र है और पत्नी कहे कि वह मात्र उसका पति है, अन्य का उस पर कोई अधिकार नहीं, तो यह गलत है। एकान्त अर्थात् एक ही दृष्टिकोण यानी जो मैं कहता हूं वही ठीक है और नहीं, यह अनेक विवादों, छोटे-बडे युद्धों का एक प्रमुख कारण है। जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है कि पर्यावरण-संरक्षण के लिए विश्व शांति आवश्यक है, अतः जैन-दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त का पर्यावरण-संरक्षण के लिए विशेष महत्त्व है।

उपसंहार

पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या को सम्पूर्ण विश्व गंभीरता से ले रहा है। इसी सन्दर्भ में वर्ष १९९२ में रियोडि जेनेरो (ब्राजील) में पृथ्वी-शिखर सम्मेलन (Earth-Summit) हुआ था जिसमें इस समस्या के समाधान के लिए सभी पहलुओं पर विस्तार से चर्चा की गई तथा भावी नीति के संबंध में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये। इस सम्मेलन में तीन प्रमुख निष्कर्ष निकले, प्रथम जैव वैविध्य (Bio-diversity) की सुरक्षा जो जैन दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त से सम्भव है। दूसरा प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा है जो जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अपरिग्रह से सहज संभव है, तीसरा 'विश्व शान्ति' जिसमें अहिंसा के साथ जैन-दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त अनेकान्त का महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है। सारांश में पर्यावरण-संरक्षण और शान्ति, जिनसे जुड़ा है मानव का स्वयं का अस्तित्व, जो जैन दर्शन के तीन प्रमुख सिद्धान्तों 'अहिंसा', 'अपरिग्रह' एवं 'अनेकान्त' से ही सम्भव है। यही सम्यक् और शाश्वत है।

७-बी, तलवंडी,
कोटा-३२४००५ (राजस्थान)

- जीवन में आरम्भ और परिग्रह को सीमित करें, तो आत्मिक आलोक से जीवन आलोकित हो उठेगा।

—आचार्य हस्ती

बाह्य दर्शन : अन्तर्दर्शन

☆ डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया*

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रत्येक द्रव्य में अन्तर्निहित हैं। व्यय और उत्पादयुक्त होने पर भी द्रव्य सदा ध्रौव्यमय होते हैं। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षट् द्रव्यों में संसार के सभी द्रव्य समाहित हैं। षट् द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर जीवन की एकरूपता लोक के रूप को स्वरूप प्रदान करती है। बाह्य दर्शन और अन्तर्दर्शन समझे बिना संसार को समझना और समझाना प्रायः सम्भव नहीं है।

ज्ञान के बिना दर्शन कभी पूर्ण नहीं होता है और दर्शन से रहित कभी कोई ज्ञान प्राप्त होना सम्भव नहीं होता। अतः उपयोग की अपेक्षा से दर्शन और ज्ञान सदा अन्योन्याश्रित हैं।

जीव द्रव्य का मूल लक्षण चेतना है। चेतना सदा ज्योतिर्मती होती है जिसके दिव्य प्रकाश से आत्मा का अपना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हेय-उपादेय का मार्ग मुखर हो उठता है। जब तक अन्तर ज्योति उजागर नहीं होती, तब तक बाह्य ज्योति का कोई महत्त्व नहीं।

आँख बाह्यदर्शन का मुख्याधार है। अन्तर-दर्शन के लिए आत्म-ज्योति की आवश्यकता असंदिग्ध है। सूर्य, चन्द्र, दीपक, मणि तथा विद्युत आदि सभी प्राकृत प्रकाशक हैं, किन्तु इन सबका प्रकाश उसी के लिए उपयोगी होता है, जिसकी आँखों में ज्योति जाग्रत है। जिसकी आँखों में ज्योति नहीं, उसके लिए ये सभी प्रकाश-केन्द्र प्रायः व्यर्थ हैं। उसके लिए दिवा और दिवाकर भी अंधकार हैं। शास्त्र, ग्रंथ-आदेश आदि का प्रकाश उसी के लिए उपयोगी होता है जिसके अंतर में आत्मालोक का उदय है। यही आत्मालोक वस्तुतः सम्यक् दर्शन होता है।

ज्ञान और दर्शन भिन्न-भिन्न स्वतंत्र शब्द हैं। बौद्धिक ज्ञान शब्दाश्रित होता है इससे अहंकार उत्पन्न होता है, किन्तु दर्शन शब्दाश्रित नहीं है। इससे अहं की उत्पत्ति नहीं, अपितु आस्था के स्वर फूटते हैं। अकेला ज्ञान और विज्ञान विश्व में द्वेष और द्वन्द्व उत्पन्न करता है जबकि दर्शन के साथ आत्मानुभूति द्वारा समुदाय और समाज में सौहार्द, समता और मैत्री का संचार होता है।

साधारण प्राणी बाह्य आँखों से देखने को ही दर्शन मानते हैं। इतनी विशाल सृष्टि है बाह्य दर्शन की। उसको एक साथ ये बिचारी आँखें भला कैसे देख सकती हैं? खुली आँख से प्रायः दृश्य दिखा करते हैं, जबकि बन्द आंख से दिखता है द्रष्टा। सृष्टि बाह्य दर्शन का विषय है जबकि स्रष्टा है अन्तर्दर्शन का विषय। द्रष्टा और स्रष्टा में श्रवण, मनन, निदिध्यासन, विचारणा, तर्क-वितर्क आदि का समन्वित रूप अन्तर्भुक्त है। यह एक प्रकार से अन्तर्दर्शन है।

इस विषय से सम्वन्धित मुझे एक जीवत वृत्त का स्मरण हुआ है। एक बार मुझे अलीगढ़ महानगर के फूल चौराहे पर कुछ खरीदने हेतु जाना हुआ। वहाँ एक जनरल

* पी.एच.डी., विद्यावारिधि एवं डी.लिट्., निदेशक जैन शोध अकादमी

मर्चेन्ट की दुकान है। तीन सीढ़ियां चढ़कर दुकान का द्वार खुलता है। मैं दो सीढियां चढ़ ही पाया था कि मेरे दोनों पैर यकायक रुक गए। दुकान पर कुछेक युवतियां दर्पण खरीदने का उपक्रम कर रही थीं। मेरे शिष्टाचार ने बाध्य किया उन्हें खरीद लेने दो और मैं अपने इसी निर्णय के अधीन होकर अधर में प्रतीक्षा करने लगा। वे सब नया दर्पण देखती और उसे रखकर अन्य की अपेक्षा करतीं। अच्छा दिखलाइए वे दुकानदार से आग्रह करतीं। उन्होंने अनेक दर्पण देखे थे, और वे किसी दर्पण से सन्तुष्ट नहीं हुई थी। अन्त में एक ने कहा-बेल्जियम का दिखलाइए। बेल्जियम का दर्पण दिखलाया गया। उसे देखकर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुईं। उन्हें देखकर मेरे प्रतीक्षित अन्तर से अनायास ही निकल गया—जब शक्ल ही ऐसी है तब बेचारा दर्पण क्या करेगा? यह सुनकर वे एक मिनट में एक-एक करके फीकी हंसी हंसते हुए दुकान से नीचे उतर गयी। मुझे कदाचित् यह कहना नहीं चाहिए था, मेरे मन ने तब यह सोचा था।

दर्पण में जब चेहरे पर कोई दाग दिखता है तब लोग प्रायः दर्पण को दोष देते हैं। दर्पण को साफ करते हैं। दर्पण को साफ करने से भला चेहरे का दाग़ कैसे मिट सकता है। चेहरे को साफ करने से ही दर्पण में प्रतिबिम्बित दाग मिट सकता है। इसी प्रकार बाहर प्रतिबिम्बित दोष तभी शुद्ध होंगे जब व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि शुद्ध और स्वच्छ बनायेगा। अन्तर्दर्शन शुद्ध होने पर संसार रूपी सागर का खारापन व्यर्थ हो उठता है। जब तक व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि शुभ और शुद्ध नहीं होगी, तब तक जीवन-दर्पण में अनेक दोष प्रतिबिम्बित होते रहेंगे। जीवन का यही अन्तर्दर्शन वस्तुतः जैन धर्म की भाषा में सम्यक् दर्शन कहलाता है।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। अर्थात् जैसा विचार वैसा संसार प्रतीत होता है। अन्तर्दर्शन में निहित दृष्टिकोण या विचार का प्रतिबिम्ब ही बाहर झलकता है। अन्तरदर्शन में यदि विशुद्ध विश्वमैत्री, निःस्वार्थ बन्धुत्व है तो बाह्य दर्शन में किसी के प्रति कभी कोई द्वेष-द्वन्द्व नहीं होगा।

अन्तरदर्शन सदा आत्मलक्ष्यी होता है। जब दर्शन आत्मलक्ष्यी होता है, तब अनेक अपकृत स्वयमेव नश-विनश जाते हैं। पर-पदार्थ के प्रति जब हमारी दृष्टि सम्यक् होती है तभी वस्तु के प्रति मोह और स्वामित्व का भाव प्रायः कम हो जाता है।

समस्यायें मिथ्यात्व की उपज होती हैं। सभी समस्याओं के समाधान सम्यक्त्वमुखी होते हैं। अन्तरदर्शन से सम्यक्त्व के संस्कार प्रायः जाग्रत होते हैं। इन्हीं संस्कारों से सम्यक्दर्शन का जन्म होता है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन वह है जिसमें प्राणी की समग्र पूर्व धारणायें, पूर्वाग्रह, अहंकार और तज्जन्य कदाचार प्रायः समाप्त हो जाते हैं और तब एक मात्र रह जाता है दर्शन, जिसमें श्रद्धा, समता के प्रति शक्ति और सामर्थ्य केन्द्रित हो जाते हैं।

—मंगलकलश

३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड,
अलीगढ़ (उ.प्र.) फोन-२६४८६

समत्तदंसी ण करेति पावं

¤ समणी प्रतिभाप्रज्ञा

'समत्तदंसी ण करेति पावं (आचारांग १.३.२) का प्रायः अर्थ किया जाता है कि सम्यग्दर्शी पाप नहीं करता है, किन्तु समत्तदंसी के प्रस्तुत लेख में आचार्य शीलाङ्क द्वारा प्रतिपादित तीन अर्थ प्रकट हुए हैं—१. समत्वदर्शी २. सम्यक्त्वदर्शी और ३. समस्तदर्शी। 'समत्तदंसी' बिल्कुल भी पाप नहीं करता, ऐसा अर्थ करना उपयुक्त नहीं, सम्यक्त्वदर्शी के अनन्तानुबन्धी एवं मिथ्यात्व सम्बन्धी पाप नहीं होता।—सम्पादक

सम्यक्त्व साधना की आधारभूमि है। अन्तरात्मा तक पहुंचने का दरवाजा है। इसके स्पर्श के बिना जीवन की सही दिशा का निर्धारण नहीं हो सकता। जैन दर्शन में सम्यक्त्व का सर्वाधिक माहात्म्य स्वीकार किया गया है। जैसे अंक के बिना केवल शून्य अर्थहीन होता है वैसे ही सम्यक्त्व के बिना तपस्या, सदाचरण आदि अर्थवान् नहीं होते। सम्यक्त्व और चेतना के विकास का अविनाभावी सम्बन्ध है।

निश्चय नय की दृष्टि से आत्म-द्रव्य की प्रतीति को ही सम्यक् दर्शन कहा गया है। प्रयोजनभूत द्रव्य तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय होने से पर स्वतः ही छूट जाता है। यही वह स्थिति है जहाँ पर अवस्थित हो आगमकार उद्घोष करते है-'समत्तदंसी ण करेति पावं'।

'समत्तदंसी' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचारांग के टीकाकार शीलांकाचार्य ने संस्कृत में इसके लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया है— समत्वदर्शिनः, सम्यक्त्वदर्शिनः और समस्तदर्शिनः। ये तीनों ही अर्थ सार्थकता युक्त हैं। प्राणीमात्र पर समत्व दृष्टि रखकर, उन्हें आत्मवत् जानने वाला समत्वदर्शी होता है। प्रत्येक घटना एवं विचारधारा के तह में पहुंच कर उसकी सच्चाई को यथावस्थित रूप से जानने वाला सम्यक्त्वदर्शी होता है। केवलज्ञान के महाप्रकाश में समस्त वस्तुओं की त्रैकालिक पर्यायों को जानने-देखने वाला समस्तदर्शी होता है। ये तीनों अर्थ टीकाकार ने क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा से किये हों , ऐसा जान पड़ता है।

सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता यह एक रहस्यपूर्ण सूत्र है। जो पाप के स्वरूप को देखता है, जानता है वह पाप नहीं कर सकता। जो उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता-देखता, वही व्यक्ति पाप कर सकता है। जिस प्रकार साधारण पात्र में सिंहनी का दूध नहीं टिकता, उसी प्रकार कलुषित मनोभूमि में सम्यक्त्व रत्न नहीं रह सकता। जैसा कि कहा गया है-

> **जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।**
> **जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥**

मैं धर्म को जानता हूँ फिर भी उसका आचरण नहीं करता। मैं अधर्म को जानता हूँ फिर भी उसका निवर्तन नहीं करता। यह असम्यक् स्थूल चित्त की अनुभूति है। सम्यक्दर्शन युक्त चित्त कभी भी असम्यक् आचरण नहीं कर सकता।

किसी भी वस्तु, घटना, प्रवृत्ति, क्रिया, भावधारा या किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में

एकांगी दृष्टि से सही निर्णय नहीं किया जा सकता। एक ही क्रिया को करने वाले दो व्यक्तियों के परिणामों की धारा अलग-अलग होने से एक उसमें कर्म बन्धन कर लेगा, दूसरा उसी क्रिया से कर्म निर्जरण कर लेगा। आचार्य अमितगति ने योगसार में कहा है-

> अज्ञानी बध्यते यत्र, सेव्यमानेऽक्षगोचरे।
> तत्रैव मुच्यते ज्ञानी, पश्यतामाश्चर्यमीदृशम्॥

बन्धन और मुक्ति के हेतु अलग-अलग नहीं, एक ही होते हैं। दृष्टिकोण के भेद से मिथ्यात्वी के जो बन्धन का जिक्र है वही सम्यक्त्वी के मुक्ति का हेतु है। जिस व्यक्ति को सम्यक्त्व की उपलब्धि हो जाती है उसकी आस्था सही होती है, ज्ञान सम्यक् होता है और आचरण की पवित्रता सधने लगती है। चक्रवर्ती भरत के बारे में भगवान् ऋषभ की उद्घोषणा हुई कि भरत इसी भव में मुक्त होगा। लोगों ने उपहास किया। अपने पुत्र के बारे में पिता कुछ भी कह सकते हैं। भरत ने सुना। उस व्यक्ति को बुलाया और मृत्युदण्ड सुना दिया। उसने बहुत अनुनय विनय किया। सजा में परिवर्तन हुआ। कहा गया कि तैल से लबालब भरे कटोरे को लेकर पूरे नगर में घूम कर आओ। सशस्त्र प्रहरी तुम्हारे साथ रहेगा। यदि एक भी बूंद तेल नीचे गिरा तो तत्काल धड़ से सिर अलग कर दिया जायेगा। वह व्यक्ति गया और घूम कर आ गया। आते ही चक्रवर्ती भरत ने पूछा—नगर में घूम आए? क्या-क्या देखा? उसने कहा—महाराज! कुछ भी नहीं देखा। मुझे तो हर क्षण मृत्यु दिखाई दे रही थी। पूरा ध्यान इस तैल के कटोरे पर केन्द्रित था। भरत ने कहा—एक भव की मृत्यु का डर तुम्हें इतना जागृत कर सकता है, भला जो स्व-पर की भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान की अनेक पर्यायों को जानता हो, वह कितना जागरूक होता है। सचमुच इसी स्थिति में पहुंच कर 'सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता' इस वाक्यांश के मर्म को समझा जा सकता है। अन्यथा सब कुछ काल्पनिक लगता है। चक्रवर्तित्व का भोग करते हुए भी सम्यक्दर्शी भरत जलकमलवत् थे। पापकर्म में लिप्त नहीं होते थे। जीया जाने वाला हर क्षण जागरूकता का क्षण था।

'समत्तदंसी ण करेति पावं' एक परिणाम वाक्य है। इससे पूर्व सूत्रकार कहते हैं—जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज ! पास'। जन्म और वृद्धि को देख। अपने पूर्व जन्मों के विषय में चिन्तन करे कि मैं एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में तथा नरक, तिर्यंच, देव आदि योनियों में अनेक बार जन्म लेकर फिर मनुष्य लोक में आया हूँ। उन जन्मों में कितना दुःख सहा है। साथ में यह भी जानें कि कितनी विपुल निर्जरा व पुण्य का संचय भी किया होगा, जिसके फलस्वरूप एकेन्द्रिय से विकास करते हुए इस मनुष्य योनि में आया हूँ। पुण्याई भी कितनी अधिक की गई कि जिससे मनुष्य लोक, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, पंचेन्द्रिय-पूर्णता, उत्तम संयोग, दीर्घ आयुष्य और श्रेष्ठ संयमी जीवन पाकर यह जीव इतनी उन्नति कर पाया है। यह चिन्तन पाप में संभागी होने से बचाता है।

दूसरा विचारणीय वाक्यांश है-'भूतेहिं जाण पडिलेह सायं' संसार के समस्त जीव जो चौदह भेदों में विभक्त हैं उन्हें जाने, उन प्राणियों के साथ अपने सुख की तुलना करे। जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही संसार के सब प्राणियों को सुख प्रिय है। ऐसा

चिन्तन करने वाला पाप कर्म से उपरत हो जाता है।

तीसरा मननीय वाक्य है-'तम्हा तिविज्जो परमंपि णच्चा'। तीनों विद्याओं का ज्ञाता परम को जाने। परम का अर्थ है-जीव का पारिणामिक भाव अथवा मोक्ष। जब तक जीव परम सद्भाव की भावना नहीं करता तब तक दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। इसके लिए त्रिविध ज्ञान अपेक्षित है–

१. पूर्व जन्म का ज्ञान।

२. जन्म-मरण का ज्ञान।

३. आस्रव-क्षय का ज्ञान।

इस त्रिविध ज्ञान के पश्चात् ही 'सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता' यह वाक्य सार्थक होता है। ज्ञानी व्यक्ति ही आचार-शुद्धि कर सकता है। 'सव्वे पाणा ण हंतव्वा' इस वाक्यांश में हिंसा नहीं करनी चाहिए इस तथ्य की प्रधानता नहीं है। परन्तु किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए यह तथ्य वास्तविक है, सत्य है। यही सम्यग्दर्शन है। सार की भाषा में कहा जा सकता है कि सम्यक् आचार सम्यक् दर्शन पूर्वक ही हो सकता है। जानने और देखने के बाद ही आचरण का क्रम आता है। अतः ज्ञाता-द्रष्टाभाव से युक्त राग-द्वेष रहित अवस्था को प्राप्त सम्यक् दृष्टि न पाप करता है, न करवाता है और न ही उसकी अनुमोदना करता है। उसके पाप का कारण मिट चुका है। अतः कारण के बिना कार्य संभव नहीं।

–जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)

विचार-कण

- यदि बाहर की दृष्टि को मोड़कर तुम अन्दर की ओर देखने लगे तो उस दिन शान्ति और आनन्द का मार्ग तुम्हें उपलब्ध हो सकेगा।
- पुद्गल एवं पौद्गलिक पदार्थों की ओर जितनी अधिक आसक्ति एवं रति होगी, उतनी ही आन्तरिक शक्ति में कमी होगी।
- आर्थिक दृष्टि से कोई व्यक्ति चाहे कितना ही सम्पन्न, इन्द्र या कुबेर के समान क्यों न हो, किन्तु उसका आन्तरिक परिष्कार नहीं हुआ, तो उसका जीवन अधूरा ही रहेगा और उसे वास्तविक सुख प्राप्त नहीं होगा।
- सम्यक्त्व पूर्वक की गई क्रिया से मन में पवित्रता आती है और मन में रहे हुए संकल्प-विकल्प तथा आधि-व्याधि-उपाधि मिटती है।
- सम्यग्दर्शन न तो गुरु महाराज के पास से आने वाली चीज है और न भक्ति के द्वारा ली जाने वाली चीज है। सम्यग्दर्शन तो हमारे भीतर है। वह तो भीतर से आवेगा। वह भीतर से जगने वाला है। गुरु तो पर्दा हटाने का काम करते हैं, आवरण हटाने का काम करते हैं, आवरण दूर होने से मिथ्यात्व का रोग मिटने लगता है।
- जब अजेय का आक्रमण होता है और शरीर को त्याग कर जाने की तैयारी होती है तब जवाहरात के पहाड़ भी आड़े नहीं आते। मौत को हीरा-मोतियों की घूंस देकर, प्राणों की रक्षा नहीं की जा सकती।

–आचार्य हस्ती

सम्यक्त्वी पाप क्यों नहीं करता ?

¤ सोभागमल जैन*

आचारांगसूत्र १.३.२ 'सम्मत्तदंसी ण करेति पावं' (सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता है) वाक्य की सार्थकता की पुष्टि लेखक ने ११ हेतुओं से की है। लेखक का चिन्तन आगम-प्रमाण पर आधारित है तथा सुग्राह्य है। यह अवश्य ध्यातव्य है कि सम्यक्त्वी मनुष्य दर्शनसप्तक सम्बन्धी पाप नहीं करता, शेष पाप का बंध उसके न्यूनाधिक रूप में तब तक होता रहता है, जब तक कि वह तत्सम्बद्ध हेतुओं का पूर्णतः त्याग नहीं कर देता। तथापि लेखक के द्वारा प्रदत्त बिन्दु आगम-वचन की पुष्टि में महती भूमिका निभाते हैं।—सम्पादक

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुआ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥ मोक्षपाहुड, ८९

अर्थात् वे मनुष्य धन्य और सुकृतार्थ हैं और वे ही पंडित और शूरवीर हैं जिनके पास (मुक्ति) सिद्धि प्रदान कराने वाला सम्यक्त्व है और उस प्राप्त हुए सम्यक्त्व को वे स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं होने देते हैं।

प्रतिपाद्य विषय 'सम्मत्तदंसी ण करेति पावं' के विवेचन हेतु सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि की पहिचान करना प्राथमिक आवश्यकता है। जिसने मिथ्यादर्शन को त्याग कर सम्यग्दर्शन को जीवन में अपनाया हो, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व का महत्त्व वर्णनातीत कहा गया है। वह भव-भ्रमण को समाप्त करने का अमोघ अस्त्र एवं धर्मबीज है। मिथ्यात्व जहां जीवन में अंधकार रूप होता है तो वहीं सम्यक्त्व जीवन में प्रकाश रूप होता है।

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का ज्ञान एवं चारित्र भी सम्यक् होता है। अतः उसे हिताहित का भान होता है तथा कौनसा कार्य करणीय है और कौनसा अकरणीय, किस प्रकार के कार्यों के करने से पापों का बंधन होता है और किनसे पापों की निर्जरा कर सिद्धि को मिलाया जा सकता है, इसका उसे बोध होता है, जिससे वह अपनी आत्मा को निर्मल बना सकता है। उसके समक्ष मोक्ष का मार्ग स्पष्ट रहता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव पापी नहीं, धर्मी होता है इसी कारण से सम्यग्दृष्टि के लिए आप्त महापुरुषों का उक्त कथन समीचीन एवं यथार्थ परक है।

सम्यग्दृष्टि जीव का जीवन रत्न-त्रय रूप धर्म-मय होने से वह सदैव धर्म कार्यों एवं धर्माराधन में प्रवृत्ति-रत रहता है तथा पापकारी प्रवृत्तियों से विरत एवं निवृत्त होता है। पाप को पाप ही समझने एवं उसका फल अशुभ एवं अत्यंत घातक होना मानने के कारण वह पाप नहीं करता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव के लिए आप्त पुरुषों का यह कथन 'सम्मत्तदंसी ण करेति पावं' अर्थात् 'सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है,' पूर्ण सार्थकता लिये हुए है। इसकी पुष्टि हेतु अग्रांकित तथ्यों द्वारा भी प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है—

* व्याख्याता, हिन्दी, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, अलीगढ़-टोंक (राज.)

(१) **सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा शुद्ध व समझ सही होना**—सम्यग्दृष्टि जीव जो वस्तु जैसी है, वह उसको उसी रूप में देखता और मानता है। तत्त्वों के संबंध में सम्यक्दर्शनी का चिंतन तथा हार्दिक अभिव्यक्ति होती है—

अरिहंतो मह-देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥'

अर्थात् केवली भगवंतों द्वारा निरूपित तत्त्वों पर उसकी पूर्ण श्रद्धा और मान्यता होती है। उसकी दृष्टि में जो कर्म रूप शत्रु-विजेता हैं, अठारह दोष रहित, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग अरिहंत भगवंत हैं वे ही देव हैं। कनक-कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रत के पालक, पांच समिति और तीन गुप्ति के धारक सर्व साधु-साध्वीजी गुरु और सर्वज्ञभाषित दयामय-मोक्षमार्ग की ओर गति कराने वाला तत्त्व ही धर्म है। जीवादि नव तत्त्वों में भी जो चेतना-युक्त एवं उपयोग लक्षण वाला है उसे जीव, जो अचेतन अथवा जड़ है उसे अजीव, सुख देने वाले तत्त्व को पुण्य, दुःख देने वाले को पाप, जिनके द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आगमन हो उसे आश्रव, आश्रवों का निरोध करने वाले को संवर, कर्मों को आत्मा से पृथक् कराने वाले तत्त्व को निर्जरा, आत्मा एवं कर्मों का सम्बन्ध कराने वाले को बंध और सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को प्राप्त होने वाले तत्त्व को ही मोक्ष मानता है। इसी के साथ उसकी दृढ़ मान्यता होती है-

अरिहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु, संवर निर्जरा धर्म।
केवली भाषित शास्त्र, यही जैन मत मर्म ॥

इस प्रकार उसकी श्रद्धा व मान्यता सही होने से वह पाप-बंधन नहीं करता और पाप-मुक्त रहता है, जबकि मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा, मान्यता एवं समझ आदि विपरीत होने के कारण वह पापों का बंधन करता है।

(२) **सम्यग्दृष्टि का भेदविज्ञानी होना**—सम्यग्दृष्टि जीव जड़ और चेतन का भेद अथवा स्व और पर में जो भेद है उसे भली प्रकार समझने वाला होता है। अतः 'स्व' अर्थात् आत्मा को महत्त्व देता हुआ 'पर' अर्थात् पुद्गलों के पिंडरूप नश्वर शरीर के प्रति वह उदासीनभाव रखता है। सम्यक्त्वी प्राणी बहिर्मुखी नहीं अपितु अंतर्मुखी होता है। वह सांसारिक भौतिक पदार्थों और शरीरादि को अपना नहीं मानकर सदैव आत्माभिमुख बना रहता है। उसका चिंतन होता है—

इमं शरीरं अणिच्चं, असुई असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥

अतः पर से दृष्टि हटाकर स्व को लक्ष्य बनाता है, और चिंतन करता है-

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

ज्ञानीजनों ने संसार में धन, शरीर, परिवार आदि पर आसक्ति या ममत्व-भाव को अनर्थों का कारण मानते हुए उनके सेवन को कर्म-बन्ध का मूल बताया है। किन्तु सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी होने के कारण उनसे घिरा हुआ रहने पर भी अनासक्त भाव को ग्रहण किये हुए जल में जलज सदृश भरत चक्रवर्ती के समान निर्लिप्त भाव से रहता हुआ पाप-बंधन से मुक्त रहता है। जबकि मिथ्यात्वी अज्ञानतावश इन्हीं को सब कुछ जानने की भूल कर बैठता है और इन्हीं में गृद्ध व रचा-पचा रहने के कारण गाढ़े पाप-कर्मों को बांधता रहता है।

(३) सम्यग्दृष्टि को आत्मा की विशुद्धि दशा ही स्वीकार्य होना—सम्यग्दृष्टि आत्मा की शुद्ध दशा को ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार सभी जीवों में एक जैसी समान आत्माएं होती हैं। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों की आत्माएं सिद्ध स्वरूप ही हैं, केवल कर्मों के आच्छादित आवरण के कारण उनका विकास-क्रम अवरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप अपने वास्तविक मूल रूप को प्राप्त नहीं कर पाती अन्यथा सिद्धों की आत्मा और किसी अन्य प्राणी की आत्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। कहा भी है-

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मैल का आँतरा, बूझे विरला कोय ॥

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, क्षायिक समकित, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु आदि अष्ट गुणों से युक्त आत्मा की दशा ही उसकी दृष्टि में आत्मा की शुद्ध दशा है। इस प्रकार की मान्यता सम्यग्दृष्टि की होती है। अतः आत्मा की शुद्ध दशा को जानने के कारण सम्यग्दृष्टि विपरीत प्रवृत्ति नहीं करता। फलस्वरूप पाप-बंधन नहीं करता हुआ संसार को परीत्त कर लेता है, जबकि मिथ्या-दृष्टि की स्थिति इसके विपरीत होने के कारण वह मन, वचन और काया के तीनों ही योगों से दोषपूर्ण प्रवृत्ति करता हुआ पापों का बंधन करता रहता है और संसार को बढ़ाता है।

(४) सम्यग्दृष्टि का ग्रंथि-भेदक होना—विषय-कषायों का विजेता सम्यग्दृष्टि जीव, राग-द्वेषादि को जीवन में स्थान नहीं देता बल्कि उसका सम्पूर्ण जीवन समत्व की साधना में रत रहने के कारण समतामय होता है। वह क्रोध के स्थान पर क्षमा का, मान के स्थान पर निरभिमानता व मृदुता का, माया के स्थान पर सरलता व निष्कपटता का और लोभ के स्थान पर निर्लोभता व परहित-चिंतन का आचरण जीवन में अपनाने के कारण पाप-कर्मों का बंधन नहीं करता है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव विषय-कषायों के सेवन को ही जीवन की सार्थकता मानता है। अतः इन्द्रिय-विषय लम्पट बनकर वह पाप कर्मों का बंधन करता रहता है।

(५) सुख-दुःख हानि-लाभ की यथार्थ मान्यता एवं ज्ञान होना—सम्यग्दृष्टि को जीवन में प्राप्त होने वाले सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि का यथार्थ भान होता है। वह प्रतिकूलता एवं अनिष्ट के लिए किसी पर दोषारोपण न कर अपने ही अशुभ कर्मोदय को उसके लिए उत्तदायी मानता हुआ आर्त-ध्यान नहीं करता। इसी प्रकार अनुकूलता अथवा इष्ट के लिए भी वह शुभ कर्मोदय अथवा संचित पुण्य का प्रभाव होना मानता है तथा दोनों ही प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न होने पर अपने को समभाव में रखता हुआ पापोपार्जन से मुक्त रहता है। जबकि मिथ्यादर्शनी का चिंतन दोषपूर्ण होता है। वह अनुकूलता प्राप्ति में तो स्व-पुरुषार्थ को श्रेय देता है और विपरीत परिस्थितियों के लिए अन्य को दोषी ठहराता हुआ उन्हें कोसता रहता है। फलतः राग-द्वेषादि की परिणति के कारण पाप संचय करता है।

(६) **जीवन की नश्वरता के प्रति जागृत भाव**—सम्यग्दर्शनी की दृष्टि से जीवन अशाश्वत-पानी के बुद्बुद सदृश क्षणभंगुर है, पता नहीं आयुष्य कब पूर्ण हो जाये और उसी के साथ जीवन की इहलीला समाप्त हो जावे। आधि-व्याधियों के पिंड-रूप इस शरीर में पता नहीं कब कौन-सा रोग उत्पन्न होकर कंचन जैसी दिखाई देने वाली काया को कृष व मलिन बना दे। अतः अल्पकालिक इस जीवन को सार्थक बनाने हेतु वह धर्माराधन में रत रहता है। प्रतिपल, प्रतिक्षण सावधान रहता है कि जीवन की ये अनमोल घडियां प्रमाद में यों ही व्यतीत न हो जावें और मैं कोरा का कोरा नहीं रह जाऊँ अतः शुभ चिंतन व शुभ कार्यों में प्रवृत्ति-रत जीवन जीता हुआ वह अशुभ कर्म-बंधन से बचा रहता है। जबकि मिथ्या-दृष्टि इसके प्रति उपेक्षा-भाव रखता हुआ सोचता है-जीवन काफी लम्बा है, आवश्यक करणीय कार्य बाद में कर लेंगे, अभी तो मौज-मस्ती का समय है। अतः प्रमाद एवं इन्द्रिय-विषय सेवन के कारण अज्ञानी जीव अशुभ कर्मों का आश्रव करता रहता है।

(७) **बुराई में से अच्छाई का चयन**—संसार में अच्छाई और बुराई दोनों ही प्रकार की स्थितियों की विद्यमानता है। सम्यग्दृष्टि उनमें से अच्छी और जीवन हितकारिणी स्थिति को ग्रहण कर बुरी को त्याग करता है। क्योंकि 'नीर-क्षीर-विवेक' सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। वर्तमानयुगीन भौतिकता की चकाचौंध व्यक्ति को इतना आकृष्ट करती है कि वह वास्तविकता को विस्मृत कर देता है। खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन यहाँ तक कि धार्मिकता के क्षेत्र को भी भौतिकता ने बुरी तरह प्रभावित किया है। फलतः सभी क्षेत्रों में अनेकानेक विकृतियों ने जन्म लिया है, किन्तु सम्यग्दृष्टि की दृष्टि पैनी एवं विवेक-युक्त होती है। वह बुराइयों को त्यागता है और अच्छाइयों को ग्रहण करता है। अतः पाप-मूलक प्रवृत्ति से बचा रहता है।

(८) **काम-भोग और भोगापभोग में ममत्व बुद्धि का त्याग**—सम्यग्दृष्टि जीव विषय-भोगों में गृद्ध नहीं होता। इन्द्रिय विषय-सेवन को संसार-राग वृद्धि का कारण समझ कर उनसे सजग रहता है। भोगोपभोग की विपुल सामग्री उपलब्ध होने पर भी उसके प्रति आकृष्ट न होकर उसकी ओर पीठ दिये रहता है, उसके प्रति ममत्व-बुद्धि का परित्याग कर उदासीन बना रहता है। कारण कि इसके द्वारा पाँचों ही आश्रवों का सेवन होता रहता है। अतः ज्ञानी-जन अपने कथन के माध्यम से सम्यग्दृष्टि का काम-भोगों एवं भोगोपभोग के प्रति अलिप्त भाव प्रकट करते हुए लिखते हैं—

> **चक्रवर्ती की संपदा, इन्द्र सरीखा भोग।**
> **काक वीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥**

यहां पर सम्यग्दृष्टि की निर्लिप्तता व उदासीनता की मनः स्थिति बनने का कारण ज्ञानी-जन महापुरुषों के वचनों पर उसकी प्रतीति होना है। ज्ञानियों ने काम भोग-सेवन को प्रारंभ में सुखाभास कराने वाला, किन्तु अंत में परिणाम की दृष्टि से इहलोक और परलोक के लिए दुःखदायी तथा अनिष्टकारक बताते हुए किंपाक फल के सेवन के सदृश माना है जिसे निम्नांकित कथन द्वारा स्पष्ट किया गया है—

> **काम भोग प्यारा लगे, फल किंपाक समान।**
> **मीठी खाज खुजावता, पाछे दुःख की खान॥**

काम-भोगों को क्षणिक सुख का अनुभव कराने वाला, किंतु बहुत लम्बे समय तक दुःखों को प्रदान करने वाला बताया गया है। इनमें सुख की मात्रा स्वल्प, किन्तु दुःख की मात्रा अत्यधिक मानी गई है। इनको अनर्थों की खान एवं मोक्ष का प्रतिगामी माना गया है, यथा--

खणमित्तसुक्खा, बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥उत्तरा. १४.१३

आप्त महापुरुषों के एवंविध वचनों को प्रमाण मानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव, काम-भोगों एवं भोगोपभोगों की प्राप्त सामग्री के प्रति प्रायः अनासक्त रहकर पापपंक में नहीं फंसता है; जबकि मिथ्यादृष्टि जीव इनके दुष्परिणामों से अनभिज्ञ होने के कारण इनका सेवन करता रहता है और पापों का संचय करता रहता है।

(९) **विचारों के साथ व्यवहार में भी परिवर्तन**--सम्यक्दर्शनी की कथनी और करनी में एकरूपता होती है। उसके विचार दुर्भावना रहित होते हैं। उन्हीं के अनुरूप वह राग-द्वेष एवं आर्त-रौद्रध्यान से बचकर समता-भाव पूर्वक जीवन-यापन करता है। वह विचारों में उत्कृष्टता के साथ आचरण की उत्कृष्टता का भी ध्यान रखता है। अतः सभी के प्रति अच्छे विचारों के साथ व्यवहार में भी अच्छाई अपनाने के कारण उन सभी पापकारी प्रवृत्तियों से बचा रहता है जो दुर्विचार एवं दोष पूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप उसके जीवन को अभिशप्त करने वाली होती हैं।

(१०) **आत्मतुल्य भाव होना**--सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चक्षु सदैव खुले रहते हैं, अतः वह समस्त लोक के प्राणिमात्र को अपनी ही आत्मा के सदृश मानता और देखता है। जिस प्रकार उसको दुःख का वेदन होने पर वह दुःखों से बचना चाहता है उसी प्रकार उसकी दृष्टि में अन्य प्राणियों को भी कष्ट की अनुभूति होती है और वे उससे बचने का प्रयास करते हैं। अतः जिस प्रकार वह स्वयं दुःखी नहीं होना चाहता वैसे ही दूसरों को भी खेदित व दुःखी नहीं करता और न किसी जीव को असाता पहुंचाता है। वह हर समय सजग रहकर चिंतन करता है कि एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में एक जैसी आत्मा की विद्यमानता है। यहाँ तक कि सिद्धों की आत्मा और अन्य प्राणियों की आत्मा में मौलिक भेद कुछ भी नहीं है, जो अंतर है वह मात्र कर्मों की सत्ता का है।

अतः सम्यग्दृष्टि जीव बराबर ध्यान रखता है कि प्रमादवश किसी प्राणी का उसके द्वारा प्राण हरण न हो। वह सभी के प्रति मैत्री, प्रमोद, अनुकम्पा आदि के भाव रखता हुआ जीवन व्यतीत करता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह पाप कार्यों से सहज ही बच जाता है, जबकि मिथ्यादर्शनी जीव का चिंतन एवं व्यवहार स्वार्थ पूर्ति तक ही सीमित रहता है और अन्य प्राणियों के प्रति उपेक्षा-भाव रखने से वह पापों का बंधन करता रहता है।

(११) **पापभीरू होना**--सम्यग्दृष्टि श्रावक की आत्मा बलवान् होती है। सांसारिक भय उसे तनिक भी व्याप्त नहीं होता और न ही किसी शक्ति विशेष से वह भयभीत होता है। वह भयभीत होता है तो मात्र पापों से। पापों का उपार्जन पापकारी प्रवृत्तियों के सेवन से होता है जो शास्त्रों के उल्लेखानुसार १८ प्रकार की होती हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव इनसे एवं इनके सेवन द्वारा होने वाले दुष्परिणामों से सुपरिचित होने के कारण यथासंभव बचते रहने का प्रयास करता है अर्थात् भय खाता है, जबकि मिथ्यादृष्टि जीव को उक्त पाप-प्रवृत्तियां आनंददायी प्रतीत होती हैं। फलस्वरूप रुचिपूर्वक उनका सेवन करता हुआ वह स्निग्ध कर्मों का बंधन कर लेता है।सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि को अज्ञानी के रूप में प्रदर्शित करते हुए उक्त दोनों ही प्रकार के जीवों की पाप के प्रति मानसिकता और उससे प्राप्त होने वाले सुफल व कुफल को श्रीमद्राजचन्द्र ने निम्नांकित दोहे द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है–

समझूं शंकै पाप से, अणसमझूं हरसंत।
वे लूखा वे चीकणा, इण विध कर्म बधंत॥

अतः सम्यग्दृष्टि जीव सद्विवेक के जागृत होने से जानता है कि पाप कर्म ही संसार-वृद्धि एवं आत्मपतन का कारण है। यही पाप-प्रवृत्ति इहलोक और परलोक को बिगाड़ने वाली एवं जन्म-मरण रूप भयंकर दुःखों की प्रदाता है। संसार में कौन ऐसा प्राणी है जो दुःखों को जीवन में स्थान देगा? अर्थात् सभी सुखाभिलाषी हैं। विशेषतया सम्यग्दृष्टि तो सांसारिक क्षणिक सुखों से परे चिरंतन शाश्वत सुखों की प्राप्ति हेतु सदैव प्रयत्नरत रहता है। अतः दुःखों के कारण रूप पाप को कैसे जीवन में प्रश्रय दे सकता है? परिणाम स्वरूप सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है। वह सदैव पापों से विलग रहता हुआ जीवन जीता है। पाप नहीं करने का आशय यहां पर यह नहीं है कि उसके बिलकुल भी पाप कर्म का बंधन नहीं होता, अपितु इसका आशय है कि वह मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी सम्बन्धी पापकर्म को न करता हुआ, पापकर्म के अन्य कारणों का भी त्याग कर देता है।

खिड़की दरवाजा, अलीगढ़ जिला-टोंक (राज.) ३०४०२३

श्रद्धा है एक ऐसा विश्वास

☆ श्रीपाल देशलहरा

'दंसणमूलो धम्मो'
धर्म का मूल सम्यक्त्व है।
सम्यग्दर्शन का उजाला
घट के अन्दर
जब होता है,
ज्ञान का अँकुर
स्वयं प्रस्फुटित होता है।
श्रद्धा है एक ऐसा विश्वास
हकीकत पेश करता है
जीवन दर्शन की।
भीतर का द्वार खोल देता है।
अन्तर्नयनों की रोशनी चमक उठती है।
विना दर्शन तो मुश्किल है,
ज्ञान और चारित्र को पाना।

"सम्यक्त्वं परमं रत्नम्"
सम्यक्त्व अनमोल रत्न है।
सम्यक्त्व की सम्यक् आप्ति
भर देती है मन में विशुद्धि
सम्यक्त्व की आत्मा.
नहीं होती है बुरे कर्मों में लिप्त
है अगर कोई-
संसार चक्रव्यूह से निकलने की ओषधि
वह है सम्यग्दर्शन
तब होता है
सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।

निकिता केमिकल्स,
२-२-५३ प्रथम माला, पान बाजार, सिकन्द्राबाद (आ.प्र.)

सम्यक्त्व प्राप्ति के स्वर्णिम प्रसंग

¤ श्रीमती हुकुम कंवरी कर्णावट

(१)

चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के २७ पूर्वभव मुख्य बताए गए हैं। उनमें प्रथम भव 'नयसार' का था।

उस समय प्रतिष्ठानपुर नगर था। नगर सुन्दर था। वहाँ का राजा न्यायी और नीतिवान् था। राजाज्ञा से ग्रामचिंतक नयसार एक दिन वन में लकड़ी लेने गया। वन घना था। उसमें सूखे पेड़ भी थे। नयसार ने सूखी लकड़ी इकट्ठी कर ली। सूर्य काफी ऊपर आ गया था। उसे भूख लगी, अतः वह खाना खाने बैठा। खाना प्रारंभ करने वाला ही था कि उसे मार्ग भूले हुए एक तपस्वी मुनिराज आते हुए दिखाई दिये। मुनिराज के दर्शन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ । सोचने लगा—'मेरे पास तो रोटी है और कुछ नहीं। मुनिराज को क्या दूँ? फिर विचार किया तपस्वी मुनि को खाने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। फिर भक्तिपूर्वक आदर से हाथ जोड़कर बोला-'मेरे पास रोटी है, कृपाकर इसे ग्रहण कीजिए और मुझे तारिए।' मुनिराज ने निर्दोष आहार ग्रहण किया। नयसार ने आहार के साथ गाँव का सही रास्ता भी उन्हें बताया।

मुनिराज ने नयसार को उपदेश देकर आत्म-कल्याण का मार्ग समझाया। त्यागी मुनिराज के उपदेश से उसने संसार और आत्मा के स्वरूप को जाना। फलस्वरूप उसकी दृष्टि शुद्ध बनी और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। यही नयसार का जीव २७वें भव में तीर्थंकर महावीर बना।

(२)

महाराजा श्रेणिक के नाम से समस्त जन परिचित हैं। इतिहास में उन्हें बिम्बसार के नाम से जाना जाता है।

श्रेणिक मगध के सम्राट् थे। एक बार मगध सम्राट् श्रेणिक अपने परिवार सहित राजगृही नगर के बाहर पर्वत की तलहटी में बने मण्डीकुक्षि उद्यान में घूम रहे थे। यहीं उन्होंने एक शान्त-दान्त ध्यान में लीन सुकुमार तरुण मुनि को देखा। तपस्वी मुनि को देखकर सम्राट् आश्चर्य चकित हो गया। वन्दन करके मुनि से पूछा—'भगवन् आप इस तरुणवय में भोगों को छोड़कर साधु क्यों बन गए?' मुनि ने उत्तर दिया—'मैं अनाथ था।' तेजस्वी मुनि को देखकर राजा को विश्वास नहीं हुआ। फिर बोल उठे—'मैं आपका नाथ बनता हूँ।' मुनि बोले—'राजन् तुम स्वयं अनाथ हो। मेरे क्या नाथ बनोगे?' दो टूक उत्तर पाकर श्रेणिक चकित रहे। फिर बोले—'मेरे पास सभी कुछ है। मेरी सत्ता और मेरी आज्ञा चलती है। भंते! आप मिथ्या मत कहिए।'

'हे राजन्! तुम एकाग्रचित होकर सुनो कि कैसे कोई व्यक्ति अनाथ हो जाता है और मैंने किस भाव से अनाथ का प्रयोग किया है।' मुनि बोले—मेरा भरा-पूरा परिवार था। धन-दौलत की कोई कमी नहीं थी मेरे पास। एक बार मेरी आंखों में भयंकर पीड़ा उत्पन्न हुई। वह असह्य थी। वैद्य, डाक्टर सभी से उपचार करवाया। कोई

कसर नहीं रखी। परिवार के सभी लोग चिंतित थे। अंत में एक दिन मैंने संकल्प किया कि मेरा रोग ठीक हो जावे तो मैं मुनि बनकर संयम पालन करूंगा। मेरी पीड़ा शांत हो गई और मैंने संसार का त्याग कर मुनि जीवन अंगीकार कर लिया। यह थी मेरी अनाथता।'

राजा को इससे प्रतिबोध प्राप्त हुआ। उन्होंने समझ लिया कि आत्मा को सनाथ-अनाथ बनाने वाले साधन स्वजन परिजन, धन आदि नहीं। स्वयं अपनी आत्मा ही है। आत्मा अपने ही कर्मों से सनाथ-अनाथ बनती है। इस प्रकार उन्होंने मुनि के उपदेश से परमार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सम्यक्दृष्टि प्राप्त की। महा निर्ग्रन्थ अनाथी मुनि के सान्निध्य से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। सम्यक्त्व पूर्वक साधना करते हुए वे आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर बनेंगे।

(३)

जिनशासन सेवा के आदर्श वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा सम्यक्त्व, प्राप्ति का उल्लेख प्रायः अनुपलब्ध है। यह सैद्धान्तिक तथ्य है कि वासुदेव निदानकृत होते हैं अतः वे प्रव्रज्या या संयम ग्रहण नहीं कर सकते। धन-वैभव का त्याग कर श्रमण नहीं बन सकते।

इसके साथ यह भी निश्चित है, ऐतिहासिक तथ्य है कि वासुदेव श्रीकृष्ण आगामी चौबीसी में 'अमम' नामक १२वें तीर्थंकर बनेंगे। स्वयं तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि ने यह तथ्य श्रीकृष्ण को बताया था, जब वे द्वारिकानाश के प्रसंग में प्रव्रज्या न ले सकने के कारण अपने को अधन्य, अकृत-पुण्य आदि बताकर पश्चात्ताप करने लगे थे। इतनी बड़ी उपलब्धि जिसे होने वाली है, उन श्रीकृष्ण महाराज को सम्यक्त्व अवश्य प्राप्त हुआ होगा। क्योंकि सम्यक्त्व तो मूल है जिस पर तीर्थंकरत्व का भव्य भवन निर्मित होने वाला है। मिथ्यात्वी आत्मा तो तीर्थंकर नहीं बन सकती। बहुश्रुत पं. रत्न श्री समर्थमल जी म.सा. के प्रश्नोत्तर संकलन 'समर्थ समाधान' भाग २ प्रश्न १२४८ के उत्तर में बताया गया कि जो निदान वस्तु-प्रत्यय तथा मन्दरस का होता है, उस निदान के फलने के बाद व्रत प्राप्ति हो सकती है, जैसे द्रौपदी आदि को हुई।

वासुदेव श्रीकृष्ण के श्रावक धर्म स्वीकार करने का उल्लेख स्व. पू. आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. कृत 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' भाग १ में हुआ है। इतिहासकार आचार्य ने इसका सन्दर्भ त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, पर्व ८ सर्ग ९ श्लोक ३७८ को उद्धृत कर बताया है।

वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा सम्यक्त्व-प्राप्ति का उल्लेख भगवान् अरिष्टनेमि के केवलज्ञान-प्राप्ति और चतुर्विध संघ की स्थापना के साथ जुड़ा हुआ है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के ५४ दिन बाद विविध प्रकार के तप करते हुए अष्टमतप में ध्यानलीन प्रभु को आश्विन कृष्णा अमावस्या के पूर्वाह्नकाल में केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ जानकर देवों ने रेवताचल पर अनुपम समवसरण की रचना की। वहाँ के विस्मित रक्षकों ने इसकी सूचना तत्क्षण महाराज श्रीकृष्ण को दी। श्रीकृष्ण ने अत्यन्त प्रसन्न होकर रक्षकों को बारह करोड़ रौप्य मुद्राओं (चांदी की

मुद्राओं) से पुरस्कृत किया। पश्चात् अत्यन्त भक्तिभाव से वे दशों दशार्ह, शिवा, रोहिणी आदि माताओं, बलभद्र आदि भाइयों, एक करोड़ यादव कुमार एवं सोलह हजार राजाओं सहित अत्यन्त उल्लास भाव से समवसरण की ओर चल पड़े। समवसरण को देखते ही वाहनों से उतरकर राज-चिह्नों को वहीं रखकर श्रद्धापूर्वक समवसरण में प्रवेश कर यथास्थान बैठ गए।

तदनन्तर प्रभु अरिष्टनेमि ने सुबोध जनभाषा में अज्ञान अधकार का नाश कर परम ज्ञान प्रकट करने वाली देशना दी। प्रभु की ज्ञान एवं विरागपूर्ण देशना सुनकर वरदत्तादि क्षत्रियों ने हजारों की संख्या में श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। प्रभु की इस वैराग्य रूपी, ज्ञान प्रकाश जगाने वाली देशना श्रवण कर यक्षिणी आदि राजपुत्रियों ने श्रमणी दीक्षा ग्रहण की। परमार्थ का बोध कराने वाली इस देशना को सुनकर दसों दशार्ह, उग्रसेन, बलभद्र, प्रद्युम्न आदि ने प्रभु से श्रावक धर्म स्वीकार किया और महारानी शिवादेवी, देवकी, रुक्मिणी आदि अनेक महिलाओं ने श्राविका धर्म अंगीकार किया।

इस प्रकार प्रभु अरिष्टनेमि ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाए।और उन्हीं तीर्थङ्कर के शासन में उत्कृष्ट धर्म-प्रभावना करते हुए वासुदेव श्रीकृष्ण ने न केवल सम्यक्त्व प्राप्त की, अपितु तीर्थङ्कर नामकर्म का भी उपार्जन किया।

३५, अहिंसापुरी, फतहपुरा,
उदयपुर (राज.) ३१३००१

कुछ तथ्य

- उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार होता है-(१) ग्रन्थिभेदजन्य तथा (२) उपशम श्रेणि में होने वाला। इनमें से ग्रन्थिभेद जन्य उपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी जीव को होता है और उपशम श्रेणि वाला आठवें से ग्यारहवें गुणस्थानों में होता है। इन दोनों प्रकार के उपशम-सम्यक्त्वी को आयु का बन्ध नहीं होता है। उपशमश्रेणीगत गुणस्थानों में तो आयुबन्ध होता ही नहीं है, क्योंकि आयुबन्ध के योग्य अध्यवसाय सातवें गुणस्थान तक ही होते हैं और इन गुणस्थानों में भी उपशम सम्यक्त्वी के ऐसे अध्यवसाय नहीं होते हैं कि उसके आयुबन्ध हो सके।—कर्मग्रन्थ भाग ३, गाथा २०
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है।
- तीनों प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक अर्थात् ग्यारह गुणस्थानों में पाया जाता है।—कर्मग्रन्थ, भाग ३ गाथा १९ के आधार पर

अन्ध विश्वासों के घेरे में

☆ रिखबराज कर्णावट*

मनुष्य का विश्वास सम्यक्ता के अभाव में कदाचित् अन्धविश्वास के रूप में जड़ जमा लेता है। अंधविश्वास मनुष्य को उन्मार्ग की ओर ले जाता है इसलिए अंधविश्वास को जीवन में स्थान देना अज्ञान एवं मूढता का द्योतक है। यह तथ्य प्रस्तुत लेख में स्पष्टत : प्रकट हुआ है।—सम्पादक

विश्वभर में अधिकांश लोग अन्ध विश्वासों में आकण्ठ डूबे हुए हैं। उन अन्ध विश्वासों की गिनती करना अत्यन्त कठिन है, वे अनगिनत हैं। पूर्ण रूपेण उन्हें लेखबद्ध करना लगभग असंभव सा है। इसका एक कारण यह भी है कि अन्धविश्वास नये नये रूपों में पैदा होता रहता है। अतः इस लेख में मैं कुछ अन्ध विश्वासों का उल्लेख करते हुए इसका प्रारम्भ अपने में बचपन से जन्मे हुए कतिपय अन्धविश्वासों से कर रहा हूं।

बचपन में मुझे बताया गया था कि शुभ काम के लिए घर से बाहर जाना हो तो पापड़ नहीं खाना चाहिये। पापड़ खाकर जाने से कार्य में सफलता नहीं मिलती, बल्कि काम बिगड़ जाता है। इस विश्वास के कारण मैं परीक्षा के दिनों में और फिर परीक्षा परिणाम आने के दिनों में पापड़ नहीं खाता था। संयोग की बात है कि एक बार मैं इसमें चूक गया। मैंने 'बी.ए. की परीक्षा दे रखी थी। उसमें एक हिंदी का प्रश्नपत्र होता था जिसमें उत्तीर्ण होना आवश्यक था। उस प्रश्न पत्र में 'आधुनिक शिक्षा व नारी' विषयक निबन्ध लिखना था। मैंने वह लेख अपने तत्कालीन विचारों के अनुसार लिखकर यह नतीजा निकाला कि आधुनिक शिक्षा सीता सावित्री तैय्यार नहीं कर सकती बल्कि घर में विग्रह पैदा करने वाली नारी तैय्यार करेगी। मैं डरता था कि कहीं मुझे अनुत्तीर्ण नहीं कर दे। इस डर के कारण पापड़ नहीं खाने की सावधानी रखने लगा। एक दिन मेरे घर मेहमान आ गये। उनके साथ मैंने भी भूल से पापड़ खा लिया। उन्हें विदा करने घर से बाहर आया। मेरे पड़ोसी मित्र ने कहा कि आज अपने बी.ए. का रिजल्ट निकल गया। मैं घबरा गया, पर जब उन्होंने कहा कि मैं द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया तो मेरे जी में जी आया। उस नतीजे में केवल एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में था । उस कम्पलसरी हिन्दी पेपर में तो मैं जोधपुर में सबसे अधिक अंक पाने वाला था। पापड़ खाकर बाहर न जाने का मेरा अन्धविश्वास टूट गया।

दूसरा मेरा अन्धविश्वास चांद देखने के विषय में था कि द्वितीया का चांद न देखा हुआ हो तो तृतीया का चांद देखने से कष्ट व चतुर्थी का चांद देखने से चोरी का झूठा आरोप आता है। अतः अन्य कई लोगों की तरह मैं द्वितीया का चांद देखने की पूरी कोशिश करता। ऐसा न होने पर तीज-चौथ (तृतीया व चतुर्थी का चांद देखने से बचने का पूरा प्रयत्न करता। पर हुआ यों कि मैं जोधपुर के बाहर एक अन्य कस्बे की अदालत में पेशियां कराने गया। वहां तीज का चांद मुझे दिखाई दे गया, बीज (द्वितीया) का चांद मैंने देखा नहीं था। अगले दिन मेरे छोटे पुत्र के सी.ए. का रिजल्ट

---
* एडवोकेट, समाजसेवी एवं प्रमुख स्वाध्यायी

आने वाला था। तीज का चांद मैंने देखा , अत: मुझे कष्ट आने का बहम था, मन में आशंका हुई कि बेटा अनुत्तीर्ण होगा। मैंने अगले दिन जोधपुर पहुंच कर कहीं से अपने घर पर फोन कर रिजल्ट पूछा । स्वयं उसने ही बताया कि वह उत्तीर्ण नहीं हुआ। खैर भारी मन से मैंने घर के बाहर ही दो तीन घंटे बिताये। फिर घर पर पहुंचा तो वहां मिठाई बंट रही थी। मैंने अपने पुत्र से कहा कि फेल होने की खुशी में मिठाई बांट रहे हो क्या? तो उसने बताया कि पहले रिजल्ट में गलती से उसे फेल बताया गया, फिर बाद में जो सही रिजल्ट बताया उसमें वह उत्तीर्ण था। दूसरे दिन अखबारों में प्रकाशित परिणाम से उसके उत्तीर्ण होने की पुष्टि हो गई। प्रसन्नता हुई रिजल्ट की और चांद वाला अंधविश्वास भी टूट गया। इस प्रकार बचपन में घुसे हुए अनेक अंधविश्वास, जैसे किन दिनों में बाल नहीं कटवाना, दाढ़ी नहीं बनाना, यात्रा नहीं करना आदि से मेरा छुटकारा हो गया। मैं लम्बी यात्रा पर वर्जित दिन बुधवार को ही जाता, इससे गाड़ी में स्थान आसानी से मिल जाता। बाल शनिवार को कटाने जाता, इससे उस दिन वहां भीड़ नहीं मिलती। सगाई विवाह आदि पारिवारिक शुभ कार्यों में भी मैंने मुहूर्त नहीं निकलवाया। बड़े बड़े ज्योतिषियों के घरों में उनकी पुत्र-वधुओं में से विधवा बनी देखी। उनका कथन था यह कर्मानुसार है, तो फिर व्यर्थ में मुहूर्त आदि के चक्कर में पड़ने का कोई तुक मुझे नजर नहीं आया।

मैंने सुना, किले बनाते समय उसकी नींव में जीवित मनुष्य को गाड़ा जाता था, अन्यथा देवी की प्रतिमा के सम्मुख उसकी बलि दी जाती थी। पुत्र-प्राप्ति एवं पुत्ररक्षा के लिए तथा विजयप्राप्ति के लिये नर-बलि देने का अन्धविश्वास युगों तक चला, फिर कानून विरुद्ध हो जाने से यदा-कदा छिपे छिपाये नर बलि विशेषकर छोटे बालकों की बलि होती रही। पशुबलि को धर्म का लिबास भी पहना दिया गया। भगवान महावीर, बुद्ध, गांधी आदि महापुरुषों के सदुपदेश एवं प्रयत्नों से इसमें कमी तो आई, पर धर्मान्धता के कारण यह प्रथा निर्मूल नहीं हुई। दिनांक ११-६-९५ की 'जनसत्ता' दैनिक में नरबलि की घटना का समाचार था कि पटना से ६० किमी दूर सिकली गांव में काली के मंदिर में एक मनुष्य की गर्दन काटकर चढ़ाई गई।

इसी वर्ष फरवरी में एक भोपा ने देवी को प्रसन्न करने हेतु भाव लाकर अपने बालक-पुत्र को बार-बार पत्थर पर पछाड़ कर मार दिया। गत अक्टूबर माह में जालोर से दस किमी दूर गांव में एक भोपा, देवी को प्रसन्न करने के लिए भतीजे को मारकर उसका मांस खा गया।

दक्षिण में कुछ स्थानों पर समय पर वर्षा नहीं आने पर सम्पूर्ण रूप से नग्न स्त्रियों का जलसा किसी देवी के मंदिर जाता है तो कई स्थानों पर जीवित आदमी को लाश के रूप में श्मशान ले जाया जाता है। कभी कभी तो श्मशान पहुंचते-पहुंचते वह व्यक्ति वास्तव में मर जाता है। अपनी आशा या मुराद पूरी होने पर कर्नाटक के शिमोगा जिले में कुछ गांवों की स्त्रियां नग्न होकर पांच छह किमी. दूर सुरंभा देवी के मन्दिर में दिन को जाकर पूजा करती हैं। नग्न स्त्रियों के पुरुष उनके अंग वस्त्र लेकर उनके पीछे-पीछे चलते हैं।

देवदासियों की प्रथा भी अन्ध विश्वासों की उपज है। अखबार में पढ़ने में आया कि इस युग में भी कर्नाटक के गुंडाकेटी गांव की एक मां ने अपनी बीमारी ठीक होने की मुराद पूरी होने पर अपनी सुन्दर नव यौवन प्राप्त पुत्री को देवदासी के रूप में समर्पित कर दिया।

मृत्यु-भोज का रिवाज कानून बनने के बाद भी गांवों में इसलिये नहीं मिट सका कि वहां के कुछ लोग इस बात को फैलाते रहते हैं कि मृतक की आत्मा खेजड़ी वृक्ष पर तब तक लटकती रहेगी, जब तक मृत्यु-भोज नहीं किया जाता।

हमारे विवाह आदि उत्सवों पर भी कई हास्यास्पद रिवाज चल रहे हैं। उत्तर प्रदेश के एक गांव में कुछ परिवारों में रिवाज है कि शादी के दिन एक बिल्ली को ओडे (बड़ा छबड़ा) के नीचे बन्द करके रखते हैं। हुआ यों कि कई वर्षों पहले किसी के घर में बिल्ली थी, जो बार-बार रास्ता कांटती थी । उसको रोकने के लिए उस पर ओडा डाल कर उसे बन्द कर दिया गया। धीरे धीरे वहां वह रिवाज बन गया।

कई वर्षों पहले 'गमा' में किसी वृक्ष के पत्ते तोड़कर प्रत्येक रोग के निदान हेतु देने की चर्चा देशभर में फैल गई। लाखों व्यक्ति वहां गये। बड़े-बड़े शिक्षित व्यक्ति भी गये। ग्रीष्म ऋतु में इतनी भीड़ एकत्रित होने से हैजा फैल गया। दस हजार लोग मर गये। बाकी लोग भी वहां से निराश होकर वापस अपने गांवों-नगरों में आये। जोधपुर शहर में मेरे पड़ौस में एक दरगाह में एक तथाकथित फकीर ठहरा, जो काच की बोतल में अपने द्वारा मंत्रित जल देता था। इतने लोग रोग निवारण हेतु पानी लाये कि शहर में बोतलों की कमी पड़ गई। वह व्यक्ति पानी के कड़ाह पर मंत्र बोलकर उसमें थूकता । हजारों लोग उस पानी को पीते। रोग किसी का निवारण नहीं हुआ। गत वर्ष गणेशजी की मूर्तियों द्वारा दूध पीने की अफवाह दूरभाष से देश के सभी नगरों व गांवों में ऐसी फैलाई गई कि करोडों लोगों की भीड़ देश में दूध लेकर जमा हो गई। बाद में पोल तो खुली। पर यह सब अंधविश्वासों पर भरोसा करने की प्रवृत्ति का परिचायक है। भूत-भूतनियों की कहानियां व कई करिश्मे बताने के किस्सों पर हम लोग सहज ही भरोसा कर लेते हैं। यही कारण है कि कुछ धूर्त लोग बड़े उग्र बन गये और अपने को ईश्वर का अवतार घोषित कर पूजा पाने में सफल हुए तथा जब तक पोल नहीं खुली, पूजा पाते रहे।

ऐसे ही हजारों मंत्रकर्ताओं, तांत्रिकों व ज्योतिषियों ने हमारे देश के पुरुषार्थ को लीलने में कसर नहीं छोड़ी। उनके चक्कर में पड़े अनेक लोगों को रोते देखा गया है। एक दादी ने अपने पोते को समय पर परीक्षा देने नहीं जाने दिया, क्योंकि उनके ज्योतिषी ने जो मुहूर्त निकाला वह परीक्षा समाप्त होने का समय था। ऐसे ही नौकरी में साक्षात्कार पर जाने का मुहूर्त साक्षात्कार समाप्त होने के बाद में था। पहले एक परिवार में कोई मौत होने पर साल भर कोई शुभ काम नहीं करते थे। उस परिवार में एक बुढ़िया की मौत हो गई। उस परिवार की एक कन्या की सगाई एक योग्य वर से हुई थी, पर वर तीन माह में विलायत जाने वाला था। एक साल तक रुकना संभव नहीं था। वह सगाई टूट गई। वह कन्या वर्षों बीत गये अभी भी कुंवारी ही बैठी है।

जो भी हो ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं, जिसमें अंधविश्वास पर आधारित परंपराओं के कारण मामले उलट-पलट गये।

अन्धविश्वासों का बोलबाला केवल हमारे देश भारत में ही नहीं अपितु विश्व के अन्य देशों में भी है। इनकी गिरफ्त में शिक्षित, अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, वूढ़े जवान, सुखी दुःखी सभी तरह के लोग हैं। मानसिक दुर्बलता के कारण अंधविश्वासों की खेती पनपती रहती है। इनसे मुक्त होने के लिए विवेकपूर्ण सोच की आवश्यकता है। शास्त्रीय भाषा में हम इस सोच को सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इनके प्रकाश में अन्धविश्वासों का अन्धेरा स्वतः काफूर हो जाता है।

-ऋषभायतन, ४४८, रोड 'सी', सरदारपुरा जोधपुर

नर से नारायण

¤ बलवन्तसिंह हाड़ा

जो सम्यग्दर्शन करता है,
वह नर, नारायण बनता है।
जो त्याग तितिक्षा सहता है,
वह महाव्रती कहलाता है ॥१ ॥

जब नहीं देह ही अपना है,
यह यहीं पड़ा रह जाता है।
फिर धन क्या अपना साथी है,
यह यहीं गड़ा रह जाता है ॥२ ॥

रे ! भ्रान्त धारणा शीघ्र तजो,
तुम अधिक नहीं अनजान बनो।
अपने को अब पहचान सको,
तुम भक्तों से भगवान बनो ॥३ ॥

तुममें देखो है ज्ञान भरा,
निज आत्मा को पहचानो तुम।
जो बन्धन उसको बांधे हैं,
उसको हिम्मत से खोलो तुम ॥४ ॥

सत् में जो विश्वास करे,
सदाचरण नित ज्ञान धरे।
वह कर्मफलों से त्राण करे,
परम मुक्ति वह प्राप्त करे ॥५ ॥

सम्यग्दर्शन और ज्ञान चरित,
ये रत्न त्रय निर्दोष सभी।
जा सकता इनसे प्राप्त किया,
दुष्प्राप्य मोक्ष का कोष अभी ॥६. ।

सी-३७ जवाहर कालोनी, झालावाड़-३२६००१ (राज.)

सम्यग्दर्शन और आधुनिक सन्दर्भ

☒ डॉ. शशिकान्त जैन*

श्रद्धा एवं अन्धश्रद्धा में एक अत्यन्त पतली दीवार होती है। श्रद्धा जहां आत्मकल्याणकारी एवं जनकल्याणकारी होती है वहां अन्धश्रद्धा सबके लिए नुकसान देह। अन्धश्रद्धा से आज राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं यह चिन्ता प्रस्तुत लेख में संकेत करती है कि श्रद्धा का सम्यक् रूप होना आवश्यक है।-सम्पादक

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र से सभी स्वाध्यायी श्रावक परिचित हैं। जन्म और मृत्यु द्वारा आवागमन रूपी संसार-चक्र से जीव की मुक्ति का मार्ग है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इनमें तीर्थंकर प्रणीत तत्त्व के अर्थ में श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया।

यद्यपि सिद्धान्ततः जैन विचारणा परीक्षा-प्रधानी है, परन्तु सम्यग्दर्शन का उपर्युक्त स्वरूप इस विचारणा से मेल नहीं खाता। जब हमने तीर्थंकर प्रणीत, जो वास्तव में विगत २००० वर्षों में परवर्ती साधु समुदाय द्वारा भणित है, को श्रद्धान हेतु अन्तिम मान लिया तो परीक्षा के आधार पर समीक्षा का अवकाश नहीं रह जाता और जो कुछ इसके आवरंण में लिखा जाता रहा, वह मात्र पिष्ट-पेषण रहा। यदि कभी कुछ पिष्ट-पेषण के अतिरिक्त चेष्टा की गई तो उसकी अवर्णवाद के नाम से भर्त्सना की गई। जन साधारण के लिए यह सब 'बाबावाक्यं प्रमाणं' और अन्ध श्रद्धा का पर्याय बन गया, तथा पंडित-साधु वर्ग ने अपने संकीर्ण स्वार्थ में इस धारणा को निरन्तर परिपुष्ट किया।

यह विशेषता केवल जैन धर्म की नहीं है। बौद्ध धर्म में 'बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि' का अभिप्राय भी ऐसा ही है। पहले बुद्ध को बौद्धिक रूप से समर्पण करो, उनके द्वारा बताये गये ज्ञान के लिए उनके भिक्खु शिष्यों के संघ की शरण गहो, और तब उनके वताये आष्टांगिक रूप धर्म का आचरण करो। जैन धर्म में भी सर्वप्रथम इष्ट देव स्वरूप अरहंत और सिद्ध की शरण में जाने की वांछा की जाती है, फिर साधु की शरण में जाने की वांछा की जाती है, और अन्त में केवलीप्रणीत धर्म की शरण में जाने की वांछा की जाती है। जैन और बौद्ध से इतर भारतीय विचारणा में भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का निरूपण किया गया है। भक्तियोग इस व्यवस्था में सर्वोपरि इस अपेक्षा से रखा गया है कि इष्ट के प्रति श्रद्धा और समर्पण मूल है, ज्ञान और कर्म गौण हैं।

भारत से वाहर जो धर्म पनपे उनमें इस्लाम और ईसाई सर्वाधिक प्रभावी रहे और भारत के चिन्तन पर भी उनका प्रभाव विशेष रहा। इस्लाम मजहव में ईमान, इल्म और अमल क्रमशः श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के पर्याय हैं। ईसाई धर्म में भी faith, knowledge और Conduct क्रमशः अर्थवर्गणा को सूचित करते हैं। सेमेटिक

*सम्पादक, शोधादर्श, लखनऊ

विचारणा में अन्ध श्रद्धा को धर्मनिष्ठा का प्रथग सूत्र गाना गया है।

सभी ज्ञात और वर्तमान में प्रचलित धर्म व्यवस्थाओं में अन्धश्रद्धा को इस सीमा तक पोषित किया गया है कि यदि बुद्धि और तर्क से वर्तमान परिस्थितियों तथा सतत प्रकाश में आ रही ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के सापेक्ष साधुवर्ग द्वारा पोषित असंगत धारणाओं की समीक्षा की जाती है तो समीक्षक को अवर्णवाद का दोषी, नास्तिक, काफिर और Blasphemous कहकर भर्त्सना की जाती है। उसे बहिष्कृत और प्रताड़ित करने की चेष्टा की जाती है और आज भी जेल में सड़ा देने या उसकी हत्या करने के प्रयत्न भी किये जाते हैं। गेलिलिओ को यह सिद्ध करने पर कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, पोप के आदेश से जीवित जला दिया गया था। सलमान रशदी अपनी जान की खैर मना रहा है और तस्लीमा नसरीन अपने मुल्क से भागी फिर रही है। कोई साधु यदि कितना ही भ्रष्ट और दुराचारी हो, धर्म के रखवाले होने का दम्भ करने वाले नेता, ऐसे साधु को कानून के हवाले करने के बजाय उसकी हिमायत करते हैं और सताये गये व्यक्ति को ही और अधिक सताने को धर्म-कार्य समझते हैं।

'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना' का बिल्कुल उल्टा व्यवहार में देखने में आता है। जो स्थिति है उसमें विभिन्न धर्मों के साधु, मुल्ला और पादरी ही धार्मिक विद्वेष का विष समाज में फैलाते हैं ताकि अनुयायियों पर उनकी पकड़ और मजबूत हो जाये तथा उनका सत्ताबल, धनबल और जनबल निरन्तर बढ़ता रहे। इसका अपवाद सर्वाधिक प्रगतिशील माना जाने वाला संयुक्त राज्य अमरीका भी नहीं है।

आज का चिन्तनशील और मननशील व्यक्ति धर्मान्धता के कारण उत्पन्न आंतकवादी एवं संवेदनाशून्य प्रवृत्तियों की जनक बौद्धिक कूप-मण्डूकता को स्वीकार नहीं कर पाता। वह निरन्तर प्रसार पा रहे ज्ञान के सापेक्ष पिछली मान्यताओं का विश्लेषण और समीक्षा करना चाहता है। उसका मानना है कि जब कभी किसी मनीषी ने जो सोचा और कहा वह उसके समकालीन बौद्धिक विकासजन्य ज्ञान तथा सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा से तत्कालीन पारिवेशिक समस्याओं के समाधान के रूप में था। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो अन्तिम सत्य हो, और जो कुछ भी है उसका सतत परीक्षण तथा परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन एवं परिमार्जन अपेक्षित है।

'सम्यग्दर्शन' का शाब्दिक अर्थ है 'सम्यक् रूप से देखना'। यह अर्थ सूचित करता है कि मनुष्य में प्रत्येक विषय और वस्तु को सम्यक् रूप से देखने का विवेक और बौद्धिक क्षमता जागृत होनी चाहिए। यदि हम शब्द के शास्त्रीय भाष्यों से हटकर उसकी मूल भावना को ग्रहण करें तो यह आधुनिक वैज्ञानिक सोच के अनुकूल होगा और हमें धर्म के वास्तविक उद्देश्य को समझने और हृदयंगम करने में सहायक होगा। तब सम्प्रदाय की दीवारें अपने आप ढह जायेंगी और एक समन्वयशील मानसिकता प्रस्फुटित होगी जो मानव-समाज के अभ्युदय के लिए कल्याणकारी होगी।

-ज्योतिकुंज, चारबाग, लखनऊ (उ.प्र.) २२६००४

वात्सल्य और अनुकम्पा

☒ श्रीमती सुशीला बोहरा*

सम्यग्दर्शन के पांच लक्षणों में अनुकम्पा का तथा सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में वात्सल्य का विशेष महत्त्व है। अनुकम्पा एवं वात्सल्य गुण सम्यग्दृष्टि को संवेदनशील, करुणावान एवं उदार सिद्ध करते हैं। उनकी अनुकम्पा एवं वात्सल्य का उत्स स्वयं आत्मा है। इन्हें विभाव नहीं स्वभाव स्वीकारना ही उचित होगा, क्योंकि ये दोनों किसी कर्म के परिणाम नहीं हैं। मोह को कर्म का परिणाम मानना उचित है, किन्तु अनुकम्पा एवं वात्सल्य तो संसारस्थ आत्मा की चेतना के अलंकार हैं। अतः इन दोनों पर लेखक के विचार प्रस्तुत हैं।—सम्पादक

सम्यग्दर्शनगुण के आस्वाद मात्र से जीवन व्यवहार में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था रूपी पांच लक्षण प्रगट हो जाते हैं। उसके उग्र कषायों का शमन हो जाता है, मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा बलवती होने लगती है, संसार के प्रति उदासीनता, दुःखी जीवों के प्रति अनुकम्पा और जिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर अटूट विश्वास हो जाता है। व्यवहार-सम्यक्त्व के इन पाँच लक्षणों में अनुकम्पा महत्त्वपूर्ण है।

अनुकम्पा

अनुकम्पा शब्द 'अनु' एवं 'कम्पा' से बना है। कम्पा 'कम्प्' धातु से बना है जिसका अर्थ है - कम्पन, सिहरन आदि। 'अनु' उपसर्ग है। अनुकम्पा का तात्पर्य हुआ दुःखी, दरिद्र, मलिन एवं ग्लान को देखकर कम्पित होना, द्रवित होना। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका तात्पर्य है सांसारिक दावानल में फंसे जीव को देखकर द्रवित होना अथवा दूसरे के मलिन भावों एवं वृत्तियों को देखकर करुणित होना।

करुणाशील व्यक्ति जब किसी की आंख में आंसू देखता है तो उसकी भी आंखें तर हो जाती हैं और वह उसकी आंखों के आंसू पोंछने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। एक सहृदय कवि ने कहा है—

किसी की आँख तर देखूं तो अश्क आंखों से जारी हो,
किसी की बेकरारी से मुझे भी बेकरारी हो,
किसी की जान से बढ़कर न अपनी जान प्यारी हो,
मेरी हस्ती का मरकज और मकसद इनकिरारी हो।

सामान्य साधक भी जब इतना करुणामय हो सकता है तो सम्यग्दृष्टि तो होगा ही। प्रसिद्ध संत रंगदास के जीवन की घटना है कि जब वे बच्चे थे तो एक बार पिता ने उन्हें फल लाने के लिए कुछ पैसे दिये। रंगदास बाजार में गये। वहां उन्होंने भूख से छटपटाते परिवार को देखा। रंगदास ने वे पैसे उन्हें दे दिये। परिवार के सदस्यों ने इन पैसों से खाने का सामान खरीदा और खाकर बड़े प्रसन्न हुए। रंगदास खाली हाथ घर लौट कर आये। पिता ने पूछा—

'बेटा! फल नहीं लाये?'

'पिताजी, मैं आपके लिये अमरफल लाया हूँ'—रंगदास बोले।

---

* परियोजना निदेशक जिला महिला विकास अभिकरण, जोधपुर

'कहां है वह फल?' पिता ने छूटते ही पूछा।

आप यही कहते आये हैं कि किसी गरीब को द्रव्य देने से परलोक में अमरफल मिलता है। अतएव भूख से छटपटाते लोगों को देखकर मैंने वे पैसे उन्हें दे दिये। हम खाते तो दो चार क्षण के लिये मुँह मीठा होता, किन्तु उन लोगों की कई दिनों की भूख की तड़पन शान्त हो गई।

करुणा के अभाव में सत्कर्म भी पनप नहीं सकते। करुणाशील व्यक्ति मारने, पीटने, धोखा देने की बात तो दूर मन में दूसरों को पीड़ा देने की बात भी सोच ही नहीं सकता, क्योंकि वह यह सोचेगा - जैसी पीड़ा मुझे होती है, वैसी पीड़ा अन्य को भी होती है।

जिसके हृदय में दुःखी जीवों को देखकर कम्पन्न नहीं होता, करुणा की हिलौरें नहीं उठती, उस कठोर हृदय में सम्यक्त्व रूपी पुष्प कभी खिल नहीं सकता। आचार्य जिनभद्रगणी ने ऐसे पुरुष को निर्दय, निरनुकंप कहकर पुकारा है—

जो उ परकंपतं दट्ठूण न कंपए
एसो उ निरणुकंपो।

अहिंसा का मूल-करुणा

यह अनुकम्पा सहृदय की भूख-प्यास मिटाने तक ही सीमित नहीं रहती। अहिंसादि कार्यों और प्रवृत्ति के मूल में भी यही करुणा होती है। कबूतर की रक्षा करने वाले राजा मेघरथ के मन में करुणा फूटी, तभी अपनी जान की बाजी लगाकर अपने तन का मांस काटते-काटते वे स्वयं ही तराजू में बैठ गये। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी यही कहा है—

कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद प्राणी दया, तदा आत्मार्थ निवास॥

अतएव आत्मार्थी बन्धु के मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेमभाव होता है। अनुकम्पा तो मानवता का लक्षण है। मानवता में अनुकम्पा की नियमा और सम्यग्दर्शन की भजना होती है, किन्तु सम्यग्दर्शी में मानवता की नियमा होती है। अनुकम्पा-गुण से अभिप्रेरित व्यक्ति के मन में—

सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

यानी सभी जीवों के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणा तथा विरोधी के प्रति माध्यस्थ भावना होनी चाहिए।

अनुकम्पा-आंतरिकवृत्ति

अनुकम्पा या करुणा आंतरिकवृत्ति है। सेवा इसका बाह्य रूप है। घृत से भरे घट के बाहर चिकनाहट की तरह करुणाशील प्राणी का व्यवहार, "सर्वे, भवन्तु सुखिनः" की भावना से ओत-प्रोत रहता है। श्रीकृष्ण तीन खण्ड के स्वामी थे, लेकिन हाथी के होदे पर भगवान् के दर्शन करने जाते समय ईंट उठाते हुए वृद्ध व्यक्ति पर उनकी नजर पड़ी। वे अपने को रोक नहीं सके और ईंट उठाकर वृद्ध के घर में रख दी और देखते ही देखते सब कर्मचारियों द्वारा सारी ईंटें वृद्ध के घर में रख दी गई। हालांकि यह काम वे कर्मचारियों को आदेश देकर भी करवा सकते थे, लेकिन अपनी

भावनाओं को रोक नहीं पाये। इससे सबको सेवा का पाठ भी मिल गया।

अनुकम्पा का फल

इस अनुकम्पा के भाव से सातावेदनीय कर्म का बंध होना आनुषंगिक फल है। अनुकम्पा से शारीरिक एवं मानसिक समाधि का लाभ होता है तथा इस जन्म और अगले जन्म में सुख की प्राप्ति होती है।

भूतव्रत्यनुकंपादानसंरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य। तत्त्वार्थसूत्र-६/१३

अर्थात् जीवों की अनुकम्पा, व्रतीजनों की अनुकम्पा, दान, सराग संयम, क्षमा आदि ये सब साता वेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। भगवतीसूत्र में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फरमाते हैं—

समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलब्भई।– भगवतीसूत्र, शतक ७

जो प्राणी श्रमण, त्यागी-व्रतीजनों को सुख और समाधि पहुंचाता है उसे सुख एवं समाधि प्राप्त होती है। भरतजी ने पूर्व भव में मुनिजनों की सेवा कर समाधि पहुंचाई। फलस्वरूप चक्रवर्ती की अपार ऋद्धि सिद्धि के स्वामी बने। लेकिन व्रतीजनों की इस सेवा को सौदा नहीं बनाना है। यहाँ साधुओं की सेवा करो, ताकि आगे सुख मिले यह उद्देश्य समीचीन नहीं, साधुओं की सेवा कर्म-निर्जरा के लिये होनी चाहिये। जब अशुभ कर्म की निर्जरा होगी और शुभ कर्मों का बन्ध होगा तब सुख तो अपने आप ही मिल जायेगा । वास्तव में सेवा में वस्तु की नहीं, भावना की कीमत है। जैन धर्म वस्तुवादी नहीं भावनावादी धर्म है। राजमती के जीव ने पूर्व भव में जब वे शंख राजा के रूप में थी मासखमण के पारणे में तपस्वी मुनि को दाखों का धोवण दान में दिया था लेकिन इसके कारण उन्होंने महान् पुण्यों का उपार्जन किया।

अनुकम्पा से संसार सीमित हो जाता है तथा मनुष्यायु का बंध भी होता है। ज्ञाताधर्मकथा में मेघकुमार का वर्णन आता है। भगवान् महावीर मेघकुमार को पूर्व भव का वृतान्त सुनाते हुए कहते हैं—तुमने हाथी के भव में शश (खरगोश) को बचाने के लिये तीन दिन-रात अपने पैर को ऊपर रखा तथा पैर के अकड़ जाने से गिरकर तुम कालधर्म को प्राप्त हो गये। उसके परिणाम्स्वरूप तुमने मनुष्यायु का बंध किया तथा संसार सीमित कर लिया।

तएणं मेहा ! ताए पाणाणुकंपयाए, जाव सत्ताणुकंपयाए,
संसारे परित्तीकए, माणुसाउए णिवद्धे।–ज्ञाताधर्मकथा, अध्याय-१, गाथा-१८३

हे मेघकुमार ! उस प्राणानुकम्पा यावत् भूतानुकम्पा, जीवानुकम्पा और सत्त्वानुकम्पा से तुमने संसार-भ्रमण को सीमित किया तथा मनुष्यायु का बंध किया। इतना ही नहीं प्रभु ने फरमाया है—

जे गिलाणं पडियरई, से मं दंसणेण पडिवज्जइ।
जे मं दंसणेण पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइ ।

जो ग्लान या आतुर की सेवा करता है वह मुझे सेवता है जो मुझे सेवता है वह ग्लान को सेवता है।

वात्सल्य

'वात्सल्य' सम्यक्त्व का एक अंग है। सम्यक्त्व के आठ अंग हैं, यथा—

निस्संकिय-निकंखिय, निव्वितिगिच्छा, अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ।।–उत्तराध्ययनसूत्र २८/३१

निःशंकता, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपवृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं।

इन आंठों अंगों का निरूपण निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से किया गया है। निश्चय सम्यग् दर्शन का सम्बंध मुख्यतया आत्मा की अंतरंग शुद्धि या सत्य के प्रति दृढ श्रद्धा से है जबकि व्यवहार सम्यग् दर्शन का सम्बन्ध मुख्यतया देव, गुरु, धर्म, संघ, तत्त्व, शास्त्र आदि से है। परन्तु साधक में दोनों प्रकार के सम्यग् दर्शनों का होना आवश्यक है। सम्यग्-दर्शन के आठ अंगों का निरूपण भी इन्हीं दोनों प्रकार के सम्यग् दर्शनों को लेकर किया गया है। जैसे एक दो अक्षर रहित अशुद्ध मंत्र विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता वैसे ही अंगरहित सम्यग् दर्शन भी संसार की जन्म-मरण परम्परा का छेदन करने में समर्थ नहीं है। वस्तुतः ये आठों अंग सम्यक्त्व को विशुद्ध करते हैं। ये आठ अंग सम्यक्त्वाचार के आठ प्रकार हैं। वात्सल्य उनमें से एक प्रमुख अंग हैं।

'वात्सल्य' शब्द वत्स से बना है जिसका अर्थ है—पुत्र स्नेह, प्रेम या प्यार। अतएव वात्सल्य का तात्पर्य है पुत्रवत् स्नेह।

यानी साधर्मिकों के प्रति हार्दिक एवं निःस्वार्थ अनुराग भाव से भक्तपान आदि आवश्यक वस्तुओं से उनकी सेवा करना वात्सल्य है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना वात्सल्य भाव में निहित है।

वात्सल्य भाव का तात्पर्य वत्स के प्रति प्रेमभाव ही नहीं गुणियों के प्रति आदर-सत्कार एवं पुण्यभाव भी होता है। उच्चकोटि के सन्त-सती वर्ग के प्रति विशेष सम्मान भाव रखते हुए उसके शुद्ध आहार-पानी की गवेषणा में सहयोग करते हुए उन्हें प्रतिलाभ देना भी वत्सलभाव है। यह भाव जितना उच्चकोटि का होगा उतना ही कर्मबन्ध तोड़ने में सहायक होगा। चन्दनबाला ने प्रभु महावीर को उड़द के बाकले की भिक्षा दी थी, लेकिन वह आत्मिक उत्थान का कारण बना। नागश्री ने भी दान दिया था, लेकिन उसके मलिन भावों से उसे नरक के दुःख भोगने पड़े।

अतएव वात्सल्य भाव चेतना का माधुर्य है। यह भाव राग के जहर को अमृत बना देता है। संखिया एक प्रकार का जहर होता है लेकिन अच्छे डाक्टर/वैद्य उसको साफकर दवा के रूप में परिणत कर व्यक्ति को जीवनदान भी दे देते हैं उसी प्रकार यह साधर्मी वात्सल्य भाव भी सम्यक्त्व के पुष्प को खिलाने में सहायक होता है।

सामान्य रूप से वात्सल्य भाव का अर्थ अपने परिवार, जाति या कोम के प्रति प्रेम की भावना से लगाया जाता है। पाली के पालीवालों की वात्सल्य भावना जग जाहिर है। वहाँ कोई पालीवाल पाली में बसने के लिये आता तो सभी उसे एक ईंट और एक रुपया देते। जिससे उसका घर बन जाता था किसी को इधर-उधर हाथ नहीं पसारना पड़ता था।

वात्सल्य का विशिष्ट अर्थ

विशिष्ट अर्थ में सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को धारण करने वाले साधु-साध्वी को कपट रहित सच्चे भाव से यथायोग्य विनय रूप प्रवर्तना, खड़े होना, सामने जाना, गुणग्राम करना, हाथ जोड़ना, आज्ञा धारण करना, पूजा-प्रार्थना करना, उन्हें ऊंचा आसन देकर स्वयं नीचे बैठना तथा जैसे गरीब को अचानक अर्थ लाभ हो वैसा

उनके आने पर हर्ष होना, प्रेम-प्रीति उत्पन्न होना तथा अवसर प्रमाणे आहार, पानी, ...ादि व उपकरणादि से वैयावृत्य में आनंद मानना वात्सल्य अंग है। अहिंसा-धर्म ...ीति करे, सत्यवान होकर ब्रह्मचर्य का पालन करे, परधन-परस्त्री के त्यागी के प्रति ...द आवे लेकिन मिथ्यादृष्टि पर द्वेष भाव न करे उस पर करुणाबुद्धि आवे, ऐसा ...सल्य भाव वीतरागता में सहायक बनता है।

गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे॥

...त्सल्य भाव सम्यकत्व का अंग कैसे?

वात्सल्य भाव मन का मकरंद है। यहाँ यह प्रश्न है कि कितने ही मिथ्यात्वी जीवों के मन में अपने जाति, धर्म एवं राष्ट्र के प्रति वात्सल्य भाव होता है और सम्यक्त्वी में कदाचित् वात्सल्य दिखाई नहीं देता, अतएव इसे सम्यक्त्व का अंग कैसे माना जाए?

इसका समाधान यही है कि जैसे मनुष्य शरीर के हस्त-पादादिक अंग कहे जाते हैं वहां कोई मनुष्य ऐसा भी होता है कि जिसके हस्त-पादादि कोई अंग न हो, वहां उसके मनुष्य शरीर तो कहा जाता है परन्तु उन अंगों के बिना वह शोभायमान एवं सकल कार्यकारी नहीं होता, उसी प्रकार सम्यकत्व के वात्सल्यादि अंग कहे जाते हैं। वहां कोई सम्यकत्वी ऐसा भी हो जिसके वात्सल्य/निशंकितत्वादि में कोई अंग न हो, वहां उसके सम्यकत्व तो कहा जाता है, परन्तु उन अंगों के बिना वह निर्मल सकल कार्यकारी नहीं होता तथा जिस प्रकार बन्दर के भी हस्त पादादि अंग होते हैं, परन्तु मनुष्य की तरह नहीं होते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहार रूप में वात्सल्यादि अंग होते हैं, परन्तु जैसे निश्चय की सापेक्षता सहित सम्यकत्वी के होते हैं वैसे नहीं होते हैं।(मोक्षमार्ग, अधिकार ९, पृष्ठ ३३९)

अनुकम्पा एवं वात्सल्य भाव की वर्तमान में आवश्यकता

आज के इस भौतिक युग में जहां सत्ता एवं सम्पत्ति के अर्जन के लिये झूठ, चोरी एवं बेईमानी का बोलबाला बढ़ रहा है, विदेशी मुद्रा अर्जित करने हेतु बड़े-बड़े कत्लखाने खुल रहे हैं, शराब की दुकानें खुल रही हैं, पशु-पक्षियों की हिंसा गाजर-मूली की तरह हो रही है, प्रकृति का अन्धाधुन्ध दोहन हो रहा है, पेड़-पौधे कट रहे हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार समाप्त हो रहा है, जैन और अजैन सबमें रूप और रूपया कमाने की होड़ लगी हुई है। ऐसे कलुषित वातावरण में आदमी के मन की कोमल वृत्तिया संकुचित एवं कठोर होती जा रही हैं, तब किसी संत की वाणी फूट पड़ती है—

भूखा प्यासा पड़ा पड़ौसी तैंने रोटी खायी क्या?
दुःखिया पास पड़ा है तेरे, तैंने मौज उड़ायी क्या?
दुःखियों के दुःख देखकर आंसू चार वहाया कर,
प्रेमी बन कर प्रेम से ईश्वर के गुण गाया कर।

अतएव दुःखी जीवों के प्रति करुणा एवं अनुकम्पा उपजे और प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव वात्सल्यभाव विकसित हो, यह हमारा पाथेय बने। ऐसा व्यक्ति स्व-पर कल्याणकारी कार्यों को करता हुआ इहलोक और परलोक दोनों में आनन्द को प्राप्त करता है।

—जी-२१, शास्त्रीनगर, जोधपुर (राज.)

सम्यक्त्वी का सौन्दर्य

¤ श्रीमती अकलकंवर मोदी

श्रीमती अकलकंवर जी मोदी एक साधनानिष्ठ स्वाध्यायी हैं। आपने प्रस्तुत लेख में सम्यक्त्वी के जीवन-व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए आन्तरिक सौन्दर्य के विकास पर बल दिया है।—सम्पादक

संसार में मनुष्य सौन्दर्य का पुजारी है। वह हर क्षेत्र में सुन्दरता चाहता है। रहने का भवन सुन्दर एवं चमकदार पत्थरों से बना हुआ हो, पहनने के कपड़े सुन्दर एवं स्वच्छ हों, खाने के लिए भोजन भी स्वादिष्ट एवं सुन्दर हो। इन सबमें सुन्दरता की तलाश करने वाले मनुष्य का स्वयं का जीवन सुन्दर है या नहीं, आचार-विचार अच्छे हैं या नहीं, चेहरे पर प्रसन्नता है या नहीं, यह चिन्तन उसके दिल-दिमाग में नहीं उठता। ऐसे मनुष्य को मिथ्यात्वी कहा जा सकता है।

सम्यक्त्वी बाह्य वस्तुओं के सौन्दर्य में नहीं अटकता, किन्तु उसका जीवन सुन्दर होता है। जीवन के सुन्दर होने का आशय है - उसके आचार-विचार सुन्दर होते हैं, सबके साथ उसका व्यवहार सुन्दर होता है। वह स्वयं अपने दोषों को दोष रूप में मानकर उन्हें त्यागने का विचार करता है। उसका चेहरा प्रायः प्रसन्नमुद्रा में होता है। कहा जाता है - 'सूर्यमुखी दिन में खिलता है, रात में नहीं। चन्द्रमुखी रात में खिलता है, दिन में नहीं। सम्यक्त्वी का वदन सदा खिला रहता है, क्योंकि उसकी मुस्कान, किसी पर आश्रित नहीं।'

* सम्यक्त्वी यह ज्ञानता है कि वह किसी अन्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है तथा कोई अन्य उसका कर्ता-भोक्ता नहीं है। वह अन्य से सुखादि की अपेक्षा का त्याग करके जीवन जीने का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि उसका चेतन-चिदानन्द सर्वोपरि है। चेतना के अभाव में शरीर अपना कार्य नहीं कर सकता। मन बेचारा जड़ है। वह भी चेतना के अभाव में दौड़ नहीं लगा सकता। मैं शरीर से भिन्न हूँ, अजर-अमर-अविनाशी हूँ—ऐसा चिन्तन सम्यक्त्वी को होता है। वह सोचता है—

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

'ज्ञान-दर्शन से युक्त शाश्वत आत्मा ही मेरी है शेष सब बाह्य पदार्थ हैं, जिनका मात्र संयोग हुआ है।' वह समझता है कि कर्मों के कारण यह जो देहादि का संयोग हुआ है, वह अनित्य है। वह चिन्तन करता है—

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

राजा हो रंक, सबको एक दिन इस मानव देह का त्याग कर प्रस्थान करना है। सम्यक्त्वी जीव शरीर की क्षणभंगुरता को पहचानता है, संसार की असारता को जानता है, धन की नश्वरता का उसे बोध होता है। इसलिए वह राग-द्वेषादि को कम करता हुआ जीवन के हर क्षेत्र में सावधान रहता है।

* सम्यग्दर्शनी स्वभावतः स्वावलम्बी होता है। पुद्गल को पर समझ कर वह स्व

में स्थित होने का प्रयत्न करता है तथा उसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा होता है। वह जहां तक संभव है पर के आश्रय के त्याग हेतु प्रयत्नशील होता है।

* सम्यक्त्वी की वीतराग देव, पंचमहाव्रतधारी गुरु एवं जिनेश्वरों द्वारा प्रज्ञप्त धर्म पर दृढ़ आस्था होती है। जिन-प्रज्ञप्त तत्त्व को वह सत्य एवं निश्शंक मानता है - 'तमेव सच्चं णीसंकं, जं ज़िणेहिं पवेइयं।'

* सादगी, सद्भाव जैसे गुणों को धारण कर वह प्राणिमात्र को आत्मवत् समझता है। वह सबमें ज्ञानदर्शन-सम्पन्न आत्मा का दर्शन करता है।

* परिवारादि सांसारिक कार्यों को सम्पन्न करते हुए भी वह उनसे अपने को निर्लेप रखता है। कहा गया है-

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तरगत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

जैसे एक धायमाता दूसरे के बच्चे को खिलाती-पिलाती है, उसके सुख-दुःख का ध्यान रखती है, अच्छे ढंग से पालन-पोषण करती है, परन्तु मन में सावधान रहती है कि यह बच्चा उसका अपना नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि व्यक्ति परिवार का पालन करता है।

जैसे किसी फिल्म में नायक-नायिका अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए समझते हैं, यह उनकी भूमिका मात्र है, वास्तव में उनका दूसरा रूप भी है। फिल्म से हटते ही नायक-नायिका का वह रिश्ता समाप्त हो जाता है, जिसका उन्होंने फिल्म में निर्वाह किया था। फिल्म में वे पति-पत्नी थे, किन्तु फिल्म के बाहर वे मात्र मित्र या एक दूसरे के परिचित व्यक्ति हैं। सम्यक्त्वी भी इसी प्रकार जीवन में भूमिका का निर्वाह करता है, किन्तु सत्य का उसे भान रहता है। जैसे भरतचक्रवर्ती छह खण्ड का राज्य करते हुए भी अपनी आत्मा में रमण करते थे और आरीसा भवन में ही उन्होंने केवलज्ञान व केवलदर्शन प्राप्त कर लिया था।

* सम्यक्त्वी मनुष्य घर-परिवार, कार्यालय-बाजार आदि सभी स्थानों पर ईमानदारी से कार्य करता है। उसकी हर क्षेत्र में प्रामाणिकता होती है।

* सम्यकत्वी सुख व दुःख की परिस्थितियों में समभाव रखता है। ज्ञानी के लिए कहा जाता है कि वह प्रायः सुख में सुखी एवं दुःख में दुःखी नहीं होता है, कहा जाता है—

सुख दुःख दोनों वसत हैं, ज्ञानी के घट मांय।
गिरि सर दीसे मुकुर में, भार भीजवो नांय ॥

जैसे दर्पण में पर्वत एवं तालाव का प्रतिविम्व आता है, किन्तु इससे दर्पण न तो भारी होता है और न ही गीला होता है। इसी प्रकार ज्ञानी (सम्यक्त्वी) के सुख एवं दुःख के कर्म उदय में आते हैं, किन्तु वह उनसे अप्रभावित ही रहने का प्रयत्न करता है। सम्यक्त्वी का यह चिन्तन होता है कि सुख-दुःख अपने भावों पर निर्भर करते हैं। दुःख की घड़ी में भी सुखी रहा जा सकता है। दुःख के क्षणों में वह सोचता है कि मुझे दुःख देने में कोई भी समर्थ नहीं है, मेरे द्वारा उपार्जित कर्मों का ही यह फल है, किन्तु इसे आगे कर्मवंध में निमित्त न बनने देने में मैं समर्थ हूँ। वस्तुतः दुःख से

दुःखी न होना और सुख में न फूलना ही जीवन जीने की एक कला है।

* सम्यक्त्वी करुणाशील होता है। वह दूसरे को दुःखी देखकर उसकी सहायता करता है। वह पाप से डरता है, किन्तु पापी से घृणा नहीं करता।

* गुणियों के प्रति वह अनुराग रखता है, प्रमोद भाव रखता है। गुणों का अनुमोदन करता है और उन्हें अपने जीवन में धारण करने का पुरुषार्थ करता है।

* वह प्रत्येक प्रवृत्ति यतना अथवा विवेकपूर्वक करने का लक्ष्य रखता है, उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥

सम्यक्त्वी (साधक) यतना पूर्वक चलता है, यतनापूर्वक खड़ा होता है। यतना पूर्वक बैठता है यतना पूर्वक सोता है, यतनापूर्वक खाता है, और यतनापूर्वक बोलता है तो पापकर्म का बंधन नहीं करता।

* एक किसान जिस प्रकार खेत में उगने वाली फसल में बाधक घास, कांटे आदि को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार सम्यक्त्वी मनुष्य निरीक्षण परीक्षण कर अपने आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों को उखाड़ फेंकने का संकल्प करता है।

* सम्यक्त्वी निर्भीक होता है। उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता। वह कायर नहीं होता है।

* कर्तव्यनिष्ठ सम्यक्त्वी अन्य के अधिकारों को सुरक्षित रखते हैं। वे किसी के अधिकार पर प्रहार नहीं करते हैं, अपने स्वार्थ हेतु किसी के हित को आघात नहीं पहुँचाते हैं। उनसे किसी को भय एवं अनिष्ट की आशंका नहीं होती।

इस प्रकार सम्यक्त्वी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण नितान्त स्पष्ट होता है एवं जीवन को उसी ढंग से जीने के लिए प्रयासरत होता है। उसकी जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य के प्रति रुचि होती है एवं वह वस्तुतः अपने जीवन को अपने व्यवहार द्वारा भी सुन्दर बना लेता है।

आत्म-परिणति

¤ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

● आत्मा की दृष्टि-शक्ति के सामने रागद्वेष का चश्मा जब तक चढ़ा रहता है तब तक बाह्य चश्मा होने पर भी आत्मा शुद्ध स्वरूप में पदार्थों का अवलोकन नहीं कर सकता।

● मनुष्य की जैसी दृष्टि बन जाती है, वैसी ही उसे सारी सृष्टि नजर आने लगती है।

● अनुकम्पा सम्यक्त्व की कसौटी है

● जब तक बाह्य पदार्थों में सुख की कल्पना है, इन्द्रियों के विषयभोग सुख के साधन समझे जा रहे हैं, तब तक सुख की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है।

● सम्यक्त्व के अभाव में न अन्तरचक्षु खुलते हैं और न सुख का रसास्वादन ही किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शन और नैतिकता

☒ न्यायाधिपति श्रीकृष्णमल लोढ़ा*

सम्यग्दर्शन के साथ नैतिकता का गहन सम्बन्ध है। जहाँ सम्यग्दर्शन होगा वहाँ नैतिकता स्वतः आ जाएगी, किन्तु जहाँ नैतिकता हो वहाँ सम्यग्दर्शन हो, यह अनिवार्य नही है। सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन का अर्थ है—सत्यदृष्टि, यथार्थदृष्टि। इसे यथार्थता अथवा उचितता भी बोलचाल की भाषा में कह सकते हैं। जैन धर्म के अनुसार अयथार्थदृष्टि को मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादृष्टि कहा गया है। मिथ्यात्व दूर होता है सम्यग्दर्शन से।

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष-साधना का प्रवेशद्वार सम्यग्दर्शन है। बौद्ध और वैदिक दोनों परम्पराओं ने भी इसकी पुष्टि की है। बौद्धदर्शन के अनुसार सम्यक् दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है (अंगुत्तरनिकाय १०/१२)। मनुस्मृति कहती है कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को कर्म-बन्धन नहीं होता (मनुस्मृति ६/७४) मनुस्मृति का यह वाक्य आचारांग (१/३/२) के 'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं' कथन की प्रतिच्छाया है। गीता में सम्यग्दर्शन के स्वरूप श्रद्धा को ज्ञान का साधन मानते हुए कहा है— श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्-(गीता ४/३९)

व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दर्शन का सर्वसम्मत लक्षण है—'पदार्थों का दुरभिनिवेश-रहित यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।'

आगम-सम्मत व्यावहारिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन का लक्षण है-

(i) शुद्ध देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा :

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुहुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इइ समत्तं मए गहियं॥—आवश्यक सूत्र

(ii) जीव-अजीवादि नव तत्त्वों का श्रद्धान :

तहियाण तु भावाणं सब्भावे उवएसेणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं।—उत्तराध्ययनसूत्र २८/१५

सम्यग्दर्शन युक्त व्यक्ति सदा अमूढ़ रहता है

सम्मदिट्ठी सया अमूढे ।—दशवैकालिक सूत्र १०/७

सम्यग्दर्शन नैतिकता एवं नैतिक प्रगति का स्वाभाविक आधार है—आत्म तत्त्व को समझना। प्राचीन आचार्यों ने इसे समझाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'अय मानव! यह निश्चय समझ कि यदि कोई स्थायी और टिकाऊ चीज है तो उसे तुझसे कोई अलग नहीं कर सकता। पर पहले यह अच्छी तरह समझ कि तेरी चीज़ क्या है और तू स्वयं क्या है। जब तुझे अपने स्वयं का सही ज्ञान हो जायेगा, स्वयं पर विश्वास हो जायेगा तो तुझे सत्कर्म के लिये किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ओ मानव! वस्तुतः अभी तू बाहर की भौतिक पुद्गल लीला में उलझ रहा है, तुझे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है। तू निज गुण को

* पूर्व न्यायाधीश, राजस्थान उच्च न्यायालय एवं पूर्व अध्यक्ष राज्य आयोग, उपभोक्ता संरक्षण, राजस्थान

पराया और भौतिक संपदा , जो कि वस्तुतः पर-गुण है, उसको अपना मान बैठा है। बस यही तो सबसे बड़ा झमेला है जो भव-भ्रमणादि सब अनर्थों का मूल है।'

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं,
सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम्
सम्यक्त्वबंधोर्न परो हि बन्धुः
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः –सूक्त मुक्तावली, अधिकार ५५ श्लोक ८।

समकित रूपी रत्न से कोई श्रेष्ठ रत्न नहीं, और सम्यक्त्व रूपी मित्र से बढ़ कर कोई उत्तम मित्र नहीं। समकित रूपी भाई से बढ़कर दूसरा कोई भाई नहीं। सम्यक्त्व के लाभ के समान दूसरा कोई लाभ नहीं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कभी विलम्ब नहीं होगा यदि हमारी दृष्टि निर्मल हो जाये और यह विश्वास कर लिया जाये कि टिकने वाली अविनश्वर चीज क्या है, और विनष्ट होने वाली चीजें क्या क्या हैं?

जैनाचार्य श्रीमद् जयन्तसेनसूरि के शब्दों में 'सम्यग्दर्शन आत्मिक वैभव प्रदायकता-प्राप्ति के अधिकार पत्र से सम्पन्न है। जहां तक सम्यग्दर्शन नहीं वहां तक आत्मिक वैभव प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं। यह तो स्वयं को स्वाभिमुख बनाने का श्रेष्ठतम सहारा है। भौतिक वैभव सम्पूर्ण जगत् का अधिगत कर लिया जाये तथापि शून्य है और अलौकिक आत्मिक-वैभव प्रदायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति शून्यावकाश को अंक-श्रेणी से अलंकृत करती है। शून्य कभी अंक नहीं बनता, किन्तु अंक पर लगे प्रत्येक शून्य की शक्ति उत्तरोत्तर बलवती बन जाती है।'

यह स्पष्ट है कि हमारे धर्म का, हमारे व्रत-नियम एवं साधना का मूल दर्शन सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से अनादिकालीन आत्मा की दुष्प्रवृत्ति अर्थात् मलिन वृत्ति में सहज ही परिवर्तन आता है। कतक वृक्ष के फल के चूर्ण से गंदा पानी स्वच्छ बन जाता है-वैसे ही सम्यग्दर्शन के संग से आत्मा की मलिनवृत्ति स्वच्छ बनती है। कहा है-'भवे तनुः मोक्षे मनः' अर्थात् सम्यग्दृष्टि का शरीर संसार में और मन मोक्ष में होता है।

जिज्ञासा होती है-सम्यग्दर्शन की आवश्यकता क्यों है? समाधान सहज व सरल है। हाथी को अंकुश की जरूरत होती है। घोड़े को लगाम से नियन्त्रण में रखा जाता है। मोटरकार के चालक को ब्रेक अच्छे रखने पड़ते हैं। ठीक इसी तरह आत्मा को संसार के परिभ्रमण से अंकुश में लाने के लिये सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है।

सम्यग्दर्शन से मन की चंचलता दूर होती है। जिसके फलस्वरूप अनैतिक आचरण से विरक्ति होती है, उसकी तुच्छता प्रतीत होती है और व्यक्ति स्वतः नैतिक हो जाता है। उसकी इस मार्ग पर फिर तीव्रता से प्रगति होती है।

चन्दन, बी-२ रोड पावटा, जोधपुर (राज.)

तृतीय - खण्ड

सम्यग्दर्शन : विविध

यहूदी, ईसाई और इस्लाम-परम्परा में श्रद्धा का स्थान

¤ डॉ. एम.एम. कोठारी*

प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को अपने शास्त्र और महापुरुषों में अटूट श्रद्धा रखने की प्रेरणा देता है। हिन्दू धर्म वेदों के प्रति और बौद्ध धर्म बुद्ध और उनकी शिक्षाओं के प्रति केवल आदर ही नहीं, बल्कि पूर्ण श्रद्धा की अपेक्षा करता है। जैन-परम्परा में श्रद्धा को 'सम्यग्दर्शन' (Right Attitude) कहा गया तथा इसे 'त्रिरत्न' का अंग माना गया। मोक्ष की इच्छा रखने वाले हर साधक के जीवन की यह एक मौलिक आवश्यकता है। अपने शास्त्र और तीर्थंकरों के जीवन और उपदेशों पर सम्यक् श्रद्धा के बिना सम्यक् चारित्र सम्भव ही नहीं है। आध्यात्मिक विषयों में सिर्फ 'केवली' ही आप्त हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान अपनी समग्रता में उन्हें ही प्राप्त था। अज्ञान 'अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण जो मिथ्यादर्शन पनपता है, उससे साधक को बचाने के लिए यह पहली आवश्यकता है।

जैन-परम्परा से मेल खाने वाले धर्म और दर्शनों की एक अपनी विशेषता यह है कि वे आत्म-केन्द्रित (Soul-centric) हैं, ईश्वर-केन्द्रित (God-centric) नहीं। इसलिए इस परम्परा में जीव का पुरुषार्थ ही उसे मोक्ष के पथ पर बनाये रखता है। दूसरी ओर जो ईश्वर-केन्द्रित दर्शन हैं, भारतीय और सेमिटिक (Semitic), ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति को जीव के प्रारब्ध और पुरुषार्थ से भी अधिक प्रभावी मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर में हमारे पापों को माफ करने की अन्तिम और पूर्ण शक्ति (veto power) है और उसकी कृपा से सांसारिक दुःखों का नाश हो जाता है तथा वह हमारी इच्छाओं को पूरा करके सभी प्रकार की सम्पन्नता प्रदान करता है (मन वांछित फल पावे)।

वैदिक-परम्परा में देवों की स्तुति, मंत्र और यज्ञ के द्वारा इच्छित फलों को प्राप्त करने का विधान है। श्रीकृष्ण ने गीता में बारबार यह कहा है कि अर्जुन! तू मुझे समर्पित होजा, मेरी कृपा से तेरी सभी कठिनाइयां दूर हो जायेंगी; मेरा भक्त कभी नहीं गिरता (९.३१), तू मेरी शरण में आजा, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा । (१८.६६)

कर्मफल को मान्यता देते हुए भी भारत के भक्ति-साहित्य में ईश्वर को सर्वोपरि माना गया है। सेमिटिक धर्म—यहूदी, ईसाई और इस्लाम—इसी तरह ईश्वर-केन्द्रित हैं। परन्तु भारतीय और सेमिटिक-परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। वह यह कि भारत के भक्ति-सम्प्रदाय इस देश की सामान्य दार्शनिक परम्परा-औपनिषदिक, जैन और बौद्ध के दार्शनिक चिन्तन और व्यवहार (जो कि मूलतः ज्ञानमार्गी और ध्यानमार्गी रहा है, भक्तिमार्गी नहीं) के प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके, जबकि सेमिटिक परम्परा मूलतः भक्तिमार्गी ही रही है, ज्ञानमार्गी या ध्यानमार्गी नहीं।

यहूदी धर्म में श्रद्धा का स्थान

यहूदियों का धार्मिक इतिहास मूसा से शुरु होता है। इसे जुडाइज्म (Judaism) कहते हैं। पुरानी बाइबल (Old Testament), मुख्यतः तोरा (Torah) में इस धर्म के

* सेवानिवृत्त अध्यक्ष, दर्शनविभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

संस्थापक मूसा के जीवन और उपदेश की पांच पुस्तकें समाविष्ट हैं। यही उनका मूल शास्त्र है। इसमें विस्तार से बताया गया है कि ईश्वर ने किस प्रकार सृष्टि की रचना की, मूसा को प्रत्यक्ष दर्शन दिये और उसे चमत्कार बताने की शक्ति दी, जिससे मूसा ने मिश्र के सम्राट फरो को डराया और यहूदियों को मिश्र की गुलामी से मुक्त कराकर बाहर निकाला और फरो की सेना को, जो उनका पीछा कर रही थी, लालसागर में डुबो दिया। ईश्वर ने यहूदियों को मूसा के द्वारा कहलाया कि उसे यहूदी जाति से कितना लगाव है। उसकी दृष्टि में यहूदी जाति दुनिया में सबसे पवित्र (holy) है और इसलिए ईश्वर द्वारा विशेष रूप से सच्चे धर्म के ट्रस्टी के रूप में चुनी हुई है। (Deuteronomy 7.6, 14.2) इसलिए उन्हें ईश्वर और अपने धर्म में पूर्ण श्रद्धा और उसके अनुरूप कठोर अनुशासन-बद्ध जीवन बनाये रखना है। वे अपने धर्म को अन्य लोगों पर थोपना नहीं चाहते। पारसी और हिन्दुओं की तरह वे धर्म-परिवर्तन को बुरा समझते हैं, क्योंकि वे अपने आपको बहुत पवित्र समझते हैं।

यहूदी धर्म पूर्णतया एकेश्वरवादी हैं। ईश्वर केवल सृष्टि का रचयिता ही नहीं, बल्कि जगत् का शासक व न्यायाधीश है। सारी व्यवस्था उसकी इच्छा पर ही निर्भर है। ईश्वर के कुल ६१३ आदेश हैं जिनमें कुछ नैतिक धारणाओं से सम्बन्धित हैं और अन्य का सम्बन्ध यहूदियों के सामाजिक जीवन में कुछ परम्पराओं को बनाये रखने से है। उन्हें यह स्पष्ट निर्देश हैं कि वे किसी अन्य देवता की पूजा न करें; सबाथ (साप्ताहिक छुट्टी) की पवित्रता को बनाये रखें; उसे प्रार्थना का दिन रखें और वर्ष में कुछ दिन अपने त्यौहार मनाना नहीं भूलें , जैसे-पास ओवर, नया वर्ष, नई फसल, निर्णय का दिन आदि।

अपनी आज्ञापालन करने वाले यहूदियों को ईश्वर शांति, समृद्धि व हर चीज की बहुलता देता है, जैसे—वर्षा, संतान, मवेशी, दीर्घ आयु, युद्ध में दुश्मनों पर विजय आदि। आज्ञापालन से वह बहुत खुश रहता है। ईश्वर में अटूट श्रद्धा के फलस्वरूप उन्हें जो सुख प्राप्त होने वाले हैं, उनका विस्तार से वर्णन करने के साथ-साथ वह आज्ञाओं के उल्लंघन करने वालों को दंड भी देता है। सबसे गंभीर पाप ईश्वर की सर्वोच्चता में श्रद्धा का कमजोर होना है। मूसा ने कहा कि मनुष्य केवल रोटी से ही नहीं जीता है, बल्कि ईश्वर के श्रीमुख से निकले हर शब्द में श्रद्धा रखने से जीता है। (Deu 8.3) ईश्वर कहता है "मैं ही मारता हूँ और मैं ही जीवन देता हूँ। इसलिए तुम अपनी सन्तानों को और आने वाली पीढ़ियों को इस आज्ञा से अवगत करा देना कि वे उसमें और उसके सभी आदेशों में श्रद्धा बनाये रखें" (Deu. 32.46)

मूसा ने यहूदियों को बता दिया कि उसके मरने के बाद वे पथभ्रष्ट हो जायेंगे जिससे ईश्वर कुपित हो जायेगा और उन्हें विपत्तियां देगा; उन्हें पृथ्वी के दूरवर्ती देशों में बिखेर देगा। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र की पिटाई करता है, उसी प्रकार परम पिता भी उनकी ताड़ना करेगा। परन्तु वह ऐसा उन्हें सुधारने के लिए करता है। ईश्वर दयालु है। वह उन्हें पूर्णरूप से हमेशा के लिए छिटकायेगा नहीं। अन्ततः वह उन पर दया और कृपा करेगा और पृथ्वी पर दूर-दूर बिखरे हुए यहूदियों को पुनः अपने पूर्वजों की भूमि पर ले आयेगा और उनकी संख्या बढ़ायेगा और पुनः उनकी

ईश्वर में श्रद्धा को शक्ति प्रदान करेगा ताकि उनके तन और मन में कूट-कूट कर श्रद्धा व्याप्त हो जाये।

मूसा की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। यरूसलम और उनके पवित्र मंदिर को रोमन शासकों ने नष्ट कर दिया। यहूदी वीरता से लड़े, परन्तु टिक नहीं सके। उनको शहर से बाहर निकाल दिया गया। वे बिखर गये और अपनी धार्मिक पुस्तकें साथ लेकर अन्य देशों की तरफ पलायन कर गये। करीब दो हजार वर्षों तक उन्होंने ईसाइयों और मुसलमानों के हाथों घृणा और तिरस्कारपूर्ण जीवन व्यतीत किया। उन पर अन्य लोग संदेह की दृष्टि से देखते थे। उन्हें अछूत की तरह समझते थे और उन्हें शहर के बाहर 'घेटो' (Gato) में रहने को मजबूर कर दिया था। परन्तु उनके संताप ने उनकी एकता और श्रद्धा को और अधिक मजबूत ही किया। मूसा की आज्ञानुसार वे अपने धार्मिक संस्कारों और रीतिरिवाजों से दृढ़ता के साथ लगे रहे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उनका ईश्वर दयालु है और कभी न कभी अपने वायदे को अवश्य पूरा करेगा और उन्हें पुनः अपने पूर्वजों की पवित्र भूमि इजराइल को उन्हें दिलायेगा। इस शताब्दी में हिटलर ने यहूदियों पर बहुत अत्याचार किये। बाद में अरब देशों ने दुनिया के नक्शे से इजराइल का नामोनिशान मिटाने का संकल्प कर लिया। परन्तु यहूदियों के सभी राष्ट्रीय शत्रु एक के बाद एक धराशाही हो गये।

भारतीय और अन्य देशों के भक्ति-सम्प्रदायों का यह एक सामान्य विश्वास रहा है कि ईश्वर जिस पर कृपा करता है, उसकी बहुत कठोर परीक्षा भी लेता है। ईश्वर की कृपा कोई सस्ती चीज नहीं है। प्रायः लम्बी और कठोर यातनाओं के सामने ईश्वर के प्रति श्रद्धा को बनाये रखना एक असामान्य आत्म-बल से ही सम्भव है। एक राष्ट्र के जीवन में सैंकड़ों वर्षों के उत्पीड़न के बाद भी अपने धर्म और ईश्वर में श्रद्धा को आंच न आने देने का आदर्श यहूदियों ने दुनिया को दिखाया है, जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।

ईसाई धर्म में श्रद्धा का स्वरूप

मूसा ने यहूदियों को कहा—"समय आने पर ईश्वर उनमें से ही एक अन्य दूत को प्रकट करेगा जो मेरे जैसा ही होगा।" कालान्तर में जीसस ने अपने को वह दूत होने का दावा किया। परन्तु यहूदी धर्मगुरुओं ने उन्हें अस्वीकार कर दिया और उन्हें सूली पर चढ़ा दिया। मूसा की तरह ईसा ने भी चमत्कार दिखाने की शक्ति से अपने अनुयायी बनाये। नई बाइबल (New Testament) में ईसा के विभिन्न चमत्कारों का वर्णन है और साथ-साथ विश्व-प्रेम की नैतिक शिक्षाओं और दैविक संदेश का वर्णन है जिसमें नैतिक शिक्षा का वर्णन भगवान् महावीर के जीवन और दर्शन से मेल खाता है। परन्तु जीसस ने अपने दैविक संदेश में श्रद्धा रखने वालों को स्वर्ग के सभी सुखों के पुरस्कार का वादा किया तथा उनका विरोध और निन्दा करने वालों को ईश्वर की कृपा से वंचित रखने और नरक दिखाने की धमकियों से डराया। उनके प्रचारकों ने जीसस के नाम पर एक नये अन्तर्राष्ट्रीय धर्म का निर्माण किया। आदम और ईव द्वारा ईश्वरीय आज्ञा के उल्लंघन की घटना से उन्होंने मूल पाप की धारणा (Original Sin) को विकसित किया और बताया कि केवल जीसस और उनके दिव्य संदेश में पूर्ण

श्रद्धा से ही मनुष्य ईश्वर की कृपा को प्राप्त कर सकता है और उसकी कृपा से ही पापों का नाश हो सकता है और जीवन में हर तरह से सम्पन्नता मिल सकती है। यहूदी धर्म की संतान होते हुए भी ईसाई धर्म ने अपनी अलग पहचान बना ली और वह कई देशों का राज-धर्म (State religion) बन गया। कैथोलिक मत का मुखिया पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा । चर्च-परिषदें खगोल-शास्त्र से लेकर मानव के सभी सम्बन्धों और कार्यों पर अदालती निर्णय देने लगी। बाद में ईसाई धर्म भी संप्रदायों में बंट गया जिनमें श्रेष्ठता (Supremacy) के लिए खूनी संघर्ष भी हुए। परन्तु इन सभी मतों में एक तत्त्व सामान्य रहा, वह यह कि जीसस क्राइस्ट में अटूट श्रद्धा और उनकी कृपा द्वारा स्वर्ग में सनातन सुखों की प्राप्ति में पूर्ण विश्वास। "केवल जीसस द्वारा मुक्ति" (Salvation through Jesus)", ईसाइयों का प्रचलित नारा है।

इस्लाम में श्रद्धा का स्वरूप

अरब कई जातियों या कुनबों में विभाजित थे, जिनके अपने कुल-देव थे और वे उनको सर्वशक्तिमान तथा अपने राष्ट्र का संरक्षक समझते थे। अरब लोगों के बहुदेववाद और मूर्तिपूजा के विरुद्ध मोहम्मद ने विद्रोह किया। उसने यह दावा किया कि ईश्वर की पुस्तक 'कुरान' को देवदूत ने पढ़कर उसे सुनाया है और मानव जाति तक पहुंचाने की प्रेरणा दी है। उसने प्रेम का पाठ पढ़ाना शुरू किया जिसे उसके ही लोगों ने अस्वीकार कर दिया। तब उसने अपने लोगों को ईश्वर का 'सच्चाधर्म' सिखाने के लिए तलवार का सहारा लिया और बाद में अन्य देशों को भी इस्लामिक बनाने के लिए कई लड़ाइयां लड़ी। उसके अनुसार ईश्वर (अल्लाह) एक है। वह सृष्टि का रचयिता और पालक है। वह सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान् और दयालु है। हालांकि मनुष्य को अपने किये का फल मिलता है, परन्तु अल्लाह में उसके सभी पापों को क्षमा करने की शक्ति है। जो अल्लाह में अटूट श्रद्धा रखते हैं और कुरान की राह पर चलते हैं, अल्लाह उनसे बहुत खुश रहता है और उन्हें कयामत पर स्वर्ग (जन्नत) भेज देता है जहां उसे सभी सुख मिलते हैं, जैसे ऊंचे ऊंचे महल जिनके नीचे नहरे बहती हैं। सुगंधित फूल, अंगूरों के बाग, मेवे, सोने के बर्तन, उत्तम रेशमी वस्त्र, बड़ी बड़ी आंखों वाली हूरें; अल्लाह उनसे खुश और वे अल्लाह से खुश रहती हैं।

पृथ्वी पर अल्लाह ने कई अच्छे काम किये, जैसे वह आकाश और धरती को थामे रहता है। जिसे चाहता है बेटी देता है, जिसे चाहता है बेटा देता है । उसने नदियों से ताजा मांस और मोती दिए। खजूर, अंगूर, मेवे, मक्खी के पेट में शहद, जानवरों को ऊन और बाल आदि दिए। हर चीज के जोड़े पैदा किये। पानी बरसाया। खेतियां उगाई आदि अनेक कार्य किए।

मरने के बाद काफिरों को अल्लाह जहन्नम (नरक) दिखाता है, जहां उन्हें आग का बिछौना और आग का ओड़ना, आग के कपड़े, सिर पर खौलता हुआ पानी, खाने के लिए पीप आदि मिलते हैं।

कभी पुरस्कार, कभी यातना :

जब अल्लाह मनुष्य की श्रद्धा से खुश होता है तो उन्हें कई तरह के पुरस्कार देता

है और जब दुःख भेजता है तो यह समझना चाहिये कि उसने अल्लाह की इच्छा के विरुद्ध काम किया है, कोई पाप किया है या श्रद्धा में कमी आई है।

अरब राज्यों को इस्लाम के अधीन करने के बाद एक लम्बे समय तक इस्लाम और ईसाई राष्ट्रों के बीच यरूसलम पर कब्जा करने और अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए पश्चिमी एशिया में भीषण संघर्ष चला, जिसे धर्मयुद्ध (Crusades) कहते हैं। पहले धर्मयुद्ध में ईसाई राष्ट्र जीत गये और हजारों मुसलमान मारे गये या जिन्दे गाड़ दिये गये। ईसाइयों ने समझा कि ईश्वर हमारे साथ है और उनकी श्रद्धा को बहुत बल मिला। परन्तु बाद के धर्मयुद्धों में जो करीब २०० साल चले, ईसाई राष्ट्र हार गये और उन्हें पीछे हटना पड़ा। उन्हें दुःख हुआ कि बाद में ईश्वर ने उनका साथ नहीं दिया और उनकी श्रद्धा को झटका लगा। इस्लाम का जोश बढ़ा और वह तलवार के बल पर अफ्रीका और पूर्व की ओर बढ़ता गया। सैंकड़ों वर्षों तक एशिया में निरन्तर सफलताओं ने मुसलमानों के मन में मोहम्मद और कुरान के प्रति श्रद्धा को बलवती बना दिया और वे ऊंची आवाज में कुरान की इस घोषणा का प्रचार करते गये कि "अल्लाह की नजरों में सच्चा धर्म इस्लाम ही है।"(कुरान ३.१९)

राजनैतिक दृष्टि से एशिया के बड़े भाग पर एक लम्बे समय तक मुसलमानों का स्वामित्व रहा। यूरोप में ईसाई सत्ता में रहे। बहुत कम यहूदी इजरायल में रह गये। परन्तु धीरे-धीरे वे इजरायल लौटने लगे। द्वितीय विश्व-युद्ध तक उनकी संख्या काफी हो गई और संयुक्त राष्ट्र ने फिलिस्तीन का विभाजन कर एक भाग यहूदियों को और दूसरा भाग अरबों को सौंप दिया। तब से अरब देश इजरायल को अपना मुख्य शत्रु समझने लगे। अरबों ने इजरायल का नाश करने की ठान ली। परन्तु १९६७ के अरब-यहूदी युद्ध में अरबों की बुरी तरह पराजय हुई। प्रथम धर्मयुद्ध के बाद इस्लाम की इस तरह से बुरी पराजय कभी नहीं हुई। दुनिया के सभी मुसलमानों की श्रद्धा को यह देख कर बड़ा झटका लगा कि इस बार अल्लाह के सच्चे भक्तों का अल्लाह ने साथ नहीं दिया। तब से कई अरब देशों पर ईसाइयों का प्रभाव बढ़ने लगा और पश्चिम एशिया के कई मुस्लिम देश अपने अस्तित्व के लिए अल्लाह की कृपा पर नहीं, बल्कि कुछ शक्तिशाली ईसाई राष्ट्रों की दया और कृपा पर निर्भर रहे हैं। उधर यहूदियों ने राष्ट्र के रूप में सैंकड़ों वर्षों से अपने खोये हुए सम्मान को पुनः प्राप्त कर लिया है। उपर्युक्त तथ्य यह बताते हैं कि व्यक्ति के जीवन में ही नहीं, बल्कि राष्ट्रों के जीवन में भी धर्म और ईश्वर के प्रति श्रद्धा किस प्रकार बनती है, और हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश के साथ, उसमें भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट द्वारा श्रद्धा के स्थान पर संशय की पद्धति (Cartesean Doubt) को अपनाने के बाद सेमिटिक धर्म के विद्वानों और वैज्ञानिकों के चिन्तन पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसके अलावा विभिन्न धर्मशास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप दार्शनिकों में धार्मिक कट्टरता कमजोर हुई है और सभी धर्मों के बौद्धिक वर्ग में अन्य धर्मों के प्रति सद्भाव बढ़ा है और सभी धर्मों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के भी प्रयास हुए हैं। उदाहरण के लिए, यहूदी होते

हुए भी आइन्सटाइन कहते हैं -

"I believe in Spinoza's God who reveals himself in the orderly harmony of what exists; not in a God who concerns himself with the fate and actions of human beings."

स्पीनोजा अपने सर्वेश्वरवाद की धारणा के कारण कट्टरपंथियों के कोप का शिकार हुआ था और वे उसे छिपा हुआ नास्तिक कहते थे। यह सही भी है कि स्पीनोजा की ईश्वर की धारणा सभी ईश्वर-केन्द्रित—भारतीय और सेमेटिक-धर्मदर्शनों के भक्ति मार्गों से भिन्न है जो ईश्वर को पुरुष-रूप (Personal God) में मानते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मानवजाति का अधिकतर भाग अपने-अपने धर्म में वर्णित ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञानी, प्रेम और दया के सागर के रूप में मानता है। विलियम जेम्स के अनुसार इसका कारण मनुष्य की उपयोगितावादी प्रकृति (Pragmatic nature) है। "It elevates and reassures." यह मनुष्य की संवेगात्मक प्रकृति को एक अजीब मस्ती प्रदान करता है। विलियम जेम्स ने अपने प्रसिद्ध लेख 'Fixation of Belief' में उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है जिनके कारण मनुष्य में सगुण ईश्वर में श्रद्धा बनती है और जिनसे श्रद्धा को शक्ति मिलती रहती है। वे धर्म चाहे पश्चिम एशिया के हों या भारतीय।

–८७, अजीत कालोनी, जोधपुर

सम्यग्दर्शन

किसी निमित्त से
अचानक
भीमकाय चट्टानों की छाती से
रिसने लगा
शीतल - प्रांजल
आरोग्यदायी जल
किसे पता था ?
यह मामूली सा प्रवाह
स्रोत - महास्रोत बन
कोटि - कोटि कण्ठों की
प्यास बुझाता
शुष्क - ऊसर धरा को
सरसब्ज बनाता
बन जायेगा
कालजयी महासागर।

–दिलीप धींग जैन, बम्बोरा

इस्लाम, ईसाई और पारसी धर्मों में आस्था

✠ डॉ. हेमन्त कुमार शर्मा*

आस्था धार्मिक जीवन एवं व्यवहार का मौलिक और प्रमुख लक्षण है तथा धर्म का केन्द्र है। आस्था में विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा, आत्म-समर्पण, वचनबद्धता एवं प्रेरणा समाहित हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आस्था मानव-व्यवहार का भावात्मक पहलू है जो मानवीय संवेगों, अनुभूतियों, अभिरुचियों, भावनाओं तथा अभिप्रेरणाओं से निर्मित है। धार्मिक आस्था मनुष्यों में भक्ति उत्पन्न करती है। भक्ति में प्रवृत्त होने के लिए विनम्रता, कृतज्ञता, स्नेह, सौहार्द एवं त्याग की भावना का होना आवश्यक है। प्रार्थना द्वारा आस्था के केन्द्र के प्रति आत्म-अभिव्यक्ति प्रस्तुत होती है। प्रार्थना धर्म का क्रियात्मक स्वरूप है जो वाचिक, अवाचिक अथवा प्रतीकात्मक हो सकता है। प्रार्थना के अनेक प्रकार हैं जैसे उपासना, आराधना, साधना, स्तुति, पूजा, अर्चना, वन्दना इत्यादि । ये समस्त क्रियाएं आस्था के केन्द्र को सगुण या साकार अथवा निर्गुण या निराकार मानकर की जाती हैं। सगुण अर्थात् साकार मानने में इन क्रियाओं के निष्पादन के लिए नियत स्थल, समय एवं प्रविधि निर्धारित की जाती है।

विश्व के सभी धर्मों या सम्प्रदायों (मजहबों) का संदेश एवं लक्ष्य है— मानवता की रक्षा। विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशान्ति जैसे सार्वभौमिक उद्देश्यों तथा लोककल्याण और मानव-प्रेम जैसी सार्वजनीन भावनाओं से अनुप्रेरित होकर ही ये विभिन्न धर्म युग-धर्म के रूप में प्रकट हुए हैं। इन धर्मों का विश्व में सह-अस्तित्व ही धार्मिक-समन्वयवाद का प्रथम सोपान है। एकता में अनेकता के साथ-साथ अनेक धर्मों में मूलभूत तत्त्व इस प्रकार से हैं - ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, धर्माचरण की अनिवार्यता, धार्मिक सहिष्णुता, धर्मग्रन्थों के अनुसार संयम व नियम, विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशान्ति, देवताओं, अवतारों और पैगम्बरों में विश्वास, पूजा-स्थल एवं उपासना प्रविधियां इत्यादि।

विश्व के महान् धर्मों में अरब तथा पूर्वी एशिया के राष्ट्रों में प्रचलित धर्मों को 'सेमिटिक' धर्म कहा जाता है, वे हैं - इस्लाम, ईसाई तथा यहूदी धर्म। आज विश्व में ईसाई मत के अनुयायियों की संख्या सर्वाधिक है । द्वितीय स्थान इस्लाम मतावलम्बियों का है। भारतवर्ष में हिन्दू (सनातन) धर्म के मानने वालों के पश्चात् सबसे अधिक इस्लाम के मानने वाले हैं। बौद्ध एवं यहूदी तो भारत में अत्यल्प या नगण्य ही हैं। जैन एवं सिक्ख समान संख्या में हैं। पारसी तो विश्व में सबसे अधिक केवल भारत में ही हैं । प्रसंगवश इस्लाम, ईसाई तथा पारसी धर्म के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचना प्रस्तुत करना समीचीन रहेगा।

ईसाई मत में धर्म-निष्ठा

ईसाई धर्म एकेश्वरवादी है जिसके अनुसार परमपिता परमेश्वर सर्वशक्तिमान प्रभु हैं और सृष्टि से उनका अभिन्न शाश्वत सम्बन्ध है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रभु की अनुकम्पा की दिव्य ज्योति से समुज्ज्वल एवं कृतार्थ है। प्रभु की भक्ति सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। हिन्दू (सनातन) धर्म का भी यही परम सिद्धान्त है। प्रभु का स्वरूप कृपामय, करुणामय और प्रेममय निरूपित किया गया है। ईसाई धर्म के

* सह आचार्य, मनोविज्ञान-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

अनुसार ईश्वर ने अपने पुत्र ईसा, 'क्राइस्ट' (यीशु) को जगत् के उद्धार के लिए पृथ्वी पर भेजा है, जो ईसाइयत के मूल प्रवर्तक हैं। ईसाई मत का धर्म-दर्शन, नैतिक आचरण का प्रारूप तथा भक्ति का स्वरूप ईसामसीह और अन्य सन्त-महात्माओं के चरित्र निरूपण, जीवनशैली एवं वाणी में मिलता है । इनके उपदेश धर्म-ग्रन्थ 'बाइबिल' 'न्यू टेस्टामेन्ट' (नयी बाइबल) में उद्धृत हैं। बाइबिल ईसाई धर्म का पवित्र धर्म-ग्रन्थ है, अमूल्य निधि है जिसमें ईश्वर-प्रेम और मानव-सेवा को जीवन के प्रमुख लक्ष्य बतलाया गया है । प्रभु की कृपा प्राप्त करना ही संसार के सर्वोत्कृष्ट धन-वैभव को प्राप्त करना है। भक्ति के द्वारा आत्म-समर्पण, नियमित प्रार्थना, सन्त-महात्माओं के उपदेश सुनना और उन्हें आचरण में लाना, पापकर्म की 'कन्फेशन', (आत्म-स्वीकृति) तथा तपस्या इत्यादि धार्मिक क्रियाओं का निष्पादन जीवन और व्यवहार के प्रमुख अंग हैं। इन्हीं के द्वारा सुखमय-आनन्दमय जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

प्रभु यीशु (ईसा मसीह) के उपदेश एवं वचनामृत मनुष्यों में सर्वज्ञान से परिपूर्णता प्रदान करते हैं। ये स्तोत्र, गीत एवं आध्यात्मिक-स्तवनों से शिक्षण एवं दिशा बोध करवाते हैं। ये मानव-मात्र के प्रति दया व करुणा द्वारा अन्तःकरण में ईश्वरीय प्रेम की भावना जागृत करते हैं। यीशु ने मनुष्यों को न्याय, कर्त्तव्य-पालन और अहिंसा का उपदेश दिया। नम्रता, सहनशीलता, दयालुता, आत्मशुद्धि, शान्तिप्रियता एवं भ्रातृत्व की भावनाओं के विकास पर बल दिया। ईसाई धर्म अक्रोध, समर्पण, क्षमाशीलता, त्याग, शत्रु से भी प्रेम, सेवामय प्रवृत्ति और समस्त प्राणियों के प्रति दया की शिक्षा देता है। महात्मा बुद्ध ने भी कहा है कि वैर का शमन वैर से नहीं वरन् अवैर से होता है। वेदों में भी कहा गया है कि दुर्जनों के आक्रमण का प्रतिकार सज्जन तितिक्षा से करते हैं, ईसाई मत में दीक्षा ग्रहण करना 'बपतिस्मा' कहलाता है । ईसाई लोग प्रत्येक रविवार को सुबह के समय अपने पूजा-स्थल गिरजाघर (चर्च) में सामूहिक रूप से प्रार्थना के लिए एकत्रित होते हैं।

इस्लाम में धर्म-श्रद्धा

इस्लाम को मानने वाले अनुयायी 'मोहम्मदन' नहीं वरन् मुसलमान या मुस्लिम कहलाते हैं । इस्लाम मत के अनेक रसूलों में अन्तिम पैगम्बर हजरत मुहम्मद हैं जो अल्लाह या खुदा के दूत कहे गए हैं। उनके मुख से निकले वचन इस्लाम के धर्म-ग्रन्थ कुर्आन-कुरानशरीफ या कुरान मजीद में उद्धृत हैं। मुहम्मद साहब का सम्पूर्ण जीवनवृत्त एक अन्य ग्रन्थ 'हदीस' में विस्तार-पूर्वक वर्णित है। कुरानशरीफ के अनुसार संसार का जन्मदाता ईश्वर 'अल्लाह' है और संसार के समस्त प्राणी अल्लाह के 'बन्दे' दास हैं। अल्लाह सर्वाधिक महत्तायुक्त है, सर्वशक्तिमान है तथा उसके कार्यों और आदेशों में अटूट आस्था एवं अनुपालन आवश्यक है। ईश्वर के न्याय में पूर्ण विश्वास तथा शुभ कर्म एवं भलाई में रत होना उसकी आज्ञा का पालन है। इस्लाम के अनुसार ईश्वर एक है और उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। अल्लाह के अतिरिक्त किसी और प्रकार के विश्व-निर्माणकर्त्ता को मानना तथा उसकी उपासना करना निषिद्ध है। इस्लाम में अल्लाह के अतिरिक्त कोई और पूजनीय नहीं है। इस्लाम का एक मात्र आशय एकेश्वरवाद है तथा बहुईश्वरवाद या बहुदेववाद का उसमें निषेध है। इस्लाम में मूर्तिपूजा 'बुतपरस्ती' का भी निषेध है। इस्लाम नास्तिकवाद, द्वैतवाद और साम्यवाद (कम्युनिज्म) का भी विरोध करता है।

इस्लाम में निर्गुण या निराकार ईश्वर की उपासना का प्रावधान है। इस्लाम के प्रमुख अंग ६ प्रकार के सिद्धान्त (ईमान) और ४ प्रकार के कर्मकाण्ड (दीन) हैं। ये ६ ईमान हैं - अल्लाह की एकात्मकता और सर्वशक्तिमत्ता; खुदा और पैगम्बर में अटूट आस्था एवं उनके आदेशों का पालन ; फरिश्तों (देवदूतों) जैसे गेब्रियल को मानना ; कुरान धर्मग्रन्थ में विश्वास ; मृत्यु के पश्चात् न्याय 'इन्साफ' के नियत दिन को मानना । इस्लाम के ४ दीन हैं - नमाज (दिन में ५ बार प्रार्थना) ; रोजा (रमजान मास में उपवास); जकात (दान) तथा हज (मक्का-मदीना की तीर्थयात्रा)। इस्लाम को मानने वाले अनुयायी इन ४ दीनों का भलीभांति पालन करते हैं। अपने घर पर या उपासना-स्थल 'मस्जिद' में जाकर प्रतिदिन 'नमाज' पढ़ते हैं, जो दिन में ५ बार होती है। इसे कलमा पढ़ना भी कहते हैं। वर्ष में एक बार रमजान के महीने में प्रतिदिन उपवास (रोजा) रखते हैं जिसमें सूर्योदय से सूर्यास्त तक अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करते हैं। प्रत्येक शुक्रवार को मस्जिद में सामूहिक प्रार्थना (नमाज जुम्मा) के लिए एकत्रित होते हैं। मुस्लिम लोग प्रतिमाह जकात (दान) अर्थात् गरीबों को अपनी आमदनी का चालीसवां भाग अर्थात् २-१/२ प्रतिशत दान देते हैं अपने जीवन में सुविधा एवं सामर्थ्य के अनुसार एक बार हज (तीर्थ यात्रा) करते हैं, जिसमें अरब में स्थित तीर्थस्थल मक्का, जहां खुदा का निवास स्थल है, वहाँ समूहों में जाकर 'काबे' में स्थित 'संगे असवद' पवित्र काले पत्थर की परिक्रमा सामूहिक रूप से करते हैं। वहीं स्थित 'जमजम' कुए के पवित्र जल का सेवन करते हैं।

इस्लाम में अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं है, वरन् समता का दृष्टिकोण व्याप्त है जो लोकतंत्रात्मक सत्ता कहलाती है। यह एक पूर्ण व्यवस्था और सम्पूर्ण जीवन-पद्धति है। इस्लामी जीवन के सम्पूर्ण विधान और प्रमुख शिक्षाओं का आधार ईश्वर की एकात्मकता एवं ईश्वरीय प्रेम (इश्के-हक़ीक़ी) में आस्था है। इस्लाम द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था में निम्नगामी प्रवृत्तियों और मलिनताओं का परित्याग करके पूर्ण विश्वास, अनुराग, भक्ति व श्रद्धा के साथ तन-मन-धन से ईश्वर की उपासना करना ही जीवन-लक्ष्य है। कलुषित विचारों तथा दुर्वासनाओं का दमन करने के लिए प्रार्थना, उपवास, दान इत्यादि का प्रावधान रखा गया है। आध्यात्मिक आराधना एवं सतत साधना द्वारा आत्मिक उपलब्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचना मानव-जीवन का लक्ष्य बनता है। हिन्दू (सनातन) धर्म में व्यक्त ईश्वर-प्राप्ति के तीन मार्ग इस्लाम में भी बतलाए गए हैं - ज्ञानयोग अर्थात् 'मारिफ़त', कर्मयोग - व्यावहारिक क्रियाएं; भक्तिमार्ग - 'इश्के इलाही' अर्थात् ईश्वर प्रेम। प्रेमधर्म ही सर्वोत्तम है और सभी धर्मों का सार है। इस्लाम ईश्वर से भयभीत होने का भी आदेश देता है जिससे व्यक्ति अनैतिक, असामाजिक एवं अपराध-व्यवहार न करे और ईश्वरीय दण्ड के भय से आक्रान्त रहे। इस्लाम का सन्देश है भ्रातृत्व, शान्ति, समता और समर्पण। कुरान शरीफ के अनुसार 'शरीअत' अर्थात् धर्मशास्त्र के अनुकूल आचरण करना है, जिसमें 'तरीक़त' अर्थात् साधना, 'हक़ीक़त' अर्थात् तत्त्व-दर्शन धर्मग्रन्थ में वर्णित है।

पारसी धर्म में आस्था

पारसी अर्थात् ज़रथुस्त धर्म के प्रवर्तक महात्मा ज़रदुश्त हैं जो ईश्वर के दूत हैं। पारसी धर्म में ईश्वर को 'अहुरमज़्द' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। पारसियों

के अनुसार प्रभु 'अहुरमज्द' सर्वशक्तिमान हैं जो सत्य, अहिंसा, न्याय, करुणा, पुण्य आदि शुभ कर्मों के प्रेरक हैं। पारसी धर्म में भी ईसाइयत एवं इस्लाम की भांति एक ही ईश्वर में आस्था और प्रभु 'अहुरमज्द' की उपासना एवं आराधना बतलाई गई है। पारसीधर्म के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में प्रभु 'अहुरमज्द' को संसार का निर्माणकर्त्ता और जीवनप्रदाता बताया गया है। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ की भाषा में प्रभु 'अहुरमज्द' मानव को पुण्य एवं शुभ कर्मों तथा शुद्ध प्रवृत्तियों में लगाकर उनका उद्धार करते हैं। इनका आदिकाल से विरोधी 'अहिर्मन' मानव को असत्य, दुराचार, निर्दयता और पापकर्म जैसे अशुभ कार्यों और कुप्रवृत्तियों की ओर दुष्प्रेरित करता है। इसी प्रकार का चिन्तन ईसाई धर्मग्रन्थ 'बाइबल' में मिलता है - ईश्वर और 'सेटन' के रूप में। इस्लाम के धर्मशास्त्र 'कुरान' में भी खुदा और शैतान की संकल्पना की गई है।

जरथुस्त्रीय उपासना का साधन अत्यन्त व्यापक एवं जटिल है। निःस्वार्थ सेवाभावना पारसियों का जीवन लक्ष्य है। पारसी धर्म का सच्चा और वास्तविक अनुयायी सांसारिक जीवन तो व्यतीत करता है, परन्तु संसार के लोभ-मोह-अहंकार से प्रभावित नहीं होता है। राग-द्वेष, द्वन्द्व, संघर्ष इत्यादि उसे सेवाधर्म से विचलित नहीं कर सकते। पारसी लोग अपने निर्मल हृदय में पवित्रात्मा प्रभु 'अहुरमज्द' को धारण करते हुए अहैतुक परोपकार और सेवा का जीवन-यापन करते हैं। हिन्दू (सनातन) धर्म के रामानुजाचार्य का 'विशिष्टाद्वैत' मत पारसियों को अधिक प्रेरणास्पद प्रतीत होता है। "जीवन मिथ्या या माया नहीं है ; उसका विशिष्ट अर्थ है एवं वह सार्थकतापूर्ण है।" इसी विश्वास के साथ वे मानव जाति की सेवा को आदर्श मानते हैं और जनहित की भावना को ही ईश्वर की सच्ची साधना मानते हैं। पारसी मत के अनुसार ईश्वर के प्रति प्रेम, मानव मात्र के प्रति कर्त्तव्यपरायणता की भावना, जन-जन की सेवा एवं पारमार्थिक कल्याण हेतु स्वजनों का परित्याग, सुख-साधनों एवं भोग-विलासों का बहिष्कार, आत्म-संयम एवं तपस्या द्वारा ही सम्भव है। जैन धर्म में भी इन्हीं महाव्रतों का उल्लेख किया गया है। बौद्ध धर्म में भी मन की एकाग्रता को महत्त्व दिया गया है। मन, वचन एवं कर्म से शुद्ध आचरण का प्रावधान हिन्दू (सनातन) धर्म में भी रखा गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह सत्य है कि प्रेम एवं विश्वास से ही लोकसेवा सम्पन्न हो सकती है।

पारसी धर्म की समस्त क्रियाओं में अग्नि का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांसारिक व्यवहारों एवं क्रियाकलापों में सर्वत्र अग्नि की प्रधानता है। आकाश, वायु, जल, पृथ्वी तथा अग्नि इन पंचभूत अर्थात् पांच तत्त्वों से संसार की उत्पत्ति होती है और मानव शरीर का निर्माण होता है। पारसी मानते हैं कि प्रभु 'अहुरमज्द' अग्निमय प्राण शरीर वाले हैं, संसार के केन्द्र बिन्दु हैं, आत्मिक सूर्य हैं, विश्व के स्रष्टा हैं। अग्नि ईश्वर-पुत्र है जो कि भौतिक जगत् का सर्जक है और परमपिता प्रभु 'अहुरमज्द' का प्रतिनिधि एवं अनन्त सुरक्षा का स्वामी है। इसीलिए पारसियों के उपासना-स्थल पवित्र स्थान 'अगियार' अर्थात् अग्नि-मंदिर कहलाते हैं। इनमें अत्यधिक सम्मान एवं भक्तिभाव से अग्नि प्रज्वलित की जाती है। श्वेत कमल पारसियों की पवित्रता का प्रतीक चिह्न है।

-हेमन्त मेन्शन, नई सड़क, जोधपुर (राज.)

तत्त्वार्थसूत्र और वेदान्तदर्शन में सम्यग्दर्शन

☆ डॉ. (सुश्री) सरोज कौशल

जैनदर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साम्य न्यायदर्शन में निरूपित तत्त्वज्ञान, सांख्यदर्शन में निरूपित विवेकख्याति एवं वेदान्त में निरूपित आत्मज्ञान से किया जा सकता है। लेखिका ने तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर सम्यग्दर्शन का विवेचन करने के पश्चात् वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित साधनचतुष्टय से सम्यग्दर्शन के लक्षणों की तुलना की है, जो इनमें पर्याप्त साम्य को पुष्ट करती है।—सम्पादक

प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। जैन दर्शन में भी 'मोक्षमार्ग' का निरूपण है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा है —

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'।[१]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ये तीनों समुदित रूप से मोक्षमार्ग हैं। सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में प्रथम स्थान दिया गया है। सम्यग्दर्शन से क्या तात्पर्य है? इसका लक्षण क्या है? इस सन्दर्भ में जब दृष्टिपात किया जाता है तो सम्यक् तथा दर्शन ये दो पद प्राप्त होते हैं।

सम्यक् - व्याकरण की दृष्टि से अवलोकन करें तो सम् उपसर्गपूर्वक अञ्च् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर सम्यक् शब्द निष्पन्न होता है। सम्यक् शब्द का अर्थ है - प्रशंसा।

दर्शन - दृश् धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है। 'दृश्यतेऽनेन' जिसके द्वारा देखा जाये वह दर्शन है।

यदि 'सम्यग्दर्शन' का शाब्दिक अर्थ करें तो अर्थ होगा—वह दृष्टि जो प्रशस्त हो।

सम्यग्दर्शन का लक्षण—तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन को पारिभाषिक शब्द माना है तथा लक्षण करते हुए कहा है - 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'[२] तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। तात्पर्य यह है कि स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है।

दर्शन का अर्थ श्रद्धान—दर्शन 'दृश्' धातु से निष्पन्न है और दृश् धातु का अर्थ है आलोक अर्थात् देखना। यह शङ्का हो सकती है कि दृश् धातु का 'श्रद्धान' अर्थ संगत नहीं है। समाधान किया जाता है कि धातु के अनेक अर्थ होते हैं अतः 'दृश्' धातु का आलोक अर्थ न करके श्रद्धान अर्थ किया गया है।

पुनः प्रश्न होता है कि दृश् धातु के प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण क्यों नहीं किया गया? अप्रसिद्ध अर्थ, 'श्रद्धान' का ग्रहण क्यों किया गया है?

रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। मोक्ष का प्रसङ्ग होने से तत्त्वार्थश्रद्धान अर्थ ही संगत है। तत्त्वार्थों का श्रद्धानरूप जो आत्मपरिणाम होता है वही मोक्षसाधन है, क्योंकि वह भव्यजीवों में ही पाया जाता है। जबकि आलोक, चक्षु आदि के निमित्त से होता है, जो सभी संसारी जीवों में साधारणरूप से पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग नहीं मान सकते हैं।

तत्त्व + अर्थ श्रद्धान - 'तत्त्वार्थश्रद्धान' में तत्त्व तथा अर्थ दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि केवल 'अर्थश्रद्धान' कहा जाता तो अर्थ के धन, प्रयोजन, अभिधेय आदि अन्य सभी अर्थों का प्रसङ्ग हो जाता जो कि अभीष्ट नहीं था। केवल 'तत्त्वश्रद्धान' कहा जा सकता था, परन्तु यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि 'तत्त्व' पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व आदि का ग्रहण हो जाता। कतिपय दार्शनिक तत्त्व को एक मानते हैं। अतः इन समस्त दोषों को दूर करने के लिए 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' कहा गया है।

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में भेद—सम्यग्दर्शन का लक्षण है – तत्त्वार्थश्रद्धान। सम्यग्ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

'येन-येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्।'[३]

शङ्का होती है कि सम्यग्दर्शन में भी पदार्थ का निश्चय है और सम्यग्ज्ञान भी पदार्थ निश्चयात्मक रूप ही है। दोनों में फिर क्या भेद दृष्टिगोचर होता है? उत्तर में कहा गया है कि दर्शन निर्विकल्पक है जबकि ज्ञान सविकल्पक है। जितनी भी विकल्पात्मक उपलब्धियां हैं वे सब ज्ञानरूप हैं। सम्यग्दर्शन निर्विकल्पक होने के कारण अन्तर में अभिप्रायरूप से अवस्थित रहता है। आत्मानुभव सहित ही तत्त्वों की श्रद्धा अथवा प्रतीति सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन एवं उसका वैशिष्ट्य

सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में प्रधान है[४] तथा वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' केवल यही लक्षण प्राप्त नहीं होता, अपितु सम्यग्दर्शन की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है तथा उसकी विविध विशेषताओं का उल्लेख किया गया है—

(१) 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है।[५] जब सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या प्राप्त होती है तो बृहदारण्यक की एक श्रुति स्मरण हो आती है - 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।'[६] यह वेदान्त श्रुति भी आत्मसाक्षात्कार की ओर प्रवृत्त करती है और सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या कि 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' दोनों ओर एक लक्ष्य का ही संकेत प्राप्त होता है।

(२) सम्यग्दर्शन का माहात्म्य-वर्णन करते हुए कहा गया है - 'मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे।'[७] अर्थात् सम्यग्दर्शन सर्वदुःखों का नाश करने वाला है अतः इसमें प्रमादी मत बनो। अन्यत्र कहा गया है कि जब यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता तब तक वह दुःखी बना रहता है।[८]

इसी अभिप्राय को वेदान्त दर्शन में भी अभिव्यक्त किया गया है—

परावररूप उस तत्त्व का साक्षात्कार होने पर इस साधक की हृदयग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, समस्त संशय दूर हो जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।[९] जब सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ तथा संशयादि समाप्त हो जायें तो जीव का सुखी होना निश्चित ही है तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर भी जीव परमसुखी होता है।

(३) तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से पूर्व सम्यग्दर्शन का कथन किया गया है। इस सन्दर्भ में सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में पूज्यपादाचार्य भी सम्यग्दर्शन के प्राधान्य का समर्थन करते हैं[१०] –

द्वन्द्व समास का एक नियम है कि अल्पाक्षर वाले पद को पूर्व में रखा जाये। दर्शन की अपेक्षा ज्ञान में अल्पाक्षर हैं। अतः ज्ञान को पूर्व में रखा जाना चाहिए था। परन्तु एक नियम है - 'अभ्यर्हितत्वम्', जो अधिक पूज्य होता है उसको पूर्व में रखा जाता है। 'दर्शन' ज्ञान की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होने से पूज्य है। सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है। अतः रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन का पूर्वप्रयोग किया गया है।

ठीक इसी प्रकार 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति में श्रोतव्यः, मन्तव्यः आदि पदों से पूर्व में द्रष्टव्य पद का प्रयोग कर साक्षात्कार के प्राधान्य को स्वीकार किया गया है।

(४) सम्यग्दर्शन के अनन्तर क्या होता है, इस विषय में कहा गया है - 'सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान इन दोनों से सर्वपदार्थों अथवा तत्त्वों की उपलब्धि होती है। पदार्थों की उपलब्धि होने पर श्रेय तथा अश्रेय का ज्ञान होता है। श्रेय तथा अश्रेय को जानकर वह पुरुष मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक् स्वभावयुक्त होकर अभ्युदय प्राप्त करता है, तदनन्तर निर्वाण को प्राप्त होता है।[११]

वेदान्त दर्शन में साधन-चतुष्टय

वेदान्त दर्शन में वेदान्त के अधिकारी के विषय में चर्चा की गई है। अधिकारी कैसा हो? इस विषय में एक विशेषण प्रयुक्त हुआ है–'साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता'[१२] जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो ऐसा प्रमाता ही वेदान्त का अधिकारी है। वेदान्त का अधिकारी एक प्रकार से सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न होता है। जैन दर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन एवं वेदान्त के साधन-चतुष्टय की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है । अतः वेदान्त के साधन चतुष्टय को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) **नित्यानित्यवस्तुविवेक** – नित्य पदार्थों तथा अनित्य पदार्थों में भेदबुद्धि होना। नित्य तथा अनित्य पदार्थों के प्रति जब भेदबुद्धि होगी तो जीव अनित्य पदार्थों को हेय जानकर उनसे विरक्त हो जायेगा तथा नित्य पदार्थों को ग्रहण कर लेगा। जिस प्रकार कि सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से पदार्थों की उपलब्धि होने पर श्रेय तथा अश्रेय में विवेक होने से पुरुष अश्रेय अथवा मिथ्यात्व को छोड़ देता है तथा श्रेय को ग्रहण कर निर्वाणप्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

(२) **इहामुत्रार्थफलभोगविराग** – इस लोक एवं परलोक में प्राप्त होने वाले फलभोग से वैराग्य होना। वेदान्त दर्शन में ब्रह्मज्ञान के लिए फलभोग-विरक्ति को आवश्यक माना गया है। यह तथ्य जैनदर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन के पांच लक्षणों (शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य) में से निर्वेद की स्मृति दिलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव निर्वेद लक्षण से युक्त होने के कारण सांसारिक (इहलौकिक एवं पारलौकिक) भोगों से विरक्त होता है।

(३) **शमदमादि षट्क सम्पत्ति** – १. शम २. दम ३. उपरति ४. तितिक्षा ५. श्रद्धा और ६. समाधान – इन छह सम्पत्तियों से सम्पन्न प्रमाता वेदान्त का अधिकारी

तत्त्व + अर्थ श्रद्धान - 'तत्त्वार्थश्रद्धान' में तत्त्व तथा अर्थ दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि केवल 'अर्थश्रद्धान' कहा जाता तो अर्थ के धन, प्रयोजन, अभिधेय आदि अन्य सभी अर्थों का प्रसङ्ग हो जाता जो कि अभीष्ट नहीं था। केवल 'तत्त्वश्रद्धान' कहा जा सकता था, परन्तु यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि 'तत्त्व' पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व आदि का ग्रहण हो जाता। कतिपय दार्शनिक तत्त्व को एक मानते हैं। अतः इन समस्त दोषों को दूर करने के लिए 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' कहा गया है।

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में भेद—सम्यग्दर्शन का लक्षण है — तत्त्वार्थश्रद्धान। सम्यग्ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

'येन-येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्।'[३]

शङ्का होती है कि सम्यग्दर्शन में भी पदार्थ का निश्चय है और सम्यग्ज्ञान भी पदार्थ निश्चयात्मक रूप ही है। दोनों में फिर क्या भेद दृष्टिगोचर होता है? उत्तर में कहा गया है कि दर्शन निर्विकल्पक है जबकि ज्ञान सविकल्पक है। जितनी भी विकल्पात्मक उपलब्धियां हैं वे सब ज्ञानरूप हैं। सम्यग्दर्शन निर्विकल्पक होने के कारण अन्तर में अभिप्रायरूप से अवस्थित रहता है। आत्मानुभव सहित ही तत्त्वों की श्रद्धा अथवा प्रतीति सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन एवं उसका वैशिष्ट्य

सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में प्रधान है[४] तथा वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' केवल यही लक्षण प्राप्त नहीं होता, अपितु सम्यग्दर्शन की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है तथा उसकी विविध विशेषताओं का उल्लेख किया गया है—

(१) 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है।[५] जब सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या प्राप्त होती है तो बृहदारण्यक की एक श्रुति स्मरण हो आती है - 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।'[६] यह वेदान्त श्रुति भी आत्मसाक्षात्कार की ओर प्रवृत्त करती है और सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या कि 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' दोनों ओर एक लक्ष्य का ही संकेत प्राप्त होता है।

(२) सम्यग्दर्शन का माहात्म्य-वर्णन करते हुए कहा गया है - 'मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे।'[७] अर्थात् सम्यग्दर्शन सर्वदुःखों का नाश करने वाला है अतः इसमें प्रमादी मत बनो। अन्यत्र कहा गया है कि जब यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता तब तक वह दुःखी बना रहता है।[८]

इसी अभिप्राय को वेदान्त दर्शन में भी अभिव्यक्त किया गया है—

परावररूप उस तत्त्व का साक्षात्कार होने पर इस साधक की हृदयग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, समस्त संशय दूर हो जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।[९] जब सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ तथा संशयादि समाप्त हो जायें तो जीव का सुखी होना निश्चित ही है तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर भी जीव परमसुखी होता है।

(३) तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से पूर्व सम्यग्दर्शन का कथन किया गया है। इस सन्दर्भ में सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में पूज्यपादाचार्य भी सम्यग्दर्शन के प्राधान्य का समर्थन करते हैं[१०] –

द्वन्द्व समास का एक नियम है कि अल्पाक्षर वाले पद को पूर्व में रखा जाये। दर्शन की अपेक्षा ज्ञान में अल्पाक्षर हैं। अतः ज्ञान को पूर्व में रखा जाना चाहिए था। परन्तु एक नियम है - 'अभ्यर्हितत्वम्', जो अधिक पूज्य होता है उसको पूर्व में रखा जाता है। 'दर्शन' ज्ञान की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होने से पूज्य है। सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है। अतः रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन का पूर्वप्रयोग किया गया है।

ठीक इसी प्रकार 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति में श्रोतव्यः, मन्तव्यः आदि पदों से पूर्व में द्रष्टव्य पद का प्रयोग कर साक्षात्कार के प्राधान्य को स्वीकार किया गया है।

(४) सम्यग्दर्शन के अनन्तर क्या होता है, इस विषय में कहा गया है - 'सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान इन दोनों से सर्वपदार्थों अथवा तत्त्वों की उपलब्धि होती है। पदार्थों की उपलब्धि होने पर श्रेय तथा अश्रेय का ज्ञान होता है। श्रेय तथा अश्रेय को जानकर वह पुरुष मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक् स्वभावयुक्त होकर अभ्युदय प्राप्त करता है, तदनन्तर निर्वाण को प्राप्त होता है।[११]

वेदान्त दर्शन में साधन-चतुष्टय

वेदान्त दर्शन में वेदान्त के अधिकारी के विषय में चर्चा की गई है। अधिकारी कैसा हो? इस विषय में एक विशेषण प्रयुक्त हुआ है—'साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता'[१२] जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो ऐसा प्रमाता ही वेदान्त का अधिकारी है। वेदान्त का अधिकारी एक प्रकार से सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न होता है। जैन दर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन एवं वेदान्त के साधन-चतुष्टय की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है । अतः वेदान्त के साधन चतुष्टय को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) **नित्यानित्यवस्तुविवेक** – नित्य पदार्थों तथा अनित्य पदार्थों में भेदबुद्धि होना। नित्य तथा अनित्य पदार्थों के प्रति जब भेदबुद्धि होगी तो जीव अनित्य पदार्थों को हेय जानकर उनसे विरक्त हो जायेगा तथा नित्य पदार्थों को ग्रहण कर लेगा। जिस प्रकार कि सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से पदार्थों की उपलब्धि होने पर श्रेय तथा अश्रेय में विवेक होने से पुरुष अश्रेय अथवा मिथ्यात्व को छोड़ देता है तथा श्रेय को ग्रहण कर निर्वाणप्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

(२) **इहामुत्रार्थफलभोगविराग** – इस लोक एवं परलोक में प्राप्त होने वाले फलभोग से वैराग्य होना। वेदान्त दर्शन में ब्रह्मज्ञान के लिए फलभोग-विरक्ति को आवश्यक माना गया है। यह तथ्य जैनदर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन के पांच लक्षणों (शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य) में से निर्वेद की स्मृति दिलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव निर्वेद लक्षण से युक्त होने के कारण सांसारिक (इहलौकिक एवं पारलौकिक) भोगों से विरक्त होता है।

(३) **शमदमादि षट्क सम्पत्ति** – १. शम २. दम ३. उपरति ४. तितिक्षा ५. श्रद्धा और ६. समाधान – इन छह सम्पत्तियों से सम्पन्न प्रमाता वेदान्त का अधिकारी

होता है। जैन दर्शन में प्रतिपादित सम(शम) के अन्तर्गत इनमें से शम, तितिक्षा एवं समाधान का समावेश हो जाता है। दम एवं उपरति का समावेश संवेग एवं निर्वेद में होता है। श्रद्धा को आस्तिक्त्य में समाहित किया जा सकता है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत शमादिषटक् का जैन दर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन के व्यवहार-लक्षणों से साम्य है।

(४) मुमुक्षुत्व – मोक्ष की इच्छा होना मुमुक्षुत्व है। जैन दर्शन में सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष की इच्छा से युक्त होता है, यह तथ्य उसके 'संवेग' नामक लक्षण से अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार वेदान्त में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु मान्य योग्यताएं जैनदर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दृष्टि व्यक्ति से पूर्णतः मेल खाती हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य दर्शनों में भी अन्वेषण करने पर सम्यग्दर्शन की अवधारणा प्राप्त होती है। सांख्यदर्शनसम्मत विवेकख्याति, भगवद्गीताप्रतिपादित समदर्शन आदि सिद्धान्त कहीं न कहीं एकसूत्रता का ही व्याख्यान करते हैं। इसी प्रकार न्यायदर्शन में निरूपित तत्त्वज्ञान[१३] भी सम्यग्दर्शन को ही व्यक्त करता है।

पूर्वाग्रहग्रसित होने के कारण हम आस्तिक-नास्तिक के विभागरूप पञ्जरस्थ हैं। अन्यथा तो सम्यग्दर्शन की अवधारणा तथा वेदान्तसम्मत कतिपय श्रुतियाँ लगभग एकार्थ का प्रतिपादन करती हुई ही प्रतीत होती हैं।

सन्दर्भ

१. तत्त्वार्थ सूत्र, १.१
२. तत्त्वार्थसूत्र, १.२
३. सर्वार्थसिद्धि, १.१
४. भगवती आराधना मूल, ७३६
५. द्रव्यसंग्रह टीका १४.४२.४ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं
६. बृहदारण्यक, ४.४.५
७. भगवती आराधना मूल, ७३५
८. रयणसार, १५८ 'सम्मदंसणसुद्धं हि जावद लभदे हि ताव सुही ।'
९. मुण्डकोपनिषद्, २.२.८
१०. अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति। कथम् अभ्यर्हितत्वम् ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् ।
-सर्वार्थसिद्धि, १.१

११. 'सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ।'
सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥ – दर्शनपाहुड, १५ एवं १६

१२. वेदान्तसार, अधिकारी वर्णन

१३. वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में तत्त्वज्ञान के लिए 'सम्यग्दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है, यथा- अपवर्गोऽधिगन्तव्यस्तस्याधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम् । एवं चतसृभिर्विधाभिः प्रमेयं विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्यतो भावयतः सम्यग्दर्शनं यथा भूतावबोधस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते ।– न्यायभाष्य ४.२ की भूमिका

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

बौद्ध-जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन : एक समीक्षा

¤ डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर'*

जैन-बौद्ध धर्म श्रमण-संस्कृति की अन्यतम शाखायें हैं, इसलिए उनमें पारस्परिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देते हैं। दोनों धर्मों के प्रासाद रत्नत्रय के सबल स्तम्भों पर खड़े हुए हैं। जैनधर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग मानता है और बौद्ध धर्म प्रज्ञा, शील, समाधि से निर्वाण तक पहुंचाता है। महावीर और बुद्ध, दोनों ने संसार को अनित्य और दुःखदायी माना है। उनकी दृष्टि में सांसारिक पदार्थ क्षणभंगुर हैं और उनके प्रति मोह जन्म-मरण की प्रक्रिया को बढ़ाने वाला है। इसका मूल कारण अविद्या, मिथ्यात्व और राग-द्वेष है। राग-द्वेष से अशुद्ध भाव, अशुद्ध भाव से कर्मों का आगमन, बन्धन और उदय, उदय से गति, गति से शरीर, शरीर से इन्द्रियां, इन्द्रियों से विषयग्रहण और विषयग्रहण से सुख-दुःखानुभूति होती है। महावीर ने इसी को 'भवचक्र' कहा है और राग-द्वेष से विनिर्मुक्त को ही मोक्ष बताया है। बुद्ध ने इसी को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा है जिसे उन्होंने उसके अनुलोम-विलोम रूप के साथ सम्बोधिकाल में प्राप्त किया था। उत्तरकाल में प्रतीत्यसमुत्पाद का सैद्धान्तिक पक्ष दार्शनिक रूप से विकसित हुआ और यह विकास स्वभावशून्यता तक पहुंचा।

आष्टांगिक मार्ग तीनों स्कन्धों में संगृहीत हो जाता है। तीन स्कन्ध हैं—प्रज्ञा, शील और समाधि। सम्यक् आजीव, सम्यक् वाचा और सम्यक् कर्मान्त शीलस्कन्ध में, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक्समाधि समाधि स्कन्ध में तथा सम्यग्दृष्टि और सम्यक् संकल्प प्रज्ञास्कन्ध में संगृहीत हैं।[१] शील, समाधि व प्रज्ञा ये तीनों समन्वित रूप में उसी प्रकार विशुद्धि का मार्ग हैं जिस प्रकार जैन धर्म में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के संगठित मार्ग को ही मोक्ष का मार्ग माना गया है। शील से भिक्षु तीन विद्याओं को, समाधि से छह अभिज्ञाओं को और प्रज्ञा से चार प्रतिसंविदों को प्राप्त करता है। इसी तरह शील से स्रोतापन्न और सकृदागामी का, समाधि से अनागामी और प्रज्ञा से अर्हत्व का द्योतन किया गया है।

आष्टांगिक मार्ग का पहला अंग है—सम्यग्दृष्टि, जिसका अर्थ है यथार्थदृष्टि, शुद्धदृष्टि, निर्मल प्रज्ञा। प्रज्ञा, प्रजानन, विचय, प्रविचय, धर्मविचय, सल्लक्षण-उपलक्षण, कौशल, नैपुण्य, भूरिमेधा, परिणायिका, विपश्यना, संप्रजन्य, प्रज्ञेन्द्रिय, प्रज्ञाबल, प्रज्ञाशस्त्र, प्रज्ञा ओभास, प्रज्ञा प्रद्योत, प्रज्ञारत्न और अमोह आदि विविध नामों से सम्यग्दृष्टि अभिहित होती है। इनमें सम्यक् दृष्टि की सभी विशेषतायें इंगित हो जाती हैं। जैसे इनमें जैनधर्म में जिसे तत्त्वदृष्टि अथवा भेदविज्ञान कहा है (समयसार, आत्मख्याति, १५८) बौद्धधर्म में उसी को धर्मप्रविचय की संज्ञा दी गई है। धर्मप्रविचय का अर्थ है—आस्रव-अनास्रव का ज्ञान। इसी को प्रज्ञा कहा गया है। प्रज्ञा का तात्पर्य है अनित्य आदि प्रकारों से धर्मों को जानने वाला धर्म। यह एक कुशल धर्म है जो मोहादि के दूर होने से उत्पन्न होता है। इससे पदार्थ के यथार्थ स्वभाव का ज्ञान हो जाता है। यही तत्त्वज्ञान है।[२] इसमें जैनधर्म का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गर्भित है।

'सम्मादिट्ठि' में श्रद्धा का तत्त्व जुड़ा हुआ है जो शोभनचैतसिकों में एक है। इसका सम्बन्ध विश्वास से है। जो विश्वास उत्पन्न करे वह श्रद्धा है। चित्त की परिशुद्धि करना उसका कृत्य है। जिस तरह कतक फल आदि डालने से जल का कीचड़ नीचे जम जाता

* अध्यक्ष, पालि-प्राकृत-विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

है और जल स्वच्छ हो जाता है, उसी तरह श्रद्धा से चित्त की शुद्धि होती है। दान देने, शील की रक्षा करने, उपोसथ करने एवं भावना का आरम्भ करने आदि कार्यों में श्रद्धा पूर्वगामी होती है। इसलिए इसे बोधिपक्षीय धर्मों का एक विशिष्ट अंग माना गया है।

जैन धर्म में भी श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का एक विशिष्ट अंग माना गया है। वह भेदविज्ञानपूर्वक उत्पन्न होती है। (नियमसार, तात्पर्यटीका, १३)। दर्शन, रुचि, प्रत्यय और श्रद्धा ये उसके समानार्थ शब्द हैं। इसीसे सम्यग्दर्शन के आठ अंगों निःशंकित, निष्कांक्षित आदि का जन्म होता है। संवेग, प्रशमता आदि गुणों का उद्‌भव भी यहीं होता है।

सम्यग्दर्शन और बोधिचित्त

जैनदर्शन जिसे सम्यग्दर्शन कहता है उत्तरकालीन बौद्धधर्म में उसे ही बोधिचित्त कहा गया है। बोधिचित्त शुभ कर्मों की प्रवृत्ति का सूचक है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर साधक नरक, तिर्यक्, यमलोक, प्रत्यन्त जनपद, दीर्घायुष देव, इन्द्रियविकलता, मिथ्यादृष्टि और चित्तोत्पाद विरागिता इन आठ तत्त्वों से विनिर्मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में साधक समस्त जीवों के उद्धार के उद्देश्य से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए चित्त को प्रतिष्ठित कर लेता है। प्रसिद्ध ग्रन्थ बोधिचर्यावतार में इसके दो भेद किये गये हैं—बोधिप्रणिधि चित्त और बोधिप्रस्थान चित्त।

स्व-पर भेदविज्ञान अथवा हेयोपादेय ज्ञान सम्यग्दर्शन है। वह कभी स्वतः होता है, कभी परोपदेशजन्य होता है। संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि के होते हैं। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन बोधिचित्त अवस्था में दिखाई देते हैं। पर उसके अन्य भेद बोधिचित्त के भेदों के साथ मेल नहीं खाते। सम्यग्दृष्टि के सभी भाव ज्ञानमयी होते हैं। मिथ्यात्व आदि कर्म न होने के कारण ज्ञानी को दुर्गति-प्रापक कर्मबन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि भी अधिकांश लक्षणों से विनिर्मुक्त रहता है। वह नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्रीत्व तथा निम्नकुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।[३]

वज्रतन्त्र परम्परा में वज्रसत्त्व बोधिचित्त के रूप में व्याख्यायित है। यह चित्त की एक अवस्था है जिसमें शून्यता और करुणा आत्मा के प्रधान तत्त्व बन जाते हैं। परस्पर मिश्रित होकर तान्त्रिक बौद्धधर्म में शून्यता और करुणा को क्रमशः प्रज्ञा और उपाय की संज्ञा दी गई है। शून्यता पूर्णज्ञान का प्रतीक है जिसमें सांसारिक दुःख निर्मूल हो जाता है और करुणा से व्यक्ति दूसरों के दुःखों से दुःखी हो जाता है। प्रज्ञा तथता है, और उपाय अनुभूति का साधन है जो दुःख से मुक्त कराता है। प्रज्ञा और शून्यता, समानार्थक है, पर करुणा के लिए उपाय का प्रयोग कुछ पारिभाषिकता लिये हुए है। वज्रतन्त्र-परम्परा में इनका बेहद विकास हुआ है।

बोधिचित्त और सम्यग्दर्शन की तुलना करने पर ऐसा लगता है कि बौद्धधर्म में श्रद्धा और करुणा का उपयोग कापालिक साधना में भी किया गया है जहां अहिंसा और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों से साधक बुरी तरह पदच्युत हो जाता है जबकि जैनधर्म का सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी,सम्यक् चारित्र सम्पन्न और मोक्षमार्ग का वीतरागी पथिक होता है।

—न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर ४४०००१, फोन नं. ५४१७२६

संदर्भ

१. मज्झिमनिकाय १.३०१; विसुद्धिमग्ग १६.९५ २. विसुद्धिमग्ग पृ. ३२४ ३. रत्न करण्ड श्रावकाचार ३५-३६

महात्मा गांधी की दृष्टि में जागृत मनुष्य

डा. डी.आर. भण्डारी

जिसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त है, वह जागृत मनुष्य है। महात्मा गांधी के साहित्य एवं चिन्तन में सम्यग्दृष्टि व्यक्ति की सीधी चर्चा नहीं मिलती, किन्तु नैतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से जागृत मनुष्य का संकेत मिलता है। लेखक ने गांधीजी के मन्तव्यों को लेकर जैनदर्शन में प्रतिपादित अहिंसादि सद्गुणों से उन्हें जोड़ा है। जागृत या सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का आचरण कैसा होता है, इस पर प्रस्तुत निबंध में गांधीजी की दृष्टि से विचार किया गया है। —सम्पादक

जैन दर्शन के अनुसार सम्यक् दर्शन के द्वारा ही मानव जागृत होता है एवं उसके द्वारा ही वह मुक्ति की राह में आगे बढ़ता है। यहां तक कि श्रावक धर्म की भूमिका को प्राप्त करने के पूर्व सम्यक् दर्शन की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। महात्मा गांधी ने भी सम्यक् दर्शन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए बताया है कि मानव की जागृति सम्यक् दर्शन द्वारा ही सम्भव है। जागृत मनुष्य ही साधना के मार्ग पर आगे बढ़ पाता है। जैन-आचार्यों ने जिन पाँच महाव्रतों को स्वीकार किया है वे हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। इन्हें गांधीजी ने भी स्वीकार किया है और इनके साथ कुछ और व्रतों को भी अपनाया है जो एकादश व्रतों के रूप में गांधीजी के नैतिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त माने जाते हैं। यहां पर हम इस बात को स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं कि जिन महाव्रतों का पालन करने से, जैन दर्शन के अनुसार, सम्यक् दृष्टि पुष्ट होती है तथा मनुष्य निद्रा से जागृति की ओर बढ़कर 'जागृत मनुष्य' का स्वरूप धारण करता है उन्हीं महान् सिद्धान्तों को गांधीजी ने अपनाकर उन्हें व्यवहार में लाने का सफल प्रयास किया एवं समस्त जगत् को यह दिखाया कि इन सिद्धान्तों की प्रभावशीलता कितनी है। गांधीजी की यह दृढ़ मान्यता है कि नैतिकता और आध्यात्मिकता के इन अमूल्य सद्गुणों को जागृत मनुष्य अवश्य अपनाता है। जब मनुष्य अपने अन्तःकरण के द्वारा इन सद्गुणों को प्राप्त करता है एवं उन पर आचरण करता है तो उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है और इस अवस्था में वह 'जागृत मनुष्य' के रूप में रूपान्तरित होकर अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यहां हम उन कुछ सद्गुणों एवं नैतिक व आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन करना आवश्यक समझते हैं जिन्हें अपनाकर एवं जिन पर आचरण करके, गांधीजी के विचार में, मनुष्य 'जागृत मनुष्य' बन पाता है।

अहिंसा एक सद्गुण है। यह न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामाजिक सद्गुण भी है। गांधीजी के अनुसार अहिंसा जीवन का उच्चतम आदर्श है। जैन धर्म के मत को स्वीकार करते हुए गांधीजी ने भी यह माना है कि अहिंसा का अर्थ है क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि से प्रेरित होकर किसी प्राणी को अपने मन, वचन अथवा कर्म के द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना। अहिंसा के इस निषेधात्मक पक्ष के अतिरिक्त गांधीजी ने इसके भावात्मक पक्ष को भी प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार अहिंसा के अर्थ में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, दया, सहानुभूति, आत्मशुद्धि, आत्मसंयम, निर्भयता

आदि को बनाये रखना है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं का स्थायी समाधान केवल शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही किया जा सकता है, हिंसा द्वारा नहीं। लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यह कायरों का नहीं, वीरों का आभूषण है। कमजोर एवं कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकते। अहिंसा के प्रयोग के लिए असीम आत्मबल की आवश्यकता है। अहिंसक व्यक्ति ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं डरता। इस प्रकार भगवान् महावीर के अहिंसा के सिद्धान्त को वर्तमान युग में गांधीजी ने प्रतिष्ठित किया और बताया कि एक जागृत मनुष्य को अपने आचरण में अहिंसा की पालना करनी चाहिए। उन्होंने कहा कि मनुष्य की गरिमा अहिंसा की प्रतिष्ठा में है। यही बात उसे पशु से अलग करती है। जिस क्षण हमारे में मानव प्रतिष्ठा जागृत होती है उस वक्त हम हिंसा से ऊपर उठ जाते हैं एवं अहिंसा को आचरण बना लेते हैं।

गांधीजी के अनुसार अहिंसा में न केवल प्रेम, करुणा एवं जीवन की पवित्रता है, अपितु उसमें मानव-सम्मान और प्रतिष्ठा भी शामिल है। यह उसका आत्मबल है। मानव प्रतिष्ठा इसी में है कि मनुष्य अपने आत्मबल को पहचाने और उसी के अनुरूप 'जागृत मनुष्य' का आचरण बनाए। 'जागृत मनुष्य' कायर नहीं होता। कायरता मानव-गरिमा के विरुद्ध है। जागृत मनुष्य के लिए अहिंसा का अर्थ अत्याचारी के समक्ष दुर्बलतापूर्वक समर्पण नहीं बल्कि उसके अशुभ संकल्प का अपने समस्त आत्मबल से प्रतिकार करना है।

गांधीजी की यह दृढ़ मान्यता थी कि 'जागृत मनुष्य' सत्य का अनुयायी होता है। वह सत्य का अन्वेषक भी होता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से सत्य का अर्थ है-यथार्थ ज्ञान। सत्य का अर्थ है, 'होने का भाव' या 'अस्तित्व' जो तथ्य जिस रूप में देखा, सुना या अनुभव किया गया है, उसे उसी रूप में व्यक्त करना सत्य है। सत्य सूर्य के समान है, जिसका प्रकाश सबको आलोकित करता है। गांधीजी के अनुसार विचार, वाणी एवं आचरण में सत्य होना ही सत्य है। एक तरह से सत्य के आदर्श को उनके सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का प्राण माना जा सकता है, क्योंकि उनके सभी नैतिक सिद्धान्त सत्य पर ही आधारित हैं। उनके अनुसार सत्य ही ईश्वर है, उसी में ज्ञान तथा आनन्द निहित है और उसी के कारण सम्पूर्ण जगत् का अस्तित्व है। उनके अनुसार सत्य सर्वोच्च नियम है एवं अहिंसा सर्वोच्च कर्त्तव्य । एक 'जागृत मनुष्य' सदैव सत्य आचरण करता है, सम्यक् दर्शन अपनाता है एवं सत्य का अन्वेषक होता है।

एक 'जागृत मनुष्य' के जीवन में ब्रह्मचर्य का बहुत महत्त्व है। सामान्य भाषा में ब्रह्मचर्य का अर्थ है इन्द्रियों एवं वासनाओं का संयम। लेकिन गांधीजी के अनुसार ब्रह्मचर्य का पूर्ण एवं उचित अर्थ ब्रह्म की खोज है। यह पूर्ण इन्द्रिय संयम के बिना असंभव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन तथा कर्म से समस्त इन्द्रियों का पूर्ण संयम अथवा नियंत्रण। ब्रह्मचर्य का लक्ष्य है समस्त मानवीय शक्तियों को आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य पर केन्द्रित करना। इसकी पालना 'जागृत मनुष्य' के लिए वांछित है। गांधीजी ब्रह्मचर्य के पालन के लिए ईश्वरोपासना तथा ईश्वर कृपा को आवश्यक मानते हैं।

जैन दर्शन में 'अस्तेय' की धारणा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जैन नीतिशास्त्र में दूसरे की सम्पत्ति की ओर त्याज्य-भावना से देखने पर बल दिया गया है। गांधीजी ने भी इस धारणा को स्वीकार किया है। 'अस्तेय' का सामान्य अर्थ है चोरी न करना। अर्थात् कोई वस्तु या धन उसके स्वामी की आज्ञा के बिना न लेना। उनके अनुसार चोरी करना हिंसा है, अतएव चोरी न करना अहिंसा है। उन्होंने अस्तेय को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उनके अनुसार दूसरे के धन की चोरी के अतिरिक्त लालच, स्वार्थ, दान न देना, पड़ी हुई वस्तु अथवा अनावश्यक वस्तु रखना तथा अनावश्यक धन संग्रह भी चोरी है। गांधीजी ने कहा है—'मैं कहता हूं कि एक प्रकार से हम लोग चोर हैं, यदि मैं कोई ऐसी वस्तु लेता हूं जिसकी मुझको तत्काल आवश्यकता नहीं है और उसको रखता हूं तो मैं उसे किसी अन्य से चुराता हूं।' उनके अनुसार एक 'जागृत मनुष्य' वह है जो अस्तेय की धारणा के अनुसार अपने जीवन में आचरण करता है। अस्तेय की धारणा जहाँ एक ओर व्यक्ति के जीवन को पवित्र रखकर उसे ऊंचा उठाती है, वहां दूसरी ओर सामाजिक-व्यवस्था को स्वस्थ बनाए रखने में भी योगदान देती है।

जैन दर्शन की भांति गांधीजी ने भी अपरिग्रह को स्वीकार किया है। अपरिग्रह का सामान्य अर्थ है-संचय न करना। जैन दर्शन एवं गांधीजी दोनों ही आवश्यकता से अधिक किसी भी प्रकार के संचय एवं संग्रह के विरुद्ध हैं। एक 'जागृत मनुष्य' सदैव अपरिग्रही होता है। गांधीजी के अनुसार मानव के लिए मन और कर्म से अपरिग्रह आवश्यक है। वे कहते हैं कि धनवान् व्यक्ति धन का स्वामी नहीं बल्कि ट्रस्टी (न्यासी) मात्र है। उन्हें धन को मानवता, समाज या राष्ट्र के हित में ही व्यय करना चाहिए। गांधीजी का कथन है कि एक जागृत मनुष्य अपने शरीर को भी सुख-भोग का साधन न मानकर सम्पूर्ण मानव-जाति तथा प्राणी मात्र की सेवा का साधन समझता है। उसके जीवन में परिग्रह के लिए कोई स्थान नहीं होता।

गांधीजी ने एकादश व्रतों में, जो उनके नैतिक एवं आध्यात्मिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं, में इन पंच महाव्रतों के अतिरिक्त छह और सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। वे हैं-अभय, अस्वाद, अस्पृश्यता, शारीरिक श्रम, स्वदेशी एवं सर्वधर्म समभाव। इनमें से चार सिद्धान्तों-शारीरिक श्रम, स्वदेशी, अस्पृश्यता तथा सर्वधर्मसमभाव का प्रतिपादन उन्होंने तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया था, परन्तु इनका भी नैतिक महत्त्व है। एक 'जागृत मनुष्य' के जीवन में इन सभी एकादश व्रतों या नैतिक सिद्धान्तों की पालना करना महत्त्वपूर्ण है।

महात्मा गांधी ने अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों के द्वारा 'जागृत मनुष्य' के निर्माण एवं उत्थान पर बल दिया। उन्होंने 'जागृत मनुष्य' की आन्तरिक शुद्धि तथा चारित्रिक प्रगति के लिए व्यक्ति को एकादश व्रतों की पालना करने के लिए कहा। इन व्रतों में सामान्यतः वे सभी गुण आते हैं जिन्हें उत्कृष्ट चारित्र के लिए आवश्यक माना जाता है। इनसे ही व्यक्ति में 'जागृत मनुष्यत्व' की प्रतिष्ठा होती है। उदाहरण के लिए सत्य और अहिंसा द्वारा मनुष्य में ईमानदारी, प्रेम, सेवा, परोपकार, मैत्री, भ्रातृत्व आदि उत्तम गुणों का विकास हो सकता है। अस्तेय तथा अपरिग्रह द्वारा

मनुष्य में त्याग की भावना का विकास हो सकता है तथा निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताएं सीमित हो सकती हैं। ब्रह्मचर्य एवं अस्वाद का पालन करके वह अपनी समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा वासनाओं पर उचित नियन्त्रण रख सकता है। अभय के अनुसार आचरण करने से उसमें पर्याप्त आत्मबल, साहस और आत्मविश्वास उत्पन्न हो सकता है। सर्वधर्म समभाव तथा स्वदेशी का पालन करने से मानव में सहिष्णुता, उदारता, देश भक्ति, आदि उत्कृष्ट गुणों की वृद्धि हो सकती है जो उसके आत्म-विस्तार एवं आत्म परिस्कार के लिए बहुत आवश्यक है। शारीरिक श्रम द्वारा न केवल वह स्वस्थ रह सकता है वरन् उत्पादक कार्यों में भाग लेकर समाज की भी पर्याप्त सहायता कर सकता है। अस्पृश्यता निवारण द्वारा मानव को सभी मनुष्यों की समानता एवं गरिमा का महान् संदेश मिलता है, और यह उसे सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। अतः हम कह सकते हैं कि गांधीजी का नैतिक दर्शन जैन धर्म के सम्यक् दर्शन के समान है जो कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास एवं उत्थान में पर्याप्त योगदान करके 'जागृत मनुष्य' का निर्माण करता है, या वैसी कल्पना व भावना को साक़ार करता है।

सम्यक् दर्शन एवं 'जागृत मनुष्य' की धारणा के सन्दर्भ में गांधीजी की 'सर्वोदय की धारणा का उल्लेख करना अति आवश्यक है। सर्वोदय का अर्थ सब लोगों की भलाई या समृद्धि है। गांधीजी का सर्वोदय में अटूट विश्वास था। पाश्चात्य उपयोगितावादियों के 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' के सिद्धान्त से आगे बढकर गांधीजी ने सभी व्यक्तियों के कल्याण को आदर्श माना। समाज के प्रत्येक वर्ग का उद्धार एवं उत्थान उनका लक्ष्य था। गांधीजी के अनुसार 'जागृत मनुष्य' वह है जो सबके अभ्युदय में विश्वास रखता हो एवं अन्य व्यक्ति का शोषण नहीं करता हो। उसकी यह दृढ़ मान्यता होती है कि सभी व्यक्ति समान हैं तथा उनका उत्थान एवं उनकी समानता ही जीवन का लक्ष्य होनी चाहिए। हमारी सम्यक् दृष्टि हमें सर्वोदय के मार्ग में आगे बढ़ाती है। यही वह दृष्टि है जो हमें मानवमात्र के प्रति संवेदनशील बनाकर सभी के उत्थान के मार्ग में हमें प्रवृत्त करती है। इस दृष्टि को अपनाकर ही व्यक्ति जागृत मनुष्य के भाव को साकार करता है। सर्वोदय का प्रयोग जैनाचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय-तीर्थ के रूप में किया था। जिसका तात्पर्य मानव क़ल्याण की भावना से है। गांधीजी ने इसी मानव-कल्याण की भावना को सर्वोदय के रूप में आगे बढाया जो कि मानवता के प्रति उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके सर्वोदय के आदर्श में बहुत से विचार एवं धारणाएं सम्मिलित हैं, जैसे ईश्वर, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह, पवित्र साधन आदि। लगभग यही सब धारणाएं सम्यक् दर्शन की आधार हैं, जिनके द्वारा जागृत मनुष्य की प्रतिष्ठा होती है। मानव-कल्याण की भावना से ओतप्रोत जैन दर्शन एवं महात्मा गांधी दोनों ने ही अपने विचारों के द्वारा एक आध्यात्मिक समाजवाद की स्थापना के बारे में विचार किया है। जिसका लक्ष्य सर्वोदय है तथा जिसका निर्माण 'जागृत मनुष्य' के द्वारा सम्यक् दर्शन को अपनाने पर ही संभव हो सकता है।

-सह आचार्य, दर्शन-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

संशय, युक्ति और विश्वास

☆ डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर*

[मनुष्य के जीवन-व्यवहार में तथा ज्ञान में विश्वास की कितनी भूमिका है, इसका दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए डॉ. भटनागर ने युक्ति या तर्क से होने वाले ज्ञान में भी विश्वास का महत्त्व स्वीकार किया है। विश्वास एक प्रकार से श्रद्धा है जिसे जैनागमों में सम्यग्दर्शन कहा गया है। डॉ. भटनागर ने जैनदर्शन के इस पारिभाषिक शब्द की चर्चा किए बिना इसके महत्त्व का उद्घाटन किया है तथा अंधविश्वास से बचने की ओर संकेत किया है। —सम्पादक

आपने मुझे कुछ बताया। अब मैं कैसे जानूं कि आपने जो मुझे बताया वह विश्वास के योग्य है, सत्य है, अनुसरण के योग्य है, उचित है, वस्तुतः श्रेष्ठ है अथवा उत्तम है? ऐसी शंका करने पर यदि आप धीर और सहिष्णु हैं, तो कदाचित् आप मुझे समझायें, कोई दृष्टान्त दें, अथवा किन्हीं युक्तियों के द्वारा अपनी बात को सिद्ध करना चाहें। कई बार तो शायद आप इतना ही कहना चाहें कि क्या तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं?

संवाद की ऐसी स्थिति में यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'मैं जो जिज्ञासा करता हूं, शंका करता है तथा 'आप' जो मेरी शंका का समाधान करते हैं, मेरे प्रश्न का उत्तर देते हैं, के बीच क्या रिश्ता है। यह रिश्ता गुरु-शिष्य का हो सकता है, दो सम-अवस्था वाले व्यक्तियों के बीच का रिश्ता हो सकता है, जांच कर्ता तथा साक्षी के बीच का सम्बन्ध हो सकता है, आदि। साथ ही स्थिति का स्वरूप एवं परिवेश, यानी देश काल का संदर्भ भी ध्यातव्य है।

शंका नहीं करते हुए कई बार हम किसी बात को सुनते ही या पढ़ते ही स्वीकार कर लेते हैं, मान लेते हैं। ऐसा करते समय हमारा स्वीकार गम्भीर हो सकता है तथा सहज एवं अचिन्तित भी हो सकता है। जो शंका या संशय हमें ऐसी बात के विषय में होता है, वह कई बार किसी बाद की स्थिति में होता है। उस स्थिति में जब हम किसी सम्बन्धित घटना से टकराते हैं, अथवा अपने गतानुभव की दृष्टि के कारण या युक्तिवश हमारा ध्यान पुनः उस बात पर चला जाता है। संशय और विश्वास, जांच पड़ताल और युक्तियुक्त विचार की ये स्थितियां दैनन्दिन जीवन-व्यापार में साधारण जान पड़ती हैं।

संवाद तथा पठन के अतिरिक्त ज्ञान-संबंधी संशय और शंका 'ज्ञान' के हमारे अपने प्रयास से भी सम्बद्ध होते हैं। किसी विषय के सम्बन्ध में जब हम जानने का प्रयास करते हैं, किसी प्रकार का अनुसन्धान करते हैं, तो कई बार हमें लगता है कि हम उस विषय के सम्बन्ध में जो जान पाये हैं, वह अल्प और अपर्याप्त है, भ्रान्त है अथवा अस्पष्ट एवं अनिश्चित है। जानने के संदर्भ में संशय तथा शंका के संदर्भ साधारण दैनन्दिन व्यापार में किसी रूप में उलझते और सुलझते रहते हैं। इन

---

* पूर्व आचार्य, दर्शन-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

अवस्थाओं में किसी निश्चयात्मक स्थिति पर पहुंचने के लिये हम अनेक प्रकार के तरीके अपनाते हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने इस संबंध में अनेक प्रमाण दिये हैं—यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापति, अनुपलब्धि, शब्द, संभव, ऐतिह्य आदि। इस विविधता को मूलतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द में समेकत्र कर लिया जाता है। पश्चिम में भी स्थूल रूप से, इन तीन पर ही बल दिया जाता है। वहां अनुमान को अधिक विशेषीकृत रूप से लिया जाता है। अनुमान पर आश्रित ज्ञान को युक्तियुक्त ज्ञान के अन्तर्गत लिया जाता है। इसके विपरीत विज्ञान का सन्धान तथा अन्वीक्षण मूलतः प्रत्यक्ष पर आश्रित होता है। इन दो प्रवृत्तियों से हटकर धार्मिक विषयों के संदर्भ में शब्द के निकट पड़ने वाले दिव्य उद्घाटन एवं धार्मिक गुणों के प्रामाण्य पर बल दिया जाता है।

जब प्रत्यक्ष तथा युक्ति अथवा अनुमान काम नहीं देते तब बहुधा शब्द अथवा श्रुति का आश्रय लिया जाता है। इस अवस्था में संशय तथा शंका को छोड़कर विश्वास तथा श्रद्धा का पल्ला पकड़ना पड़ता है। ज्ञानियों, सन्तों एवं आप्त पुरुषों का अनुभव, उनकी अनुभूतियों तथा तदनुरूप उनके प्रवचन उस आलोक का स्रोत बनते हैं, जिसमें तत्त्व के स्वरूप को समझने तथा जीवन के लक्ष्य को निश्चित करने में मदद मिलती है। धर्मग्रन्थ अथवा आगम ग्रन्थ भी इसी रूप में मार्गदर्शन का माध्यम समझे जाते हैं। परन्तु जैसा कि सर्वविदित है, ये स्रोत एकरूप तथा किसी एक सुनिश्चित ज्ञान को देने वाले नहीं होते। उनके व्यक्त रूप बहुविध तथा बहुधा एक दूसरे से भिन्नता और विरोध रखते प्रतीत होते हैं। ऐसा न केवल विभिन्न संस्कृतियों के मध्य होता है, अपितु एक ही सांस्कृतिक परम्परा में भी देखा जा सकता है। एक ही धार्मिक सम्प्रदाय कालक्रम में उपसम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है। नये सम्प्रदाय उत्पन्न होते जाते हैं। ये तथ्य विश्वास तथा श्रद्धा की पुष्टि में बाधक बनते हैं तथा संशय एंवं शंका को पुनः जगाते हैं। यद्यपि, इस संदर्भ में एक दिशा सभी धर्मों तथा धर्मग्रन्थों एवं महापुरुषों के प्रवचनों में एक ही पाठ पढ़ने तथा ग्रहण करने का रूप लेती हुई प्रतीत होती है, परन्तु यह सर्व-विदित है कि ऐसा उन मतभेदों, परस्पर तनावों को दूर करने के प्रयास में होता है, जो धर्म-सम्प्रदायों के बाहुल्य तथा उनमें परस्पर मौलिक भेदों के कारण उत्पन्न होते हैं तथा एक प्रकार से अपने प्रेरक उद्देश्य से विपरीत दिशा में जाने वाले बन जाते हैं।

एक धारणा के अनुसार ज्ञान वास्तविक ज्ञान तभी कहला सकता है, जब उसके विषय शाश्वत हों। इसीके अनुरूप मानवीय चेष्टा की सार्थकता भी इस समझ पर आश्रित मानी गई कि उसका लक्ष्य शाश्वत और परम हो और ऐसा मानते हुए, साधारंण आनुभविक तथा लौकिक सन्दर्भ को अर्थशून्य, अज्ञानसूचक, भ्रान्त तथा भ्रष्ट समझा गया। अब यदि इस बात पर ध्यान दें कि मनुष्य की समस्याएं तथा सुविधाएं अधिकतर उसके ऐहिक जीवन से संबंधित हैं, उनका निराकरण तथा समाधान इसी जीवन से संबंध रखते हैं तथा अपेक्षित हैं, तब ज्ञान और कर्म के विषय में भिन्न प्रकार से सोचने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस बात पर पुनः ध्यान देगा आवश्यक लगता है कि क्या ऐसा मानना आवश्यक है कि वास्तविक ज्ञान का विषय

कोई शाश्वत सत् ही हो सकता है? अस्थायी विषय का ज्ञान वास्तविक ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? लौकिक तथा ऐहिक सन्दर्भ में बुद्धि एवं श्रद्धा की क्या भूमिका है?

दैनन्दिन व्यवहार हो, ज्ञान-विज्ञान का अनुसन्धान हो, साधारण व्यक्ति साधारण अनुभव के आधार पर अपना काम चलाता हो, अथवा वस्तुओं या घटनाओं का विधिवत् अन्वीक्षण हो, हम पातें है कि प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा युक्ति तथा विश्वास तीनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका एवं सीमाएं परिलक्षित होती हैं। साधारण सन्दर्भ में यह हम सभी के अनुभव में आता है कि बहुत कुछ हम अनजाने, अनौपचारिक, सुनी सुनाई बातों को मान लेते हैं। इस प्रकार की जानकारी हमारे विचारों तथा निश्चयों पर तब तक प्रभाव ड़ालती रहती है, या यूं कहें कि इस प्रकार की जानकारी पर हमें तब तक संशय या शंका नहीं होती, जब तक हमें अपने कार्यों में किसी प्रकार की हानि अथवा असफलता का सामना नहीं करना पड़ता। ईस प्रकार की बात तब भी होती है जब हमें कुछ पता करना होता है, कुछ खोजना होता है, किसी समस्या का समाधान तलाश करना पड़ता है।

संशय तथा शंका का यह संदर्भ तब एक कठिन उलझन तथा तनाव का रूप ग्रहण कर लेता है जब हम कर्त्तव्य के निर्धारण में किसी स्पष्ट मार्ग अथवा दिशा को नहीं पाते। ऐसी अवस्थाओं में प्राप्त और उपलब्ध जानकारी या तो अपर्याप्त सिद्ध होती है अथवा भ्रान्त तथा व्यामोह पूर्ण। स्पष्ट है ऐसी अवस्था में प्रत्यक्ष से अधिक मदद नहीं मिलती। प्रथम तो प्रत्यक्ष वर्तमान तक सीमित होता है और वर्तमान स्वयं काल का एक विलक्षण आयाम है। वह क्षण से सीमित है, दूसरी ओर अपने इस अस्थायी रूप में वह जैसे सदैव हमारे सम्मुख रहता है। प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में दूसरी कठिनाई यह है कि वह समस्या को एक प्रदत्त के रूप में प्रस्तुत करता है, जबकि उस समस्या का समाधान उसी रूप में प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि ऐसा नहीं होता तो समाधान के लिए अन्वीक्षण की आवश्यकता नहीं होती और उसकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। हां, इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि जब भी समाधान उपलब्ध होगा, तब वह क्षण तो प्रत्यक्ष का विषय होगा और इस दृष्टि से समाधान प्रत्यक्ष से परे नहीं होगा। परन्तु यह तथ्य प्रत्यक्ष के वर्तमान सम्बन्धी विरोधाभासी पक्ष को ही उजागर करता है तथा वह स्वयं एक समस्या एवं उलझन का रूप रखता है। यहाँ हम भ्रान्त प्रत्यक्ष की समस्या को छोड़ रहे हैं जो प्रसिद्ध है तथा अनन्त विचार का विषय रही है।

कहा जा सकता है कि मानवीय चेतना अथवा मानस का एक विलक्षण पक्ष उसकी बुद्धि एवं यौक्तिक क्षमता है। यह क्षमता हमें प्रदत्त के परे, अव्यक्त की ओर ले जाती है तथा जो व्यवहित है उसका परिचय कराती है। यद्यपि बुद्धि हमें प्रदत्तों के प्रत्यक्ष के परे ले जाने में सहायक होती है, परन्तु उसकी सक्रियता के लिये प्रदत्तों, प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् किये गये विषयों तथा गत अनुभव की अपेक्षा होती है। हमें अनुमान अथवा युक्ति के लिये आधार की आवश्यकता होती है। अनुमान तथा युक्ति की प्रक्रिया किन्हीं नियमों के आधार पर अग्रसर होती है। ये नियम ही युक्ति के स्वरूप को नितान्त मनोगत होने से, कल्पनाशील होने से पूर्वाग्रह के दुष्प्रभावों से

बचाते हैं। ज्ञान की वस्तुनिष्ठता किसी सीमा में युक्ति तथा तर्क के नियमों से व्याख्यायित होती है। इस प्रकार युक्ति की सक्रियता के दो महत्त्वपूर्ण घटक हुए (१) वे आधार वाक्य जिन पर युक्ति अपने आरम्भ के लिये टिकी होती है, तथा वे (२) नियम जिनके माध्यम से उसमें गति आती है। अब इनमें पहला घटक युक्ति के निष्कर्षों को भ्रान्त भी बना सकता है। इस संभावना से बचने का एक उपाय हो सकता है कि हम आधार वाक्यों को अन्य आधार वाक्यों के आधार पर सिद्ध करें, तब स्वीकारें। परन्तु फिर हमें इन अन्य आधार वाक्यों के आधार की अपेक्षा रहेगी। अन्ततः हमें ऐसे आधार वाक्य स्वीकार करने पड़ेंगे जो निराधार हों अथवा स्वयं सिद्ध हों। विचारकों ने पाया है कि ऐसे वाक्यों को प्राप्त करने की चेष्टा अभी तक एक मृगमरीचिका की ही तलाश सिद्ध हुई है।

युक्ति का एक दूसरा स्वरूप जो एक जैसे प्रत्यक्ष अथवा अनुभव की आवृत्तियों पर आश्रित होता है हमें गतानुभव के आधार पर भविष्य के सम्बन्ध में निश्चय करने में सहायक होता है। परन्तु भविष्य के सन्दर्भ में कोई भी निष्कर्ष दो प्रमुख कारणों से पूर्ण निश्चित नहीं हो पाता। डेविड ह्यूम जो एक अत्यन्त प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली विचारक हुए हैं, मानते थे कि गतानुभव हमें केवल इतना ही बताता है कि कोई दो घटनाएं एक के बाद एक के रूप में घटी थी तथा ऐसा अनेक बार हुआ था। परन्तु एक घटना के बाद कोई दूसरी घटना ही क्यों घटी इसका उत्तर हमें न तो अनुभव से प्राप्त होता है और न बुद्धि से। अतः गतानुभव के आधार पर भविष्य में घटने वाली घटनाओं के विषय में हमारे निष्कर्ष पूर्वाभास ही हो सकते हैं, वे अधिकाधिक सम्भाव्य हो सकते हैं, पूर्ण या निश्चित नहीं।

इस प्रकार युक्ति द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति सन्दिग्ध रहती है। यहां एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान में आता है। साधारणतया युक्तियां वाक्यों की शृंखला के रूप में होती हैं। वाक्य 'क' 'ख' 'ग'... के आधार पर हम निष्कर्ष 'घ' पर पहुंचते हैं। 'क... घ' यह युक्ति शृंखला का रूप हुआ। इस शृंखला पर विचार करने से एक जिज्ञासा यह होती है कि एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर हम कैसे आते हैं? यदि पहले वाक्य को ही अस्वीकार कर दिया जाय, तब क्या दूसरे वाक्य पर आ सकते हैं? स्पष्ट है, ऐसा नहीं हो सकता। पहले वाक्य से दूसरे वाक्य पर आने के लिये पहले वाक्य का स्वीकार आवश्यक शर्त है। इस स्वीकार का स्वरूप एक प्रकार से विश्वास व्यक्त करना है! प्रत्येक वाक्य के बाद एक अव्यक्त विश्वास-प्रकाशक स्वीकारोक्ति अगले वाक्य तक आने में सहायक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि युक्ति जिस सीमा में ज्ञान के व्यापार में स्वीकार की जाती है या की जा सकती है, अपनी गत्यात्मकता के लिये विश्वास पर टिकी होती है।

विश्वास की, युक्ति के विषय में एक और मौलिक भूमिका है। यदि पूछा जाय कि ज्ञान-व्यापार में युक्ति ही क्यों? जैसा ऊपर संकेत किया गया है, युक्ति के नियम उसे वस्तुनिष्ठता प्रदान करते हैं तथा वे किसी स्थापना या निष्कर्ष को मात्र कल्पना होने से बचाते हैं। युक्ति साधार होती है। परन्तु हम इस प्रक्रिया को भी क्यों स्वीकार करना चाहते हैं? क्योंकि हमें यह सहज ही विश्वास होता है कि युक्ति हमें

स्वीकार करना चाहते हैं? क्योंकि हमें यह सहज ही विश्वास होता है कि युक्ति हमें विश्वास योग्य निष्कर्ष अथवा स्थापनाएं देगी। अन्य शब्दों में, हमें युक्ति-प्रक्रिया पर विश्वास है। ये बातें हमें उस धारणा से विपरीत दिशा में ले जाती हैं, जिसमें विश्वास तथा युक्ति को एक दूसरे से न केवल असम्बद्ध अपितु विरोधी माना जाता है। ऐसे सन्दर्भ सार्थक हो सकते हैं, परन्तु हमने देखा कि ऐसे सन्दर्भ भी हैं जिनमें विश्वास तथा युक्ति एक दूसरे के अधिक निकट होते हैं।

वस्तुतः विश्वास में यदि मात्रा भेद स्वीकार कर लें, अर्थात न्यूनाधिक रूप में विश्वास की बात को लें, तब यह आसानी से देखा जा सकेगा कि हमारे ज्ञान में विश्वास की भूमिका कितनी व्यापक है। राह चलते जब हम किसी अनजान व्यक्ति से किसी का पता अथवा मार्ग के विषय में पूछते हैं, तब उसके उत्तर को विश्वास के साथ, स्वीकार करते हैं। अनजान व्यक्ति की तुलना में हम पहचाने व्यक्ति की बात पर सहजता से विश्वास कर लेते हैं। अनभिज्ञ तथा नौसिखिये की तुलना में विज्ञ तथा विद्वान् की बात को बिना शंका के मान लेते हैं। सन्त, महात्मा जैसे व्यक्तियों की बातों पर तो विश्वास कर लेना अत्यन्त सामान्य बात है। यदि हम अपने दैनिक व्यवहार में प्रत्येक बात को अनुसन्धान के बाद ही स्वीकार करने का नियम बना लें तब शायद जीवन की गति ही अवरुद्ध हो जायेगी।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह समझना है कि यह मानने पर भी कि युक्ति और बुद्धि की सीमाएं हैं, अन्धविश्वास फिर भी सर्वत्र स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह स्वीकार करते हुए भी कि विश्वास की जीवन में व्यापक भूमिका है, निश्चयात्मकता की दृष्टि से अनुसंधान, शंका एवं जिज्ञासा का महत्त्वपूर्ण स्थान है, ऐसा स्वीकार करना पड़ता है।

आर-४, विश्वविद्यालय परिसर,
जयपुर ३०२००४

भगवान तुम्हारी शिक्षा

जीवन को शुद्ध बना लेऊँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से।
सम्यग् दर्शन को प्राप्त करूँ, जड़ चेतन का परिज्ञान करूँ।
जिनवाणी पर विश्वास करूँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से ॥१॥

अरिहंत देव निर्ग्रन्थ गुरु, जिन मार्ग धर्म को नहीं विसरूँ।
अपने बल पर विश्वास करूँ, भगवान तुम्हारी शिक्षा से ॥२॥

हिंसा असत्य चोरी त्यागूँ, विषयों को सीमित कर डालूँ।
जीवन धन को नहीं नष्ट करूं, भगवान तुम्हारी शिक्षा से ॥३॥

-आचार्य श्री हस्ती

सम्यग्दर्शन और श्रीमद् राजचन्द्र

¤ डॉ. यु.के. पुंगलिया

तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है कि सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग के तीन साधनों में से प्रथम साधन है। पंडित सुखलाल जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन में सम्यक् दर्शन का अर्थ बताते हुए कहा है कि जिस गुण के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो वह सम्यग्दर्शन है। यह विवेक उत्पन्न होना अध्यात्मिक विकास का लक्षण है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। दोनों जितने प्रभावी होंगे उतना सम्यक् चारित्र भी शुद्ध होता जाता है। इन तीनों को जैन शास्त्रों में रत्नत्रय कहा है। तीनों के उत्पन्न होने पर आत्मा का अनुभव, साक्षात्कार और मोक्ष प्राप्त होता है।

श्रीमद्जी ने कहा है कि जिनेश्वरों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपदेश इसलिए किया कि साधक दुःख से छुटकारा पाकर सच्चा और शाश्वत सुख तथा मुक्ति प्राप्त करे। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही रहते हैं, किन्तु पहले के बिना दूसरा उत्पन्न नहीं होता।

'मैं कौन हूं?' आदि प्रश्नों के यथार्थ उत्तर जानना, उन पर अटूट श्रद्धा होना, आध्यात्मिक उन्नति के लिये क्या अच्छा क्या बुरा इसका विवेक होना और जो उस उन्नति के लिये आवश्यक और हितकारी है वैसे ही आचरण करने की मानसिक संवेदनशीलता और क्षमता रखना सम्यग्दर्शन है, यह श्रीमद्जी के उपदेश का सार है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए बिना आध्यात्मिक उन्नति होना तो संभव ही नहीं। इतना ही नहीं सम्यक् दर्शन का श्रेय और परिचय हुए बिना सांसारिक धन, संपत्ति, कुटुंबीजन आदि भी मनुष्य को इस जीवन में भी सुखी नहीं बना सकते, क्योंकि ऐसे मनुष्यों में मिथ्यात्व और कषाय (राग-द्वेष आदि) की बलवत्तरता होती है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ उत्पन्न होते हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन का महत्त्व सम्यक् ज्ञान से बहुत ज्यादा है। सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान सही प्रगति नहीं कर सकता, साधक का दुःख और जन्म-मरण का चक्र नष्ट नहीं हो सकता, लेकिन दोनों साथ हों तो सम्यक् चारित्र प्राप्त होने में और उसमें गति होने में दोनों बहुत सहायक होते हैं। सम्यक् चारित्र उत्पन्न होने से ही दुःख-मुक्ति का रास्ता प्राप्त होता है। श्रीमद्जी ने इसलिये पत्रांक नं. ७६२ में कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकत्रता मोक्षमार्ग है। सर्वज्ञों ने अपने ज्ञान से जो तत्त्व प्रतिपादित किये, उनमें दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दर्शन और उन तत्त्वों का बोध होना सम्यक् ज्ञान है तथा उपादेय (ग्राह्य) तत्त्वों का अभ्यास (आचरण) सम्यक् चारित्र है।

उपदेशछाया भाग ३ पाना ६८६-८७ पर श्रीमद्जी ने सम्यक्त्व के बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण विचार प्रदर्शित किये हैं। वे कहते हैं 'देव अरिहंत, गुरु निर्गंथ और केवली का उपदिष्ट धर्म इन तीन की श्रद्धा को जैनों में सम्यक्त्व कहा है। लेकिन गुरु असत होने के कारण देव और धर्म का भान नहीं होता। सद्गुरु मिलने से उस देव और धर्म का भान होता है। इसलिए सद्गुरु के प्रति आस्था ही सम्यक्त्व है।

जितनी-जितनी आस्था और अपूर्वता है, उतनी-उतनी सम्यक्त्व की निर्मलता समझ लेनी चाहिये।

'श्रीमद् राजचन्द्र' इस पुस्तक में श्रीमद्जी के पत्रव्यवहार, काव्य आदि का संकलन है। इस पुस्तक की चतुर्थ आवृत्ति (प्रकाशक श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन अगास, व्हाया आणंद, गुजरात) में जो उनके पत्र या पत्रोतर दिये गये हैं उनमें से पत्र नं. ३२४ में आपने कहा है-'सम्यग्दर्शन का मुख्य लक्षण वीतरामता जानता हूं और वैसा अनुभव है।' यह आपकी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब तक साधक में वीतरागता उत्पन्न नहीं होती तब तक सम्यग्दर्शन या समकित उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा नहीं जा सकता। यहां वीतरागता का मतलब पूर्ण वीतरागता नहीं, लेकिन कषायों का उपशम है। उपशम के साथ-साथ साधक में मिथ्यात्व का अभाव भी अभिप्रेत है।

श्रीमद्जी ने वीतरागता के अतिरिक्त उपदेशछाया में (पाना ७४२) पर सम्यक्त्व के और कुछ लक्षण बताए हैं। वे हैं-

१. कषायों की मंदता और उनके रस की तीव्रता का फीकापन।

२. मोक्षमार्ग की तरफ मुड़ना।

३. संसार बंधन रूप लगना अथवा संसार कड़वा जहर लगना।

४. सब प्राणियों पर दयाभाव, उससे भी विशेषकर स्वयं की आत्मा के प्रति दयाभाव।

५. सत् देव, सत् धर्म और सद्गुरु पर श्रद्धा।

साधक का यथार्थ ध्येय 'आत्मा' यानी आत्मप्राप्ति हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। पाना ७०९ पर श्रीमद्जी ने सम्यक्त्व के दो प्रकार कहे हैं— १. व्यवहार सम्यक्त्व, यानी सद्गुरु के वचनों का श्रवण, उन वचनों पर विचार और उनका अनुभव (२) परमार्थ सम्यक्त्व, यानी आत्मा का परिचय होना।

श्रीमद्जी आगे कहते हैं, अनंतानुबंधी कषायचतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और समकित मोहनीय-इन सात प्रकृतियों का क्षय होने पर सम्यक्त्व प्रगट होता है। मिथ्यात्व मोहनीय का अर्थ है—उन्मार्ग यानी गलत मार्ग को मोक्षमार्ग मानना और मोक्षमार्ग को उन्मार्ग मानना। उन्मार्ग से मोक्ष नहीं हो सकता, दूसरा कोई मार्ग होना चाहिये (मोक्षमार्ग पर श्रद्धा न होना) यह 'मिश्र मोहनीय' है। आत्मा यह हो सकता है, ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' और 'आत्मा यह है' ऐसा निश्चयभाव परमार्थ सम्यक्त्व है।

श्रीमद्जी ने 'व्याख्यानसार' में 'सम्यक् दर्शन' के सम्बन्ध में निम्न बाते कही हैं।

१. आप्त पुरुष, सर्वज्ञ और ज्ञानी पर श्रद्धा और सत्पुरुष, जो सर्वज्ञ की वाणी का उपदेश देते हैं उन पर श्रद्धा सम्यक्दर्शन है।

२. जिस साधक का अज्ञान और अहंकार दूर हुआ हो वही सम्यग्दर्शन का अधिकारी है।

३. सम्यग्दर्शन प्राप्त उसी को हो सकता है जिसने पूर्ण दृढ़ता से मोक्षमार्ग को अपनाया है।

४. सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्नत्रय मिल कर धर्म बनता है। इस धर्म की प्राप्ति के बाद कर्म-बंध नहीं होता।

५. सम्यग्दर्शन का प्रमुख लक्षण वीतरागता है।

श्रीमद्जी के प्रसिद्ध 'मूलमार्ग' काव्य में रत्नत्रय की अतिशय सारभूत व्याख्या की गई है। उस काव्य में आपने बताया है कि सम्यक्त्व यानी आत्मा शरीर से भिन्न है, वह नित्य है और उसके गुण, ज्ञान और उपयोग हैं इस तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। 'सम्यक्त्व' के और प्रकार बताते हुए आपने बताया है कि आत्मा के ज्ञान, उपयोग, शुद्धता, नित्यता आदि गुणों पर अटूट और अखंड श्रद्धा को 'क्षायिक' सम्यग्दर्शन और मध्यमध्य में उस श्रद्धा में विस्मृति या खंड हो जाता हो या वह क्षीण होता हो तो उसे क्षायोपशमिक समकित कहा जाता है।

श्रीमद्जी ने यह भी बतला दिया है कि जिसे सम्यक् दर्शन हुआ है, वह सांसारिक और व्यावहारिक कामों से, क्रियाओं से मुक्त हो जाएगा ऐसी बात नहीं। साधक वे सब कार्य या कर्तव्य बिना आसक्ति, मोह, या अहंकार के करता रहता है।

श्रीमद्जी द्वारा रचित 'आत्मसिद्धि' (जिसे पंडित सुखलालजी ने 'आत्मोपनिषद्' कहा है) सम्यक् दर्शन की दृष्टि से बहुत उपयुक्त है। आत्मसिद्धि में कहे हुए—१ आत्मा है २ आत्मा नित्य है ३ आत्मा कर्त्ता है ४ आत्मा भोक्ता है ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय है, इन छह पद-तत्त्वों को जानना और चिंतन करना साधक के लिए बहुत आवश्यक है। ज्ञानियों ने इन छह पदों को सम्यक् दर्शन का उत्पत्ति-स्थान बताया है।

छह पदों के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक और उपयोगी है। प्रथम पद 'आत्मा है' यह जानना, उस पर श्रद्धा होना सम्यक् दर्शन होने के लिये और आत्म-सिद्धि के लिये मूलभूत बात है। आत्मा पुद्गल नहीं होने से और अरूपी होने से वस्त्र आदि के समान बताया नहीं जा सकता, लेकिन उसका अस्तित्व और अनुभव हमें पलपल होता है। आत्मा ही ज्ञान है और उपयोग उसका लक्षण है। इस कारण वह जानता है और संवेदन का अनुभव करता है। पुद्गल शरीर में यह क्षमता नहीं है।

दूसरा पद है—'आत्मा नित्य अविनाशी है।' वह न कभी उत्पन्न हुआ न कभी उसका अंत है। हम शरीर नहीं, आत्मा हैं। शरीर तात्कालिक है, लेकिन आत्मा नित्य है। वह इस जन्म के पहले था और जन्म के पश्चात् भी रहने वाला है।

तीसरा पद है—'आत्मा कर्ता है।' वह शुभ या अशुभ क्रिया करता है। दूसरे पदार्थों की तरह आत्मा में क्रिया करने की क्षमता है। जब वह अपनी क्षमता का उपयोग आत्मविकास के लिए करता है, तो आत्मा अपने आपको शुद्ध बना सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसे उसको अपने स्वभाव में होना कहा जाता है।

चौथा पद है—'आत्मा भोक्ता है।' आत्मा कर्ता होकर जो कर्मवर्गणा एकत्रित

करता है, उसके अच्छे या बुरे फल उसे भुगतने ही पड़ते हैं। कार्य-कारण का तत्त्व यहां कार्यरत होता है। यह कार्य मानसिक, वाचिक और कायिक इस तरह तीनों प्रकार का होता है, जिसे जैन शास्त्रों में योग कहा है।

पांचवा पद—'मोक्ष या मुक्ति है।' आत्मा में क्रिया करने की क्षमता है, वैसे ही कर्म-निर्जरा करने की भी क्षमता है। वह कर्मों को नियत समय से पहले भी अपने पुरुषार्थ से कर्म भोग कर नष्ट. करता है (निर्जरा करता है) और समभाव और शांतिपूर्वक भोगे तो नये कर्म उत्पन्न नहीं होने देता। इस प्रकार की आत्मशक्ति बढ़ाने के लिए साधक को स्वाध्याय, ध्यान, सत्संग और सतत आत्मभावना में रहने का अभ्यास करना आवश्यक है। ऐसे साधक का आत्मसामर्थ्य बढ़ने के कारण उसे संसारी कार्यों में कोई आसक्ति नहीं रहती, उसका देहाध्यास कम हो जाता है और उसकी आत्मा की शक्ति वृद्धिगत होती है।

छठा पद है—'मोक्ष या मुक्ति का उपाय है।' सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना और आत्मा के पुरुषार्थ का उपयोग करने से कर्मों की निर्जरा की जा सकती है और पूर्ण वीतरागता प्राप्त होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

इस तरह 'आत्मसिद्धि' ग्रन्थ के छह पदों का अभ्यास, चिंतन और सतत ध्यान (आत्मभावना) करने से साधक को सम्यक् दर्शन आसानी से प्राप्त हो सकता है। इससे साधक को 'स्वस्वरूप' का अनुभव होता है। सतत आत्मभाव में रहने के कारण कषाय, विषय-वासना साधक को सताती नहीं हैं, वे दूर रहती हैं और साधक अखंड रूप से आत्मस्वरूप में 'स्वभाव' में रह सके तो उसके लिए केवलज्ञान, मुक्ति (अर्थात् सब दुःखों से मुक्ति) और शाश्वत सुख दूर नहीं रहता।

—सम्यक्, ८१/११ बानेर रोड, औंध
पुणे-४११००७

समकित नहीं लियो रे

समकित नहीं लियो रे, यो तो रुलियो चतुरगति मांही,
त्रसथावर की करुणा कीनी, जीव न एक विराधियो;
तीन काल सामायिक की पण, शुद्ध उपयोग न साध्यो ॥१॥समकित...

मुँह बोलण को त्याग ही लीनो, चोरी को भी त्यागी,
व्यावहारिक में कुशल भयो पण, अन्तरदृष्टि न जागी ॥२॥ समकित...

निज पर नारी त्यागन करके, ब्रह्मचर्यव्रत लीधो
स्वर्गादिक या को फल पामे, निजकारण नहीं सीधो ॥३॥ समकित।....

ऊर्ध्वभुजाकरि उंधो लटकियो, भस्मीरमाय धूम घटके,
जटा झूठ सिर मुंडे झूठो, श्रद्धा बिन भव भटके ॥४॥ समकित...

द्रव्य किया सब त्याग परिग्रह द्रव्यलिंग धर लीनो,
देवीचन्द कहे इण विधि तो हम बहुत बार करलीनो ॥५.। समकित...

प्रेषक - मीठालाल मधुर, बालोतरा

गीता का सम्यक् दर्शन - समदर्शन

¤ डॉ. नरेन्द्र अवस्थी*

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् कर्म ये तीनों श्रीमद्‌भगवद्गीता के वे सूत्र हैं जिनको जीवन में उतारने पर जीवन केवल जीवन न रहकर एक सम्पूर्ण योग बन जाता है। सम्यक् ज्ञान से तात्पर्य है - अद्वैत बोध, सम्यक् दर्शन से तात्पर्य है - समदर्शन तथा सम्यक् कर्म से तात्पर्य है - निष्काम कर्म। सम्यक् ज्ञान से ही सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् दर्शन से ही सम्यक् कर्म सम्भव है। दूसरे शब्दों में सम्यक् ज्ञानी ही समद्रष्टा तथा समद्रष्टा ही निष्काम कर्मयोगी हो सकता है।

सम्यक् ज्ञान

श्रीमद् भगवद्गीता के सातवें अध्याय में भगवान् ने विज्ञान सहित ज्ञान के बारे में बतलाने की प्रतिज्ञा की है।(गीता, ७.२) ईशावास्य उपनिषद् के 'एकत्वमनुपश्यतः' की तरह गीताकार की दृष्टि में भी ज्ञानी 'एकभक्ति' होता है।(गीता, ७.१७) इसलिये भगवान् कहते हैं कि सर्वत्र वासुदेव को अनुभव करने वाला महात्मा सुदुर्लभ है।(गीता ७.१९) वस्तुतः यही अद्वैत बोध रूप सम्यक् ज्ञान है जिसका उपनिषद्-साररूप गीता में पदे-पदे निरूपण है।

चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ में ही भगवान् ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान को बतलाते हैं—

'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।गीता, १४.१

इस उत्तम ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) को जानकर सभी मुनिलोग परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं। इस सम्यक् ज्ञान से होने वाली सिद्धि क्या है? अग्रिम श्लोक में इसी का वर्णन है—

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।'

इस सम्यक् ज्ञान का आश्रय लेकर व्यक्ति ईश्वर के साथ एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। अद्वैतभाव में स्थित हो जाते हैं। यहाँ 'साधर्म्य' का अर्थ 'समानधर्मता' नहीं है जिससे कि ईश्वर और पुरुष अलग-अलग हों, क्योंकि गीता में क्षेत्रज्ञ और ईश्वर में अभेद स्वीकार किया गया है। भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य कहते हैं—

"न तु समानधर्मतां साधर्म्यं क्षेत्रज्ञेश्वरयोः भेदानभ्युपगमाद् गीताशास्त्रे।"(गीता १४.२ पर शाङ्करभाष्य)

यह सम्यक् ज्ञान या सात्त्विक ज्ञान अथवा उत्तम ज्ञान अद्वैत बोध ही है। स्वयं भगवान् के शब्दों में—

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।"—गीता, १८.२०

अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त भूतों में

---

* सह आचार्य ,संस्कृत विभाग,जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,जोधपुर

एक अव्ययभाव अर्थात् आत्मवस्तु को देखता है तथा अलग-अलग शरीरों में अविभक्त आत्म-तत्त्व को देखता है वही सात्त्विक ज्ञान-सम्यक् ज्ञान है।शाङ्करभाष्य (गीता १८.२०) में कहा है— तद् ज्ञानम् अद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सम्यग्दर्शनं विद्धि ।'

सम्यक्-दर्शन

सम्यक् ज्ञान का स्वाभाविक परिणाम सम्यक् दर्शन—समदर्शन है। गीता में आद्योपान्त इसी समदर्शन की महिमा गायी गयी है। उपदेश के रूप में गीता का प्रारम्भ जिस श्लोक से माना गया है वह प्रारम्भिक श्लोक समदर्शन की महत्ता स्पष्ट करता है—

'अशोच्यान-वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनागतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।गीता , २.११

इसके बाद तो भगवान् ने लगभग प्रत्येक अध्याय में समदर्शन या समत्व योग की बात कही है—

'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।' गीता, २.१५

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।' २.३८

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।' २.४८

'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।' २.५७

'समः सिद्धावासिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।' ४.२२

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' ५.१९

'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शितः।' ५.१८

'योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।' ६.५८ 'समबुद्धिर्विशिष्यते।' ६.९

'ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। ६.२९

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।' ९.२९

'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।' १२.४

'निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।' १२.१३

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।' १२.१८

'नित्यं च समचित्तत्वम्' १३.९

'समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।' १४.२४

'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।' १८.५४

स्पष्ट है कि समदर्शन परमश्रेय का उत्तम साधन है। यह समदर्शन अद्वैतबोध का परिणाम है। बिना अद्वैतबोध के समदर्शन सम्भव नहीं।

गीता का सम्यक् दर्शन - समदर्शन

¤ डॉ. नरेन्द्र अवस्थी*

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् कर्म ये तीनों श्रीमद्‌भगवद्गीता के वे सूत्र हैं जिनको जीवन में उतारने पर जीवन केवल जीवन न रहकर एक सम्पूर्ण योग बन जाता है। सम्यक् ज्ञान से तात्पर्य है - अद्वैत बोध, सम्यक् दर्शन से तात्पर्य है - समदर्शन तथा सम्यक् कर्म से तात्पर्य है - निष्काम कर्म। सम्यक् ज्ञान से ही सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् दर्शन से ही सम्यक् कर्म सम्भव है। दूसरे शब्दों में सम्यक् ज्ञानी ही समद्रष्टा तथा समद्रष्टा ही निष्काम कर्मयोगी हो सकता है।

सम्यक् ज्ञान

श्रीमद् भगवद्गीता के सातवें अध्याय में भगवान् ने विज्ञान सहित ज्ञान के बारे में बतलाने की प्रतिज्ञा की है।(गीता, ७.२) ईशावास्य उपनिषद् के 'एकत्वमनुपश्यतः' की तरह गीताकार की दृष्टि में भी ज्ञानी 'एकभक्ति' होता है।(गीता, ७.१७) इसलिये भगवान् कहते हैं कि सर्वत्र वासुदेव को अनुभव करने वाला महात्मा सुदुर्लभ है।(गीता ७.१९) वस्तुतः यही अद्वैत बोध रूप सम्यक् ज्ञान है जिसका उपनिषद्-साररूप गीता में पदे-पदे निरूपण है।

चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ में ही भगवान् ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान को बतलाते हैं—

'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।गीता, १४.१

इस उत्तम ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) को जानकर सभी मुनिलोग परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं। इस सम्यक् ज्ञान से होने वाली सिद्धि क्या है? अग्रिम श्लोक में इसी का वर्णन है—

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।'

इस सम्यक् ज्ञान का आश्रय लेकर व्यक्ति ईश्वर के साथ एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। अद्वैतभाव में स्थित हो जाते हैं। यहाँ 'साधर्म्य' का अर्थ 'समानधर्मता' नहीं है जिससे कि ईश्वर और पुरुष अलग-अलग हों, क्योंकि गीता में क्षेत्रज्ञ और ईश्वर में अभेद स्वीकार किया गया है। भाष्यकार श्री शङ्करचार्य कहते हैं—

"न तु समानधर्मतां साधर्म्यं क्षेत्रज्ञेश्वरयोः भेदानभ्युपगमाद् गीताशास्त्रे।"(गीता १४.२ पर शाङ्करभाष्य)

यह सम्यक् ज्ञान या सात्त्विक ज्ञान अथवा उत्तम ज्ञान अद्वैत बोध ही है। स्वयं भगवान् के शब्दों में—

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।"–गीता, १८.२०

अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त भूतों में

* सह आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक् कर्म का शरीर में समन्वय

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर इन तीनों शरीरों का सम्मिलित रूप हमारा यह शरीर है। स्थूल शरीर से जाग्रत अवस्था में कर्म होता है सूक्ष्म शरीर से स्वप्न अवस्था में दर्शन होता है तथा कारण शरीर से सुषुप्ति अवस्था में मात्र अद्वैत बोध होता है।

कर्म , दर्शन और बोध तीनों अवस्थाओं मे सभी को समान रूप से होते हैं। मोर्क्ष का अनुयायी इन तीनों के सम्यक्त्व का निर्वाह करता है। मोक्षमार्गी चाहता है कि मेरे स्थूल शरीर से निष्काम कर्म हो, सूक्ष्म शरीर से समदर्शन हो तथा कारण शरीर से अद्वैत बोध हो।

स्थूल शरीर से निष्काम कर्म सहज होना चाहिए

निष्काम कर्म की सहजता से तात्पर्य है—जैसे प्राण कर्म। शरीर में श्वास-प्रश्वास का कर्म निष्काम कर्म है। काम, क्रोध, लोभ, मोह सबके साथ प्राण हैं। लेकिन प्राणों को न क्रोध से राग है न काम से विराग। प्राण असङ्ग हैं। उसी प्रकार हमारी इन्द्रियों से जो भी कार्य हों उनमें आसक्ति न हो। शरीर श्री गुरुदेव का मन्दिर है। इससे श्रीगुरु जो भी काम, जब भी जिस भी रूप में करवाना चाहें करवाने दें। हमें श्री सद्‌गुरु के द्वारा इस शरीर के माध्यम से किये जाने वाले कार्यों का द्रष्टा मात्र बनने का प्रयास करना है। प्राणायाम प्राणों से परे जाने की प्रक्रिया है । प्राणों से परे जाने पर ही द्रष्टा बनना सम्भव है।

सूक्ष्म शरीर के स्तर पर समदर्शन स्वाभाविक है

सूक्ष्म शरीर की स्थिति में यथा स्वप्न की स्थिति में समदर्शिता स्वाभाविक है। स्वप्न में प्राणों के चलते हुए भी प्राणों का भान नहीं होता। व्यक्ति प्राणों से परे होता है। उस समय मन काम करता है। उस मानसिक स्तर पर बड़ी से बड़ी वस्तु भी उतना ही आकार घेरती है, जितना छोटी से छोटी वस्तु। महल, हाथी भी उतने ही आकार के हैं जितने कि मक्खी, मच्छर आदि। अत: उस स्तर पर समदर्शित्व स्वाभाविक है।

कारण शरीर में अद्वैत बोध वस्तु स्थिति है

सुषुप्ति अवस्था वाले कारण शरीर में अद्वैत बोध एक वस्तुस्थिति है। व्यक्ति अद्वैत आत्मानन्द में लीन रहता है। माण्डूक्य श्रुति में इसे 'आनन्दभुक् चेतोमुख:' कहा है। जागने पर जो 'सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्' कहा जाता है उसमें 'सुखमहमस्वाप्सम्'। यह आनन्दभुक् का अनुभव है और किञ्चिदवेदिषम् , यह चेतोमुख का अनुभव है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गीतोक्त सम्यक् ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक् कर्म मनुष्य शरीर में सर्वथा सम्भव हैं।

२१/५४, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर

सम्यक् कर्म

सम्यक् दर्शन की सहज परिणति सम्यक् कर्म अर्थात् निष्काम कर्म में होती है। निष्काम कर्म से तात्पर्य आसक्ति रहित कर्म से है–

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥–गीता, ३.९

जब तक राग-द्वेष रहेंगे तब तक अनासक्त कर्म नहीं हो सकता। इसीलिये सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में समदृष्टि हुए बिना निष्काम कर्म सम्भव नहीं। भगवान् ने कर्म के सन्दर्भ में अनासक्त कर्म के महत्त्व को ही स्पष्ट किया है–

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥–गीता, ४.१८

'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥'४.१९

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥'४.२०

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'५.१०

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥५.११

इत्यादि अनेक श्लोक अनासक्त कर्म करने के लिए उपदिष्ट हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम छः अध्यायों में मुख्यतः सम्यक् कर्म रूप निष्काम कर्म का, सात से लेकर बारहवें अध्याय तक सम्यक् दर्शन रूप समदर्शन का तथा तेरहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक प्रधानतः सम्यक् ज्ञान रूप अद्वैत बोध का निरूपण है।

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् कर्म ये तीनों श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार मोक्षमार्ग हैं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या ये तीनों अलग-अलग रूप से मोक्षमार्ग हैं या एक साथ सम्मिलित रूप से। इसका उत्तर यह है कि साधक अवस्था में पहले सम्यक् कर्म का अभ्यास, तत्पश्चात् सम्यक् दर्शन रूप समदर्शन का भाव और अन्त में सम्यक् ज्ञान रूप अद्वैत बोध की स्थिति आती है। पहले जो यह कहा गया कि अद्वैत बोध से समदर्शन और समदर्शन से ही निष्काम कर्म सम्भव है उसका तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्त दशा में व्यक्ति के जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् कर्म हैं वे ही वास्तविक हैं, स्थिर हैं। साधना अवस्था में तो इन सबका प्रयास किया जाता है।

फिर विवेक-दृष्टि उदित होती है, जो काम का अन्त कर प्राणी को चिर-शांति तथा स्वाधीनता एवं चिन्मयता की ओर उन्मुख कर देती है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि जागृत होती है जो भेद तथा दूरी का अन्त कर उसे अपने ही में संतुष्ट कर देती है। अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में प्रीति की दृष्टि का उदय होना स्वाभाविक है। प्रीति की दृष्टि समस्त दृष्टियों में एकता का बोध कराती है, क्योंकि प्रीति सभी से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। प्रीति की दृष्टि रसरूप है। प्रीति की दृष्टि रसस्वरूप होने से प्रेमास्पद में नित-नूतनता का बोध कराती है। प्रीति पूर्णरूप से प्रीतम को देख ही नहीं पाती, क्योंकि प्रीति और प्रीतम दोनों ही अनन्त, दिव्य तथा चिन्मय हैं। प्रीति के साम्राज्य में जड़ता का लेश नहीं है। प्रीति पूर्ति-निवृत्ति से रहित होने से मिलन में वियोग और वियोग में भी मिलन का रस प्रदान करती है। अर्थात् प्रीति की दृष्टि से मिलन और वियोग दोनों ही रसरूप हैं। प्रीति स्वरूप से ही रसरूप है। उसमें अस्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं है, इसी कारण अखण्ड तथा अनन्त है। प्रीति एक में दो और दो में एक का दर्शन कराती है अथवा यों कहो कि वह एक और दो की गणना से विलक्षण है। उसमें भेद और भिन्नता की तो गंध ही नहीं है।

इन्द्रिय और बुद्धि-दृष्टि का द्वन्द्व जब तक रहता है तब तक चित्त में अशुद्धि रहती है। ये दोनों दृष्टियां प्रतीति के क्षेत्र में ही कार्य करती हैं। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव वस्तुओं की स्थिति का अन्त कर उनसे अतीत के जीवन की लालसा जागृत करता है। इन्द्रिय दृष्टि ने जिन वस्तुओं की स्थिति स्वीकार की थी बुद्धि-दृष्टि उस स्थिति को वस्तुओं के उत्पत्ति-विनाश का क्रममात्र मानती है और कुछ नहीं अर्थात् वस्तु की स्थिरता बुद्धि-दृष्टि स्वीकार नहीं करती। उसका परिणाम यह होता है कि दृश्य से विमुखता हो जाती है और विवेक दृष्टि उदित होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है क्योंकि अशुद्धि अविवेकसिद्ध है।

इन्द्रिय-दृष्टि भोग की रुचि को सबल बनाती है, बुद्धि-दृष्टि भोगों से अरुचि उत्पन्न करती है और विवेक-दृष्टि भोगवासनाओं का अन्त कर जड़-चिद्-ग्रन्थि को खोल देती है। जिसके खुलते ही अन्तर्दृष्टि उदय होती है, जो अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृत-कृत्य हो जाती है अर्थात् पर और स्व का भेद गल जाता है। अन्तर्दृष्टि श्रमरहित स्वाभाविक है, गति और स्थिरता दोनों से विलक्षण है। वह सब प्रकार के अभिमान का अन्त कर देती है। विवेक-दृष्टि ने जिस चिन्मय राज्य में प्रवेश कराया था, अन्तर्दृष्टि उसी में सन्तुष्ट कर कृत-कृत्य कर देती है।

इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि शासन करती है और बुद्धि-दृष्टि को विवेक-दृष्टि प्रकाश देती है और अन्तर्दृष्टि विवेक-दृष्टि को पुष्ट करती है। जब बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के उत्पन्न किये हुए राग का नाश कर देती है तब अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में बदल जाता है अर्थात् स्वार्थ-भाव सेवा-भाव में विलीन हो जाता है, जो रागरहित प्रवृत्ति में हेतु है। रागरहित प्रवृत्ति बाह्य जीवन में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है, जिससे परस्पर में कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता सुरक्षित रहती है जिससे वैर-भाव की गन्ध भी नहीं रहती। वैर-भाव का अन्त होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव भले ही असाधन रूप हो, क्योंकि वह राग का पोषक है, परन्तु बुद्धि-दृष्टि के नेतृत्व में इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग साधन रूप है, कारण कि बुद्धि-दृष्टि भाव

दृष्टि-भेद

☆ प्रज्ञाचक्षु स्वामी शरणानन्द

प्रस्तुत लेख में वर्णित इन्द्रिय दृष्टि को मिथ्यादर्शन, बुद्धिदृष्टि को क्षयोपशमलब्धि, विवेकदृष्टि को सम्यग्दर्शन, अन्तर्दृष्टि को सम्यक् चारित्र एवं प्रीति दृष्टि को स्वरूपाचरण समझा जाये तो यह लेख जैनदर्शन के साथ साम्य प्रस्तुत करने में सहायक बनेगा। -सम्पादक.

व्यक्ति एक है, दृश्य भी एक है, पर दृष्टियां अनेक हैं। व्यक्ति जिस दृष्टि से दृश्य को देखता है उसके अनुसार उस पर प्रभाव पड़ता है। इन्द्रिय-दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है। इसके प्रभाव की आसक्ति से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रिय-दृष्टि से दृश्य में सत्यता, सुन्दरता तथा अनेकता का भास होता है। अथवा यों कहो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध विषयों में रुचि उत्पन्न होती है, जिससे इन्द्रियां विषयों के, मन इन्द्रियों के और बुद्धि मन के आधीन हो जाती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियां विषयों के अधीन होते ही वस्तुओं में जीवन-बुद्धि हो जाती है। जिसके होते ही प्राणी सुखलोलपुता, जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व में आबद्ध होकर सुखी-दुःखी होने लगता है। ऐसा कोई संकल्प पूर्ति का सुख है ही नहीं जिसके आदि और अन्त में दुःख का दर्शन न हो। इतना ही नहीं सुखकाल में भी सुख में स्थिरता नहीं रहती। जिस प्रकार तीव्र भूख लगने पर प्रथम ग्रास में जितना सुख भासता है उतना दूसरे में नहीं अर्थात् प्रत्येक ग्रास में क्रमशः सुख की क्षति होती जाती है और अन्तिम ग्रास में सुख नहीं रहता, केवल भोग की क्रिया-जनित सुखद स्मृति ही रह जाती है, जो नवीन संकल्पों को उत्पन्न करती है और प्राणी पुनः उसी स्थिति में आ जाता है जिसमें संकल्प-पूर्ति के सुख से पूर्व था अर्थात् संकल्प-उत्पत्ति का दुःख ज्यों का त्यों भासने लगता है। उसी प्रकार प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति का परिणाम होता है।

इस दुष्परिणाम की अनुभूति से व्यक्ति को इन्द्रियदृष्टि पर सन्देह होता है। इसके होते ही बुद्धि-दृष्टि का आदर होने लगता है। ज्यों-ज्यों आदर बढ़ने लगता है त्यों-त्यों इन्द्रियदृष्टि का प्रभाव मिटने लगता है। सर्वांश में प्रभाव मिट जाने पर अन्य वस्तुओं की तो कौन कहे जिस शरीर में सत्यता, सुन्दरता, सुखरूपता प्रतीत होती थी, वह शरीर मल-मूत्र की थैली तथा अनेक व्याधियों का घर प्रमाणित होता है। बुद्धि-दृष्टि के स्थायी होते ही शरीर आदि वस्तुओं से संबंध विच्छेद करने की रुचि उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्तन तथा क्षणभंगुरता का दर्शन स्पष्ट होने लगता है। अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से जैसी प्रतीत होती थी, अर्थात् उसका एक अपना अस्तित्व मालूम होता था, वह नहीं मालूम होता अपितु वह अनेक वस्तुओं का समूह प्रतीत होता है। इतना ही नहीं बुद्धि-दृष्टि से अनेकता में एकता और व्यक्त में अव्यक्त प्रतीत होता है । इस कारण वस्तुओं की आसक्ति मिट जाती है और वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है जो सभी कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। बुद्धि-दृष्टि से राग वैराग्य में और भोग योग में वदल जाता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

¤ आचार्य रजनीश*

सम्यग्दर्शन के आठ अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनका सामान्य परिचय ग्रन्थ में अन्यत्र भी आया है, किन्तु आचार्य रजनीश की अपनी चिन्तनशैली है, अतः उनके विचार 'जिन-सूत्र' ग्रन्थ से यहां संगृहीत सम्पादित हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं—निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

सम्यग्दर्शन का पहला अंग, पहला चरण है—निःशंका अर्थात् अभय। मन में कोई शंका न हो, कोई भय न हो।लेकिन हम तो बड़ी आशंका से भरे हैं। और हमारी आशंकाएँ बड़ी अद्भुत हैं। हमारी आशंकाएँ ऐसी हैं कि जैसे कोई नंगा कहे कि मैं नहाऊं कैसे, क्योंकि नहां लूंगा तो कपड़े कहां निचोडूंगा, कपड़े कहाँ सुखाऊंगा। नंगा है, कपड़े हैं नहीं, लेकिन स्नान नहीं करता इस डर से कि कहीं कपड़े भीग न जायें। भिखारी है, डरता है कि कहीं चोर-लुटेरे न मिल जाएं। पास कुछ भी नहीं। लुटेरे मिल भी जाएंगे तो उन्हीं को लुटना पड़ेगा, कुछ देकर जाना पड़ेगा। लेकिन, भिखारी भी डरता है कि कहीं चोर-लुटेरे न मिल जाएं। हमारी दशा ऐसी ही है। हमारे पास कुछ भी नहीं और आशंका बहुत है कि कहीं खो न जाये।

कभी तुमने सोचा, क्या है तुम्हारे पास जो खो जायेगा? हाथ तुम्हारे खाली हैं, हृदय तुम्हारा रिक्त है, सम्पत्ति के नाम पर कुछ ठीकरे इकट्ठे कर रखे हैं जो मौत तुमसे छीन ही लेगी। तुम लाख उपाय करो तो भी अन्ततः मौत से तुम हारोगे। कितने ही बचो, इधर बचो, उधर बचो, इधर छिपो उधर छिपो, एक न एक दिन मौत तुम्हारी गर्दन पकड़ ही लेगी। अन्ततः मौत जीतेगी, तुम न जीत पाओगे—इतनी बात निश्चित है। बीच में कितनी देर तुम धोखा दे लेते हो, मौत को इससे क्या फर्क पड़ता है? अन्ततोगत्वा मौत तुम्हारी गर्दन पकड़ लेगी और तुम्हारे ठीकरों को उगलवा लेगी। जिसे तुमने इन्कमटैक्स आफिस से बचा लिया होगा, उसे तुम मौत से न बचा सकोगे। जिसको तुमने चोरों से, डाकुओं से बचा लिया होगा, उसको तुम मौत से न बचा सकोगे।

यहां, पहली तो बात तुम्हारे पास कुछ है नहीं, और जो तुम्हारे पास है वो सब मौत छीन लेगी। तो गंवाने का डर क्या है? भय क्या है? लेकिन तुम बड़े भयभीत होते हो।

महावीर कहते हैं, ठीक से अपनी स्थिति को समझो। आशंका का कोई कारण ही नहीं है। आशंका के लिए जरा भी कोई आधार नहीं है। आशंका कल्पित है और जब आशंका गिर जाये, और तुम देख लो खुली आंख से कि आशंका की तो कोई बात ही नहीं है, मेरे पास कुछ है नहीं...।

---

* प्रमुख विचारक एवं व्याख्याता

में पवित्रता उत्पन्न कर कर्म को शुद्ध कर देती है। कर्म की शुद्धि में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है जिससे पारस्परिक संघर्ष शेष नहीं रहता, क्योंकि कर्म की शुद्धि किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करती, प्रत्युत रक्षा करती है। जो किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करता उसमें अधिकार लोलुपता शेष नहीं रहती, क्योंकि अधिकार लोलुपता उसी में निवास करती है जो दूसरों के अधिकार का अपहरण करता है। जिसने दूसरों के अधिकार की रक्षा को ही अपना कर्तव्य स्वीकार किया है उसकी दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य पर नहीं जाती, कारण कि कर्त्तव्य-परायणता में जो विकास है वह अधिकार मांगने में नहीं है। अधिकार लालसा तो उन्हीं प्राणियों में निवास करती है जिन्होंने बुद्धि-दृष्टि का आदर नहीं किया। बुद्धि-दृष्टि प्राणी को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर विवेक-दृष्टि में प्रतिष्ठित कर जड़ता से विमुख कर देती है। जड़ता की विमुखता में विषमता नहीं है, अर्थात् समता है जो वास्तव में योग है। योग में इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन की निर्विकल्पता में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः हो जाती है जिसके होते ही अनेकता एकता से और विषमता समता से अभिन्न हो जाती है अथवा यों कहो कि एकता अनेकता को और समता विषमता को खा लेती है और फिर विवेक का प्रकाश पूर्ण रूप से उदय होता है जो निर्विकल्प स्थिति से असंग कर काम का अन्त कर देता है। काम का नाश होते ही भोक्ता, भोग्य-वस्तु और भोगने के साधन ये तीनों ही गलकर जो सर्व का द्रष्टा है उसमें विलीन हो जाते हैं और फिर अन्तर्दृष्टि स्वतः जागृत होती है जो त्रिपुटी का अत्यंत अभाव कर देती है। अन्तर्दृष्टि में पूर्ण स्वाधीनता है और अप्रयत्न ही प्रयत्न है जिससे अखण्ड, एक रस, नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है। नित्य-जीवन से ही सभी को सत्ता मिलती है, क्योंकि नित्य-जीवन के अतिरिक्त और किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। नित्य-जीवन की प्राप्ति में प्रेम स्वतः सिद्ध है, क्योंकि अनित्य जीवन में जो आसक्ति के रूप में प्रतीत होती थी वही नित्य-जीवन में प्रीति के स्वरूप में बदल जाती है। नित्य-जीवन जिसका स्वरूप है प्रीति उसी का स्वभाव है। स्वरूप से स्वभाव और स्वभाव से स्वरूप भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य की किरणें और प्रकाश सूर्य से अभिन्न हैं उसी प्रकार नित्य-जीवन के स्वरूप और स्वभाव में अभिन्नता है। प्रीति की दृष्टि अन्तर और बाह्य भेद की नाशक है और उसका प्रभाव समस्त दृष्टियों में ओत-प्रोत है। ज्यों-ज्यों प्रीति की दृष्टि सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों सभी दृष्टियां गलकर प्रीति से अभिन्न होती जाती है।

इन्द्रिय-दृष्टि की सत्यता मिटते ही बुद्धि-दृष्टि सबल हो जाती है। बुद्धि-दृष्टि का पूर्ण उपयोग होते ही विवेक-दृष्टि स्पष्ट प्रकाशित होती है, जो अन्तर्दृष्टि को जागृत कर चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है और अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में ही प्रीति की दृष्टि निहित है। जो सभी दृष्टियों के भेद को खाकर चित्त को सदा के लिए शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर देती है।

अतः इन्द्रिय, बुद्धि आदि दृष्टियों को प्रीति की दृष्टि में विलीन करना अनिवार्य है। यह चित्त की शुद्धि से ही सम्भव है। क्योंकि जब इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टि में और बुद्धि-दृष्टि विवेक-दृष्टि में विलीन हो जाती है तब चित्त शुद्ध हो जाता है, और अन्तर्दृष्टि तथा प्रीति की दृष्टि उदय होती है । इस प्रकार चित्त की शुद्धि में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

तो पूछो। वो बिस्तर-बोरियां बांधे बैठा है कि कब ट्रेन मिल जाये और वह कहीं और चल पड़े।

कभी-कभी राह से चलते भिखमंगे को देखकर भी धनपति के मन में ईर्ष्या आ जाती है। कभी-कभी सम्राटों के मन में ईर्ष्या आ जाती है। क्योंकि जिस मस्ती से भिखारी चल सकते हैं उस मस्ती में सम्राट् तो नहीं चल सकते। बोझ भारी है, चिन्ता बहुत है। रात सो भी नहीं सकते। कौन सम्राट् सो सकता है भिखारी की तरह। राह के किनारे की तो बात दूर, सुन्दरतम, सुविधापूर्ण कक्षों में भी, आरामदायक बिस्तरों पर भी नींद नहीं आती। चिन्ताएं इतनी हैं, मन ऊहापोह में लगा रहता है और भिखारी राह के किनारे, अखबार को बिछाकर ही सो जाता है और गुर्राटे लेने लगता है। कभी-कभी सम्राटों के मन में भी ईर्ष्या उठती है कि ऐसा स्वास्थ्य, ऐसी निश्चिंतता, ऐसी शांति, ऐसे विश्राम की दशा काश हमारी भी होती। भिखमंगा भी रोज महल के पास से निकलता है, सोचता है, काश, हमारे पास ऐसा महल होता।

आकांक्षा का अर्थ है—तुम जहां हो वहां राजी नहीं। जो जहां है वहां राजी नहीं। जीवन का स्वप्न कहीं और पूरा होता दिखाई पड़ता है । किन्तु वहां जो है, उसका भी जीवन का स्वप्न पूरा नहीं हो रहा है। यहां भिखमंगे तो पराजित हैं ही, यहां सिकंदर भी पराजित है। यहां भिखमंगे तो खाली हाथ हैं ही, यहां सिकंदर भी खाली हाथ है। जिस दिन तुम्हें आकांक्षा की यह व्यर्थता दिखाई पड़ जाती है, उसी दिन निष्कांक्षा पैदा होती है, निष्काम-भाव पैदा होता है।

महावीर कहते हैं, किसी भी तरह के लाभ की आकांक्षा , फिर वह स्वर्ग का ही लाभ क्यों न हो, संसार में लौटा लायेगा, सम्यक् दृष्टि पैदा न होगी।

निष्कांक्षा कैसे पैदा हो? आकांक्षा को समझने से, आकांक्षा की व्यर्थता को देख लेने से। जैसे कोई आदमी रेत से तेल निचोड़ रहा हो, और न निचुड़ता हो और परेशान होता हो और कोई उसे बता दे कि 'पागल, रेत में तेल होता ही नहीं, इसलिए तू लाख उपाय कर, तेरे उपायों का सवाल नहीं है, तेल निकलेगा नहीं, तू लाख सिर मार, तेरा सिर टूटेगा, गिरेगा, रेत से तेल निकलेगा नहीं।'

आकांक्षा से कभी सत्य नहीं निकला, क्योंकि आकांक्षा स्वप्नों की जननी है। आकांक्षा का जिसने सहारा पकड़ा, वह सपनों में खो गया, उसने अपने सपनों का संसार बना लिया। लेकिन सत्य उससे कभी निकला नहीं। वह रेत की तरह है उससे तेल निकल नहीं सकता। तेल वहां है नहीं।

तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा—जुगुप्सा का अभाव। अपने दोषों को तथा दूसरों के गुणों को छिपाने का नाम है जुगुप्सा। प्रत्येक व्यक्ति उलझा है जुगुप्सा में। हम अपने दोष छिपाते हैं और दूसरों के गुण छिपाते हैं।

अगर तुमसे कोई कहे फलां आदमी देखा, कितनी प्यारी बांसुरी बजाता है, तुम फौरन कहते हो, वो क्या बांसुरी बजायेगा—चोर, लुच्चा, लम्पट। अब चोर, लुच्चा, लम्पट से बांसुरी बजाने का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। कोई चोर है, इससे बांसुरी

महावीर जब तुमसे कहते हैं, आशंका नहीं चाहिये, निःशंका की स्थिति चाहिये, तो वे यह नहीं कह रहे हैं कि तुम निःशंका को आरोपित करो। वे इतना ही कह रहे हैं कि तुम अपनी आशंका को जरा गौर से खोलकर, आंखों के सामने बिछाकर तो देख लो, वहां कोई कारण है? कोई भी कारण नहीं है। जिस दिन तुम्हें ऐसी दृष्टि उपलब्ध होगी कि डरने का कोई भी कारण नहीं है, खोने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि है ही नहीं, उसी क्षण तुम्हारे जीवन में एक नई ऊर्जा का आविर्भाव होगा। उस नई ऊर्जा को कहो—श्रद्धा, भरोसा, ट्रस्ट। उस नई ऊर्जा को कहो—निःशंका। तब तुम असंदिग्ध भाव से बिना पीछे लौटकर देखे, सत्य की खोज में निकल जाओगे।

महावीर तुमसे श्रद्धा जन्माने को नहीं कहते। यही महावीर का और अन्य शिक्षकों का भेद है। महावीर कहते हैं, तुम अपनी आशंका को ठीक से पहचान लो, वह गिर जाएगी। जो शेष रह जायेगा, वही श्रद्धा है। यहाँ महावीर श्रद्धा कह सकते थे, लेकिन नहीं कहा, साहस कह सकते थे, नहीं कहा। नकारात्मक शब्द उपयोग किया—निश्शंका। कोई विधायक शब्द उपयोग न किया, क्योंकि विधायक की कोई जरूरत नहीं है। सिर्फ आशंका समझ आ जाए कि यह व्यर्थ है, कोरी है, अकारण है। फिर आशंका गिर जाती है , तब जो शंकारहित चित्त की दशा है वही श्रद्धा है, वही साहस है, वही अभय है। इससे तुम्हारे भीतर एक अनूठी ऊर्जा का जन्म होगा। वह दबी पड़ी है। चट्टान ने, आशंका की चट्टान ने उस झरने को फूटने से रोका है। हटा दो चट्टान, झरना अपने से फूट पड़ेगा। वह है ही। झरना तुमने खोया नहीं है। इसलिए महावीर नहीं कहते कि झरनेको खोजो। महावीर नहीं कहते कि श्रद्धा को आरोपित करो। महावीर कहते हैं, सिर्फ आशंका को उघाड़ो।

दूसरा चरण है निष्कांक्षा। जो भी तुम करो सत्य की खोज में, उसमें कोई आकांक्षा मत रखना, क्योंकि आकांक्षा ही संसार है। अगर सत्य की खोज पर भी आकांक्षा लेकर गये, तो तुम अपने को धोखा दे रहे हो, तुम संसार में ही दौड़ रहे हो। तुम्हें भ्रांति हो गई है कि तुम सत्य की खोज पर जा रहे हो। सत्य की खोज पर वही जाता है जिसकी आकांक्षा गिर गई।

आकांक्षा क्या है? जैसे हम हैं उससे हम राजी नहीं हैं। एक बड़ी गहरी बेचैनी है-कुछ होने की कुछ पाने की, कहीं और होने की, कहीं और जाने की। जहां हम हैं वहां अतृप्ति। जैसे हम हैं वहां अतृप्ति। जो हम हैं उससे अतृप्ति। कुछ और होना था, कहीं और होना था। किसी और मकान में, किसी और गांव में। किसी और पति के पास, किसी और पत्नी के पास। कोई और बेटे होते। कोई और देह होती। कोई और तिजोड़ी होती। लेकिन कुछ और। कुछ और की दौड़ आकांक्षा है।

तुम थोड़ा सोचो। कहीं भी तुम होते, क्या इससे आकांक्षा की दौड़ रुक जाती? तुम सोचते हो, जिस महल में तुम्हें होना चाहिए था, उसमें कोई है, उससे तो पूछो। वह कहीं और होने की दौड़ में लगा है। तुम जिस पद पर नहीं हो और सोचते हो होना चाहिए थे, उस पद पर भी कोई है। उससे तो पूछो। वह कहीं और जाने की तैयारी में लगा है। जिस गांव तुम पहुंचना चाहते हो, वहां भी कोई रहता है। उससे

तो पूछो। वो बिस्तर-बोरियां बांधे बैठा है कि कब ट्रेन मिल जाये और वह कहीं और चल पड़े।

कभी-कभी राह से चलते भिखमंगे को देखकर भी धनपति के मन में ईर्ष्या आ जाती है। कभी-कभी सम्राटों के मन में ईर्ष्या आ जाती है। क्योंकि जिस मस्ती से भिखारी चल सकते हैं उस मस्ती में सम्राट् तो नहीं चल सकते। बोझ भारी है, चिन्ता बहुत है। रात सो भी नहीं सकते। कौन सम्राट् सो सकता है भिखारी की तरह। राह के किनारे की तो बात दूर, सुन्दरतम, सुविधापूर्ण कक्षों में भी, आरामदायक बिस्तरों पर भी नींद नहीं आती। चिन्ताएं इतनी हैं, मन ऊहापोह में लगा रहता है और भिखारी राह के किनारे, अखबार को बिछाकर ही सो जाता है और गुर्राटे लेने लगता है। कभी-कभी सम्राटों के मन में भी ईर्ष्या उठती है कि ऐसा स्वास्थ्य, ऐसी निश्चिंतता, ऐसी शांति, ऐसे विश्राम की दशा काश हमारी भी होती। भिखमंगा भी रोज महल के पास से निकलता है, सोचता है, काश, हमारे पास ऐसा महल होता।

आकांक्षा का अर्थ है—तुम जहां हो वहां राजी नहीं। जो जहां है वहां राजी नहीं। जीवन का स्वप्न कहीं और पूरा होता दिखाई पड़ता है । किन्तु वहां जो है, उसका भी जीवन का स्वप्न पूरा नहीं हो रहा है। यहां भिखमंगे तो पराजित हैं ही, यहां सिकंदर भी पराजित है। यहां भिखमंगे तो खाली हाथ हैं ही, यहां सिकंदर भी खाली हाथ है। जिस दिन तुम्हें आकांक्षा की यह व्यर्थता दिखाई पड़ जाती है, उसी दिन निष्कांक्षा पैदा होती है, निष्काम-भाव पैदा होता है।

महावीर कहते हैं, किसी भी तरह के लाभ की आकांक्षा , फिर वह स्वर्ग का ही लाभ क्यों न हो, संसार में लौटा लायेगा, सम्यक् दृष्टि पैदा न होगी।

निष्कांक्षा कैसे पैदा हो? आकांक्षा को समझने से, आकांक्षा की व्यर्थता को देख लेने से। जैसे कोई आदमी रेत से तेल निचोड़ रहा हो, और न निचुड़ता हो और परेशान होता हो और कोई उसे बता दे कि 'पागल, रेत में तेल होता ही नहीं, इसलिए तू लाख उपाय कर, तेरे उपायों का सवाल नहीं है, तेल निकलेगा नहीं, तू लाख सिर मार. तेरा सिर टूटेगा, गिरेगा, रेत से तेल निकलेगा नहीं।'

आकांक्षा से कभी सत्य नहीं निकला, क्योंकि आकांक्षा स्वप्नों की जननी है। आकांक्षा का जिसने सहारा पकड़ा, वह सपनों में खो गया, उसने अपने सपनों का संसार बना लिया। लेकिन सत्य उससे कभी निकला नहीं। वह रेत की तरह है उससे तेल निकल नहीं सकता। तेल वहां है नहीं।

तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा—जुगुप्सा का अभाव। अपने दोषों को तथा दूसरों के गुणों को छिपाने का नाम है जुगुप्सा। प्रत्येक व्यक्ति उलझा है जुगुप्सा में। हम अपने दोष छिपाते हैं और दूसरों के गुण छिपाते हैं।

अगर तुमसे कोई कहे फलां आदमी देखा, कितनी प्यारी बांसुरी बजाता है, तुम फौरन कहते हो, वो क्या बांसुरी बजायेगा—चोर, लुच्चा, लम्पट। अब चोर, लुच्चा, लम्पट से बांसुरी बजाने का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। कोई चोर है, इससे बांसुरी

बजाने में बाधा नहीं पड़ती। लेकिन तुम तत्क्षण दबा देते हो कि वह चोर है, वह क्य बांसुरी बजायेगा।

तुम अपने दोषों को छिपाये चले जाते हो। तुम अगर क्रोध भी करते हो तो जिस पर क्रोध करते हो उसी के हित के लिये करते हो, सुधार के लिये, एक तरह की सेव समझो। अगर तुम बच्चे को पीटते भी हो, तो उसी के भविष्य के लिये। हालांवि कभी पीटने से, किसी का भविष्य बना नहीं, बिगड़ा भले हो। मां अगर बेटे के पीटती है, तो सोचती है, क्योंकि वह कपड़े खराब कर आया, धूल-धवांस में खेला, य गलत बच्चों के साथ खेला। लेकिन अगर भीतर खोज करे तो पायेगी कि वह क्रोध से उबल रही थी। पति से कुछ झंझट हो गई थी। पति पर न फेंक पाई क्रोध को बच्चे की प्रतीक्षा करती रही। क्योंकि यह बच्चा कल भी उन्हीं बच्चों के साथ खेला था और कल भी यह धूल-धवांस से भरा लौटा था। बच्चे हैं-लौटेंगे ही। बच्चे बूढ़े नहीं हैं और समय के पहले उन्हें बूढ़ा बनाने की चेष्टा बड़ी खतरनाक है। उनके लिये अभी कपड़ों का कोई मूल्य नहीं है-और शुभ है कि कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि जिस दिन कपड़ों का मूल्य हो जाता है उसी दिन अपने भीतर के सब मूल्य खो जाते हैं।

जैसे पानी नीचे की तरफ बहता है, ऐसे ही क्रोध भी अपने से कमजोर की तरफ बहता है। बच्चे से ज्यादा कमजोर और तुम क्या पाओगे? बच्चे से ज्यादा कोमल और तुम क्या पाओगे? पति अगर नाराज हो जाता है, दफ्तर में मालिक से, तो घर पत्नी पर अपनी नाराजगी निकाल लेता है। पत्नी नाराज हो जाती है, बच्चे पर निकाल लेती है। बच्चे को तुमने देखा। जाकर अपने कमरे में बैठकर या तो किताब फाड़ डालेगा, या अपनी गुडिया की टांगें तोड़ देगा, क्योंकि अब और कहां निकाले। सारा संसार वहां खत्म हो जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा उससे पूछ रहा था। एक आदमी मुसलमान था, हिन्दू हो गया। उसके बेटे ने पूछा कि पिताजी, इसको हम क्या कहें? मुल्ला ने कहा, 'क्या कहना, गद्दारी है। जो आदमी मुसमलान से हिन्दू हो गया, यह गद्दारी है।' पर उसके बेटे ने कहा कि कुछ ही दिन पहले, एक आदमी हिन्दू से मुसलमान हुआ था, तब आपने यह न कहा? उसने कहा कि वह धर्म-रूपान्तरण था। उस आदमी को बुद्धि आई थी, सद्बुद्धि का आविर्भाव हुआ था।

तो जब हिन्दू मुसलमान बने, मुसलमान कहता है, सद्बुद्धि, और जब मुसलमान हिन्दू बन जाये तो गद्दार। यही हिन्दू के लिए मूल्य है।

मैं एक जैन संत को जानता था। वो हिन्दू थे और जैन हो गये। तो जैन उनसे बड़े प्रसन्न थे, हिन्दू बड़े नाराज थे। हिन्दू उनकी बात भी न करते। लेकिन जैन उन्हें बड़ा सम्मान देते, उतना सम्मान देते, जितना कि उन्होंने कभी जैन सन्तों को भी नहीं दिया था। क्योंकि इस आदमी का हिन्दू से जैन हो जाना, इस बात का सबूत था कि जैन धर्म सही है। तब तो कोई हिन्दू जैन होता है, नहीं तो क्यों होगा।

तुम इसे जरा गौर करना। हमारे जीवन में दोहरे मूल्य होते हैं। अपनी ... हम सोने से ढंक लेते हैं, दूसरे के सौन्दर्य को भी हम मिट्टी से पोत देते ... महावीर कहते हैं जुगुप्सा। जुगुप्सा के अभाव का नाम है निर्विचिकित्सा।

निर्विचिकित्सा बहुमूल्य सूत्र है। इसे अगर खयाल में ... आत्म-रूपान्तरण को पा सकोगे, अन्यथा नहीं। क्योंकि जो आदमी ... छिपाता है और दूसरों के गुण दबाता है, वह आदमी कभी गुणवान ... दूसरे के गुणों को देखना, पहचानना, स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि ... ही तो तुममें भी उनके जन्म का सूत्रपात होगा। किसी के मधुर ... तुम्हें खयाल उठेगा कि मेरा कंठ भी मधुर हो सकता है। ... सुनकर तुम्हारे भीतर भी रस का संचार होगा।

दूसरों में जब कोई महिमा दिखाई पड़े तो सम्मान ... उसे स्वीकार करना। उस स्वीकृति में, तुम्हारे भीतर ... बीजारोपण होगा। और अपने भीतर जब कोई दोष ... गुरु क्योंकि छिपाने से दोष मिटते नहीं, छिप जाते हैं ... जिसे तुमने छिपाया वह बढ़ेगा। अपना दोष ... थ तुम कर लेना।

तीसरी मूढ़ता, महावीर कहते हैं—**गुरुमूढ़ता**। लोग हर किसी को गुरु बना लेते हैं। जैसे बिना गुरु बनाए रहना ठीक नहीं मालूम पड़ता। गुरु तो होना ही चाहिए। तो किसी को भी गुरु बना लेते हैं। किसी से भी कान फुंकवा लिए। यह भी नहीं सोचते कि जिससे कान फुंकवा रहे हैं, उसके पास कान फूंकने योग्य भी कुछ है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि हम पहले गुरु बना चुके हैं, तो आपका ध्यान करने से कोई अड़चन तो न होगी? मैंने कहा, 'अगर तुम्हें पहले गुरु मिल चुका है तो यहां आने की कोई जरूरत नहीं।' वे कहते हैं, 'मिला कहां?' वो तो गांव में जो ब्राह्मण था, उसी को बना लिया था। अभी उसको खुद ही कुछ नहीं मिला। तो थोड़ा तुम सोचते कि जिसे तुम गुरु बनाने जा रहे हो, वह कम-से-कम तुमसे एक कदम तो आगे हो। लेकिन गुरु होना चाहिए। ...बिना गुरु के कैसे रहें। तो किसी को भी गुरु बना लेते हैं। जो मिल गया वही गुरु हो गया। पिता के गुरु थे तो वही तुम्हारे गुरु हो गये। पति के गुरु थे, वही पत्नी के गुरु हो गये। बिना इस बात का विचार किए कि यह बड़ी महिमापूर्ण बात है, यह जीवन की बड़ी चरम खोज है—गुरु को खोज लेना।

गुरु को खोज लेने का अर्थ, एक ऐसे हृदय को खोज लेना है जिसके साथ तुम धड़क सको और उस लम्बी अनन्त की यात्रा पर जा सको।

तो महावीर कहते हैं, ये तीन मूढ़ताएं है और इन मूढ़ताओं के कारण व्यक्ति सत्य की तरफ नहीं जा पाता। या तो भीड़ को मानता है, या देवी-देवताओं को पूजता रहता है। कितने देवी-देवता हैं, हर जगह मंदिर खड़े हैं। कहीं भी झाड़ के नीचे रख दो एक पत्थर और पोत दो लाल रंग उस पर, थोड़ी देर में तुम पाओगे, कोई आकर पूजा कर रहा है।

तुम अगर थोड़ी देर किसी पत्थर पर, सिन्दूर पोत कर थोड़ी देर बैठ जाओ, तो शाम होते-होते तुम खुद ही पूजा करोगे। क्योंकि तुम देखोगे कि इतने लोग पूजा कर रहे हैं, कोई सभी गलत थोड़ी हो सकते हैं। तुम्हीं ने रंग पोता था, लेकिन जरूर कुछ बात होगी, कुछ राज होगा। शायद तुमने ठीक पत्थर पर रंग पोत दिया है। अनजाने सही। तुमने परमात्मा की किसी प्रतिमा पर रंग डाल दिया, इतने लोग पूज रहे हैं।

यह मूढ़ता छूटनी चाहिए।

पांचवां चरण है-उपगूहन। उपगूहन का अर्थ है, अपने गुणों और दूसरे के दोषों को प्रगट न करना। यह जुगुप्सा के ठीक विपरीत है, अपने गुण प्रगट न करना और दूसरे के दोष प्रगट न करना। हम तो करते हैं उलटा ही। अपने गुण प्रगट करते हैं, जो नहीं है वह भी प्रगट कर देते हैं, और दूसरे के दोष प्रगट करते हैं, जो नहीं हैं वह भी प्रगट कर देते हैं, जो हैं उनकी तो बात ही छोड़ दो।

महावीर कहते हैं, जिसको सत्य की खोज पर जाना है, उसे ये सारे संयम, ये अनुशासन, ये मर्यादाएं, अपने जीवन में उभारनी पड़ेंगी। अपने गुणों को मत कहना, दूसरों के दोषों को मत कहना। तुम्हारा क्या प्रयोजन है? दूसरे को दोष हैं-दूसरा

'वात्सल्य' ठीक प्रार्थना का उलटा है। वात्सल्य का अर्थ है—तुम दो। इसलिये हम कहते हैं, मां का वात्सल्य होता है बेटे की तरफ। बेटा क्या दे सकता है? छोटा-सा बेटा है, अभी पैदा हुआ, चल भी नहीं सकता, बोल भी नहीं सकता, कुछ लाया भी नहीं, बिल्कुल नंग-धडंग चला आया है। हाथ खाली है। वो देगा क्या? इसलिये समान तल तो है नहीं मां का और बेटे का। और मांग भी नहीं सकता, क्योंकि मांगने के लिये भी अभी उसके पास बुद्धि नहीं है। तो मां का वात्सल्य है। मां उसे जो प्रेम करती है वह सिर्फ देने-देने का है। मां देती है, वह लौटा भी नहीं सकता। उसको अभी होश ही नहीं लौटाने का।

आठवां चरण है 'प्रभावना'। यह महावीर का अपना शब्द है। इसके लिये कहीं तुम्हें पर्याय न मिलेगा। प्रभावना का अर्थ होता है, इस भांति जियो कि तुम्हारे जीने से धर्म की प्रभावना हो। इस ढंग से उठो-बैठो कि तुम्हारे उठने-बैठने से धर्म झरे और जिनके जीवन में धर्म की कोई रोशनी नहीं है, उनको भी प्यास पैदा हो। तुम्हारा चलना, तुम्हारा व्यवहार, तुम्हारे जीवन की शैली-सभी प्रभावना बन जाए। प्रभावना हो धर्म की, सत्य की।

महावीर कहते हैं जिस सत्य की खोज पर तुम चले हो और जो तुम्हें मिलने लगा है, उसकी खोज पर औरों को भी लगा देगा। लेकिन खयाल रखना, महावीर बड़े अनूठे शब्दों का उपयोग करते हैं। वे यह नहीं कहते, तुम लोगों को उपदेश देना, यह नहीं कहते, तुम लोगों को आदेश देना। वे कहते हैं, प्रभावना। तुम उन्हें प्रभावित भी करने की चेष्टा मत करना। तुम्हारा होना प्रभावना बने। वे प्रभावित हों, तुमसे नहा, -धर्म से, तुमसे नहीं, सत्य से।

ये आठ अंग स्मरण हों तो सम्यग्दर्शन निर्मित होता है।

प्रस्तुति–रेणूमल जैन, १०/५७१ चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर

पक्षपातो न मे वीरे , न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—हरिभद्र सूरि

न तो मेरा महावीर के प्रति पक्षपात (राग) है और न कपिल आदि के प्रति द्वेष है। जिसके वचन युक्तियुक्त (सम्यक्) हैं, उसको स्वीकार करना चाहिए।

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा , हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

संसार-बीज के अंकुर को उत्पन्न करने वाले राग आदि दोष जिसके नष्ट हो गए हैं, वह ब्रह्मा हो या विष्णु, शिव हो या जिन, उसको नमस्कार है।

पुत्र-प्राप्ति के लिए पूजा करना मिथ्यात्व नहीं है। अरहन्त प्रतिमाओं की मनौती करने का समर्थन करते हुए एक अन्य बन्धु ने यह भी लिखा है कि साधारण व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही करता है। अतः जिस प्रकार कड़वी दवा की गोली को शक्कर में लपेट कर देते हैं उसी प्रकार हमें भी धर्म से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का प्रलोभन तो रखना ही पड़ेगा।

यहां प्रश्न यह है कि क्या और कोई भी प्रयत्न न पुरुषार्थ किये बिना केवल अरहन्त प्रतिमाओं की पूजा या मनौतियाँ करने से ही दरिद्रता मिट जाती है, पुत्र आदि की कामनाएँ पूरी हो जाती हैं? ऐसा कोई भी नहीं कह सकता; परन्तु जो पूजा मनौतियाँ नहीं करते उन्हें समुचित प्रयत्न व पुरुषार्थ करने पर, असाता कर्म का तीव्र उदय नहीं हुआ तो धन, पुत्र आदि की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि धर्म-सेवन से, पूजा करने से शुभ भाव होते हैं और केवल उससे ही निराकुलता पैदा होकर, असाता कर्म का उदय हो तो भी शांति तो मिलती है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, धन, पुत्र आदि की सांसारिक कामनाएँ पूरी हो जावें यह असंभव है। अतः धर्म से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के झूठे प्रलोभन को दवा की गोली के ऊपर लिपटी शक्कर के समान कहना मिथ्यात्व का ही प्रचार करना है, क्योंकि वह शक्कर के समान मीठी वस्तु तो दवा के विरोधी गुण वाली है, जो दवा का प्रभाव ही नहीं होने देती। भगवान महावीर ने तो ईश्वरवाद के विरुद्ध क्रांति करके हममें यह श्रद्धा तथा पुरुषार्थ जगाने का प्रयत्न किया था कि हमारी आत्मा में ही अनन्त शक्ति है, और उसे जगाकर हम स्वयं ही अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं, कोई भी बाहरी शक्ति उन्हें नष्ट नहीं कर सकती। परन्तु उपर्युक्त मान्यता तो महावीर द्वारा दी गई दवा से विरोधी गुण वाली मीठी शक्कर है। इस झूठी मान्यता के कारण हमारे दैनिक पूजा-पाठ आदि भी भगवान से मांगने तथा पाप माफ करने की भावना से आप्लावित हो गये हैं और हमारी आत्मा के पुरुषार्थ को जगने नहीं दे रहे हैं।

अस्तु, जिस वैज्ञानिक धर्म ने ईश्वर को भी नहीं माना उसमें ईश्वरवादी धर्मों के समान पद्मावती आदि शासन देव-देवियों की भी कल्पना कर लेनी पड़ी है। उसके परिणामस्वरूप जब अरहन्त प्रतिमाओं की पूजा व मनौती से सांसारिक कामनाएँ पूरी नहीं होती तो लोग शासन देवताओं की शरण में चले जाते हैं और जब उनसे भी मनौतियाँ पूरी नहीं होती तो अन्य धर्मों के देवी देवताओं की शरण में चले जाते हैं।

शासन देवों का अस्तित्व ही नहीं—कथित शासन देवी-देवताओं के समर्थन में कहा जाता है कि वे जैन शासन के रक्षक हैं तथा धर्म और धर्मात्माओं पर आने वाले विघ्न व संकट को दूर करने को सदा तत्पर रहते हैं। इनके समर्थक विद्वान् अपनी मान्यता के समर्थन में समय-समय पर अपने लेखों में पौराणिक कथाओं के उदाहरण देते रहते हैं, यथा 'वीर' दि. १.१२.८१ में एक विद्वान् बन्धु ने मेरे लेखों की आलोचना करते हुए, आचार्य अकलंक देव द्वारा तारादेवी को शास्त्रार्थ से भगाना, स्वामी समन्तभद्र द्वारा शिवपिंडी से भ. चन्द्रप्रभु की मूर्ति का प्रगटन, मुनिमानतुंग द्वारा ४८ ताले तोड़ना, चारण ऋद्धिधारी मुनियों द्वारा आकाश गमन आदि के उदाहरण देकर पद्मावती, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी आदि देवियों की सहायता से ही

पुत्र-प्राप्ति के लिए पूजा करना मिथ्यात्व नहीं है। अरहन्त प्रतिमाओं की मनौती करने का समर्थन करते हुए एक अन्य बन्धु ने यह भी लिखा है कि साधारण व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही करता है। अतः जिस प्रकार कड़वी दवा की गोली को शक्कर में लपेट कर देते हैं उसी प्रकार हमें भी धर्म से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का प्रलोभन तो रखना ही पड़ेगा।

यहां प्रश्न यह है कि क्या और कोई भी प्रयत्न न पुरुषार्थ किये बिना केवल अरहन्त प्रतिमाओं की पूजा या मनौतियाँ करने से ही दरिद्रता मिट जाती है, पुत्र आदि की कामनाएँ पूरी हो जाती हैं? ऐसा कोई भी नहीं कह सकता; परन्तु जो पूजा मनौतियाँ नहीं करते उन्हें समुचित प्रयत्न व पुरुषार्थ करने पर, असाता कर्म का तीव्र उदय नहीं हुआ तो धन, पुत्र आदि की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि धर्म-सेवन से, पूजा करने से शुभ भाव होते हैं और केवल उससे ही निराकुलता पैदा होकर, असाता कर्म का उदय हो तो भी शांति तो मिलती है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, धन, पुत्र आदि की सांसारिक कामनाएँ पूरी हो जावें यह असंभव है। अतः धर्म से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के झूठे प्रलोभन को दवा की गोली के ऊपर लिपटी शक्कर के समान कहना मिथ्यात्व का ही प्रचार करना है, क्योंकि वह शक्कर के समान मीठी वस्तु तो दवा के विरोधी गुण वाली है, जो दवा का प्रभाव ही नहीं होने देती। भगवान महावीर ने तो ईश्वरवाद के विरुद्ध क्रांति करके हममें यह श्रद्धा तथा पुरुषार्थ जगाने का प्रयत्न किया था कि हमारी आत्मा में ही अनन्त शक्ति है, और उसे जगाकर हम स्वयं ही अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं, कोई भी बाहरी शक्ति उन्हें नष्ट नहीं कर सकती। परन्तु उपर्युक्त मान्यता तो महावीर द्वारा दी गई दवा से विरोधी गुण वाली मीठी शक्कर है। इस झूठी मान्यता के कारण हमारे दैनिक पूजा-पाठ आदि भी भगवान से मांगने तथा पाप माफ करने की भावना से आप्लावित हो गये हैं और हमारी आत्मा के पुरुषार्थ को जगने नहीं दे रहे हैं ।

अस्तु, जिस वैज्ञानिक धर्म ने ईश्वर को भी नहीं माना उसमें ईश्वरवादी धर्मों के समान पद्मावती आदि शासन देव-देवियों की भी कल्पना कर लेनी पड़ी है। उसके परिणामस्वरूप जब अरहन्त प्रतिमाओं की पूजा व मनौती से सांसारिक कामनाएँ पूरी नहीं होती तो लोग शासन देवताओं की शरण में चले जाते हैं और जब उनसे भी मनौतियाँ पूरी नहीं होती तो अन्य धर्मों के देवी देवताओं की शरण में चले जाते हैं।

शासन देवों का अस्तित्व ही नहीं—कथित शासन देवी-देवताओं के समर्थन में कहा जाता है कि वे जैन शासन के रक्षक हैं तथा धर्म और धर्मात्माओं पर आने वाले विघ्न व संकट को दूर करने को सदा तत्पर रहते हैं। इनके समर्थक विद्वान् अपनी मान्यता के समर्थन में समय-समय पर अपने लेखों में पौराणिक कथाओं के उदाहरण देते रहते हैं, यथा 'वीर' दि. १.१२.८१ में एक विद्वान् बन्धु ने मेरे लेखों की आलोचना करते हुए, आचार्य अकलंक देव द्वारा तारादेवी को शास्त्रार्थ से भगाना, स्वामी समन्तभद्र द्वारा शिवपिंडी से भ. चन्द्रप्रभु की मूर्ति का प्रगटन, मुनिमानतुंग द्वारा ४८ ताले तोड़ना, चारण ऋद्धिधारी मुनियों द्वारा आकाश गमन आदि के उदाहरण देकर पद्मावती, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी आदि देवियों की सहायता से ही

पांडया राज्य के नरेश नेदुमरन पांडया ने ८००० जैनियों को मरवा डाला और उस स्थान पर मदुरा में अब भी शैवों द्वारा प्रतिवर्ष उत्सव मनाया जाता है। मिश्रबन्धु कृत 'भारतवर्ष का इतिहास' द्वितीय खण्ड पृष्ठ ५४२ व ४१५ पर भी लिखा है कि मैसूर नरेश विट्टदेव ने बहुत से साधुओं और श्रावकों को कोल्हू में पिरवा डाला तथा महाराष्ट्र में भी यादव वंशी राजा ने कई जैन मन्दिरों से मूर्तियाँ फिंकवा कर शैव मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करवा दीं। ऐसे संकट के समय में जैन गुरुओं ने जैन मन्दिरों के बाहरी भाग में हिन्दुओं की सी मूर्तियाँ स्थापित करवाना शुरू कर दिया ताकि उससे ऐसा लगे के ये हिन्दू देवताओं को मानते हैं। दिशाओं के दस दिग्पाल हिन्दू धर्म में माने जाते हैं वैसे ही हमारे यहाँ भी १० दिग्पाल कल्पित कर लिए गये। उनमें से ८ के तो नाम भी वही हैं कि जो हिन्दू शास्त्रों में है। पं. आशाधरजी ने नित्यमहोद्योत अभिषेक पाठ में ईशान दिशा के दिग्पाल का जो स्वरूप लिखा है, वह हिन्दू-शास्त्रों में वर्णित शिवजी से पूर्णतः मिलता है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में काली, महाकाली, चामुण्डा आदि देवियाँ मानी गई हैं । उनकी नकल पर उन्हीं के कुछ नामों में अपने नये नाम मिलाकर और उनके साथ तीर्थंकरों का सम्बन्ध जोड़कर २४ यक्षिणियों की कल्पना कर ली गई और उनका नाम शासन देवता रख दिया गया (यह बात दि. १५-९-८१ के वीर में प्रकाशित श्री गणेशप्रसाद जी जैन के लेख में दिये वर्णन से भी प्रतिपादित होती है)। जैन संदेश, दि. २४ मार्च १९७७ में (डा. विश्वम्भर उपाध्याय के मत सहित प्रकाशित) 'जैनधर्म में तांत्रिक प्रभाव' शीर्षक से स्व. श्री अगरचन्द जी नाहटा के लेख में भी यही बताया गया है कि जैनधर्म में (दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों में) शासन देव-देवियों की मान्यता मध्ययुग में हिन्दू तांत्रिकों के प्रभाव से आई थी। सोमदेव सूरि ने, जो ११वीं सदी के लगभग अर्थात् भ. महावीर के १६०० वर्ष बाद हुए, यशस्तिलकचम्पू के अन्तर्गत उपासकाचार में लिखा है, 'ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।' इससे भी प्रगट होता है कि शासनदेव वास्तविक नहीं हैं, कल्पित हैं। इसीलिए जब कल्पना ने मान्यता प्राप्त कर ली तब १३वीं शती व उसके बाद ही शासन देव पूजा सहित प्रतिष्ठापाठ रचे गये। वर्तमान में प्रचलित शासनदेव पूजाएँ उसी काल की हैं। शासनदेव पूजा के समर्थक विद्वानों ने पुराणों के उदाहरण दिये हैं, उन्हें शास्त्र आम्नाय नहीं कहा जा सकता जबकि कुंदकुंदाचार्य ने असंयमी को नमस्कार करने तक से मना किया है।

(२) यह मानना ही गलत है कि आचार्य अकलंकदेव, स्वामी समंतभद्र आदि पर आये उपसर्गों में किसी शासन देवी ने सहायता की। कथावार्ताओं में जो ऐसे उल्लेख हैं वे जैन सिद्धान्त के विपरीत हैं। पूर्वोक्त विद्वान् बन्धु का यह कथन भी हास्यास्पद है कि मन्त्रों की साधना से सिद्धि तथा भगवान् की पूजा का फल शासन देव-देवी ही देते हैं। जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त की तो मान्यता ही यह है कि न कोई ईश्वर है, न कोई देवी-देवता कि जो हमें कुछ दे सकें या हमारे सहायक हो सकें। हमारी आत्मा में ही अनंत शक्ति है और उसमें श्रद्धा रखकर तथा मन्त्र, जप आदि व ध्यान की साधना द्वारा उसे जगाकर हम अनेक ऋद्धियां-सिद्धियां पैदा कर सकते हैं। पूजा, भक्ति, ध्यान, जप, तप मन्त्र-साधना का फल भी संसार की वैज्ञानिक-प्रक्रिया के

पांडया राज्य के नरेश नेदुमरन पांडया ने ८००० जैनियों को मरवा डाला और उस स्थान पर मदुरा में अब भी शैवों द्वारा प्रतिवर्ष उत्सव मनाया जाता है। मिश्रबन्धु कृत 'भारतवर्ष का इतिहास' द्वितीय खण्ड पृष्ठ ५४२ व ४१५ पर भी लिखा है कि मैसूर नरेश विट्टदेव ने बहुत से साधुओं और श्रावकों को कोल्हू में पिरवा डाला तथा महाराष्ट्र में भी यादव वंशी राजा ने कई जैन मन्दिरों से मूर्तियाँ फिंकवा कर शैव मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करवा दीं। ऐसे संकट के समय में जैन गुरुओं ने जैन मन्दिरों के बाहरी भाग में हिन्दुओं की सी मूर्तियाँ स्थापित करवाना शुरू कर दिया ताकि उससे ऐसा लगे के ये हिन्दू देवताओं को मानते हैं। दिशाओं के दस दिग्पाल हिन्दू धर्म में माने जाते हैं वैसे ही हमारे यहाँ भी १० दिग्पाल कल्पित कर लिए गये। उनमें से ८ के तो नाम भी वही हैं कि जो हिन्दू शास्त्रों में है। पं. आशाधरजी ने नित्यमहोद्योत अभिषेक पाठ में ईशान दिशा के दिग्पाल का जो स्वरूप लिखा है, वह हिन्दू-शास्त्रों में वर्णित शिवजी से पूर्णतः मिलता है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में काली, महाकाली, चामुण्डा आदि देवियाँ मानी गई हैं । उनकी नकल पर उन्हीं के कुछ नामों में अपने नये नाम मिलाकर और उनके साथ तीर्थंकरों का सम्बन्ध जोड़कर २४ यक्षिणियों की कल्पना कर ली गई और उनका नाम शासन देवता रख दिया गया (यह बात दि. १५-९-८१ के वीर में प्रकाशित श्री गणेशप्रसाद जी जैन के लेख में दिये वर्णन से भी प्रतिपादित होती है)। जैन संदेश, दि. २४ मार्च १९७७ में (डा. विश्वम्भर उपाध्याय के मत सहित प्रकाशित) 'जैनधर्म में तांत्रिक प्रभाव' शीर्षक से स्व. श्री अगरचन्द जी नाहटा के लेख में भी यही बताया गया है कि जैनधर्म में (दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों में) शासन देव-देवियों की मान्यता मध्ययुग में हिन्दू तांत्रिकों के प्रभाव से आई थी। सोमदेव सूरि ने, जो ११वीं सदी के लगभग अर्थात् भ. महावीर के १६०० वर्ष बाद हुए, यशस्तिलकचम्पू के अन्तर्गत उपासकाचार में लिखा है, 'ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।' इससे भी प्रगट होता है कि शासनदेव वास्तविक नहीं हैं, कल्पित हैं। इसीलिए जब कल्पना ने मान्यता प्राप्त कर ली तब १३वीं शती व उसके बाद ही शासन देव पूजा सहित प्रतिष्ठापाठ रचे गये। वर्तमान में प्रचलित शासनदेव पूजाएँ उसी काल की हैं। शासनदेव पूजा के समर्थक विद्वानों ने पुराणों के उदाहरण दिये हैं, उन्हें शास्त्र आम्नाय नहीं कहा जा सकता जबकि कुंदकुंदाचार्य ने असंयमी को नमस्कार करने तक से मना किया है।

(२) यह मानना ही गलत है कि आचार्य अकलंकदेव, स्वामी समंतभद्र आदि पर आये उपसर्गों में किसी शासन देवी ने सहायता की। कथावार्ताओं में जो ऐसे उल्लेख हैं वे जैन सिद्धान्त के विपरीत हैं। पूर्वोक्त विद्वान् बन्धु का यह कथन भी हास्यास्पद है कि मन्त्रों की साधना से सिद्धि तथा भगवान् की पूजा का फल शासन देव-देवी ही देते हैं। जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त की तो मान्यता ही यह है कि न कोई ईश्वर है, न कोई देवी-देवता कि जो हमें कुछ दे सकें या हमारे सहायक हो सकें। हमारी आत्मा में ही अनंत शक्ति है और उसमें श्रद्धा रखकर तथा मन्त्र, जप आदि व ध्यान की साधना द्वारा उसे जगाकर हम अनेक ऋद्धियां-सिद्धियां पैदा कर सकते हैं। पूजा, भक्ति, ध्यान, जप, तप मन्त्र-साधना का फल भी संसार की वैज्ञानिक-प्रक्रिया के

यह संभव होना बताया है, और लिखा है कि 'सिवाय किसी अदृश्य शक्ति की सहायता के यह सब कैसे संभव हो सकता है।' उन्होंने यहां तक लिख दिया है कि 'जिनदेव की आराधना, पूजन व जाप का विधान है। फल कौन देता है। आपकी भक्ति से प्रभावित जिन शासन से अनुबन्धित देवी-देवता ही आपको मार्ग दर्शन देते हैं तथा क्रूर ग्रहों के प्रकोपों से शांति प्रदान करने में सहायक होते हैं।'

इस सम्बन्ध में मेरा निम्नानुसार कहना है—

(१) जैन करणानुयोग के ग्रन्थों में अलग-अलग प्रकार के देव बताये गये हैं, उनमें से किसी भी प्रकार के देवों के लिए यह कथन नहीं है कि वे जैन शासन के व धर्मात्माओं के रक्षक हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड व त्रिलोकसार आदि में जहाँ-जहाँ यक्ष-यक्षिणियों के वर्णन हैं, वहां किसी के लिए यह नहीं लिखा गया है कि वे जैन-शासन के रक्षक शासन-देव हैं, न यह लिखा गया है कि इनकी पूजा-भक्ति करना चाहिये। इस प्रकार जब जैनकरणानुयोग के ग्रन्थों के अनुसार शासन के रक्षक रूप में कोई देवी-देवताओं का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता तो पुराणों व प्रतिष्ठापाठों आदि में आये वर्णनों का कोई महत्त्व नहीं है। अन्य शास्त्रों के अवलोकन से यह भी विदित होता है कि कुंदकुंदाचार्य से लेकर आचार्य जिनसेन के काल तक शासन देव-पूजा का कोई विधान नहीं है। आचार्य कुंदकुंद ने तो स्पष्ट ही लिखा है, 'असंजदं ण वंदे' अर्थात् असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। अस्तु, शासनदेवों का यदि अस्तित्व भी होता तो भी जैन धर्मानुसार उनकी पूजा भक्ति करना मिथ्यात्व है, क्योंकि देव गति में किसी को भी संयम होता ही नहीं है। आचार्य जिनसेन के महापुराण में चौबीसों तीर्थंकरों का विस्तृत चरित्र दिया गया है, परन्तु किसी भी तीर्थंकर के चरित्र में किसी एक भी शासनदेवी का उल्लेख नहीं है, जबकि शासन देवों के समर्थकों की मान्यता है कि प्रत्येक तीर्थंकर का एक-एक शासनदेव और देवी है। प्रतिष्ठापाठों में भी सबसे प्राचीन प्रतिष्ठापाठ जयसेन तथा वसुनंदि के माने जाते हैं, उनमें शासनदेव देवियों का नाम भी नहीं है। एक विद्वान् ने स्वामी समंतभद्र के स्वयंभूस्तोत्र में धरणेन्द्र-पद्मावती का उल्लेख होना बताया है जो गलत है। मूल स्वयंभूस्तोत्र में ऐसाकोई पद्य नहीं हैं। वहां तो यह पद्य है-'सर्पाधिराजाः कमठारितो यैः, ध्यानस्थितस्यैव फणावितानैः। यस्योपसर्गं निरवर्तयत्तं, नमामि पार्श्वं महतादरेण'। इससे कैसे अर्थ निकाला जा सकता है कि उपसर्ग दूर करने वाले सर्पराज धरणेन्द्र एवं पद्मावती थे? प्रसिद्ध विद्वान् पं. मिलापचन्द जी रतनलाल जी कटारिया ने भी 'जैन निबन्ध रत्नावली' के चार लेखों में अनेक शास्त्रीय प्रमाण देकर प्रतिपादित किया है कि किसी भी प्रामाणिक प्राचीन जैन आगम में शासन-देव-देवियों का कथाचरित्र नहीं मिलता है, न यह मिलता है कि किस वजह से ये शासनदेव देवियाँ मानी गई हैं, न धरणेन्द्र की पद्मावती नाम की देवी होने और उन दोनों के भ. पार्श्वनाथ के शासन देव-देवी होने का उल्लेख मिलता है।

परन्तु बाद का समय जैन धर्मावलम्बियों के लिए विशेषकर दक्षिण भारत में बड़ी कठिनाई का व्यतीत हुआ। शैवों के प्रभाव से कई नरेशों ने जैनियों पर अमानुषिक अत्याचार किये। जैसाकि विंसेंट ए. स्मिथ ने भारत वर्ष के इतिहास में लिखा है कि

पांडया राज्य के नरेश नेदुमरन पांडया ने ८००० जैनियों को मरवा डाला और उस स्थान पर मदुरा में अब भी शैवों द्वारा प्रतिवर्ष उत्सव मनाया जाता है। मिश्रबन्धु कृत 'भारतवर्ष का इतिहास' द्वितीय खण्ड पृष्ठ ५४२ व ४१५ पर भी लिखा है कि मैसूर नरेश विट्टदेव ने बहुत से साधुओं और श्रावकों को कोल्हू में पिरवा डाला तथा महाराष्ट्र में भी यादव वंशी राजा ने कई जैन मन्दिरों से मूर्तियाँ फिंकवा कर शैव मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करवा दीं। ऐसे संकट के समय में जैन गुरुओं ने जैन मन्दिरों के बाहरी भाग में हिन्दुओं की सी मूर्तियाँ स्थापित करवाना शुरू कर दिया ताकि उससे ऐसा लगे के ये हिन्दू देवताओं को मानते हैं। दिशाओं के दस दिग्पाल हिन्दू धर्म में माने जाते हैं वैसे ही हमारे यहाँ भी १० दिग्पाल कल्पित कर लिए गये। उनमें से ८ के तो नाम भी वही हैं कि जो हिन्दू शास्त्रों में है। पं. आशाधरजी ने नित्यमहोद्योत अभिषेक पाठ में ईशान दिशा के दिग्पाल का जो स्वरूप लिखा है, वह हिन्दू-शास्त्रों में वर्णित शिवजी से पूर्णतः मिलता है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में काली, महाकाली, चामुण्डा आदि देवियाँ मानी गई हैं । उनकी नकल पर उन्हीं के कुछ नामों में अपने नये नाम मिलाकर और उनके साथ तीर्थंकरों का सम्बन्ध जोड़कर २४ यक्षिणियों की कल्पना कर ली गई और उनका नाम शासन देवता रख दिया गया (यह बात दि. १५-९-८१ के वीर में प्रकाशित श्री गणेशप्रसाद जी जैन के लेख में दिये वर्णन से भी प्रतिपादित होती है)। जैन संदेश, दि. २४ मार्च १९७७ में (डा. विश्वम्भर उपाध्याय के मत सहित प्रकाशित) 'जैनधर्म में तांत्रिक प्रभाव' शीर्षक से स्व. श्री अगरचन्द जी नाहटा के लेख में भी यही बताया गया है कि जैनधर्म में (दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों में) शासन देव-देवियों की मान्यता मध्ययुग में हिन्दू तांत्रिकों के प्रभाव से आई थी। सोमदेव सूरि ने, जो ११वीं सदी के लगभग अर्थात् भ. महावीर के १६०० वर्ष बाद हुए, यशस्तिलकचम्पू के अन्तर्गत उपासकाचार में लिखा है, 'ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे'।' इससे भी प्रगट होता है कि शासनदेव वास्तविक नहीं हैं, कल्पित हैं। इसीलिए जब कल्पना ने मान्यता प्राप्त कर ली तब १३वीं शती व उसके बाद ही शासन देव पूजा सहित प्रतिष्ठापाठ रचे गये। वर्तमान में प्रचलित शासनदेव पूजाएँ उसी काल की हैं। शासनदेव पूजा के समर्थक विद्वानों ने पुराणों के उदाहरण दिये हैं, उन्हें शास्त्र आम्नाय नहीं कहा जा सकता जबकि कुंदकुंदाचार्य ने असंयमी को नमस्कार करने तक से मना किया है।

(२) यह मानना ही गलत है कि आचार्य अकलंकदेव, स्वामी समंतभद्र आदि पर आये उपसर्गों में किसी शासन देवी ने सहायता की। कथावार्ताओं में जो ऐसे उल्लेख हैं वे जैन सिद्धान्त के विपरीत हैं। पूर्वोक्त विद्वान् बन्धु का यह कथन भी हास्यास्पद है कि मन्त्रों की साधना से सिद्धि तथा भगवान् की पूजा का फल शासन देव-देवी ही देते हैं। जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त की तो मान्यता ही यह है कि न कोई ईश्वर है, न कोई देवी-देवता कि जो हमें कुछ दे सकें या हमारे सहायक हो सकें। हमारी आत्मा में ही अनंत शक्ति है और उसमें श्रद्धा रखकर तथा मन्त्र, जप आदि व ध्यान की साधना द्वारा उसे जगाकर हम अनेक ऋद्धियां-सिद्धियां पैदा कर सकते हैं। पूजा, भक्ति, ध्यान, जप, तप मन्त्र-साधना का फल भी संसार की वैज्ञानिक-प्रक्रिया के

अनुसार अपने आप मिलता है, उसके लिए किसी भी ईश्वर या देवी-देवता की आवश्यकता नहीं है। सिद्धियों के लिए देवी-देवताओं को सिद्ध करना पड़ता है तथा किसी अदृश्य शक्ति की सहायता के बिना यह कैसे संभव है, ऐसा कहना -जैन सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। मेस्मरिज्म और हिप्नोटिज्म वाले किसी देवी-देवता में विश्वास नहीं करते, वे भी तो अनेक चमत्कार दिखाते हैं, उनमें वह शक्ति कहाँ से आती है? परन्तु छद्मस्थों ने जिस प्रकार, सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों को खेंचने व ज्वार भाटा के लिए हजारों देवताओं की कल्पना कर डाली उसी प्रकार ऋद्धियों आदि का फल देने के लिए भी देवी देवताओं की कल्पना कर डाली। अस्तु यह मान्यता कि पद्मावती आदि शासन देव व अन्य धर्मों के देवी-देवता हैं और हमारे दुःख दूर कर सकते हैं व हमारी मनोकामनाएँ पूरी कर सकते हैं, जैन धर्म के ही नहीं, वस्तुस्थिति के भी सर्वथा विपरीत है। एक विद्वान् बन्धु का यह लिखना भी सर्वथा मिथ्या है कि भगवान आदिनाथ ने श्मशान में जाकर तपस्या देव-सिद्धि के लिए की थी। जैन धर्मानुसार तो देव सिद्धि के लिए तपस्या करना, मन्त्रों की साधना करना तथा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए धर्मध्यान करना मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जो भी धर्म साधना करता है, निःकांक्षित भाव से करता है। सिद्धियाँ तो अपने आप आती हैं, परन्तु उसका लक्ष्य सिद्धियाँ प्राप्त करना नहीं होता। इस बात का तो और भी दुःख है कि जहाँ शासन देवों का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होता वहां उनके समर्थकों ने तांत्रिकों की नकल पर देवी-देवताओं को सिद्ध कर मारण-वशीकरण जैसे त्याज्य कार्य की साधना का भी विधान कर दिया। इस सम्बन्ध में बहुचर्चित 'लघु विद्यानुवाद' को देखें।

(३) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शासन के व धर्मात्माओं के रक्षक देवी-देवताओं का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति ध्यान, मन्त्र, जप की साधना व धर्म सेवन करता है उसका फल भी तथा उससे प्राप्त हुई सिद्धि के उपयोग की क्षमता भी अपने आप प्राप्त होती है, उसके लिए भी किसी देवी-देवता की सहायता की आवश्यकता नहीं है। फिर भी जो बन्धु शासन देवताओं के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनसे मेरा प्रश्न है कि जन्म से ही अतुल्यबलशाली तीर्थंकरों पर मुनि अवस्था में उपसर्ग आए, भ. आदिनाथ को मुनि अवस्था में ६ मास तक आहार में अंतराय आया, सुकुमाल मुनि को सियालनी खाती रही व अन्य अनेक धर्मात्माओं पर संकट आये । चन्द्रगुप्त मौर्य के समय १२ वर्ष का अकाल पड़ा तब जैन धर्म व जैन साधुओं पर बड़ा भारी संकट आया। बाद में धार्मिक असहिष्णुता के समय में हजारों जैन मंदिर व मूर्तियाँ नष्ट कर दी गईं, जैन साधु जीतेजी घाणी में पिलवा दिये गए, अभी भी कलकत्ता में जैन मुनि पर उपसर्ग आया, पुरलिया कांड तथा कुंभोज बाहुबली कांड भी हुआ। यदाकदा अरहंत प्रतिमाओं की चोरियाँ होती रहती हैं, जिनके रक्षक शासन देव-देवी माने जाते हैं; परन्तु न तो कभी किसी शासन देव-देवी ने आकर संकट दूर किया न ही मंत्र-तंत्र शक्ति द्वारा भक्तों की सांसारिक कामनाएँ पूरी करने का ढोंग करने वाले किसी साधु या तांत्रिक ने अपनी मंत्र-तंत्र शक्ति का चमत्कार दिखाया। अनेक व्यक्ति जीवनभर पद्मावती-क्षेत्रपाल की पूजा करते रहते हैं फिर भी दुःखी दरिद्री बने रहते हैं। जयपुर में लूनकरनजी के मंदिर में तो चोर

पद्मावती का ही छत्र चुराकर ले गये। क्या इससे यह सिद्ध नहीं है कि शासन देवों की तथा तंत्र-मंत्र शक्ति सम्बन्धी मान्यता मिथ्या है, धर्म व धर्मात्माओं की रक्षक पद्मावती, क्षेत्रपाल या कोई भी और शक्ति नहीं है तथा स्वामी समन्तभद्र, मुनि मानतुंग आदि के भी उपसर्ग दूर हुए हैं वे भी स्वयं की योग शक्ति से दूर हुए न कि किसी देवता की सहायता से? कल्पित कथा के अनुसार धरणेन्द्र और पद्मावती ने भ. पार्श्वनाथ पर कमठ द्वारा दिये उपसर्ग को दूर किया । उस समय वे केवल मुनि अवस्था में थे, परन्तु अंध भक्तजन उनकी केवली अवस्था की प्रतिमाओं को ऊपर धरणेन्द्र का फण बनवाकर उन्हें पूज रहे है?

(४) शासन, देवों की मान्यता के समर्थन में यह भी कहा गया है कि दूसरे धर्मों के देवताओं को पूजने से तो अपने देवता को पूजना अच्छा है। सो वैसे तो जहर चाहे अपने घर का खावो चाहे दूसरे का, या बाजार से लाकर खावो, सबका फल समान है। परन्तु जब शासन देवों का अस्तित्व ही नहीं है और जैसा कि मैं आगे बताऊँगा, अन्य धर्मों के देवताओं का भी अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, तो उनके पूजने की क्या सार्थकता है, वह तो मिथ्यात्व है। इसी प्रकार शासन देवों की मान्यता के समर्थक विद्वान् यह भी कहते हैं कि हम उन्हें अरहंतों के समान मानकर थोड़े ही पूजते हैं, हम तो उनके प्रति साधर्मी वात्सल्य दिखाते हैं। सो इसका भी उत्तर है कि जब शासन देवों का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता तो साधर्मी वात्सल्य किसका? यह तो मूढ़ता है। यदि यह भी मान लिया जावे कि शासन देव-देवियों का अस्तित्व है तो साधर्मी वात्सल्य तो तब कहा जा सकता है कि जब उनसे कोई मनौती व कामना की पूर्ति न चाही जाती हो। परन्तु शासन देवों का पूजक कोई भी ऐसा नहीं है कि जो किसी कामना या मनौती के बिना उन्हें पूजता हो। पूजा भी उसकी की जाती है जो पूज्य होता है । जहां साधर्मी वात्सल्य मात्र दिखाया जाता है, वहाँ उसकी पूजा नहीं की जाती जबकि पद्मावती आदि की तो मन्दिर में मूर्ति स्थापित कर द्रव्य पूजन व आरती तक की जाती है। असल में शासन देवों की तो पूज्य भाव से ही पूजा की जाती है। उसे साधर्मी वात्सल्य कहना मात्र धोखा है, मिथ्यात्व है।

मनौतियाँ कैसे पूरी होती हैं ? यहां यह प्रश्न खड़ा होता है कि यदि शासन देवों का अस्तित्व ही नहीं है, तीर्थंकर प्रतिमाओं में भी अतिशय या चमत्कार नहीं है तो उनकी मनौतियाँ करने से लोगों की कामनाएँ कैसे पूरी हो जाती हैं? अन्य धर्म वाले देवताओं की मनौतियाँ भी कैसे पूरी हो जाती हैं?

उत्तर-(१) जो लोग इनकी मनौतियाँ नहीं करते, क्या उनके काम सिद्ध नहीं होते?

(२) मनौतियाँ करने वालों में भी किसी के देवता हिन्दू हैं, किसी के जैन हैं, कोई पीरजी की मनौती करता है, कोई किसी कब्र की करता है। हिन्दू कहता है कि मेरे ही देवता वास्तविक हैं और सब कल्पित। इसी तरह और भी अपने अलावा दूसरों के देवताओं को कल्पित बताते हैं। सभी धर्मों के मानने वाले अपने-अपने देवताओं की मनौतियाँ करते हैं, वे कैसे पूरी हो जाती हैं।

(३) मनौती करने वालों की कई मनौतियाँ असफल क्यों होती रहती हैं। किसी भी देवता या अरहंत प्रतिमा का ऐसा कोई भी भक्त नहीं है कि जिसकी सभी

मनौतियाँ पूरी हो जाती हैं, प्रत्युत जो देवी-देवताओं को नहीं मानते उनके मुकाबले में भी उनको मानने और मनौती करने वाले असफल हो जाते हैं। यदि देवी-देवता वास्तविक हैं और अरहंत प्रतिमाएँ भी चमत्कारपूर्ण हैं तो उनकी मनौती करने वालों को अन्य लोगों के समान बुद्धि का उपयोग व किसी प्रकार का प्रयत्न किये बिना ही, जो-जो भी मनौतियाँ की हैं उन सभी में सफलता मिलनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं, उनको भी बुद्धि का उपयोग व सब प्रयत्न करना ही पड़ता है । फिर सफलता का श्रेय इस बुद्धिवादी व वैज्ञानिक युग में उन देवी देवताओं को देना अविवेकपूर्ण ही है। मुस्लिम-युग का लम्बा इतिहास इसका साक्षी है। महमूद गजनवी ने सोमनाथ के मंदिर की मूर्ति को तोड़ा, तब न तो वह मूर्ति अपनी रक्षा कर सकी, न ही अन्य देवी देवता। यज्ञ, मन्त्र, जप, देव-देवता आदि ने किसी भी अत्याचारी का बाल भी बांका नहीं किया। हमारे देश के चुनावों में भी हम देखते रहे हैं कि कई उम्मीदवार विंध्यवासिनी देवी, वैष्णो देवी, तिरुपति, बैलारी की दरगाह आदि की मनौतियाँ करते हुए और इस संबंध में बड़े-बड़े तांत्रिकों की सहायता लेते हुए तथा यज्ञ व हवन कराते हुए भी चुनाव में हार जाते हैं।

सांसारिक कामनाओं के लिए मंत्रशक्ति का प्रयोग धर्म विरुद्ध—ध्यान की साधना द्वारा प्राप्त शक्ति की सार्थकता केवल आत्मशुद्धि तथा उपसर्ग आदि के समय धर्म रक्षा के लिए है, सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए नहीं। मंत्र, तंत्र की साधना भी एकाग्रता बिना नहीं हो सकती। अतः वह भी ध्यान की ही एक विधि है तथा जहाँ वह साधना सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए की जाती है, वहां वह आर्तध्यान या रौद्रध्यान ही हो सकती है, धर्म ध्यान नहीं हो सकती। अतः सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए मंत्रों आदि का उपयोग प्राचीन शास्त्रों में कहीं नहीं बताया गया है। महर्षि पतंजलि ने भी योगदर्शन में सचेत कर दिया है कि सिद्धियों का उपयोग करना आत्मकल्याण में बाधक बनता है। मंत्रों द्वारा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की कथाएं तो मध्ययुग में भट्टारकों द्वारा रची गई थी। जब असाता कर्म का तीव्र उदय हो उस समय तो मंत्रजप आदि कुछ कर ही नहीं सकते। मार्ग तो यही है कि बिना किसी सांसारिक कामना के अरहंतों की उपासना की जावे और असाता का उदय होने पर उसे समभावपूर्वक सहन किया जावे।

होम, हवन सम्बन्धी मिथ्यात्व—होम, हवन करने की जैन सिद्धान्त में कोई संगति नहीं है। यह विकृति तो जैन धर्म में वैदिक धर्म के प्रभाव से आई है। हवन और यज्ञोपवीत का सबसे पहले वर्णन आचार्य जिनसेन के आदि पुराण में मिलता है जो ईसा की नवीं शताब्दी में अर्थात् भ. महावीर के १३०० वर्ष बाद हुए। वह समय जैन धर्मावलंबियों के लिए बड़ा संकट का था । अतः आचार्य जिनसेन को परिस्थिति वश धर्मरक्षार्थ वैदिक धर्म के हवन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाकांडों की जैनियों के लिए भी सृष्टि करनी पड़ी। इसमें हिंसा तो होती ही है, इसके अतिरिक्त आज के महंगाई के समय में दूध, घी, मेवा अनाज आदि को आग में जलाकर धर्म मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है, जबकि हमारे देश में करोड़ों लोगों को घी की

बूंद भी चखने को नहीं मिलती। हवन वायु मंडल को शुद्ध करने को किया जाता है, यह भी झूंठी दलील है। यदि ऐसा होता तो हवन गंदी बस्तियों में किये जाते न कि स्वच्छ मैदानों में तथा घी, शक्कर, मेवा आदि खाद्य पदार्थों को जलाने के बजाय नीम की पत्तियाँ, गूगल आदि जलाई जाती, क्योंकि नीम की पत्तियाँ तो वैसे भी बेकार जाती हैं। मानव के स्वास्थ्य के लिए भी जहाँ वायु मंडल में आक्सीजन की आवश्यकता होती है, हवन से तो आक्सीजन की कमी होकर कार्बन डाई-आक्साइड गैस बनती है अतः हवन से तो हानि ही है। अतः सिद्धचक्रादि विधानों में हजारों रुपये की सामग्री जला दी जाती है वह धर्म के नाम पर अधर्म है और राष्ट्रीय अपव्यय है।

प्रसिद्ध विद्वान स्व. पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने दि. ३.८.६६ के 'वीरवाणी' के सम्पादकीय में लिखा था कि 'हवन के विषय में यह कहना कि इससे वायु शुद्ध होती है और बादल बनकर वर्षा आ जाती है, बिल्कुल बेबुनियाद तो है ही हास्यास्पद भी है। यदि आग में घी जलाने से वर्षा आ जाती तो हमारे देश में समरया, पचीस्या, चोंतीस्या और छपन्या जैसे भयंकर दुर्भिक्ष कभी न पड़ते। —यदि हवन पानी ला सके तो वर्षा की हर समय और हर क्षेत्र में आसानी हो जावेगी और कोई भी हवन का विरोध करने का साहस नहीं कर सकेगा। —ग्रह आदि के प्रकोप को शांत करने के अन्ध विश्वास से प्रेरित होकर भी बहुत से भाई-बहिन हवन के चक्र में फँस जाते हैं।' चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उत्तर भारत में १२ वर्ष का अकाल पड़ा था। यदि मंत्र-तंत्र-हवन करके ही वर्षा लाई जा सकती हो तो हमारे उस समय के पूर्वज १२ वर्ष तक अकाल का दुःख क्यों सहते रहते। वर्तमान में भी वर्षा न होने पर जहाँ कहीं भी हवन, यज्ञ आदि किये जाते हैं उनका कोई असर नहीं होता। उदाहरण के लिए जून १९८३ में संगम में प्रकाशित समाचार के अनुसार कन्याकुमारी में वर्षा के लिए १० दिन तक होम यज्ञ होता रहा और ६ ब्राह्मण गले तक पानी में खड़े होकर वर्षा के लिए प्रार्थना करते रहे, परन्तु पानी नहीं बरसा। पं. फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री वाराणसी ने लिखा है 'हवन की परिपाटी का जैन-परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। —यह नवीं शताब्दी से चालू हुई जान पड़ती है।' स्व. पं. बेवरदास जी दोशी ने भी 'जैन जगत्, सितम्बर १९६१ में लिखा था—'होम-हवन, ग्रह पूजन, दिग्पाल पूजन-ये सब प्रक्रियाएँ वैदिक परम्परा की हैं। —जड़ कर्मकांड एक न एक दिन नष्ट होकर रहेंगे— अतः हम समय रहते भ्रांत एवं निराधार पद्धतियों की जगह विकासोन्मुख करने वाली पद्धतियाँ चालू करें इसी में सवका भला है।'

मांगने के लिये प्रार्थना करना धर्मानुकूल नहीं—जैन धर्मानुसार तीर्थंकरों से हम केवल प्रेरणा लेते हैं। वे (अर्हन्त) न हमें कुछ देते हैं, न दे सकते हैं और न हमसे भक्ति आदि की कोई अपेक्षा करते हैं। अतः जैन धर्मानुसार अरहन्तों के गुणों में प्रशस्त अनुराग का होना ही उनकी भक्ति है-'गुणानुरागः भक्तिः' और उनके गुणानुवाद की सीमा से वाहर उनके वैभव आदि का वर्णन करते हुए उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित करना व उनसे किसी भी प्रकार मांगने को प्रार्थना करना, जैन धर्म के सिद्धान्तों से विपरीत है, भक्ति का अतिरेक है। हमारा णमोकार मंत्र भी भावना रूप

में ही है, प्रार्थना रूप में नहीं। भेदविज्ञान और उसकी प्रतीति होने पर कि जो धर्म की सबसे पहली आवश्यकता है, आत्मा की अनन्त शक्ति का भान हो जाता है, फिर वह किसी से क्यों कुछ मांगेगा अन्य धर्मों वाले जो संसार के कर्ता-हर्ता ईश्वर जैसी शक्ति में विश्वास करते हैं, वे उस शक्ति से प्रार्थना भी करते हैं, परन्तु जैन धर्म के अनुसार तो ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है जो कुछ दे सके। हमारी आत्मा में ही इतनी शक्ति है कि हम उसे जगाकर अपने ही श्रम से परमात्मा बन सकते हैं।

ईश्वरवादी धर्मों का मार्ग भक्ति का है, समर्पण का है कि वे अपने को नगण्य मानकर सब कुछ ईश्वर के भरोसे छोड़ दें, परन्तु जैन धर्म का मार्ग ठीक इसके विपरीत है। वह पुरुषार्थ का मार्ग है, वह कहता है कि कोई हाथ नहीं जो तुम्हें ऊँचा उठा सके, तुम्हें अपने ही पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ना पड़ेगा। जैसा करोगे वैसे फल भी भोगोगे, तुम्हारे पापों को कोई माफ नहीं कर सकता। उस मार्ग में ईश्वरवादियों की सी भक्ति और प्रार्थना का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार जैन तीर्थंकरों ने तो ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध क्रांति की थी, परन्तु उनके अनुयायियों ने कर्तृत्व उन तीर्थंकरों में ही थोप दिया। आचार्यों द्वारा मोक्ष के लिए प्रार्थना करने का समर्थन कर दिये जाने से यह विकृति पैदा हो गई कि उन्होंने यह सोचकर कि जब भगवान हमें मोक्ष दे सकते हैं तो हमारी सांसारिक कामनाएं पूरी क्यों नहीं कर सकते, वे उनसे प्रार्थनायें करके तरह-तरह की मांगें करने लगे, पाप की माफी मांगने लगे इस विचार के साथ कि ईमानदारी का जीवन न होने पर भी केवल भक्ति से ही उनके पाप माफ हो जायेंगे। अधिकांश हिन्दी के पूजा पाठ में यही लेने-देने का भाव भरा हुआ है। उदाहरण के लिए-पूजा के अन्त में प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है 'सुख देना दुःख मेटना, यही तुम्हारी बान, मोहि गरीब की बीनती सुन लीजो भगवान'। आलोचना पाठ में प्रार्थना की गई है 'द्रोपदि को चीर बढ़ायो, सीता प्रति कमल रचायो, अंजन से किये अकामी, दुःख मेटो अन्तर्यामी।' इसी प्रकार द्यानतरायजी ने कहा है—'पार्श्वनाथ को तू भले पुत्र कीने, महासंकटों से निकाले विधाता, सबै संपदा सर्व को तेहि दाता।' एक प्रसिद्ध कवि वृन्दावनजी अपनी संकटहरन स्तुति में कहते हैं 'हो दीन बन्धु श्रीपति करुणानिधानजी, अब मेरी व्यथा क्यों न हरो, बार क्या लगी। मालिक हो दो जहान के जिनराज आप ही, एबो हुनर हमारा कुछ तुमसे छुपा नहीं। बैजान में गुनाह मुझसे बन गया सही, कंकरी के चोर को कटार मारिये नहीं।' इसी प्रकार एक अन्य प्रार्थना हैं, 'नाथ मोहि जैसे बने वैसे तारो, मोरी करनी कछु न विचारो। करनी को सब कुछ मानने वाले जैन धर्म से इसकी क्या संगति है?

प्रचलित अष्ट द्रव्य पूजा जैन धर्म सम्मत नहीं

जैसा कि पहले कहा गया है कि अरहंतों की उपासना का उद्देश्य उनके गुणों के चिंतन द्वारा अपनी आत्म-शक्ति को जगाकर कषाय-मुक्ति के लिए प्रेरणा लेना है। प्रतिमा दर्शन का भी यही उद्देश्य है। जैन संदेश दि. ११.९.८० में पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने भी लिखा है 'जो जिसको पूजता है यदि वह उसके गुणों को नहीं जानता तो उसकी भक्ति यथार्थ नहीं है, न पूजा ही यथार्थ है', इसके बिना दर्शन व पूजन केवल अंधभक्ति है, उनका धार्मिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। अस्तु यही एक कसौटी है

जिस पर कसकर अष्ट द्रव्य की सार्थकता की जांच की जा सकती है कि क्या वह कषाय के संस्कारों को तोड़ने में सहायक होता है? अब इस दृष्टि से विचार करें तो पूजा में आठों द्रव्यों को चढ़ाते समय अलग-अलग आठ प्रकार की भावनाएँ की जाती हैं, जैसे जल चढ़ा कर यह भावना करना कि मेरा जन्म-जरा-मरण का रोग दूर हो, चंदन से यह भावना कि मेरे भव-आताप की शांति हो, अक्षत से यह भावना कि मुझे अविनाशी पद की प्राप्ति हो। इसी प्रकार और भी भावनाएँ हैं। आठ द्रव्यों को चढ़ाने का सम्बन्ध अब निम्नानुसार आठ कर्मों की निर्जरा के साथ जोड़ दिया गया है-

१. **जल**-'ज्ञानावरणकर्मविनाशकाय जिनेन्द्राय अनन्तज्ञानप्राप्तये जलं निर्वपामि।

२. **चंदन**-दर्शनावरणकर्मनिवारकजिनेन्द्राय अनन्तदर्शनगुणप्राप्तये चंदनं निर्वपामि।

३. **अक्षत**-वेदनीयकर्मविध्वंसकजिनेन्द्राय अव्याबाधगुणलब्धये अक्षतं निर्वपामि।

४. **पुष्प**-मोहनीयकर्मविनाशकजिनेन्द्राय सम्यक्त्वगुणप्राप्तये पुष्पं निर्वपामि।

५. **नैवेद्य**-आयुकर्मनिवारकजिनेन्द्राय अवगाहनगुणप्राप्तये नैवेद्यं निर्वपामि।

६. **दीपं**-नामकर्मनिवारकजिनेन्द्राय सूक्ष्मत्वगुणलाभाय दीपं निर्वपामि।

७. **धूपं**-गोत्रकर्मप्रतिबंधकजिनेन्द्राय अगुरुलघुगुणलाभाय धूपं निर्वपामि।

८. **फल**-अंतरायकर्मनिवारकजिनेन्द्राय अनंतवीर्यगुणप्राप्तये फलं निर्वपामि।

९. **अर्घ्य**-अष्टकर्मविनाशकाय जिनेन्द्राय अनंतज्ञानदर्शनोपलब्धये अर्घ्यं निर्वपामि।

इस वर्णन से यह भी प्रगट है कि जिनेन्द्र को जैन मान्यता के विरुद्ध हमारे आठों कर्मों का विनाशक/निवारक मानकर उनसे उन कर्मों के नाशक गुणों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना भी की गई है। किन्तु यह सब निरर्थक है।

पूजा के समय की जाने वाली आठों भावनाएँ (पुरानी व नयी दोनों) ही कषाय के संस्कारों तो तोड़ने के लिए निरर्थक हैं तो उनके लिए द्रव्य का आलम्बन लेने का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा हो सकता। फिर भी कहा जा सकता है कि कषाय-मुक्ति के लिए प्रेरणा लेने को भगवान के गुणों की भावना में उपयोग को लगाने के लिए साधारण लोगों के लिए अष्ट द्रव्य का आलम्बन आवश्यक है। इस दृष्टि से विचार करें तो अष्ट द्रव्य के साथ उन भावनाओं की कोई संगति भी नहीं बैठती कि उन्हें आलम्बन कहा जा सके। उदाहरण के लिए, केवल जल चढ़ाने से जन्म, जरा, रोग का नाश या अनन्तज्ञान की प्राप्ति, चन्दन चढ़ाने से भव आताप की शांति या अनन्त दर्शन गुण की प्राप्ति, चांवल चढ़ाने से अविनाशी पद या अव्यावाध गुण की प्राप्ति, पुष्प (पीले चांवल) चढ़ाने से काम विकार का नाश या सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा नैवेद्य (खोपरे की गिरि) चढ़ाने मात्र से ही क्षुधा-रोग का नाश या आयुकर्म निवारक अवगाहन गुण की प्राप्ति कैसे हो जावेगी जबकि कषाय नाश हुए विना ऐसा होना असंभव है। क्या पूजक जल, चन्दन आदि चढ़ा कर ही (चाहे प्रतीक के रूप में ही सही) जिनेन्द्र से अपने त्याग की तुलना में ऐसी असंभव मांगें करके अपने आपको

धोखा नहीं देते? पूजक प्रतीक के रूप में चढ़ाते तो हैं चांवल, गिरि आदि द्रव्य, परन्तु बहुमूल्य भोग पदार्थों के चढ़ाने का नाम लेकर क्या जिनेन्द्र को धोखा नहीं देते? इसके समर्थन में कहा जाता है कि यह तो स्थापना निक्षेप है, धोखा देना नहीं है। मेरा प्रश्न है कि कांच को हीरा कहकर या किसी नकली वस्तु को असली बताकर बेचने वाला दुकानदार भी कोर्ट में जाकर कहे कि मैंने तो स्थापना निक्षेप से कांच का हीरा या नकली वस्तु को असली कहकर बेचा है, मैंने धोखा नहीं दिया है, तो आपके स्थापना निक्षेप की कोर्ट में क्या दुर्गति होगी? अस्तु, अष्ट द्रव्य की निस्सारता को अनुभव कर वर्तमान के कुछ कवियों ने अपनी नवीन पूजाओं में कवि कल्पनाओं द्वारा उसे आध्यात्मिक भावनाओं का वाहक बताने का प्रयत्न किया है, परन्तु उपमाएँ और उपेक्षाएँ तो कल्पित ही होती हैं, वास्तविक नहीं होती, उनके आधार पर भी अष्ट द्रव्य को आलम्बन नहीं कहा जा सकता। द्रव्य वास्तव में हिन्दुओं के पूज्य-पूजक भाव से अपनाया गया है, एकाग्रता के आलम्बन के रूप में नहीं और क्योंकि वह भाव जैन धर्म विहित नहीं है अतः द्रव्य को आलम्बन कहा जाने लगा।

जो बन्धु यह समझते है कि उन्हें अष्ट द्रव्य के कारण पूजा के भावों में एकाग्रता हो जाती है वे अष्ट द्रव्य के बिना भी पूजा करके देखें, उस स्थिति में भी एकाग्रता होगी तब उन्हें स्वयं ज्ञात हो जायेगा कि अष्ट द्रव्य आलम्बन नहीं है। एकाग्रता का आलम्बन तो भावना होती है, अष्ट द्रव्य में ऐसी कोई खूबी नहीं है, उसके कारण तो भावना उपेक्षित हुई है कि व्यक्ति भावना न होते हुए भी द्रव्य चढ़ाकर ही समझ लेता है, मैं पूजा के फल का अधिकारी हो गया। भावना भी जितनी गहरी होती है एकाग्रता उतनी ही अधिक होती है। यह मनोविज्ञान का नियम है। परन्तु अष्ट द्रव्य द्वारा पूजा करने में तो मन को बार-बार भावना से हटाकर द्रव्य में ले जाना पड़ता है उस अवस्था में भावना गहरी होकर एकाग्रता कैसे हो सकती है। इसके अतिरिक्त जो लोग पूजा सुनते हैं उनके लिए भी अष्ट द्रव्य आलम्बन कैसे बन जाता है। क्योंकि वे स्वयं तो अष्ट द्रव्य को चढ़ाते नहीं? वे तो केवल (१) पूजा में जो कुछ बोला जाता है उसकी भावना में तथा (२) द्रव्य चढ़ाने की भावना में मन को लगाते हैं। अतः दोनों अवस्थाओं में उनका आलम्बन भावना होती है, द्रव्य नहीं। अस्तु, यह कहना धोखा है कि अष्ट द्रव्य आलम्बन है। इस भ्रमपूर्ण मान्यता ने तो अरहन्त भगवान की पूजा उपासना को धन-साध्य बनाकर एक गरीब व्यक्ति के लिए उसे असंभव बना दिया है।

इस प्रकार अष्ट द्रव्य तथा उसे चढ़ाते समय की जाने वाली भावनाएँ (दोनों ही) कषाय के संस्कारों को तोड़ने के लिए उपासना का आलम्बन माने जाने की कसौटी पर सही नहीं उतरती। यही कारण है कि अष्ट द्रव्य पूजा का गोरखधंधा करते हुए आयु बीत जाने पर भी हम आध्यात्मिक दृष्टि से वहीं बने रहते हैं, जरा भी प्रगति नहीं कर पाते।

प्राचीनकाल में केवल अष्ट द्रव्य पूजा नहीं थी

(१)अमितगति श्रावकाचार के परिच्छेद ८ श्लोक २९ में कहा है, 'सामायिकं

स्तवः प्राज्ञैर्वंदना सप्रतिक्रमा। प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढावश्यकमीरितम्', प्राचीनकाल में साधु और श्रावक के षडावश्यक थे—सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। साधु और श्रावक दोनों अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में अरहंतों की उपासना स्तवन, वंदन के रूप में ही थी, अष्ट द्रव्यपूजा के रूप में नहीं थी, क्योंकि साधु और श्रावक के षडावश्यक एक ही थे और साधु के पास अष्ट द्रव्य होने का प्रश्न ही नहीं था। इसके प्रतिपादन में ज्योतिषाचार्य स्व. डा. नेमीचंदजी जैन, आरा ने श्री भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका के पृष्ठ २३७ से २४० पर प्रकाशित अपने लेख में लिखा था, 'सिद्ध है कि प्रारंभ में गुणस्मरण और स्तवन के रूप में भक्ति भावना प्रचलित थी ...पूजन के अष्ट द्रव्यों की संख्या छठवीं शती के पश्चात् ही निर्धारित हुई मालूम पड़ती है।' 'षडावश्यकों एवं मूर्ति निर्माण में विकृतियाँ' पुस्तिका में पं. भँवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य साहित्यशास्त्री ने भी प्रमाणित किया है कि देवपूजा को श्रावकों के लिए षडावश्यकों में स्थान सर्वप्रथम भ. महावीर के १५०० वर्ष बाद हुए आचार्य पद्मनंदि और सोमदेव ने दिया था। मूर्धन्य विद्वान् सिद्धांताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने भी जैन संदेश दि. ७.२.८५ के अपने संपादकीय लेख में लिखा है 'जैन धर्म मूल से क्रियाकांडी धर्म नहीं है। प्राचीन शास्त्रों में पूजा विधि का उल्लेख नहीं मिलता। पात्रकेसरी-स्तोत्र में कहा है—"भगवन् चैत्य-दान-पूजन आदि क्रियाओं का आपने उपदेश नहीं दिया। यह तो आपके भक्त श्रावकों ने स्वयं उनका अनुष्ठान किया है। प्राचीन काल में मुनियों और श्रावकों के षट् कर्मों में भेद नहीं था। यह तो उत्तर काल में हुआ है। आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार में कहा है 'शरीर और वचन को लगाना द्रव्य पूजा है और मन को लगाना भाव पूजा है। इस तरह मन-वचन-काय के संकोच को ही भावपूजा और द्रव्यपूजा कहा जाता है। आज की प्रचलित द्रव्यपूजा उत्तरकाल की उपज है।" उपर्युक्त से सिद्ध है कि प्रचलित अष्टद्रव्य पूजा प्राचीन नहीं है।

अष्ट द्रव्य पूजा अनेक विकृतियों की जड़—तीर्थंकर तो मुक्त हो गये, हमारे सामने नहीं हैं। अतः हम उनकी प्रतिमाओं का निर्माण केवल उनके गुणों की स्मृति दिलाने के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए, हमने अपने कमरे में अपने स्वर्गीय पिताजी का चित्र लगा रखा है। उसे देखकर हमारे हृदय में उनके प्रति आदर व विनय पैदा होगा और उनके आदर्शों व उपदेशों को जीवन में उतारने की भावना भी पैदा होगी। परन्तु यदि उस चित्र को ही साक्षात् पिता मानकर पितृ-भक्ति के नाम पर पिता के योग्य परिचर्या उस चित्र की भी करने लग जावें तो हमें मूर्ख ही माना जावेगा। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी उनके गुणों का स्मरण दिलाने की साधन मात्र हैं। उन प्रतिमाओं को ही साक्षात् तीर्थंकर मानकर उनकी भक्ति के नाम पर, उन प्रतिमाओं के गर्भ, जन्म आदि पांच कल्याणक व पूजा, अभिषेक करना निरा अज्ञान ही है। अतः अष्ट द्रव्य पूजा के परिणाम स्वरूप उनके प्रति हममें ईश्वरवादियों का सा पूज्य-पूजक भाव पैदा हो गया, अनेक विकृतियाँ पैदा हो गईं व नई नई पैदा होती जा रही हैं। हममें से अनेक उन्हें अलंकारों से सजाते हैं व छत्र, चँवर आदि उपकरण चढ़ाते हैं, उनका पंचामृत अभिषेक करते हैं, आवाहन विसर्जन

करते हैं, प्रतिमा के सामने ज्योति जलाते हैं, आरती करते हैं, सिद्ध चक्र आदि मंडल मंडवाते हैं, प्रक्षाल के नातने की लोरी गले में बांधते व उसके जल को ललाट व गले में लगाते हैं। आजकल तो आचमन की तरह उसे पीने लग गये है, मिठाई आदि भी चढ़ाने लगे हैं और उसे प्रसाद के रूप में प्रभावना के नाम से बांटा जाता है। यही नहीं, उन्हें कर्ता-हर्ता ईश्वर की तरह मानकर अपने कार्यों की सिद्धि के लिए बोलारियाँ भी बोलते हैं। चाहे पूजा करने की भावना वाला कोई न हो, और न पूजा को सुनने वाले हों, फिर भी भगवान् की पूजा आवश्यक समझ कर किसी नौकर या फालतू व्यक्ति द्वारा पूजा कराई जाती है, मानों भगवान् को पूजा सुनने की गरज हो। व्यक्तिगत भावना न होते हुए भी मन्दिर की पंचायत के लोगों द्वारा बारी-बारी से पूजा कराने का भी यही उद्देश्य है कि भगवान् बिना सेवा-पूजा न रह जावें। इस प्रकार **अष्ट** द्रव्य पूजा के कारण पैदा हुआ ईश्वरवादियों का सा पूज्य पूजक भाव अनेक विकृतियों की जड़ है। जब तक इस जड़ को नष्ट नहीं करेंगे, विकृतियाँ मिटना तो दूर वे बढ़ती ही जावेंगी।

प्रकांड विद्वान् स्व. पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने वीरवाणी के अपने सम्पादकीय लेख में लिखा था 'वर्तमान में हमारे मंदिरों में द्रव्य पूजा की परम्परा चालू है। वह वीतरागता से तो दूर है ही, किन्तु निरवद्यता से भी काफी दूर चली गई है। उसमें जो विपुल परिमाण में सावद्यता घुली हुई है वह जैन धर्म के मौलिक रूप के साथ कोई मेल नहीं खाती।' विद्यावारिधि डा. ज्योतिप्रसादजी जैन ने 'जैन संदेश' के शोधांक दि. २३.२.७८ में भक्तिवाद की उत्पत्ति मध्यकाल में रामानुजाचार्य आदि के प्रभाव से मानते हुए लिखा था, 'इस प्रकार जैन मन्दिरों में भी भक्ति उपासना के ढोल और मंजीरे खटकने लगे। कीर्तन और करतल ध्वनि होने लगी और भक्ति साहित्य रचा जाने लगा। जैनाचार के क्षेत्र में इस भक्ति उपासना के प्रवेश ने आचार की मूल आत्मा का हनन अवश्य किया। अब जैन धर्म में पंचव्रतों का पालना उतना मुख्य नहीं रहा, जितना कि मन्दिर और चैत्य बनवाना, मूर्तियां प्रतिष्ठित करवाना और फिर उन मूर्तियों के सामने पूरा कीर्तन करते हुए मदमस्त हो जाना मुख्य हो गया। ....एक बड़ा भारी नुकसान यह हुआ कि जैन धर्म की आचार संबंधी जो प्रमुख विशेषता थी वह गौण हो गई और जैन साधु अधिकांशतः कुछ आडम्बरों और चोंचलों के शिकार होकर समाज की मुख्य धारा से कट गये।'

विकृतियाँ कैसे आईं—भगवान महावीर के बाद बहुत समय धार्मिक असहिष्णुता का रहा था। जब ईश्वर कर्तृत्ववादी धर्म का प्रभाव बहुत बढ़ गया उस समय बौद्ध धर्म तो भारत में अस्तित्वहीन ही हो गया। जैनियों पर भी बहुत अत्याचार हुए और जैसा कि अजैन इतिहासकारों ने भी लिखा है—जीतेजी घाणी में पिलवा दिये गये और हजारों जैन मंदिर और मूर्तियाँ नष्ट कर दी गईं। ऐसे संकट के समय में जैन धर्मावलम्बियों को धर्म बाह्य होने से बचाने के लिये जैनाचार्यों को ईश्वर कर्तृत्ववादी धर्म की पूजा, आवाहन, विसर्जन आदि बहुत सी बातों का जैनीकरण करना पड़ा, तथा अन्य नई परम्पराएं उनके कारण बढ़ती जा रही हैं। हवन व यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में तो मूर्धन्य विद्वान ब्र. पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने भी लिखा है कि

जैसी शूद्र करार दिये जाने के भय से धर्म ब्राह्य हुए जा रहे थे उनके स्थितिकरण के लिए ही आचार्य जिनदेव को आदिपुराण में हवन और यज्ञोपवीत की वैदिक क्रियाओं का जैनीकरण करना पड़ा था। हवन की परिपाटी वैदिकों से ही ली गई। इस बात का समर्थन अन्य कई विद्वानों ने भी किया है। विकृतियों के परिणामस्वरूप स्थिति यह हो गई कि सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के शब्दों में 'आज तो ईश्वर-भक्ति और जिन-भक्ति में कोई अन्तर नहीं रहा। वीतरागी जिन भी सृष्टि कर्ता-हर्ता ईश्वर के प्रतिरूप बन बैठे हैं।'

किसी समय जैन आचार्यों की परिस्थितियों की मजबूरी से शास्त्रों में द्रव्यपूजा, आवाहन, विसर्जन आदि क्रियाओं का जैनीकरण करना पड़ा था। परन्तु वे जैन धर्म सम्मत नहीं होने से इस वैज्ञानिक, बुद्धिवादी और धार्मिक स्वतंत्रता के इस परिवर्तित समय में त्यागने योग्य हैं। भगवान् महावीर ने ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध-क्रांति की थी, परन्तु अष्ट द्रव्य पूजा आदि तो तीर्थंकरों में कर्तृत्व को ही पुष्ट करती हैं अतः वे तो उपासना पद्धति का विकार हैं, उन्हें उपासना पद्धति का विकास या व्यवहार धर्म नहीं कहा जा सकता। जो भक्ति प्रदर्शन, आचार व क्रियाकाण्ड हमारे पुरुषार्थ को जगाने के बजाय तीर्थंकरों के प्रति कर्तृत्व भावना को ही पुष्ट करते हैं ।

आवाहन, विसर्जन भी व्यर्थ की क्रियाएं हैं—हिन्दू धर्म वाले इस बात को मानते हैं कि देवता बुलाने से आते, बैठते और चढ़ा हुआ द्रव्य ग्रहण करके वापस चले जाते है और उनके यहां वेदों तक में ऐसी पूजायें पाई जाती हैं। परन्तु जैन तीर्थंकर तो मुक्त हो चुके हैं, वे न तो हमारे द्वारा बुलाए जाने पर आ सकते हैं और न जा सकते हैं, अतः उनका आवाहन, विसर्जन करने व उनके आगे द्रव्य चढ़ाने का कोई औचित्य नहीं है। बारहवीं शताब्दी से पूर्व आवाहन व विसर्जन का उल्लेख किसी जैन शास्त्र में नहीं मिलता। परन्तु हिन्दू देवी-देवताओं की तरह हमने उन्हें भी पूजा के लिए बुलाना, बिठाना, उनसे याचना करना और विदा करना शुरू कर दिया और हिन्दू धर्म की पंचायतन पूजा की नकल कर हमारे यहां भी विसर्जन पाठ का निर्माण कर लिया। पंचायतन पूजा का सम्बन्धित अंश निम्नानुसार है-'आवाहनं न जानामि, न जानामि तवार्चनम्। पूजां चैव न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर॥ मंत्र-हीनं क्रिया-हीनं, भक्ति-हीनं सुरेश्वर। यत्पूजितं मया देव, परिपूर्णं तदस्तु मे। यदक्षर-पदभ्रष्टं, मात्राहीनं च यद्भवेत्। तत्सर्वं क्षम्यताम् देव, क्षमस्व परमेश्वर॥' इसकी तुलना में शांति पाठ के अन्त में दिया हुआ विसर्जन का अंश निम्नानुसार है-'आवाहनं न जानामि, नैव जानामि पूजनम्। विसर्जनं न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर॥ मंत्रहीनं क्रियाहीनं, द्रव्यहीनं तथैव च। तत्सर्वं क्षम्यतां देव, रक्ष-रक्ष जिनेश्वर॥'

उपर्युक्त दोनों का मिलान करने पर स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि पूजा के समय तीर्थंकरों को बुलाने, बिठाने व विसर्जन करने की परिपाटी जैनियों ने हिन्दू धर्म से ही ली है।

धर्म के दोहे

☆ सत्यनारायण गोयनका

अंध भक्ति ना धर्म है, नहीं अंधविश्वास।
बिन विवेक श्रद्धा जगे, करे धर्म का नाश॥

सम्प्रदाय के जहर से, बगिया हुई वीरान।
फिर बसंत जग में जगे, जगे धरम का ज्ञान ॥

धर्म न छापे तिलक में, धर्म न तुलसी माल।
धर्म कमण्डल में नही, धर्म नहीं मृग छाल॥

धर्म न दाढी मूंछ में, धर्म न घोटम घोट।
पनपे पाप प्रवंचना, इन धोखों की ओट॥

धर्म न मिथ्या रूढियां, धर्म न मिथ्याचार।
धर्म न मिथ्या कल्पना, धर्म सत्य का सार॥

शुद्ध धर्म तो एक है, छिलके हुए अनेक।
छिलके तो निस्सार हैं, सार धर्म का देख॥

जात पांत ना धर्म है, धर्म न छूआ छूत।
धर्मपंथ पर जो चले, मंगल जगे अकूत॥

सम्प्रदाय का , जाति का, जहां भेद ना होय।
जो सबका, सबके लिए शुद्ध धर्म है सोय ॥

सम्प्रदाय ना धर्म है, धर्म न बने दीवार।
धर्म सिखाये एकता, धर्म सिखाये प्यार॥

अपना भी होवे भला, भला जगत का होय।
जिससे सबका हो भला, शुद्ध धरम है सोय॥

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, सिक्ख न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन॥

सम्प्रदाय को धर्म जो, समझ रहा वह मूढ़।
धर्मसार पाया नहीं, पकडे छिलके रूढ़॥

धर्म सदा मंगल करे, धर्म करे कल्याण।
धर्म सदा रक्षा करे, धर्म बड़ा बलवान॥

धर्म न मंदिर में मिले, धर्म न हाट बिकाय।
धर्म न ग्रन्थों में मिले, जो धारे सो पाय॥

पाली संस्कृत हीवरू, अरबी बोले कोय।
भाषा होवे भिन्न , पर भाव धर्म का होय॥

सदाचरण ही धर्म है, दुराचरण ही पाप।
सदाचरण सुख ही जगे, दुराचरण दुःख ताप॥

धर्म धार निर्मल बने, राजा हो या रंक।
रोग शोक चिंता मिटे, निर्भय होय निश्शंक ॥

–विपश्यना शोध संस्थान,
धम्मगिरि, इगतपुरी -४२२ ४०३

परिशिष्ट

(अ) श्वेताम्बर-ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन

(१) मोक्खमग्ग-गइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाण-दंसण-लक्खणं ॥

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसीहिं ॥

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुपत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥–उत्तराध्ययन सूत्र, २८.१-३

जिनेश्वरों द्वारा भाषित, ज्ञान एवं दर्शन के लक्षण से युक्त, यथार्थ मोक्षमार्ग की प्राप्ति चार कारणों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप) से होती है, उसे सुनो।

ज्ञान और दर्शन इसी प्रकार चारित्र तथा तप, यह (चारों मिलकर) मोक्षमार्ग हैं, ऐसा केवलदर्शी-केवलज्ञानी सर्वज्ञ जिनेन्द्रों ने बताया है।

ज्ञान और दर्शन, इसी प्रकार चारित्र और तप इस (कारण-चतुष्टय युक्त) मोक्षमार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सद्गति अर्थात् सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं।

(२) तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ उत्तरा., २८.१५

जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संति एए तहिया नव ॥ उत्तरा. २८.१४

तथाभूत भावों (पदार्थों) के सद्भाव में स्वभाव से या किसी के उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व कहा गया है।

तथाभूत भाव या पदार्थ नौ हैं–१. जीव २. अजीव ३. बंध ४. पुण्य ५. पाप ६. आस्रव ७. संवर ८. निर्जरा और ९. मोक्ष।

(३) नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं व सम्मत्तं ॥ उत्तरा. २८.२९

सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) के बिना चारित्र (सम्यक्) नहीं होता, किन्तु दर्शन (सम्यग्दर्शन) के होने पर चारित्र की भजना है। (अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक् चारित्र होना अनिवार्य नहीं है) सम्यक्त्व एवं चारित्र कदाचित् एक साथ होते हैं अथवा पहले सम्यक्त्व होता है एवं फिर चारित्र।

(४) नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ उत्तरा. २८.३०

दर्शन (सम्यक्) रहित को ज्ञान (सम्यक्) नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्रगुण (सम्यक्) नहीं होते, चारित्रगुणों से रहित साधक को मोक्ष नहीं होता, और (कर्मों से) अमुक्त को निर्वाण (शान्तिमय सिद्धपद) प्राप्त नहीं होता।

(५) निसग्गुवएसरुई, आणारुई, सुत्तबीय रुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई, किरिया संखेव-धम्मरुई ॥

उत्तरा. २८.१६ एवं स्थानांग, १० वां स्थान

सम्यक्त्व की उत्पत्ति जिन निमित्तों के प्रति रुचि से होती है उस सम्यक्त्व को उस रुचि के नाम से जाना जाता है। ऐसे रुचिरूप सम्यक्त्व के १० प्रकार हैं–१. निसर्गरुचि २. उपदेश रुचि ३. आज्ञारुचि ४. सूत्ररुचि ५. बीजरुचि ६. अभिगमरुचि ७. विस्तारुचि ८. क्रियारुचि ९. संक्षेपरुचि और १०. धर्मरुचि।

विशेष–उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन की गाथा १७ से २७ तक इन दशविध रुचियों के लक्षण दिये गये हैं।

(६) निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ उत्तरा. २८.३१

सम्यक्त्व के आठ अंग या आचार हैं, यथा-१. निःशंकित २. निष्कांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढदृष्टि ५. उपबृंहण ६. स्थिरीकरण ७. वात्सल्य और ८. प्रभावना।

(७) नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥ उत्तरा. २८.३५

(जीव) ज्ञान से भावों (पदार्थों) को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से आस्रव का निग्रह करता है तथा तप से विशुद्ध होता है।

(८) दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?
दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्त-छेयणं करेइ। परं न विज्झायइ।परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे, सम्मंभावेमाणे विहरइ। -उत्तरा. २९.६१

भगवन् ! दर्शनसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है?

दर्शन-सम्पन्नता से जीव संसार के हेतुभूत मिथ्यात्व का छेदन करता है, उत्तरकाल में उसका ज्ञान-प्रकाश बुझता नहीं है, फिर वह अनुत्तर ज्ञान-दर्शन से आत्मा को संयोजित करता हुआ सम्यक् प्रकार से भावित करता हुआ विचरण करता है।

(९) पिज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ?
पिज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं नाण-दंसण-चरित्ताराहणाए अब्भुट्ठेइ।अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठि-विमोयणाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठावीसइ-विहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं-दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतराइयं-एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावगं केवल-वर-नाणदंसणं समुप्पावेइ।–उत्तरा. २९.७२

भगवन् ! राग, द्वेष एवं मिथ्यादर्शन पर विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। फिर वह आठ प्रकार के कर्मों की कर्मग्रन्थि को खोलने के लिए उनमें से सर्वप्रथम यथानुक्रम से अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म का घात करता है, पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म का और पांच प्रकार के अन्तराय कर्मों का युगपत् क्षय कर देता है। तत्पश्चात् प्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, परिपूर्ण, आवरणरहित, अन्धकार रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक के

प्रकाशक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर लेता है।

(१०) कुप्पवयण-पासंडी, सव्वे उम्मग्ग-पट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे॥ उत्तरा. २३.६३

कुप्रवचन को मानने वाले सभी पाखण्डी व्रतधारी लोग उन्मार्ग की ओर प्रमाण करने वाले हैं, सन्मार्ग तो जिनेन्द्र-कथित है, और यही उत्तम मार्ग है।

(११) मिच्छादंणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

सम्मदंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, सुलहा तेसिं भवे बोही॥

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥ उत्तरा.३६.२५७-२५९

जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, सनिदान और हिंसक होते हैं, तथा इस प्रकार जो मरण को प्राप्त होते हैं, उन्हें बोधि दुर्लभ होती है।

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान रहित एवं शुक्ललेश्या में अवगाढ़ रहते हैं तथा इस प्रकार जो मरण को प्राप्त होते हैं उन्हें बोधि सुलभ होती है।

जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान रहित और कृष्णलेश्या में अवगाढ होते हैं, तथा इस प्रकार जो मरण को प्राप्त होते हैं उन्हें भी बोधि दुर्लभ होती है।

(१२) संवेगेणं भंते! जीवे किं जणयइ?
संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणंताणुबंधि-कोह-माण-माया-लोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ। तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ।-उत्तरा. २९.२

भगवन्! संवेग (मोक्षाभिलाषा) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

संवेग से जीव धर्म (श्रुतचारित्र रूप धर्म) पर अनुत्तर श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से संवेग शीघ्र आता है, पुष्ट होता है। इससे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ का क्षय करता है फिर नये कर्मों का बंध नहीं करता है। उस अनन्तानुबन्धी कषाय-क्षय के निमित्त से वह मिथ्यात्व की विशुद्धि करके दर्शनाराधक होता है। दर्शन-विशोधि के द्वारा विशुद्ध होने से कई भव्य जीव उसी जन्म में सिद्ध हो जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो दर्शन-विशोधि से विशुद्ध होने पर (क्षायिक सम्यक्त्व होने पर) तीसरे भव का तो अतिक्रमण नहीं करते, (अर्थात् तृतीय जन्म में तो उनका अवश्य ही मोक्ष हो जाता है)

(१३) निव्वेएणं भंते! जीवे किं जणयइ?
निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ।-उत्तरा. २९.३

भगवन्! निर्वेद से जीव क्या प्राप्त करता है?

निर्वेद से देव, मनुष्य और तिर्यञ्चसम्बन्धी कामभोगों से शीघ्र ही

निर्वेद—वैराग्यभाव को प्राप्त होता है। फिर समस्त विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ का परित्याग करता है। आरम्भ-परित्याग करता हुआ व्यक्ति संसारमार्ग का विच्छेद कर देता है और सिद्धि मार्ग को ग्रहण कर लेता है।

(१४) **धम्मसद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वतेइ।–उत्तरा. २९.४

भगवन्! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या उपलब्धि होती है?

धर्मश्रद्धा से साता-सुखों (सातावेदनीयजन्य विषय-सुखों) में आसक्ति से जीव विरक्त हो जाता है और आगारधर्म (गृहस्थ सम्बन्धी प्रवृत्ति) का त्याग कर देता है। फिर अनगार होकर जीव छेदन-भेदन तथा संयोग आदि (विविध) शारीरिक और मानसिक दुःखों का विच्छेद कर डालता है और अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।

(१५) **आलोयणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**

आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसण सल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।–उत्तरा. २९.६

भगवन्! आलोचना से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है?

आलोचना से जीव मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्यों को निकाल फेंकता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। ऋजुभाव को प्राप्त जीव मायारहित होता है, अतः वह स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का बंध नहीं करता तथा पूर्व बद्ध की निर्जरा करता है।

(१६) **जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।**
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्त-संसारी।–उत्तरा. ३६.२६०

जो जीव जिनवचन में अनुरक्त हैं, जिनवचन का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल एवं असंक्लिष्ट होकर परिमित संसार वाले होते हैं।

(१७) **सद्धा परमदुल्लहा।** -उत्तरा. ३.९

श्रद्धा परम दुर्लभ है।

(१८) **जं सम्मंति पासहा तं मोणं ति पासहा।**
जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा।।–आचारांग, १.५.३

जो सम्यक्त्व है उसे मुनिधर्म के रूप में देखो और जो मुनिधर्म है उसे सम्यक्त्व के रूप में देखो।

(१९) **सम्मत्तदंसी न करेति पावं।**– आचारांग, १.३.२

सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता।

(२०) **चिच्चा सव्वविसुत्तियं फासे समियदंसणे।**–आचारांग १.६.२

शंका को छोडकर परीषहों को सहन करके सम्यग्दर्शन को धारण कर।

(२१) **जाए सद्धाए णिक्खंते तमेव अणुपालेज्जा विजहित्ता विसोत्तियं।** – आचारांग १.१.३

जिस श्रद्धा से मुनि ने प्रव्रज्या ग्रहण की है उसका शंकारहित होकर यावज्जीवन पालन करे।

(२२) **तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं** ।– आचारांग, १.५.५

वही सत्य एवं निश्शंक है जो जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है।

(२३) **सड्ढी आणाए मेहावी।**-१.३.४

(वीतराग की) आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है।

(२४) **जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा।** -आचारांग १.६.३

जिस प्रकार भगवान् के द्वारा फरमाया गया है उसको जानकर पूर्णरूपेण सम्यक्त्व के अभिमुख व्यवहार करे।

(२५) **सोच्चा य धम्मं अरिहंतभासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं।**
तं सद्दहमाणा य जणा अणाऊ, इंदा देवाति य आगमिस्संति॥

-सूत्रकृतांग १.६.२९

अरिहंतदेव द्वारा भाषित युक्तिसंगत शुद्ध अर्थ और पद वाले इस धर्म को सुनकर जो जीव इसमें श्रद्धान करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं अथवा वे इन्द्र के समान देवताओं के अधिपति होते हैं।

(२६) **जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।**
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो॥ -सूत्रकृतांग १.८.२२-२३

जो पुरुष अबुद्ध (धर्म के रहस्य को नहीं जानते) हैं, किन्तु जगत् में पूजनीय माने जाते हैं और शत्रु सेना को जीतने वाले होने से वीर कहलाते हैं वे यदि सम्यग्दर्शन से रहित हैं तो उनका समस्त पराक्रम अशुद्ध है और वह कर्मबन्धन रूप फल वाला होता है।

इसके विपरीत जो वस्तु तत्त्व को जानने वाले, पूजनीय, कर्म का विदारण करने में वीर तथा सम्यग्दृष्टि हैं, उनका तपादि अनुष्ठान शुद्ध तथा कर्म-नाश के लिए होता है।

(२७) **जाइ सद्धाइ निक्खंतो, परिआयट्ठाणमुत्तमं।**
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिए संजए॥ -दशवैकालिकसूत्र ८.६१

जिस श्रद्धा से संसार त्याग कर उत्तम प्रव्रज्या प्राप्त की है उसी श्रद्धा और आचार्यसम्मत गुणों का विधिपूर्वक पालन करना चाहिए।

(२८) **खवंति अप्पाणममोहदंसिओ, तवेरया संजम-अज्जवगुणे।**
धुणन्ति पावाइं पुरे कडाइं, नवाइं पावाइं न ते करंति॥

-दशवैकालिक, ६.६८

अमोहदर्शी (सम्यग्दर्शी या सम्यग्दृष्टि) जीव शरीर एवं कषाय-आत्मा को क्षीण करते हैं। तप में रमण करने वाले, संयम और आर्जव गुण युक्त वे जीव पूर्वकृत पापों को नष्ट करते हैं तथा नये पापों का बन्धन नहीं करते हैं।

(२९) **विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअण्णाणं।**

-नन्दीसूत्र सूत्र २५

विशेषतः सम्यग्दृष्टि की मति मतिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि की मति मतिअज्ञान है।

(३०) **विसेसियं सुयं-सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।**

-नन्दीसूत्र, सूत्र २५

निर्वेद—वैराग्यभाव को प्राप्त होता है। फिर समस्त विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ का परित्याग करता है। आरम्भ-परित्याग करता हुआ व्यक्ति संसारमार्ग का विच्छेद कर देता है और सिद्धि मार्ग को ग्रहण कर लेता है।

(१४) **धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**
धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वतेइ।–उत्तरा. २९.४

भगवन् ! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

धर्मश्रद्धा से साता-सुखों (सातावेदनीयजन्य विषय-सुखों) में आसक्ति से जीव विरक्त हो जाता है और आगारधर्म (गृहस्थ सम्बन्धी प्रवृत्ति) का त्याग कर देता है। फिर अनगार होकर जीव छेदन-भेदन तथा संयोग आदि (विविध) शारीरिक और मानसिक दुःखों का विच्छेद कर डालता है और अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।

(१५) **आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**
आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसण सल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।–उत्तरा. २९.६

भगवन् ! आलोचना से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है ?

आलोचना से जीव मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्यों को निकाल फेंकता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। ऋजुभाव को प्राप्त जीव मायारहित होता है, अतः वह स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का बंध नहीं करता तथा पूर्व बद्ध की निर्जरा करता है।

(१६) **जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।**
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्त-संसारी।–उत्तरा. ३६.२६०

जो जीव जिनवचन में अनुरक्त हैं, जिनवचन का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल एवं असंक्लिष्ट होकर परिमित संसार वाले होते हैं।

(१७) **सद्धा परमदुल्लहा।** -उत्तरा. ३.९

श्रद्धा परम दुर्लभ है।

(१८) **जं सम्मंति पासहा तं मोणां ति पासहा।**
जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा॥–आचारांग, १.५.३

जो सम्यक्त्व है उसे मुनिधर्म के रूप में देखो और जो मुनिधर्म है उसे सम्यक्त्व के रूप में देखो।

(१९) **सम्मत्तदंसी न करेति पावं।**– आचारांग, १.३.२

सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता।

(२०) **चिच्चा सव्वविसुत्तियं फासे समियदंसणे।**–आचारांग १.६.२

शंका को छोडकर परीषहों को सहन करके सम्यग्दर्शन को धारण कर।

(२१) **जाए सद्धाए णिक्खंते तमेव अणुपालेज्जा विजहित्ता विसोत्तियं।** – आचारांग १.१.३

जिस श्रद्धा से मुनि ने प्रव्रज्या ग्रहण की है उसका शंकारहित होकर यावज्जीवन पालन करे।

(२२) **तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं** ।– आचारांग, १.५.५

वही सत्य एवं निश्शंक है जो जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है।

(२३) सड्ढी आणाए मेहावी।-१.३.४

(वीतराग की) आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है।

(२४). जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा। -आचारांग १.६.३

जिस प्रकार भगवान् के द्वारा फरमाया गया है उसको जानकर पूर्णरूपेण सम्यक्त्व के अभिमुख व्यवहार करे।

(२५) सोच्चा य धम्मं अरिहंतभासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं।
तं सद्दहमाणा य जणा अणाऊ, इंदा देवाति य आगमिस्संति॥
-सूत्रकृतांग १.६.२९

अरिहंतदेव द्वारा भाषित युक्तिसंगत शुद्ध अर्थ और पद वाले इस धर्म को सुनकर जो जीव इसमें श्रद्धान करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं अथवा वे इन्द्र के समान देवताओं के अधिपति होते हैं।

(२६) जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसि परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो॥ -सूत्रकृतांग १.८.२२-२३

जो पुरुष अबुद्ध (धर्म के रहस्य को नहीं जानते) हैं, किन्तु जगत् में पूजनीय माने जाते हैं और शत्रु सेना को जीतने वाले होने से वीर कहलाते हैं वे यदि सम्यग्दर्शन से रहित हैं तो उनका समस्त पराक्रम अशुद्ध है और वह कर्मबन्धन रूप फल वाला होता है।

इसके विपरीत जो वस्तु तत्त्व को जानने वाले, पूजनीय, कर्म का विदारण करने में वीर तथा सम्यग्दृष्टि हैं, उनका तपादि अनुष्ठान शुद्ध तथा कर्म-नाश के लिए होता है।

(२७) जाइ सद्धाइ निक्खंतो, परिआयट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिए संजए॥ -दशवैकालिकसूत्र,८.६१

जिस श्रद्धा से संसार त्याग कर उत्तम प्रव्रज्या प्राप्त की है उसी श्रद्धा और आचार्यसम्मत गुणों का विधिपूर्वक पालन करना चाहिए।

(२८) खवंति अप्पाणममोहदंसिओ, तवेरया संजम-अज्जवगुणे।
धुणन्ति पावाइं पुरे कडाइं, नवाइं पावाइं न ते करंति॥
-दशवैकालिक, ६.६८

अमोहदर्शी (सम्यग्दर्शी या सम्यग्दृष्टि) जीव शरीर एवं कषाय-आत्मा को क्षीण करते हैं। तप में रमण करने वाले, संयम और आर्जव गुण युक्त वे जीव पूर्वकृत पापों को नष्ट करते हैं तथा नये पापों का बन्धन नहीं करते हैं।

(२९) विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअण्णाणं।
-नन्दीसूत्र सूत्र २५

विशेषतः सम्यग्दृष्टि की मति मतिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि की मति मतिअज्ञान है।

(३०) विसेसियं सुयं-सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।
-नन्दीसूत्र, सूत्र २५

सम्यग्दृष्टि का श्रुत श्रुतज्ञान है, मिथ्यादृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान है।

(३१) **तिविहे दंसणे पण्णत्ते. तंजहा -सम्मदंसणे, मिच्छादंसणे, सम्मामिच्छदंसणे।**

-स्थानांगसूत्र, तृतीय स्थान, तृतीय उद्देशक, सूत्र ३९२

तीन प्रकार के दर्शन कहे गए हैं, यथा- सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और सम्यग्मिथ्या दर्शन।

(३२) **जीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सम्मत्तकिरिया चेव, मिच्छत्तकिरिया चेव।**

-स्थानांग २.१.३

जीवक्रिया दो प्रकार की कही गई है, यथा-सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया।

(३३) **तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा-सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी य।**

-स्थानांग, ३.२.३१८

(३४) **सम्मदिट्ठी अमोहो सोही सब्भावदंसणबोही।**
अविवज्जओ सुदिट्ठित्ति एवमाई निरुत्ताइं॥ -आवश्यकनिर्युक्ति, ८६२

सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भाव, दर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि सम्यक्त्व की निर्युक्ति है। इनका स्पष्टार्थ इस प्रकार है-

सम्यगर्थानां दर्शनं सम्यग्दृष्टिः, विचारेऽमूढत्वं अमोहः, मिथ्यात्वमलापगमः शोधिः, सद्भावो यथास्थाऽर्थस्तद्दर्शनं, परमार्थज्ञानं बोधिः, अवितथग्रहोऽविपर्ययः, शोभनादृष्टिः, सुदृष्टिः, सम्यक्त्वस्य निरुक्तिः। -वही, गाथा ८६२

पदार्थों का सम्यक् दर्शन सम्यग्दृष्टि है, विचार में अमूढता अमोह है, मिथ्यात्व मल का दूर होना शोधि (शुद्धि) है, यथा अवस्थित पदार्थों का वैसा ही दर्शन होना सद्भाव है, परमार्थज्ञान बोधि है, (वस्तु का) अवितथ ग्रहण अविपर्यय है, शोभन दृष्टि सुदृष्टि है; ये सब सम्यक्त्व के निरुक्तिपरक अर्थ हैं।

(३५) **सत्तण्हं पयडीणं, अब्भिंतरओ उ कोडिकोडीणं।**
काऊण सागराणं, जइ लहइ चउण्हमण्णयरं॥

-आवश्यकनिर्युक्ति, १०६

जब जीव सात कर्म प्रकृतियों (आयुष्य कर्म को छोड़कर) की स्थिति को अन्तःकोटाकोटि सागरोपम कर लेता है तब वह चार में से एक सामायिक को प्राप्त करता है। उसके अनन्तर ग्रन्थिभेद होकर सम्यक्त्व लाभ होता है।

(३६) **दंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवनाणचरणाइं। -आचारांगनिर्युक्ति, २२१**

सम्यग्दर्शन युक्त जीव के तप, ज्ञान एवं चारित्र सफल होते हैं।

(३७) **कुणमाणो वि निवित्तिं परिच्चयंतो वि सयणधणभोए।**
दिंतो वि दुहस्स उरं मिच्छादिट्ठी न सिज्झइ उ॥ आचारांगनिर्युक्ति, २२०

निवृत्ति करने पर भी तथा स्वजन, धन और भोगों का त्याग करने पर भी दुःखी प्राणियों को हृदय देने वाला मिथ्यादृष्टि जीव सिद्ध नहीं होता है।

(३८) **मिच्छत्तमोहणिज्जा नाणावरणा चरित्तमोहाओ।**
तिविहतया उम्मुक्का तम्हा ते उत्तमा हुंति॥-आवश्यकनिर्युक्ति, ११०६

सिद्ध भगवान् मिथ्यात्व मोहनीय, ज्ञानावरण एवं चारित्रमोहनीय इन तीन प्रकार के कर्मों से मुक्त होते हैं, इसलिए वे उत्तम होते हैं।

(३९) जह जह सुज्झइ सलिलं तह तह रूवाइं पासई दिट्ठी।
इय जह जह तत्तरुई तह तह तत्तागमो होइ॥-आवश्यकनिर्युक्ति, ११६९

जैसे-जैसे जल शुद्ध होता है वैसे-वैसे उसमें नेत्र रूपादि को दिखलाता है। इसी प्रकार जैसे-जैसे तत्त्वरुचि होती है वैसे-वैसे तत्त्वज्ञान होता है।

(४०) कारणकज्जविभागो दीवपगासाण जुगवजम्मेवि।
जुगवुप्पन्नंपि तहा हेऊ नाणस्स सम्मत्तं ॥–आवश्यकनिर्युक्ति, ११७०

दीपक एवं प्रकाश का जन्म एक साथ होने पर भी उनमें कारण-कार्य विभाग माना जाता है। दीपक कारण है एवं प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के एक साथ उत्पन्न होने पर भी सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है।

(४१) भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति॥
–आवश्यकनिर्युक्ति, ११७३

चारित्र से भ्रष्ट के द्वारा भी सम्यग्दर्शन ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि चारित्र से रहित सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित सिद्ध नहीं होते हैं।

(४२) एक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥
–महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, १६

ज्ञान-दर्शन के लक्षण वाली एक शाश्वत आत्मा ही मेरी अपनी है। शेष समस्त बाह्य पदार्थ संयोग लक्षण वाले हैं, अर्थात् संयोग सम्बन्ध से प्राप्त हुए हैं।

(४३) सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे। –दशवैकालिक, १०.७

सम्यग्दृष्टि सदा अमूढ रहता है।

दिगम्बर ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन

काऊण णमुक्कारं जिणवरउसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥–दर्शनपाहुड, १

जिनश्रेष्ठ (प्रथम तीर्थंकर भ.) ऋषभनाथ (तथा अन्तिम २४ वें तीर्थंकर भ.) वर्धमान को (परम श्रद्धा से) वन्दन करके मैं क्रमानुसार संक्षेप में सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहूँगा।

छ दव्वाइं णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्चा णिद्दिट्ठा।
सद्दहणा ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेदव्वो ॥–दर्शनपाहुड, १९

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व (जिनवर भगवान् ने) कहे हैं। जो उनके यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है, उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्चयदो अप्पाणं हवदि सम्मत्तं ॥–दर्शनपाहुड, २०

जिनश्रेष्ठों ने जीव आदि (पदार्थों) के श्रद्धान को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है ; (लेकिन) निश्चय नय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥–समयसार, १३

भूतार्थ यानी निश्चयनय से जाने गए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

हिंसारहिदे धम्मे अट्ठारह-दोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होदि सम्मत्तं ॥मोक्षपाहुड, ७

हिंसारहित धर्म में अट्ठारह दोषों से रहित देव में तथा निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्मादिट्ठी जीवो दुग्गदिहेदुं ण बंधदे कम्मं।
जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥–स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८७

सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गति के कारण रूप कर्मों का बन्ध नहीं करता, बल्कि पहले अनेक भवों में जो अशुभ कर्म बांधे हैं उनका भी नाश कर देता है।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव-उवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥–मूलाचार, १.१२

सम्यक्त्व से ज्ञान, ज्ञान से सर्व भावों की उपलब्धि होती है। फिर पदार्थों की उपलब्धि से (सम्यग्दृष्टि) श्रेय और अश्रेय को जानता है।

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो हु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥–समयसार, १.११

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है ऐसा (ज्ञानी मुनियों ने) बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, निश्चय ही वह सम्यग्दृष्टि है।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मादिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥समयसार, ७.१

गुरु हस्ती के दो फरमान।
सामायिक स्वाध्याय महान्।।

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

★ जिनवाणी पत्रिका का 53 वर्षों से नियमित प्रकाशन।

★ ज्ञान एवं चरित्रवान सुश्रावकों, स्वाध्यायियों, योग्य, धार्मिक अध्यापकों तथा मेघावी प्रचारकों को तैयार करने हेतु स्वाध्यायी एवं शिक्षक-प्रशिक्षक शिविरों का आयोजन।

★ धार्मिक शिक्षण शिविरों तथा धार्मिक पाठशालाओं का संचालन।

★ सन्त-मुनियों व महासतियांजी के चातुर्मास से वंचित क्षेत्रों में पर्यूषण पर्व पर शास्त्र-व्याख्यान, चौपाई आदि वाचन हेतु योग्य स्वाध्यायियों को भेजकर जैन संस्कृति के रक्षण, प्रचार एवं प्रसार में योगदान।

★ आगम एवं अन्य विविध प्रकार के सत् साहित्य का प्रकाशन।

— "जिनवाणी" परिवार

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जयपुर के महत्वपूर्ण प्रकाशन

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक/सम्पादक	मूल्य
१.	दशवैकालिक सूत्र	आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा	४०/-
२.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग १	आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.	१५/-
३.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग २	आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.	२५/-
४.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग ३	आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.	२५/-
५.	अन्तगड़ दशा सूत्र	आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.	२०/-
६.	आध्यात्मिक आलोक	आचार्य श्री हस्तीमली म.सा.	
	साधारण		३०/-
	विशिष्ट		५०/-
७.	जैन संस्कृति और राजस्थान	डॉ. नरेन्द्र भानावत	२५/-
८.	प्रार्थना प्रवचन	आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.	१०/-
९.	उपमिति भव प्रपंच कथा	महोपाध्याय विनयसागर	१५०/-
१०.	जैन तमिल साहित्य और तिरुकुरल	डॉ. इन्द्रराज बैद	२०/-
११.	जैन दर्शन आधुनिक दृष्टि	डॉ. नरेन्द्र भानावत	२०/-
१२.	गजेन्द्र सुक्ति सुधा	डॉ. संजीव भानावत	२०/-
१३.	निर्ग्रन्थ भजनावली	गजसिंह राठोड़/प्रेमराज बोगावत	२०/-
१४.	स्वाध्याय स्तवन माला	सम्पतराज डोसी	२५/-
१५.	जैन तत्व प्रश्नोत्तरी	कन्हैयालाल लोढ़ा	५/-
१६.	पथ की रुकावटें	महासती श्री मैनासुन्दरी म.सा.	१०/-
१७.	कर्म ग्रंथ	केवलमल लोढ़ा	८/-
१८.	जीव अजीव तत्व	कन्हैयालाल लोढ़ा	४०/-
१९.	अपरिग्रह विचार और व्यवहार	डॉ. नरेन्द्र भानावत	५०/-
२०.	आचार्य श्री हस्ती :		
	व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. नरेन्द्र भानावत	५०/-
२१.	प्रथमा पाठ्यक्रम	पार्श्वकुमार मेहता	५/-
२२.	आत्म चिन्तन	भंवरलाल बोथरा	५/-
२३.	श्री सामायिक सूत्र (अर्थ सहित)	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	२/-
२४.	श्री सामायिक सूत्र (मूल)	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	१/-
२५.	प्रतिक्रमण सूत्र	पार्श्वकुमार मेहता	५/-
२६.	प्रवेशिका पाठ्यक्रम	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	३/-
२७.	रत्नवंश के धर्माचार्य	पं. दुःखमोचन झा	२०/-
२८.	आनुवर्वी	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	२/-
२९.	जैन विवाह विधि	जशकरण डागा	१/-
३०.	नूतन सप्त चरित्र संग्रह	सम्पतराज डोसी	१०/-
३१.	सकारात्मक अहिंसा	कन्हैयालाल लोढ़ा	११०/-
३२.	व्रत प्रवचन संग्रह	आचार्य श्री हीरा चन्द्र जी. म.सा.	७/-
३३.	पर्यूषण गीतिका	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	२/-
३४.	पर्यूषण पर्वाराधन	महासती मैना सुन्दरी जी म.सा.	१०/-
३५.	पच्चीस बोल	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	२/-
३६.	पर्यूषण सन्देश	जशकरण डागा	(शीघ्र प्रकाशित)
३७.	उत्तराध्ययन सूत्र (पद्यानुवाद)	आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.	(शीघ्र प्रकाशित)

सम्प्रदाय और सम्प्रदायवाद

¤ स्व. आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.

शुक्लाम्बर, आकाशाम्बर, ज्ञानपुजारी,
तेरापंथ अरु निश्चयनय के धारी।
सरलभाव से अपनी शाख चलावें,
पर भीतर में झगड़ा नहीं दिखावें।
धर्मनीति की शिक्षा दें मिल प्यारी ॥

सद्विचार रक्षण से जनमन भावे,
टकराकर अपनी नहीं शक्ति गमावे।
सम्प्रदाय में दोष न तब लग जानो,
वाद करण में करे न अपनी हानो।
धर्म-वीर हित सम्प्रदाय की क्यारी ॥

सम्प्रदाय का वाद दोष दुःखकारी
परगण की अच्छी भी लगती खारी।
पर उन्नति को देख द्रोह मन लावे,
स्पर्धा से अपने को नहीं उठावे।
वाद यही है अशुभ अमंगलकारी ॥

धर्मप्राण तो सम्प्रदाय काया है,
करे धर्म की हानि वही माया है।
बिना संभाले मैल वस्त्र पर आवे,
सम्प्रदाय में भी रागादिक छावे।
वाद हटाये सम्प्रदाय सुखकारी ॥

पर समूह की अच्छी भी वद माने,
अपने दूषण को भी गुण न माने।
दृष्टि राग को छोड़ वनो गुणरागी;
उन्नत कर जीवन हो जा सोभागी।
साधन से लो साध्य वनो अविकारी ॥

आचार्य चरितावली
(लावणी २०१-२०५) से

सम्यक्त्व पूर्वक ही दान आदि क्रियाएँ शुद्ध होती हैं। उन्हीं क्रियाओं का फल मोक्ष कहा गया है जो सम्यक्त्व पूर्वक होती हैं।

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तपः।
मिथ्यात्वं परमः शत्रुर्मिथ्यात्वं परमं विषम् ॥१२॥

मिथ्यात्व परम रोग है, मिथ्यात्व घना अंधकार है, मिथ्यात्व परम शत्रु है और मिथ्यात्व परम विष है।

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥१३॥

अदेव को देव मानना तथा देव को अदेव मानना, अगुरु को गुरु समझना तथा गुरु को अगुरु समझना, अधर्म में धर्मबुद्धि होना तथा धर्म में अधर्म बुद्धि होना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्वपंकमलिनो, जीवो विपरीतदर्शनो भवति।
श्रद्धत्ते न च धर्मं मधुरमपि रसं यथा ज्वरितः ॥१४॥

मिथ्यात्व रूपी कीचड़ में सना हुआ जीव विपरीत दृष्टि वाला होता है। वह धर्म पर उसी प्रकार श्रद्धा नहीं करता, जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति मीठी दवा पर भी विश्वास नहीं करता।

पटोत्पत्तिमूलं यथा तन्तुवृन्दं घटोत्पत्तिमूलं यथा मृत्समूहः।
तृणोत्पत्तिमूलं यथा तस्य बीजं, तथा कर्ममूलं च मिथ्यात्वमुक्तम् ॥१५॥

जिस प्रकार कपड़े की उत्पत्ति का मूल कारण धागे (रेशे) होते हैं, घड़े की उत्पत्ति का मूल कारण मिट्टी समूह होता है, वनस्पति की उत्पत्ति का कारण बीज होता है उसी प्रकार कर्मों का मूल कारण मिथ्यात्व को कहा गया है।

जन्मन्येकत्र दुःखाय, रोगो ध्वान्तं रिपुर्विषम्।
अपि जन्मसहस्रेषु, मिथ्यात्वमचिकित्सितम् ॥१६॥

रोग, अंधकार, शत्रु एवं विष तो एक जन्म में दुःख देने वाले होते हैं, किन्तु मिथ्यात्व की चिकित्सा नहीं की गई तो वह हजारों जन्मों तक दुःख प्रदान करता है।

शस्यानि वोषरे क्षेत्रे, निक्षिप्तानि कदाचन।
न व्रतानि प्ररोहंति, जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥१७॥

ऊषर धरती में फेंके गए बीज कभी उगते नहीं हैं इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव में व्रतादि आगे नहीं बढ़ते हैं।

शत्रुभिर्निहितं शस्त्रं, शरीरे जगति नृणाम्।
यथा व्यथां करोत्येव, तथा मिथ्यात्वमात्मनः ॥१८॥

जिस प्रकार शत्रुओं के द्वारा छोड़ा गया शस्त्र संसार में मनुष्यों के शरीर को व्यथित करता ही है उसी प्रकार मिथ्यात्व आत्मा को व्यथित करता है।

मिथ्यात्वशल्यमुन्मूल्य, स्वात्मानं निर्मलीकुरू।
यथाऽजस्रं सुसिंदुररजसा भुवि दर्पणः ॥१९॥

मिथ्यात्व शल्य को जड़ से हटाकर अपनी आत्मा को निर्मल बनाओ। जिस प्रकार संसार में निरन्तर सिंदूरकण के प्रयोग से दर्पण को निर्मल कर दिया जाता है।

स्वाध्यायेन गुरोर्भक्त्या, दीक्षया तपसा तथा।
येन केनोद्यमेनैव, मिथ्यात्वशल्यमुद्धरेत् ॥२०॥

स्वाध्याय से, गुरु की भक्ति से, दीक्षा से तथा तप से, जिस किसी भी उद्यम से मिथ्यात्व रूपी कांटे को बाहर निकाल देना चाहिये।

मद्यमोहाद्यथा जीवो न जानाति हिताहितम्।
धर्माधर्मौ न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितः ॥२१॥

मद्यपान से मोहित व्यक्ति जिस प्रकार हिताहित को नहीं जानता उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव धर्माधर्म के भान से सर्वथा शून्य होता है।

संस्कृत-ग्रन्थों में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं, सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥१॥

सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़कर दूसरा कोई रत्न नहीं है। सम्यक्त्व रूपी मित्र से बढ़कर कोई मित्र नहीं है, सम्यक्त्व रूपी बन्धु से बढ़कर कोई बन्धु नहीं है और सम्यक्त्वरूपी लाभ से बढकर कोई अन्य लाभ नहीं है।

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥२॥

मिथ्यात्व से ग्रस्त चित्त वाले प्राणी मनुष्य जन्म पाकर भी पशु की भांति आचरण करते हैं तथा जिन जीवों में सम्यक्त्व प्रकट हो गया है वे पशुदेह प्राप्त करके भी मनुष्य की भांति आचरण करते हैं।

या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥३॥

देव को देव समझना, गुरु को गुरु मानना और धर्म को धर्म स्वीकारना यह सम्यक्त्व कहा जाता है।

शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणैः ।
लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥४॥

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था इन पांच लक्षणों से युक्त ही सच्चा सम्यक्त्व कहा जाता है।

शंका कांक्षा निन्दा परशंसा संस्तवोऽभिलापश्च ।
परिहर्तव्या सद्भिः सम्यक्त्वविशोधिभिः सततम् ॥५॥

शंका, कांक्षा, निन्दा, परप्रशंसा, परमत का परिचय और उसकी अभिलाषा ये दोष सम्यक्त्व का शोधन करने वाले सत्पुरुषों के द्वारा सतत त्याज्य हैं।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, कर्मणा न हि बध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु, संसारं प्रतिपद्यते ॥६॥

सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) से युक्त जीव कर्म से नहीं बंधता है। किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित जीव संसार (बंधन) को प्राप्त करता है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य, ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य, संसारे भ्रमणं सदा ॥७॥

सम्यक्त्व से युक्त जीव को निश्चित रूप से निर्वाण की प्राप्ति होती है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव सदा संसार में भ्रमण करता है।

विनैककं शून्यगणा वृथा यथा, विनार्कतेजो नयने वृथा यथा ।
विना सुवृष्टिं च कृषिर्वृथा यथा, विना सुदृष्टिं विपुलं तपस्तथा ॥८॥

जैसे बिना 'एक' के शून्य-समुदाय व्यर्थ है, बिना सूर्य के प्रकाश के नेत्र बेकार हैं, बिना अच्छी बरसात के कृषि निष्फल है उसी प्रकार बिना सम्यक् दृष्टि के विपुल तप भी व्यर्थ है।

कनीनिकेव नेत्रस्य, कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारं, सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥९॥

आँख की पुतली की भांति और फूल की सुगन्ध की तरह समस्त धर्म-कार्यों का सार सम्यक्त्व है।

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम् ।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥१०॥

चारित्र और ज्ञान से रहित भी सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय है, किन्तु मिथ्यात्व के विष से दूषित ज्ञान और चारित्र का होना अच्छा नहीं है।

सम्यक्त्वसहिता एव, शुद्धा दानादिकाः क्रियाः ।
तासां मोक्षफलं प्रोक्तं, यदस्य सहचारिता ॥११॥

सम्यक्त्व से रहित जीव भलीभांति उग्र तप करते हुए भी हजार-कोटि वर्षों में बोधिलाभ को प्राप्त नहीं करते।

सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ।–भगवती आराधना, ७४२

सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना त्रैलोक्य की प्राप्ति से भी श्रेष्ठ है।

सद्दर्शनं महारत्नं विश्वलोकैक भूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥–ज्ञानार्णव, ६.५६

सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त संसार का एक मात्र भूषण है। यह मुक्ति पर्यन्त कल्याण प्रदान करने में दक्ष माना गया है।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥–चारित्रपाहुड, ७

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।–बोधपाहुड, १४

निर्ग्रन्थ और ज्ञानमय रूप जिनमार्ग में दर्शन कहा गया है।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्ममरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥–मोक्षपाहुड, ९६

जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म, जरा एवं मरण से प्रचुर और हजारों दुःखो से व्याप्त इस संसार में सुखरहित होकर भ्रमण करता है।

मिच्छे खलु ओदइओ बिदिए खलु पारिणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव ॥–गोम्मटसार, जीवकाण्ड,

मिथ्यात्व गुणस्थान में औदयिक भाव, सास्वादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव, मिश्रगुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तीनों भाव होते हैं।

अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चेव सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥–समयसार, २०१-२०२

जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता। जीव एवं अजीव अर्थात् आत्मा एवं अनात्मा को नहीं जानता हुआ कोई सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

सम्मद्दंसणसुद्धं जाव लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही ॥–रयणसार, ५८

जीव जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है तब तक सुखी रहता है एवं जब तक वह शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करता है तब तक दुःखी रहता है।

मूढत्रयं मदश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति, दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥-ज्ञानार्णव, षष्ठसर्ग, गाथा ८

तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्कादि आठ दोष इस प्रकार सम्यग्दर्शन के ये २५ दोष हैं।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ।-पंचाध्यायी, दूसरा अध्याय,३८१

सम्यग्दर्शन सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से निर्विकल्प है, सत्त्वरूप है और केवल आत्मा के प्रदेशों से परिणमन करने वाला है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्मात् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥-पंचाध्यायी, गाथा ४००

वस्तुतः सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है, वचनों का अविषय है, इसलिए कोई भी जीव विधिरूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरण वीरियतवाणं ॥-भगवती आराधना, ७३६

जिस प्रकार नगर में द्वार चेहरे पर आँख और वृक्ष में मूल (प्रमुख) होते हैं वैसे ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप (रूप आराधनाओं) में सम्यक्त्व ही प्रधान है।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥-दर्शनपाहुड, ३

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट भ्रष्ट हैं। दर्शन से भ्रष्ट का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र से भ्रष्ट सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु दर्शन से भ्रष्ट सिद्ध नहीं होते हैं।

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥-भगवती आराधना, ५३

जो जीव एक मुहूर्त्त काल तक भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं उनका संसार में वास अनन्तानन्त काल तक नहीं होता। (उनका अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल मात्र ही संसार शेष रहता है।)

शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वम्।-समयसार, तात्पर्यवृत्ति ३८.७२-९

शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है।

हिंसारहिए धम्मं अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथं पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।मोक्षपाहुड, ९०

हिंसादिरहित धर्म, अठारह दोष रहित देव और निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा होना सम्यक्त्व है।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता वहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥-दर्शनपाहुड, ४

सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट पुरुष बहुविध शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित होने के कारण संसार में ही भ्रमण करते हैं।

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति वोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥-दर्शनपाहुड, ५

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्यों का जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है।

सम्मादिट्ठी जीवा णीसंका होंति णिब्भया तेण॥
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥–समयसार, २२८

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिए वे निर्भय होते हैं। क्योंकि वे सप्तभय से रहित होते हैं, इसलिए वे निःशंक होते हैं।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेयो भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥–नियमसार, ५३

(जिनभगवान् के द्वारा प्रतिपादित) जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष (सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाह्य) निमित्त है और दर्शन मोहनीय (कर्म) का क्षय, (क्षयोपशम और उपशम) अंतर कारण है।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हिययम्मि पवट्टदे जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासदे तस्स॥–दर्शनपाहुड, ७

जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह नित्य बहता रहता है, उसका (पूर्व में बाँधा हुआ भी) कर्मरूपी रेत का आवरण नष्ट हो जाता है।

जध मूलादो खंधो साहापरिवारबहुगुणो होदि।
तध जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स॥–दर्शनपाहुड, ११

जैसे (वृक्ष की) जड़ से शाखा, पत्र, पुष्प, आदि परिवार वाला तथा बहुगुणी स्कन्ध उत्पन्न होता है, वैसे ही जिन धर्म के श्रद्धान को मोक्ष मार्ग का मूल कहा है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहदि णिव्वाणं॥–मोक्षपाहुड, ३९

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही शुद्ध है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

जध तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अधिगो तध सम्मत्तो रिसिसावयदुविधधम्माणं॥भावपाहुड, १४२

जैसे तारकाओं में चन्द्रमा और समस्त मृगकुलों में मृगराज सिंह (प्रधान) है, वैसे ही मुनि और श्रावक (सम्बन्धी) दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यग्दर्शन ही प्रधान है।

इय णादूण गुणदोसं दंसणरदणं धरेह भावेण।
सारं गुणरदणाणं सोवाणं पढमं मोक्खस्स॥–भावपाहुड, १४५

इस प्रकार (सम्यग्दर्शन के) गुण और (मिथ्यात्व के) दोष जानकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण करो। यह (समस्त) गुणरूपी रत्नों में सारभूत है और मोक्ष (रूपी महल) की पहली सीढ़ी है।

मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥गोम्मटसार, जीवकाण्ड, १७

मिथ्यात्व प्रकृति का वेदन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला होता है। जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी रुचिकर नहीं लगता है उसी प्रकार उस मिथ्यात्वी को धर्म रुचिकर नहीं लगता है।

जिन व्यक्तियों, संस्थाओं एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें सहयोग प्रदान किया, उन सबके प्रति हार्दिक आभार।

विमल चन्द डागा
मंत्री
जिनवाणी
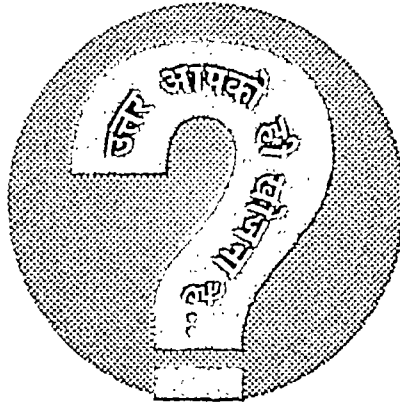
हम युग - युग से करुणा और अनुकम्पा की महिमा गाते आ रहे हैं,
अहिंसा और दया का उद्घोष मुखर करते आ रहे हैं,
महावीर और बुद्ध, नानक और गाँधी, मुहम्मद और ईसा की इबारतें सुनाकर
अहिंसा, करुणा, प्रेम, भाईचारा और सेवा की पुकार करते आ रहे हैं?

परंतु;

शून्य में गूँजती आवाज की तरह हमारी सब आवाजें अर्थहीन हो रहीं हैं।
हिंसा, हत्याएँ, युद्ध, साम्प्रदायिक उन्माद, जातीय संघर्ष, भय एवं आतंक का
जहर मानव को संवेदना शून्य बनाता जा रहा है।

क्यों? ...... सोचे ! विचारे !

कहीं हमारी भूल, हमारी भोग-लिप्सा, हमारी स्वार्थवृत्ति, अज्ञान, उपेक्षा, लापरवाही
जैसा चल रहा है, वैसा चलने देने की लच्चर मनोवृत्ति,
हमे अपने कर्तव्य से, धर्म से, न्याय नीति से, उत्तरदायित्व की भावना से
भ्रष्ट तो नहीं कर रही हैं?
हम क्या कर रहें है? और हमें क्या करना चाहिए?
हिंसा की खूनी होली में हमारी कितनी भागीदारी हैं? सोचिए.

- निवेदक -

शाकाहार एवं व्यसनमुक्ति कार्यक्रम के सुत्रधार

विज्ञापन सूची

1 [illegible], जलगाँव
2 M/s. Mahesh Textile Agencies, Bangalore
3 M/s. Jawahar Service Station, Bangalore.
4 M/s. Champalal Chatan Prakash Doongarwal, Bangalore.
5 M/s. S. Bhopal Chand & Co., Bangalore
6 M/s. Praveen Enterprise, Bangalore.
7 M/s. Southern Metal Mart, Bangalore.
8A M/s. D. M. Textiles, Pali
8B M/s. K. C. Chadda & Co., Jaipur
9A M/s. Mahesh Electricals, Bangalore.
9B M/s. Ashok Textiles, Mysore.
10A Shah Kundanmal Pukhraj Jain, Jodhpur
10B M/s. Jain Enterprises, Jodhpur.
11A M/s. Rishab Jewellers, Jaipur.
11B M/s. Vinod Electricals, Bangalore.
12A M/s. Prashant Exports, Jaipur.
12B M/s. Pag Gems, Jaipur
13A M/s. Real Gems, Jaipur.
13B M/s. Deepak Gems, Jaipur.
14A M/s. Badal Chand Ulam Chand Bagmar, Madras.
14B M/s. Inder Chand Surana & Sons, Madras.
15A M/s. Surendra Kumarji Hirawat, Jaipur.
15B M/s. Dhariwal Textiles, Pali
16A M/s. M. B. Textiles, Bangalore.
16B M/s. Meghna Motors, Bangalore.
17A M/s. G. C. Textiles, Jodhpur.
17B M/s. S. S. Comwares Pvt. Ltd., Bangalore.
18A M/s. Dasarathmal Chordia, Bangalore.
18B M/s. Marvel Paper(P) Ltd., Jaipur.
19A M/s. Kaveri Industries, Bangalore.
19B M/s. Kishore Chand Kushul Chand, Jodhpur.
20A M/s. S. Bothra & Co., Jaipur.
20B M/s. Kushal Chandji Hirawat & Family, Jaipur.
21A M/s. Karnawat Gems, Jaipur.
21B Ajeet Kumar Biani & Family, Jaipur.
22A Shri. Gopal Bhai Jeweri, Bombay.
22B M/s. Sohan Bhai Maheshwari, Bommbay
23A M/s. P. S. Manakraj Munoth, Madras.
23B M/s. Shasun Finance Ltd., Madras
24A M/s. Manmal Surana, Madras
24B M/s. Shasun Chamicals, Madras.
25A M/s. Jumarmal Bagmar Trust, Madras.
25B M/s. Kalyanmal Kanakmal Chordia Trust, Madras.
26A M/s. Gautam Service Station, Bangalore.
26B M/s. J. J. Agro Industries Pvt. Ltd., Jalgaon.
27A M/s. Vinod Bhai Kala, Bombay.
27B Shri. Vinodji Dugar, Bombay

28A M/s. Jatin Dosi, Bombay.
28B M/s. Nemichand Bothara, Bombay.
29 M/s. P. Ravi & Co., Bangalore.
30 M/s. Yash Exports, Jaipur.
31 M/s. Yishu Manu Gems, Jaipur.
32 M/s. Gemexi, Jaipur.
33 M/s. Pink International, Jaipur.
34 M/s. Kanti Karnawat, Jaipur.
35 M/s. Hima Gems, Hogn.
36 M/s. Guru Hasti Gold Palace, Madras.
37 M/s. S. D. Gems, Bombay.
38 M/s. Caprihans, India Ltd., Bombay
39 M/s. Wardhman Enterprises, Jaipur.
40 Well Wisher, Jaipur.
41 M/s. Chopra Chemicals, Jodhpur.
42 M/s. Rajmal Lakhi Chand, Jalgaon.
43 M/s. Jaipur Emerald Corporation., Jaipur.
44 M/s. Cosmopolitan Trading Corporation, Jaipur.
44 M/s. Sunvim Exports, Bombay.
46 M/s. Sammer Exports, Jaipur.
47 M/s. Ram Gopalji Prakash Chandji Vijayvergi, Jaipur.
48 M/s. Jain Bohra and Associates, Jodhpur
49 Smt. Daulat Kanwar Gamandi Chand Kankaria Memorial Trust, Jodhpur.
50 M/s. Kushal fabrics, Jodhpur.
51 M/s. Chopra Metals Pvt. Ltd., Jodhpur.
52 M/s. Shubham Group of Companies, Jodhpur.
53 Shri. Parasmalji Singhvi, Jaipur.
54 M/s. Bright Gems, Jaipur.
55 M/s. Mahaveer Chandji Jargad, Jaipur.
56 M/s. Uttam Chandji Hirawat & Family, Jaipur.
57 M/s. Sumer Singhji Upendra Singhji Bothra, Jaipur.
58 M/s. Hem Chand Padam Chand, Jaipur.
59 M/s. Arun Impex, Jaipur.
60 M/s. Mohan Rajji Ballia, Jaipur.
61 M/s. Sirahmalji Lodha, Jaipur.
62 M/s. Prakash Chandji Hirawat, Jaipur.
63 M/s. Satish Kumar Suklaha, Jaipur.
64 M/s. Bindal Jewellers, Jaipur.
65 M/s. Bhag Chand Nawalkha, Jaipur.
66 M/s. S. G. Jewellers, Jaipur.
67 M/s. Shanti Lal M. Shah, Jaipur.
68 M/s. J. K. Enterprises, Jaipur.
69 M/s. Sangam Exhibitions, Jaipur.
70 M/s. Piyushri Diamonds, Jaipur.
71 M/s. Atma Ki Aabaj Shri. Ratanlalji Bafna, Jalgaon
72 M/s. Shri Ratanlalji Bafna, Jalgaon
73 M/s. Asia Gems, Hongkong.
74 M/s. Reliable Exports, Jaipur.
75 M/s. P. C. Dhadda, Jaipur.
76 M/s. Sumangal Gems, Jaipur
77 M/s. K. Barjatia's, Jaipur.
78 M/s. Allied Gems Crop., Jaipur.
79 M/s. Suprem Metprods Ltd., Jaipur.

।। जय महावीर।।
।। जय आर्यिका गुणामती माताजी।।
२१ अप्रेल १९९१ नीमाज "गंगवाल भवन" के आँगन में
आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज साहब
का समाधि मरण अमर हो गया ।
शुभकामनाओं सहित
MAHESH
TEXTILE
AGENCIES
Sakalajee Market,
3rd Floor, Avenue Road,
BANGALORE- 560 002
Tel : (O) 2233853, 2216563
(R) 601795
Fax : 080-6623469
GRAMS : GANGWAL

"चेतन गाँव बतो के मैं बतो थूं मारे हृदय में है"– जब भी याद आती है वह अनमोल शब्द गूंजते हैं ।

– चेतन डुँगरवाल

शुभ कामनाओं सहित

सेठ चम्पालाल चेतन प्रकाश डुँगरवाल

61, नगरथ पेट, बैंगलौर-560002
फोन – (प्रतिष्ठान) 2222443
निवास : 2212381

जय गुरू हस्ती जय गुरू हीरा

वह अमृतवाणी आज भी मार्गदर्शन कर रही है, "मन्दिर के पुजारी ज्यूँ सेवा कर गयो है लाला" धन्य मेरे भाग ! धन्य मेरे आराध्य देव !

– भोपाल चन्द पगारिया

"यह दिन अशोक नगर सुले का सहज ही स्मरण हो आता है जब मेरे दीनानाथ दया के सागर ने पूछा तेरा घर कहाँ हैं"
- संतोष चन्द गुगलिया
With Best Compliments From
PRAVEEN
- X -
WEAVE CARPETS
Wholesale Dealers in :
100% Woollen Carpets,
Acrylic & Nonwovens Carpets
PRAVEEN ENTERPRISES
Manufacturers of
Acryllic Glow Sign Boards
14, Castle street, Ashok Nagar,
BANGALORE-560 025
Phone : 561049

जय गुरू हस्ती | जय गुरू हीरा

करूणा के सागर जब भी आपका चिन्तन चलता है, रोम-रोम हर्षित हो जाता है, संतों के वांचणी देते हुए भी पूछते थे कि ''बाबू सम्पत कहाँ है'' प्रभु आपकी कृपा को जन्म-जन्मान्तर भूल नहीं पाऊंगा।

यह बच्चे भी आपके चरणों में समृपित हैं।

★ **महावीर जैन**

★ **विमल जैन**

★ **अशोक जैन**

★ **बसन्त जैन**

– सम्पत राज मरलेछा

जिस दिन दुनिया धर्म से बिल्कुल विमुख हो जायेगी, प्रलय का दृश्य उपस्थित हो उठेगा।

— आचार्य श्री हस्ती

पीढीयों से परम्परा के इस धोका परिवार पर कृपा कर अंतिम समय नीमाज पधारने की महती कृपा को कभी भूल नहीं पाऊंगा, युगों-युगों तक आपका ऋणी रहूंगा।

— विमल चन्द धोका

अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय, मधुर और प्रेरणाप्रद होती है।

– आचार्य श्री हस्ती

पदार्थों की यथार्थ अभिव्यक्ति का नाम सम्यक्ज्ञान है ।

– आचार्य श्री हस्ती

"असीम शक्ति के धारी ज्ञान और क्रिया के संगम के जब भी दर्शन करता मन भर जाता एकेला होता तब फरमाते थे शालिभद्रजी को कहाँ छोड़ा"

– हुक्मचंद

जो विरोधाग्नि का मुकाबला शान्ति के शीतल फल से करते हैं, वे विरोध को भी जीत लेते हैं।

- आचार्य श्री हस्ती

धर्म का भूषण वैराग्य है वैभव नहीं।
– महात्मा गांधी

ध्यान ही मोक्ष प्राप्त करने का राजमार्ग है
– स्वामी शिवानन्द

मनुष्य जाति में हिंसा बढ़ने का कारण अज्ञान है।

- आचार्य श्री हस्ती

"जय गुरु हस्ती"
"जय गुरु हीरा"
मेरे आरध्य देव का स्मरण करते ही घणा मात्र में कष्ट चुर होते हैं, ऐसे युग प्रधान, युग मनीषी, महापुरुषों के पवित्र पावन चरणा सरोजों में हाद्रिक श्रद्घाँजली।
शुभ कामनाओं सहित
Estd. 1962
Gautam Service Station
Dealers : Hindustan Petroleum Corporation Ltd.
Tumkur Road, Yeshwanthpur, Bangalore- 560 022
Phone : (O) 3371331 (R) 3374319
प्रार्थना का प्राण भक्ति है।
- आचार्य श्री हस्ती
With Best Compliments From
J.J. AGRO INDUSTRIES (P) LTD.
D-54, MI DC, Area, JALGAON - 425003
Phone : 210608, 210542 Fax : 0257-210542
Residence :
53, Vidya Nagar, JALGAON.
Phone : 27158
Bhanwar Lal Jain
(Director)

विचार ही हमारे चरित्र का संगठन करते हैं।

- स्वेट मार्डेन

ज्ञान और कर्म से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

- महावीर स्वामी

सम्यग्दर्शन वह आलोक है, जो आत्मा में व्याप्त मिथ्यात्त-अन्धकार को नष्ट कर देता है और आत्मा को मुक्ति की सही दिशा और सही राह दिखलाता है।

– आचार्य श्री हस्ती

आत्मा रूपी निर्मल गगन में
जब समभाव को विभाकर
अपनी समस्त प्रखरता के साथ
उदित होता है तो राग, द्वेष, मोह
आदि उलूक विलीन हो जाते हैं।
– आचार्य श्री हस्ती

जिसने सम्यग्दर्शन पा लिया
उसने अपने जीवन में
आध्यात्मिक नींव मजबूत करली।
- आचार्य श्री हस्ती
With Best Compliments From

सम्यग्ज्ञान में रोटी-रोजी कमाने
का शिक्षण नहीं बल्कि जीवन को
बनाने का यथार्थ शिक्षण होता है।
- आचार्य श्री हस्ती

मन पर नियन्त्रण करना,
मन को वश में करना तप है।
- आचार्य श्री हस्ती

जीवन को बनाने या बिगाड़ने का सारा दायित्व चरित्र पर ही निर्भर है।

\- आचार्य श्री हस्ती

हमारा बाहरी शत्रु उतना धातक और अपकारी नहीं, जितना यह शरीरस्थ आलस्य शत्रु है।

- आचार्य श्री हस्ती

अहिंसा हमारा लक्ष्य है और जीवन को
अहिंसा मय बनाने के लिये संयत्र और
तप ये दो उसके साधन है।
- आचार्य श्री हस्ती
With Best Compliments
From :
RAJMAL LAKHI CHAND
169, Johari Bazar, Jaipur.
Phone : 22668, 82 & 83
Fax : 91-257- 264.82

स्वाध्याय व्यक्तिगत चेतना का प्रमुख साधन है।

\- आचार्य श्री हस्ती

करने के लिये

आवश्यक है।

आचार्य श्री हस्ती

आध्यात्मिक शिक्षण अन्तर्वृतियों को शिक्षित करता है जब व्यावहारिक शिक्षण जीवन को सुख सुविधाओं को अर्जित करने में सक्षम बनाता है।

– आचार्य श्री हस्ती

यदि विषय-कषाय नहीं घटते हैं
तो कहना चाहिये कि अब तक हमारे
जीवन में चारित्र नहीं है।

- आचार्य श्री हस्ती

जीवन में पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि जीवन में करुणा, मैत्री, परस्पर प्रेम, सहयोग एवं सद्भावना की गंगा बहाओ।

- आचार्य श्री हस्ती
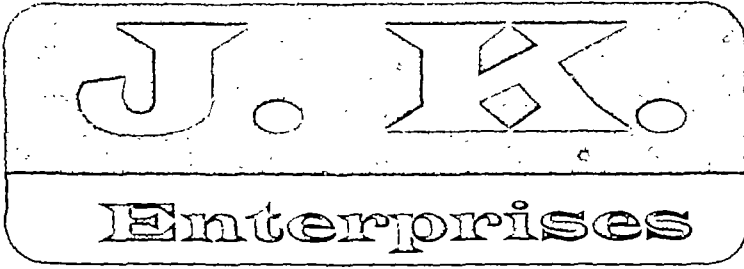
भजन करने से अनेक भवों के संचित दुष्कृत दुष्कर्म नष्ट हो जाते हैं।

- आचार्य श्री हस्ती

प्रेम प्रकट करने व उत्साह बढ़ाने से ज्ञानाभ्यास करने वालों और साधना की ओर उन्मुख होने वालों को बल मिलता है।

- आचार्य श्री हस्ती मल जी म.सा

समस्त दुःखों का मूल अज्ञान है।
जब तक अज्ञान की सत्ता है,
दुख का अन्त नहीं आ सकता।

- आचार्य श्री हस्ती

श्रीमन्तों को समाज की आँखों में काजल बन कर रहना चाहिए जो खटके नहीं, न कि कंकर बनकर' जो खटकता हो।

– आचार्य श्री हस्ती

तन पर, मन पर, वाणी पर, हृदय पर,
'यम' अर्थात नियन्त्रण करना संयम है।

– आचार्य श्री हस्ती

आनन्द भौतिक वस्तुओं के प्रति राग में नहीं, उसके त्याग में है।

- आचार्य श्री हस्ती
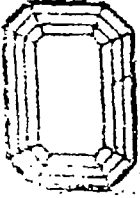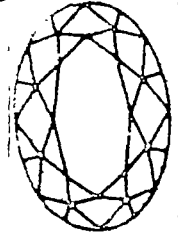
ज्ञान वृद्धि का प्रमुख साधन स्वाध्याय है।
– आचार्य श्री हस्ती
With Best Compliments
From :
K. BARJATIA'S
Manufacturers, Exporters & Importers of
PRECIOUS AND SEMI-PRECIOUS STONES
673, Shah Bhawan, Boradi Ka Rasta,
Kishanpole Bazar, JAIPUR-302 003 (Raj.)
Phone : (O) 313500, 317550, 561703, Fax : 561703
Bankers :
STATE BANK OF BIKANER & JAIPUR
International Banking Branch
SMS Highway, Jaipur
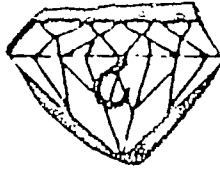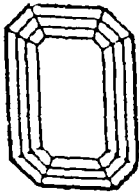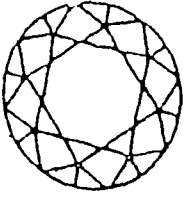
योग्यता होते हुए भी पुरूषार्थ की आग को ढककर रखने से ज्ञान रूपी प्रकाश नहीं मिलता।

– आचार्य श्री हस्ती

जिनवाणी

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥
जिनवचन में अनुरक्त जो व्यक्ति जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं वे निर्मल, संक्लेशरहित एवं परित्तसंसारी होते हैं।

सम्यग्दर्शन विशेषाङ्क

सम्पादक

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, दुकान नं. १८२-१८३ के ऊपर
जयपुर - ३०२ ००३ (राज.) फोन नं. ५६५९९७

संस्थापक :

श्री जैनरत्न विद्यालय, भोपालगढ़ (राज.)

सम्पादक :

डॉ. धर्मचन्द जैन

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :

कुम्भट भवन, कांकरियों की पोल
महामन्दिर, जोधपुर-३४२ ०१०
फोन नं. ४७३९४

सम्पादक मण्डल :

डॉ. संजीव भानावत

पुखराज मोहनोत

अगस्त, १९९६

वीर निर्वाण संवत् २५२२

श्रावण, संवत् २०५३

वर्ष ५३

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं. ३६५३/५७

आवरण पृष्ठ की गाथा का अर्थ

नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

सम्यग्दर्शन से रहित साधक को सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान न हो तो सम्यक् - चारित्र या चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों का प्राप्त होना अशक्य है। चारित्र सम्बन्धी सद्गुणों की प्राप्ति जिसे नहीं हुई, वह कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता, और कर्मों से मुक्त हुए बिना समस्त कर्मक्षयरूप जो निर्वाण (आत्मा का परमशांतिरूप) पद है, उसकी प्राप्ति नहीं होती।

सदस्यता :

स्तम्भ सदस्यता	: २००० रु.
संरक्षक सदस्यता	: १००० रु.
आजीवन सदस्यता देश में	: ५०० रु.
विदेश में	: १०० $ (डालर)
त्रिवर्षीय सदस्यता	: १२० रु.
वार्षिक सदस्यता	: ५० रु.
विशेषाङ्क का मूल्य	: ५० रुपये

मुद्रक—दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर © 562929, 564771
फोटोटाईप सेटिंग—जे. के. कम्प्यूटर सेन्टर, जालोरी गेट, जोधपुर

नोट - (१) यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।
(२) कोई भी राशि 'जिनवाणी' जयपुर के नाम ड्राफ्ट बनवाकर या मनीआर्डर द्वारा प्रकाशक के पते पर भिजवायी जाये।

सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र

के

शुद्ध आराधक

स्व. आचार्य श्री रत्नचन्द्रजी म.सा.

को

उनके द्वारा किए गए

क्रियोद्धार की

द्विशताब्दी के अवसर

पर

सादर समर्पित

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल के द्वारा विगत ५२ वर्षों से 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। अब तक जिनवाणी के बारह विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं। सर्वप्रथम १९६४ ई. में 'स्वाध्याय' विशेषांक का प्रकाशन हुआ। उसके अन्तर्गत 'सामायिक' (१९६५) 'तप' (१९६६) 'श्रावक धर्म' (१९७०) 'साधना' (१९७१) 'ध्यान' (१९७२) 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (१९७५) 'कर्म सिद्धान्त' (१९८४) 'अपरिग्रह' (१९८६) 'आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. श्रद्धांजलि' (१९९१) 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (१९९२) और 'अहिंसा' (१९९३), विशेषांकों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया।

क्रियोद्धारक आचार्यप्रवर श्री रत्नचंद्रजी म.सा. रत्नवंशीय संत-परम्परा के प्रमुख आचार्य हुए हैं। यह वर्ष उनके क्रियोद्धार का २००वां वर्ष है। जिनवाणी का यह 'सम्यग्दर्शन' विशेषांक उस निर्मलदृष्टि एवं तेजस्वी आत्मा को अर्पित करते हुए हमें महती प्रसन्नता है। उल्लेखनीय है कि सम्यग्ज्ञान प्रचार मण्डल की स्थापना का प्रसंग भी आचार्य श्री रत्नचंद्र जी म.सा. से जुड़ा हुआ है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. की प्रेरणा से क्रियोद्धारक आचार्य प्रवर श्री रत्नचन्द्र जी म.सा. के स्वर्गवास शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में हुई थी।

वर्तमान आचार्य प्रवर १००८ श्री हीराचन्द्र जी म.सा. का 'सम्यग्दर्शन' पर विशेष चिन्तन रहा है। आप समय समय पर अपने उद्बोधनों के माध्यम से इसके महत्त्व पर प्रभावशाली ढंग से प्रकाश डालते रहे हैं तथा जीवन के शाश्वत लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में सम्यग्दर्शन को आवश्यक मानते हैं। आचार्य श्री के उद्बोधनों से प्रेरणा पाकर ऐसे मानवकल्याणकारी तथा चरम लक्ष्य तक पहुंचाने वाले 'सम्यग्दर्शन' विषय पर जिनवाणी का 'सम्यग्दर्शन' विशेषांक अप्रेल, मई, जून व अगस्त, १९९६ के संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है

इस विशेषांक को सुन्दर, बोधगम्य एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में डा. धर्मचंदजी जैन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आपने अपने कुशल सम्पादन से सम्यग्दर्शन जैसे कठिन विषय को भी सहज एवं सरल रूप में इस विशेषांक के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मण्डल परिवार आपके इस महनीय कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है।

हम उन सन्तों, विद्वानों एवं लेखकों का भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अपने आलेख भिजवाकर विशेषांक की उपयोगिता बढ़ाई है। हम उन विज्ञापन-दाताओं का भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अपने व अपने प्रतिष्ठानों का विज्ञापन देकर जिनशासन की सेवा करने का लाभ प्राप्त किया है।

आशा है यह विशेषांक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा तथा जीवन को समुन्नत एवं परिष्कृत करने में सहयोगी बनेगा, ऐसी मंगल कामना है।

डा. सम्पतसिंह भाण्डावात,	**टीकमचन्द हीरावत**	विमलचंद डागा
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

¤ डॉ. धर्मचन्द जैन

संसार में प्रत्येक जीव जीवन, जगत् सुख-दुःख आदि के सम्बन्ध में कोई न कोई व्यक्त या अव्यक्त मान्यता, श्रद्धा, विश्वास या धारणा लिए हुए है। यह मान्यता, विश्वास, श्रद्धा या धारणा ही उसकी दृष्टि है। इस दृष्टि के अनुसार प्रत्येक जीव एक ही घटना के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। कोई एक घटना में सुख का अनुभव करता है तो दूसरा उसी घटना में दुःख का अनुभव करता है । एक उसे त्याज्य समझता है तो दूसरा उसे ग्राह्य मानता है। एक की दृष्टि मोह की प्रगाढता से ग्रस्त रहती है तो दूसरे की दृष्टि उससे निरासक्त होती है। एक धन-सम्पत्ति, भूमि भवन, आदि को प्राप्त कर उन्हें पकड़े रखने में हित मानता है तो दूसरा उनकी तुच्छता समझकर उन्हें त्याग देता है। इस प्रकार यह दृष्टि जीव की आन्तरिक श्रद्धा या मान्यता को व्यक्त करती है।

आगम में दृष्टि तीन प्रकार की कही गई है—सम्यग्दृष्टि २. मिथ्यादृष्टि और ३. मिश्रदृष्टि। ये तीनों दृष्टियां जीव की आन्तरिक जीवन-दृष्टि की परिचायक हैं। प्रत्येक जीव में ऐसी कोई न कोई अन्तः प्रेरणा एवं अन्तःदृष्टि होती है जिसके अनुसार वह जीवन जीता है। वैसे तो प्रत्येक जीव की दृष्टि एक दूसरे से भिन्न ही होती है, इसलिए दृष्टि के अनन्त भेद भी किए जा सकते हैं, किन्तु उन अनन्तदृष्टियों का वर्गीकरण स्थानांगसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगमों में तीन दृष्टियों में किया गया है। लोक में कुछ जीव सम्यग्दृष्टियुक्त होते हैं, कुछ जीव मिथ्यादृष्टि युक्त होते हैं तथा शेष कुछ जीव मिश्रदृष्टि वाले होते हैं।

प्रश्न यह होता है कि किसे सम्यग्दृष्टि कहा जाये, किसे मिथ्यादृष्टि एवं किसे मिश्रदृष्टि? स्थूलदृष्टि से कहा जाये तो जो जीव संसार में सुख समझते हैं, विषय भोगों में रमण करना अच्छा समझते हैं या मूढ बने हुए हैं वे मिथ्या दृष्टि होते हैं। जो जीव इनसे ऊपर उठकर मोक्ष-सुख को आत्मिक एवं वास्तविक सुख समझकर उसके अभिलाषी होते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। जब सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि न हो तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहते हैं।

दृष्टि की सम्यक्त्ता एवं इसके मिथ्यात्व का मापदण्ड जैन-ग्रंथों में मोह की कमी या आधिक्य को स्वीकार किया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव वे हैं जिन्होंने प्रगाढ़ मोह को शिथिल कर दिया है। पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सम्यग्दृष्टि जीव वे हैं, जिन्होंने दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय) का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर दिया है तथा चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धीचतुष्क का क्षय कर दिया है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क में उन क्रोध, मान, माया एवं लोभ की गणना होती है,जिनका प्रभाव प्रगाढतम होता है। मोह का यह आचरण सम्बन्धी रूप है जो क्रोधादि के माध्यम से प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय मोह का दृष्टिगत या विश्वासगत रूप है, यह अधिक भयंकर है। दृष्टि ही मलिन हो तो स्वच्छता नजर नहीं आ सकती। अन्तःदृष्टि में मलिनता को ही मिथ्यात्व कहा गया है। जैसी दृष्टि होती है प्रायः सृष्टि वैसी ही प्रतीत एवं निर्मित होती है। नेत्रों पर यदि हरा चश्मा चढ़ा लिया जाये तो बाहर सब कुछ हरा ही दिखाई देता है तथा व्यवहार भी फिर उसी के अनुसार किया जाता है। जब बाह्य नेत्रदृष्टि का भी इतना प्रभाव परिलक्षित होता है तो अन्तःदृष्टि की तो बात ही क्या ? भीतर में दृष्टि

भोग की है तो सबकुछ भोग्य ही नजर आता है, भीतर में भोगों को त्याज्य समझ लिया है, तो सारे भोग तुच्छ एवं त्याज्य नजर आते हैं। दृष्टि की निर्मलता को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। जब दृष्टि सम्यक् से पुनः मलिन होने लगे, किन्तु पूर्णतः मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हो, ऐसी मिश्रित अवस्था को मिश्र दृष्टि कहा जाता है। मिश्रदृष्टि में जीव अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहता। इसलिए हम प्रायः मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि अवस्था में ही जीते हैं। इस समय दृष्टि नैर्मल्य के आधार पर आकलन किया जाये तो मिथ्यादृष्टि जीव ही अधिक हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तो प्रायः मिथ्यादृष्टि होते हैं, किन्तु पंचेन्द्रियों में मनुष्यों की चर्चा की जाये तो वे भी अधिकतर मिथ्यादृष्टि ही हैं।

दृष्टि की निर्मलता में संकीर्ण स्वार्थ नहीं रहता और न ही अपना एवं दूसरों का अहित करने की बुद्धि होती है। निर्मलदृष्टि मनुष्य सत्-असत् को जानता है एवं उसे वैसा स्वीकार भी करता है। उसका जीवन स्व-पर कल्याण की ओर केन्द्रित होता है। वह पौद्गलिक वस्तुओं की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता नहीं मानता। उसे इनकी क्षणभंगुरता एवं विनश्वरता का बोध रहता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण साफ होता है। अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में वह सम रहता है। भोगों से उसका आकर्षण छूट जाता है। अज्ञानियों एवं तज्जन्य दुःखों से ग्रस्त जनों पर उसके हृदय में अनुकम्पा होती है। अपने पर उसका विश्वास होता है, जिसे आत्मविश्वास तथा आत्म श्रद्धान कह सकते हैं।

'दृष्टि का अपर नाम 'दर्शन' भी है। संस्कृत में ये दोनों शब्द 'दृश' (देखना) धातु से निष्पन्न हुए हैं। 'दृश्' धातु से जब 'क्तिन्', प्रत्यय किया जाता है तो 'दृष्टि' शब्द निष्पन्न होता है तथा जब 'ल्युट' (अन) प्रत्यय किया जाता है तो 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार दृष्टि एवं दर्शन शब्द एक ही धातु से निष्पन्न हैं। दर्शन भी जैनदर्शन में दो प्रकार के हैं - एक तो दर्शन वह जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से प्रकट होता है तथा दूसरा दर्शन वह है जो दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रकट होता है। यहां पर 'सम्यग्दर्शन' का अभिप्राय दर्शनमोह कर्म के क्षयादि से प्रकट 'दर्शन' से है।

इस सम्यग्दर्शन के लिए 'सम्यक्त्व (सम्मत्त) शब्द का प्रयोग भी आगम में बहुशः हुआ है। वैसे सम्यक्त्व शब्द सम्यक्पने या यथार्थता का द्योतक है जिसका दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ प्रयोग होता है यथा—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र में स्थित सम्यक् का दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ अन्वय हुआ है । फिर भी सम्यक्त्व (सम्मत्त) शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ में ही रूढ है, क्योंकि तीनों में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है।

दर्शन सम्यक् होने पर ही ज्ञान सम्यक् होगा और ज्ञान सम्यक् होने पर ही चारित्र सम्यक् होगा।

सम्यग्दर्शन के दो रूप प्रसिद्ध हैं—१. निश्चय सम्यग्दर्शन और २. व्यवहार सम्यग्दर्शन। निश्चय सम्यग्दर्शन जहां आत्मिक-गुण के रूप में प्रकट होता है, वहां व्यवहार सम्यग्दर्शन उसकी क्रियात्मक परिणति है। व्यवहार सम्यग्दर्शन साधन एवं निश्चय सम्यग्दर्शन को साध्य भी माना गया है, इसलिए निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु व्यवहार सम्यग्दर्शन का आलम्बन लेना होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन तो वही है जो अनन्तानुबन्धीचतुष्क एवं

दर्शनमोहत्रिक के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रकट होता है। इस सम्यग्दर्शन को आत्मविनिश्चय एवं ग्रंथिभेद आदि शब्दों से भी प्रकट किया गया है। इस निश्चय सम्यग्दर्शन के व्यवहार में पांच लक्षण पाए जाते हैं–१. शम २ संवेग ३ निर्वेद ४. अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य। ये पाँचों लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शन की क्रियात्मक परिणति है जो व्यवहार में परिलक्षित होती है। शम का मूलरूप प्राकृत में 'सम' है जो शम, सम एवं श्रम का सूचक है। क्रोधादि में कमी शम है, समभाव का आचरण 'सम' एवं श्रमण की श्रमशीलता 'श्रम' है। मोक्ष की अभिलाषा 'संवेग' एवं संसार से वैराग्य 'निर्वेद' है। दुःखियों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता एवं दया 'अनुकम्पा' है तथा आत्मा व देव, गुरु एवं धर्म पर आस्था 'आस्तिक्य' है। इस आस्तिक्य को तत्वार्थश्रद्धान भी कहा गया है।

सम्यग्दर्शन का तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह उत्तराध्ययनसूत्र २८.१५ (तहियाणं तु भावाणं) एवं तत्त्वार्थसूत्र १.१ (तत्त्ववार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्) में स्पष्टरूपेण प्रतिपादित है। तत्त्वार्थ पर वस्तुतः जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा है। जैनदर्शन में तत्त्व सात या नौ माने गए हैं । जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये सात तत्त्व हैं तथा इनमें पुण्य एवं पाप को मिलाने पर तत्त्वों की संख्या नौ हो जाती है। इन तत्त्वों के स्वरूप को यथार्थ रूपेण समझकर उन्हें स्वीकार करना ही उनपर श्रद्धान करना है। यही सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन निश्चय एवं व्यवहार दोनों प्रकार का हो सकता है। जब तक तत्त्वार्थों के स्वरूप का आत्मिक स्तर पर भेदज्ञान नहीं हुआ है तब तक उन पर हुई बौद्धिक श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा आत्म-अनात्म विवेक निश्चय सम्यग्दर्शन का रूप है।

प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दृष्टि या दर्शन को श्रद्धा कहना किस प्रकार उचित है? बौद्धदर्शन में सम्यग्दृष्टि एवं श्रद्धा का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। बौद्धदर्शन में भी जैनदर्शन की भांति सम्यक् दृष्टि को मुक्तिमार्ग की पहली सीढ़ी स्वीकार किया गया है। उसके बिना न शील की प्राप्ति मानी गई और न समाधि की। बौद्धदर्शन में वस्तुतः चार आर्यसत्यों को समझना ही सम्यक् दृष्टि कहा गया (सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त-मज्झिमनिकाय१.१.९) । श्रद्धा को आध्यात्मिक विकास की पांच शक्तियों (इन्द्रियों) में प्रथम बताया गया तथा श्रद्धा से वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा में क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया। इस साधना-क्रम में श्रद्धा प्रथम है एवं प्रज्ञा अन्तिम है।सम्यक् दृष्टि को जहां प्रज्ञा स्कन्ध में सम्मिलित किया गया वहां श्रद्धा का परिणाम प्रज्ञा को बतलाया गया। इस प्रकार श्रद्धा एवं सम्यक् दृष्टि बौद्ध धर्म में भिन्न हैं। किन्तु बुद्ध का एक वचन श्रद्धा एवं सम्यक् दृष्टि को एक ही अर्थ में भी पिरो देता है। बुद्ध ने कहा 'भिक्षुओं जिस समय आर्य श्रावक दुराचरण को पहचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, सदाचरण को पहचान लेता है, सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है। उसकी इस धर्म में अचल श्रद्धा उत्पन्न हो गई है और वह इस धर्म में आ गया है।' यहां पर श्रद्धा एवं सम्यग्दृष्टि एकार्थक प्रतीत हो रहे हैं।

जैनधर्म में तो सम्यग्दृष्टि का श्रद्धा अर्थ प्रसिद्ध है। मोक्ष के प्रयोजन में दर्शन का श्रद्धा अर्थ ही आचार्यों ने मान्य किया है। वस्तुतः जैसी अन्तःदृष्टि होती है वैसी ही मान्यता

बनती है, वैसा ही विश्वास बनता है। उसे 'श्रद्धा' भी कहा जा सकता है। संभवत: इसीलिए जैनागमों में सम्यग्दर्शन के लिए 'श्रद्धा' शब्द का भूरिश: प्रयोग हुआ है। तत्त्वरुचि, भेदविज्ञान, श्रद्धा आदि शब्द सम्यग्दर्शन को ही अभिव्यक्त करते हैं। इनमें बाह्य रूप से भेद प्रतीत होता है, किन्तु इनका मूलस्वर एक ही है।

सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है– सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर आस्था। यह लक्षण अधिक प्रचलित हो गया है, किन्तु अंग एवं उपांग आगमों में प्राय: निर्ग्रन्थ प्रवचन या जिनवचन पर श्रद्धा करने का ही उल्लेख मिलता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है–'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' अर्थात् वही सत्य एवं निश्शंक है जो जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है। आचारांग के इस वचन में मात्र महावीर का नहीं, समस्त जिनेन्द्रों का कथन है। जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित वचन श्रद्धेय हैं। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक भगवान महावीर की धर्मदेशना सुनने के पश्चात् कहता है—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं पत्तियामि णं, भते। निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते । 'ग्गंथ पावयणं एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते !_ अर्थात् 'हे भगवान्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। विश्वास करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे रुचिकर है। वह ऐसा ही है, तथ्य है, सत्य है। निर्ग्रन्थ प्रवचन या जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित तत्त्व श्रद्धेय है।' जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित धर्म जब श्रद्धेय है तो जिनेन्द्र देव तो स्वत: ही श्रद्धेय हो गए। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धेय होने से निर्ग्रन्थ गुरु भी श्रद्धेय हो गए। इस दृष्टि से देव, गुरु एवं धर्म (जिन प्ररूपित) तीनों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन सिद्ध होता है। आवश्यक सूत्र में सम्यक्त्व का उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार अरिहंत को देव, सुसाधु को गुरु एवं जिनप्रज्ञप्त तत्त्व रूप सम्यक्त्व को ग्रहण करने की बात कही गई है। (आवश्यक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन)। आचार्य हरिभद्रसूरि ने आठवीं शती ईसवीय में षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें उन्होंने प्रमुख छह भारतीय दर्शनों के देव, गुरु एवं तत्त्वों का वर्णन किया है। जैनधर्म के देव, गुरु एवं तत्त्व का भी उन्होंने वर्णन किया है। उन्होंने जिनेन्द्र को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु तथा जीवादि तत्त्वों को तत्त्व कहा है।

देव, गुरु एवं तत्त्व का निरूपण प्रत्येक धर्म-दर्शन में भिन्न-भिन्न रहा है। इसलिए देव, गुरु एवं धर्म पर श्रद्धान करने का स्थूल तात्पर्य है उस धर्म का अनुयायी होना। जब भी एक धर्म से दूसरे धर्म में धर्मान्तरण किया जाता है या धर्म में दीक्षित किया जाता है तो देव, गुरु एवं धर्म का स्वरूप समझाकर सम्यक्त्व ग्रहण कराई जाती है। उदाहरणत: बौद्धधर्म में बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण में जाने का उल्लेख हुआ है इसी प्रकार जैनधर्म में 'अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।' पाठानुसार अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवलिप्रज्ञप्त धर्म की शरण को ग्रहण करने का कथन है। इनकी शरण में जाना तभी संभव है जब इन पर श्रद्धा हो। श्रद्धा के बिना शरण में जाना शक्य नहीं है। इनकी शरण ग्रहण करना या श्रद्धा करना सन्मार्ग को स्वीकार करना है।

विश्व में अनेक धर्म हैं। सभी धर्मों के अनुयायी उस धर्म के अनुयायियों को आस्तिक या सम्यक्त्वी समझते हैं तथा अन्य धर्मावलम्बियों को पाखण्डी, मिथ्यात्वी एवं नास्तिक मानते हैं। यही नहीं दूसरे धर्मावलम्बियों को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपने

धर्म की बुराइयों को भी अच्छाई समझते हैं तथा अन्य धर्मों की अच्छाइयों को भी बुराईके रूप में देखते हैं। एक धर्मानुयायी की अन्य धर्मानुयायियों के प्रति इस प्रकार की पक्षपात पूर्ण दृष्टि साम्प्रदायिकता कही जाती है। सम्प्रदाय का होना बुरा नहीं, किन्तु सम्प्रदायाभिनिवेश का होना बुरा है। यह सम्प्रदायाभिनिवेश मनुष्य को संकीर्ण बनाता है। सम्प्रदाय जहाँ अधिगमज सम्यग्दर्शन का निमित्त बनती है वहाँ साम्प्रदायिकता सम्यग्दर्शन पर आवरण डाल देती है।

साम्प्रदायिकता का दोष विश्व के अन्य धर्मों की भांति जैनों में भी दिखाई देता है। जैनों में जैनेतर धर्मों के प्रति घृणा एवं हीनता का भाव प्रायः कम है , किन्तु जैनों की जो उपसम्प्रदायें हैं वे एक दूसरे के अनुयायियों को मिथ्यात्व के कलंक से दूषित करती हैं। यह दोष व्यवहार-सम्यक्त्वियों में ही पाया जाता है, निश्चय सम्यक्त्वियों में नहीं। निश्चय सम्यर्ग्दर्शन हो जाने पर बाह्य मान्यता-भेद एवं बाह्याचरण उतना प्रधान नहीं रहता, जितना व्यवहार सम्यग्दर्शन में प्रधान बना रहता है। बाह्याचरण के कारण एक दूसरे को हीन समझने एवं घृणा करने का कार्य निश्चय सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि वह रागादि की प्रगाढ़ता से मुक्ति पा लेता है।

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान तो सम्यक् होता ही है, किन्तु आचरण भी सम्यक् हो जाता है। जब तक आचरण सम्यक् नहीं होता तब तक वह मुक्ति का साधन नहीं बनता। सम्यग्दर्शन (निश्चय) के अभाव में बाह्य तप-त्याग भी कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं रखते। आचारांगसूत्र की निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है -

कुणमाणो वि निविर्त्ति, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए।
दिंतो वि दुहस्स उरं, मिच्छादिट्ठी न सिज्झई ॥–आचारांगनिर्युक्ति, २२०

अर्थात् मिथ्यादृष्टि प्राणी संसार से निवृत्ति लेता हुआ भी, स्वजन, धन एवं भोगों का त्याग करता हुआ भी तथा दुःखियों की सहायता करता हुआ भी सिद्ध नहीं होता। मुक्ति या सिद्धि प्राप्त करने के लिए मिथ्यादर्शन का त्याग करना अनिवार्य है तभी सम्यग्दर्शन का प्रकटीकरण होगा एवं मुक्ति की ओर चरण बढ़ेंगें।

जैनदर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें मिथ्यात्व का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं दृष्टि से स्वीकार किया गया है। ज्ञान सम्यक् है या मिथ्या यह दृष्टि पर निर्भर करता है। इसीलिए नन्दीसूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के मति एवं श्रुत सम्यक् ज्ञान हैं जबकि मिथ्यादृष्टि के मति एवं श्रुतज्ञान मिथ्याज्ञान हैं।

मिथ्यादर्शन को शल्य की उपमा दी गई है। मिथ्यादर्शन एक ऐसा कण्टक है (शल्य) जो मनुष्य को पीड़ित एवं दुःखी करने में निमित्त तो बनता है, किन्तु इस शल्य का मनुष्य को प्रायः भान नहीं होता। मिथ्यात्व का भान होने पर ही सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व को तोड़ना तब संभव है जब उसकी स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपम से घटकर एक कोटाकोटि सागरोपम से भी न्यून रह जाती है। अर्थात् मिथ्यात्व की सघनता जब अत्यन्त कमजोर पड़ जाती है तो सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है।

आज हम प्राय : मिथ्यात्वदशा में ही जी रहे हैं। विषय-भोग हमें प्यारे लगते हैं। इन्द्रिय-जय एवं मनोजय में हमारी रुचि नहीं है, हमारी रुचि है इन्हें उत्तरोत्तर भोगों में लगाने में। पर से सुख मिलेगा, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। सूक्ष्मता से कहें तो भोगों में

जीवनबुद्धि होना मिथ्यात्व है। भोगों के बिना जीवन नहीं चलेगा एवं भोगों के लिए ही जीवन मिला है, इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है। इस मान्यता के कारण ही मनुष्य अधिकाधिक भोग-साधन जुटाने में लगा हुआ है।

मिथ्यात्व के आगम में पांच, दस एवं पच्चीस प्रकारों का निरूपण है, किन्तु आधुनिक भाषा में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का कथन किया जाये तो अग्राङ्कित बिन्दु भी मिथ्यात्व को ही व्यक्त करते हैं– १. भोग में रुचि होना एवं योग-समाधि में अरुचि होना २. भोगों में ही जीवनबुद्धि स्वीकार करना ३. भय एवं प्रलोभन से धर्माचरण करना ४. भोगों की प्राप्ति के लिए धर्म-क्रियाएं करना ५. आर्थिक उन्नति को ही सब कुछ समझकर शरीर, मन एवं आत्मिक-स्वास्थ्य की उपेक्षा करना ६. धर्म से अधिक महत्त्व धन को देना आदि।

मिथ्यात्वी व्यक्ति सांसारिक सुखों की पूर्ति हेतु धर्म-क्रिया का अवलम्बन लेता है। वह धार्मिक प्रवृत्तियों को सांसारिक सुखों की पूर्ति का माध्यम समझता है। मिथ्यात्वी का आचरण बाह्य रूप से तप-त्याग का होते हुए भी आन्तरिक रूप से संसार की अभिलाषा से ही जुड़ा रहता है।

विभिन्न देवी-देवताओं को पूजना, उनसे लौकिक कामनाओं की पूर्ति हेतु याचना करना भी मिथ्यात्व का ही एक रूप है जो आज जैनों में भी प्रचलित है, किन्तु यह तो मिथ्यात्व का स्थूल रूप है, इसके मूल में तो मिथ्यात्व का सूक्ष्म, किन्तु भयंकर रूप छिपा हुआ है और वह है आत्मेतर, पदार्थों की प्राप्ति में सुख मानना। आत्मेतर पदार्थ हैं–आत्मा से भिन्न पदार्थ, यथा– शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, भवन, वाहन आदि । इन पर- पदार्थों में सुख मानना मिथ्यात्व है। मनुष्य इन पर-पदार्थों से सुख प्राप्त करने की मान्यता का इतना आदी है कि उसे यह भी ज्ञात नहीं कि सुख का स्रोत बाहर नहीं भीतर है। सुख की तलाश बाहर करना एवं उसे अन्य पदार्थों में मानना मिथ्यात्व ही है। भगवान् महावीर ने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं आत्मा को माना है इसलिए अन्य से सुख दुःख चाहना उनकी दृष्टि में मिथ्यात्व है।

जिसको सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टि प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए प्राथमिक उपाय यही है कि वह जिनेन्द्रों के द्वारा प्ररूपित तत्त्व को निश्शंकतापूर्वक स्वीकार कर ले। जिन्होंने सम्यग्दर्शन के माध्यम से सम्यक् पथ को अपनाया है तथा समस्त राग-द्वेषादि शत्रुओं को जीतकर केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति की है उनके वचनों पर विश्वास करना आवश्यक है। यह विश्वास या यह श्रद्धा भी सम्यग्दर्शन ही है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर भी व्यक्ति उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आ जाता है।

सम्यग्दर्शन कैसा एवं कितने काल के लिए हुआ है, इसका भी बड़ा महत्व है। यदि सम्यग्दर्शन क्षायिक हुआ है तो वह एक बार होने के पश्चात् कभी समाप्त नहीं होता। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त मनुष्य ने यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व अगले भव का आयुष्य नहीं बांधा है तो वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यदि आयुष्य बांध लिया है तो तीन या चार भवों में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

यदि सम्यग्दर्शन औपशमिक हुआ है तो वह एक बार अवश्य ही समाप्त होता है। क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व का काल जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। ऐसा

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर १५ या १६ भवों में मुक्ति निश्चित होती है । अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में तो मुक्ति निश्चित ही है।

सम्यक्त्व का एक प्रकार है क्षायोपशमिक । इस सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का तो क्षय हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन रहता है। यह सम्यक्त्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से अधिक काल तक रहता है।

सम्यग्दर्शन होने पर जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तथा जीवन दृष्टि में ऐसा परिवर्तन घटित होता है, जो जीवन की दिशा ही बदल देता है। जीवन में फिर शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य का स्वतः समावेश हो जाता है।

जैनदर्शन में अनेकान्तवाद एवं अनेकान्तदृष्टि की भी चर्चा की जाती है। अनेकान्तदृष्टि में विभिन्न नय सम्मिलित रहते हैं जो सम्यग्ज्ञान को प्रकट करते हैं। नयसापेक्ष दृष्टि में सम्यग्दृष्टि ही मूल में सन्निहित है। तभी ज्ञान की उत्पत्ति में भी परस्पर टकराव उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार जैनों का अनेकान्तवाद उनकी सम्यग्दृष्टि का ही परिचायक है।

प्रस्तुत विशेषाङ्क में सम्यग्दर्शन पर विस्तार से विचार हुआ है। पूज्य संतों , विद्वान् मनीषियों एवं चिन्तनशील लेखकों ने इस विशेषाङ्क को उपयोगी बनाने में जो अपनी प्रज्ञा एवं लेखनी का योगदान किया है उसके लिए जितना आभार माना जाय उतना कम है। यह विशेषाङ्क विषय-वैविध्य के कारण तीन खण्डो में विभक्त है। प्रथम खण्ड शास्त्रीय-विवेचन से सम्बद्ध है। इसमें सम्यग्दर्शन के स्वरूप, लक्षण, प्रकार, भेद, अंग, महत्त्व, दुर्लभता, प्राप्ति-प्रक्रिया, मिथ्यात्व, उसके प्रकार आदि से सम्बन्धित लेख तो हैं ही, किन्तु सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नोत्तर भी निहित हैं, जो 'जिज्ञासा और समाधान', 'सम्यक्त्व-प्रश्नोत्तर' तथा 'सम्यक्त्व का स्पर्श' (संवाद) शीर्षकों से प्रकाशित हैं। इस खण्ड में 'जैन वाङ्मय में सम्यग्दर्शन', 'तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप', 'कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का स्वरूप' 'श्रीमद् राजचन्द्र की दृष्टि में सम्यग्दर्शन' आदि ऐसे विशिष्ट लेख भी हैं जो जैन दर्शन में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को व्यापक फलक एवं दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। आगम में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की उत्तरकाल में किस प्रकार व्याख्याएं होती रहीं इसका भी बोध प्रस्तुत-खण्ड के लेखों से होता है। इस खण्ड में सम्यग्दर्शन का निश्चय पक्ष भी प्रस्तुत हुआ है तो व्यवहार पक्ष भी प्रतिष्ठित हुआ है। निश्चय एवं व्यवहार का समन्वय भी दृग्गोचर होता है। पूज्य आचार्यो एवं संतों के लेख जहां आगमिक, सैद्धान्तिक एवं पारम्परिक पक्ष को पुष्ट करते हैं, वहां नया सोच भी मुखर हुआ है। आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. , आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. , आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. , आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा., आचार्य श्री रामचन्द्र सूरि जी म.सा., पं. श्री समर्थमलजी म.सा. के प्रवचन एवं लेख जहां इस विशेषाङ्क की शोभा बढा रहे हैं वहां पं. सुखलाल संघवी, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. रामजी सिंह, डॉ. दयानन्द भार्गव आदि विद्वज्जनों के वैचारिक लेख पाठकों का मार्गदर्शन करते हैं। डॉ. यशोधरा वाधवानी, डॉ. सुषमा सिंघवी, श्री रमेशमुनि शास्त्री आदि के शोधपरक लेख विद्वत्पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। सम्यग्दर्शन का दर्शनगुण, दर्शनोपयोग, दर्शनमोह आदि से क्या भेद है इसका सूक्ष्म विचार किया है श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा ने। उन्होंने अपने लेख में दश प्रकार के मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन के आठ अंग आदि पर नया, किन्तु आगम-संगत चिन्तन प्रदान

किया है जो तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए पठनीय है।

द्वितीय-खण्ड 'सम्यग्दर्शन : जीवन व्यवहार' में प्रकाशित लेख पूज्य विद्वत्संतों तथा ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों के ज्ञाता प्रज्ञाशील विचारकों के हैं। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति होने से जीवन-दृष्टि किस प्रकार बदल जाती है, जीवन कितना निश्चित, निर्भय, शान्त एवं सुखी हो जाता है, इसका विवेचन तो इस खण्ड के लेखों में हुआ ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था, समाज-व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण, जैसे विषयों के परिप्रेक्ष्य में भी सम्यग्दर्शन पर विचार किया गया है। सम्यक्त्वी पाप करता है या नहीं, यदि नहीं करता है तो कैसा पाप नहीं करता है आदि बिन्दुओं पर विचार करने के साथ बढ़ते भोग-साधनों के परिप्रेक्ष्य में भी दृष्टि की सम्यक्ता का चिन्तन किया गया है।

तृतीय-खण्ड में उन विविध लेखों का संकलन है, जिनका समावेश प्रथम दो खण्डों में नहीं हो सका है। इस खण्ड में यहूदी, ईसाई, इस्लाम एवं पारसी धर्मों में श्रद्धा के महत्त्व का विचार किया गया है। बौद्ध दर्शन में वर्णित सम्यग्दर्शन से जैनदर्शन के सम्यग्दर्शन का तुलनात्मक विवेचन करने के अतिरिक्त वेदान्त एवं अन्य भारतीय दर्शनों से भी जैनदर्शन के सम्यग्दर्शन की तुलना की गई है। गीता का सम्यग्दर्शन जैसे शोधपरक लेख एवं 'संशय, युक्ति एवं विश्वास' जैसे दार्शनिक लेखों का भी इस खण्ड में समावेश है। बीसवीं शती के अध्यात्म पुरुष स्वामी शरणानन्दजी का दृष्टिविषयक विचार, महात्मा गांधी की दृष्टि में जागृत मनुष्य एवं श्रीमद् राजचन्द्र का सम्यग्दृष्टिविषयक चिन्तन भी इस खण्ड में समाहित हैं।

प्रस्तुत विशेषाङ्क को तैयार करने में जिन लेखकों का सहयोग रहा है उनका मैं व्यक्तिगत रूप से एवं जिनवाणी परिवार की ओर से हार्दिक आभारी हूँ। उन विद्वान् लेखकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके लेखों का समावेश विशेषाङ्क के कलेवर की अधिकता के कारण इस विशेषाङ्क में नहीं हो सका है। लेख-संकलन में गुरुजी श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा, जयपुर का सहयोग रहा है, अतः मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। तत्त्वजिज्ञासु विचक्षण स्वाध्याय-प्रवृत्ति के धनी श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. एवं श्रीयुत सम्पतराज जी डोसी, जोधपुर से कुछ लेखों में आई शंकाओं का सहज सैद्धान्तिक समाधान मिला है, अतः मैं आप दोनों का भी हार्दिक कृतज्ञ हूँ। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के अध्यक्ष श्री सम्पतसिंह जी भाण्डावत एवं मन्त्री श्री विमल चन्द जी डागा का भी पूर्ण सकारात्मक सहयोग रहा है, अतः मैं आप महानुभावों का भी आभार मानता हूँ।

इस विशेषाङ्क को पढ़कर हमने यदि अपनी दृष्टि में यत्किञ्चित् भी निर्मलता लाने में सफलता प्राप्त की तो इसका प्रकाशन सार्थक माना जायेगा। संसार में व्यक्तिगत समस्या हो या पारिवारिक समस्या हो, सामाजिक समस्या हो या राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्या हो, सभी दृष्टिगत भेद के कारण उत्पन्न होती हैं एवं बढती हैं। यदि दृष्टि में निर्मलता किं वा सम्यक्त्व आ जाये तो समस्त समस्याएं निःसत्त्व या बलहीन हो जाती हैं। इस दृष्टि से 'सम्यग्दर्शन' पर प्रस्तुत यह विशेषाङ्क पूर्णतः साम्प्रतिक या प्रासङ्गिक है।

-सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

विषयानुक्रमणिका

प्रथम-खण्ड

सम्यग्दर्शन : शास्त्रीय विवेचन

द्वितीय-खण्ड

सम्यग्दर्शन : जीवन व्यवहार

तृतीय खण्ड

सम्यग्दर्शन : विविध

परिशिष्ट

विचार/कविता/तथ्य/प्रसंग

सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी : एक दृष्टि में

सम्यक्त्वी	मिथ्यात्वी
१. मोक्षाभिमुखी होता है।	१. संसाराभिमुखी होता है।
२. अन्तरात्मा एवं परमात्मा होता है।	२. बहिरात्मा होता है।
३. संसार सीमित कर लेता है।	३. अनन्त संसार शेष रहता है।
४. सकाम निर्जरा करता है।	४. अकाम निर्जरा करता है।
५. आत्मिकसुख को वास्तविक सुख मानता है।	५. पौद्गलिक सुख को वास्तविक सुख मानता है।
६. कर्म-बंधन अल्प स्थिति वाला करता है।	६. कर्म बंधन उत्कृष्ट स्थिति तक करता है।
७. भाव से भी संयम की साधना करता है।	७. संयम की साधना भी करे तो मात्र द्रव्य साधना करता है।
८. सुदेव, सुगुरु एवं सद्धर्म पर श्रद्धान करता है।	८. कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म पर श्रद्धान करता है।
९. जीवादि तत्त्वार्थों पर श्रद्धान करता है।	९. जीवादि तत्त्वार्थों पर श्रद्धान नहीं करता है।
१०. आत्म-अनात्म का भेदज्ञान कर लेता है।	१०. आत्म-अनात्म का भेदज्ञान नहीं कर पाता।
११. इन्द्रिय-विषयों के प्रति उदासीन रहता है।	११. इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहता है।
१२. अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं दर्शनत्रिक का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर लेता है।	१२. अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं दर्शनत्रिक का क्षयादि नहीं कर पाता है।
१३. अनन्त संसार का बन्ध होना रुक जाता है।	१३. अनन्त संसार का बन्ध चालु रहता है।
१४. बंध कम एवं निर्जरा अधिक होती है।	१४. बंध अधिक एवं निर्जरा कम होती है।
१५. भोगों के त्याग में अपना हित मानता है।	१५. भोगों में जीवन बुद्धि होती है।
१६. परिवार में रहकर भी निर्लिप्त भाव से पालन-पोषण करता है	१६. परिवार में गृद्ध एवं आसक्त रहकर उलझा रहता है।
१७. सम्यग्ज्ञान युक्त हो जाता है।	१७. अज्ञानी बना रहता है।
१८. हेय, ज्ञेय एवं उपादेय के विवेक से युक्त होता है।	१८. हेय, ज्ञेय एवं उपादेय के विवेक से रहित होता है।
१९. यथाप्रवृत्ति, अपूर्व एवं अनिवृत्तिकरण कर लेता है	१९. यथाप्रवृत्ति करण से आगे नहीं बढ़ पाता।
२०. निःशङ्का आदि आठ अंगों से युक्त होता है।	२०. निःशङ्का आदि आठ अंगों से युक्त नहीं होता।
२१. जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा रखता है।	२१. जिनवाणी पर शङ्कादि दोषों से युक्त होता है।
२२. अल्प-तप-त्याग से भी कर्मों की महती निर्जरा करता है।	२२. अधिक तप-त्याग करने पर भी अल्प निर्जरा करता है।
२३. पण्डित मरण का वरण करता है।	२३. बाल-मरण से मरता है।
२४. अपने ज्ञान का उपयोग समभाव की पुष्टि और आत्मजागृति में करता है, सांसारिक विषय-वासना की पुष्टि में नहीं।	२४. इसकी विचारधारा सम्यक्त्वी की विचारधारा के विपरीत होती है।